भारतीय दर्शन का इतिहास

भाग-3

एस० एन० दासगुप्त

भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan Ka Itihas)

भाग-3

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

ए० यू० वसावड़ा



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-4

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय
ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम अनूदित संस्करण : 1974
द्वितीय संस्करण : 1989

मूल्य : 50.00 रुपये

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–302 004

मुद्रक :
राजस्थान प्रिंटिंग वर्क्स
जयपुर

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 19 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1988 को 20वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत् के शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में दुर्लभ मानक ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 330 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्य सरकारों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने [illegible] पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में [illegible] सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

डॉ. दासगुप्त लिखित "भारतीय दर्शन का इतिहास' भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं की प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला विद्वज्जन-समादृत श्रेण्य ग्रन्थ है [illegible] अद्भुत प्रतिभा और मीमांसा-शक्ति सम्पन्न इस विद्वान् ने पाँच खण्डों में भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों, सरणियों, ग्रन्थों, ग्रन्थकारों आदि का जो आलोचनात्मक, तुलनात्मक एवं तल स्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है, उसे विद्वान्, प्राध्यापक, छात्र आदि सभी जिज्ञासु सन्दर्भ

ग्रन्थ के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसमें मूल ग्रन्थों के सन्दर्भ एवं उद्धरणों सहित पृथक्-पृथक् शाखाओं का विवरण एवं इतिहास उपलब्ध हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक भाग—3 में भास्कराचार्य, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, विज्ञान-भिक्षु आदि के दार्शनिक सम्प्रदायों का साधिकार निरूपण किया गया है।

पी. बी. माथुर
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एवं
शिक्षा आयुक्त, राजस्थान सरकार
जयपुर।

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर।

प्राक्कथन

इस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड कई वर्ष पूर्व सन् 1932 में प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के विलम्ब से प्रकाशित होने के अनेक कारणों में, एक यह भी है कि लेखक को अत्यधिक शिक्षण तथा शासन कार्य करना पड़ रहा है, और वह लगातार बीमार रहे हैं। साथ ही साथ दुःखपूर्ण घटना यह रही है कि अविश्रांत कार्य करने से एक आँख [illegible] ज्योति लुप्त हो जाने के कारण उन्हें बहुधा दूसरों की सहायता के अधीन रहना पड़ता है। प्रकाशन स्थान और कलकत्ता के बीच अधिक दूरी भी [illegible] एक कारण रही है। हर्षपूर्वक कहना है कि चतुर्थ खण्ड की पाण्डुलिपि अब तै[illegible]

दक्षिणा[illegible] मिंती [illegible] वर्णन [illegible] के, इसलिए लेखक [illegible] पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने का अत्यधिक कष्ट [illegible]। अभी तक इस [illegible]षय में जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं वे बहुत ही कम संख्या में हैं और यह वर्णन इन अप्राप्य ग्रन्थों को बारंबार देखे बिना नहीं हो सकता था क्योंकि सामग्री इन्हीं ग्रन्थों से प्राप्त की जा सकती थी। वैष्णव सम्प्रदाय के शृंखलाबद्ध इतिहास की खोज तथा व्याख्या पर प्रकाश डाल सके ऐसा कोई भी ग्रन्थ अभी तक लिखा नहीं गया है। यह अधिक अच्छा होता कि वैष्णव धर्म के इतिहास को आलेखन करने में तमिल तथा तेलगु ग्रन्थों का उपयोग भी किया जाता जिससे प्रचलित भाषा के आधार पर यह इतिहास, संस्कृत-ग्रन्थ की कमी को पूरा कर सके। किन्तु लेखक ने जहाँ तक हो सका संस्कृत ग्रन्थों का ही आधार लिया है। यह मर्यादा तीन कारणों से माननी पड़ी, प्रथम तो यह था कि लेखक को दक्षिण भारत की सभी विभिन्न भाषाओं का ज्ञान नहीं है, दूसरा इन सभी ग्रन्थों का यदि अवलोकन कर सामग्री का उपयोग भी किया होता तो यह ग्रन्थ इच्छित लक्ष्य से कहीं अधिक बड़ा हो जाता, तीसरा, प्रचलित भाषा के ग्रन्थों की सामग्री का यदि उपयोग कर भी लिया जाता तो भी आस्तिक दार्शनिक सिद्धान्तों की मूलभूत समस्याओं में जोकि प्रस्तुत ग्रन्थ में दिए गए विवेचन हैं, कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं होती। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की गई कुछ सामग्री अनवसर कही जा सकती है। किन्तु इस ग्रन्थ में तथा प्रकाशित होने वाले दूसरे ग्रन्थ में, भक्ति-दर्शन से सम्बन्धित, धार्मिक विकृति की अवज्ञा करना अशक्य था क्योंकि वह दक्षिण भारत में प्रमुख रूप से प्रचलित थी, और इस विकृतावस्था ने मध्ययुग के ही निकटतम भूतकाल के मानव के मानस पर भी प्रभाव डाला है और आज भी वह भारतीय धर्मों का एक महत्वपूर्ण अंग है। भारत में नैतिकता ही नहीं किन्तु धर्म भी दर्शन का अंग रहा है। मान्यताओं से सम्बन्धित भाव या संवेग, धर्म का एक महत्त्वपूर्ण गुण है इसलिए, दक्षिण भारत में प्रभूत प्रधान दर्शन प्रणाली का वि[illegible] करते समय भक्ति के इस विकृत विकास पर बल दिए बिना नहीं रहा जा सकता था। ल[illegible] इसलिए आशा करता है, कि जो लोग भक्ति या धार्मिक भावना के अंग के विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं करते या वे जो वैष्णव धर्म के सार रूप भक्ति के संवेगों पर अ[illegible]धिक बल दिया देखना चाहते हैं, वे दोनों उसे क्षमा प्रदान करेंगे। लेखक ने दर्शन के हित को सामने रखकर

मध्य मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया है जो अवश्य ही, इस ग्रन्थ में वर्णित विचारधाराओं में अनुस्सूत वैष्णव प्रणाली की धार्मिक भावना में व्याप्त है।

लेखक ने आल्वारों—का जिनकी रचनायें तामिल में हैं—वर्णन कर इस ग्रन्थ की मर्यादा का अतिक्रमण किया है किन्तु यहाँ भी उसे यह महसूस हुआ कि आल्वारां के भक्ति दर्शन का विवेचन किए बिना, रामानुज तथा उनके अनुयायियों का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रहता। यद्यपि आल्वारों के अध्ययन के लिए मौलिक रचनाएँ तामिल भाषा में प्राप्त हैं, किन्तु सौभाग्यवश इन रचनाओं का संस्कृत अनुवाद पाण्डुलिपि में या प्रकाशित रूप में प्राप्त है। तामिल लेखकों के वर्णन में हमने इन्हीं ग्रन्थों का आधार लिया है।

पंचरात्र रचनाओं के वर्णन में कठिनाईयां आईं क्योंकि इस प्रणाली के अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित ही हैं, किन्तु सौभाग्य से इस प्रणाली का एक वृहत् ग्रन्थ लेखक को पाण्डुलिपि में मिल गया। पंचरात्र सम्प्रदाय पर श्रोडर के सिवाय किसी ने महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं लिखा है। यद्यपि रामानुज भाष्य के अनुवाद प्राप्य हैं, किन्तु उनके सम्पूर्ण दर्शन का उनके सम्प्रदाय के अन्य महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के साथ सम्बन्ध बतलाने वाला कोई भी वर्णन प्राप्त नहीं है। रामानुज सम्प्रदाय के महान् विचारक वेंकट, मेघनादारि तथा अन्य विद्वान जिनकी रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं, इनके सम्बन्ध में लगभग कुछ भी नहीं लिखा गया है। इसी प्रकार विज्ञान भिक्षु के दर्शन पर भी कुछ नहीं लिखा गया है, और यद्यपि निम्बार्क भाष्य अनुवाद में प्राप्त है किन्तु निम्बार्क और उनके अनुयायियों के विचारों का सम्बन्ध बताने वाला कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। लेखक को इसलिए व्याख्या करने के लिए तथा कालक्रम-शोधन के लिए पूर्णतया, प्रकाशित तथा अप्रकाशित अनेक ग्रन्थों पर निर्भर रहना पड़ा है। कालक्रम-शोधन आन्तरिक प्रमाण पर आधारित है, यद्यपि इस विषय पर जो भी प्रबन्ध इत्यादि प्रकाशित हुए हैं, लेखक ने हमेशा उनका उपयोग भी किया है। वर्णन का विषय अत्यन्त विस्तृत है विद्वान् पण्डित ही यह बता सकेंगे कि त्रुटियाँ रहते हुए भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है, या नहीं।

एकेश्वरवादी विचार तथा भक्ति सिद्धान्त के महत्त्व को यद्यपि, ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं तथा गीता, महाभारत और विष्णु पुराण जैसे पुरातन धार्मिक साहित्य में पाया जा सकता है, तो भी आल्वारों—यामुन और रामानुज से लेकर तदनतर कालीन दाक्षिणात्य दार्शनिक लेखकों के रूढ़िगत गीतों में ही हमें ईश्वर से भावात्मक सम्बन्ध का एक विशिष्ट दर्शन मिलता है। विभिन्न वैष्णव लेखक तथा सन्तों की रचनाओं तथा अनुभवों में इस भावात्मक सम्बन्ध या भक्ति का अनेकधा स्वरूप प्रकट होता है। अपने-अपने दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में इन्हीं विभिन्न भक्ति के प्रकारों को प्रस्तुत ग्रन्थ में तथा प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ में प्रधान रूप से अध्ययन किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तथा चतुर्थ खण्ड को भारत के ईश्वरवाद का दर्शन माना जाय। यही दर्शन अंश रूप से विभिन्न शैव और शाक्त ईश्वरवाद के वर्णन [illegible]री रहेगा।

चतुर्थ खण्ड में शंकर तथा उनके अनुयायियों और मध्व तथा उनके अनुयायियों के दर्शन के कटु सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। साथ ही साथ भागवत पुराण तथा वल्लभ तथा चैतन्य के अनुयायियों के ईश्वरवाद का वर्णन भी किया जायगा। आस्तिक दार्शनिकों के मध्य मध्व के अनुयायियों में जयतीर्थ तथा व्यासतीर्थ का सूक्ष्म विचारक तथा

तार्किक रूप में एक महान् स्थान है। पांचवे खण्ड में शैव तथा शाक्त विचारकों के अलावा तंत्र, उनका दर्शन, व्याकरण, हिन्दू सौन्दर्यशास्त्र, तथा हिन्दू धर्मशास्त्र का वर्णन किया जायगा। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि पाँचवें खण्ड की समाप्ति कर लेने पर लेखक, संस्कृत भाषागत हिन्दू विचार का सम्पूर्ण सर्वेक्षण कर चुकेगा और जो कार्य आज से 20 साल पहले उसने प्रारम्भ किया था, उसकी समाप्ति भी कर सकेगा।

उपसंहार के रूप में चार्वाक भौतिकवादियों पर एक अध्याय जोड़ दिया गया है क्योंकि पहले खण्ड में इसका वर्णन लगभग छूट गया था।

लेखक डा. एफ डब्लू. थॉमस के अतीव कृतज्ञ हैं जो आक्सफोर्ड में संस्कृत के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक तथा लेखक के सम्माननीय मित्र हैं, जो वृद्धावस्था के बावजूद विभिन्न कार्यों में व्यस्त होते हुए भी, और लेखक के ज्ञानबंधु बने रहकर उन्हें पाण्डुलिपि तैयार करने में, तथा वर्ण-विन्यास, वाक्-पद्धति और विराम चिह्नों के विषय में अनेक उपयोगी सलाह देते रहे। उनकी अनवरत सहायता के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक त्रुटियाँ रही होतीं। लेखक अपनी धर्म पत्नी डॉ. श्रीमती सुरमा दासगुप्त एम.ए., पी-एच डी (कलकत्ता तथा केम्ब्रिज) की अनवरत सहायता के लिए उनका विशेष रूप से आभारी है, उन्होंने इस पुस्तक के तैयार करने के लिए अनेक पाण्डुलिपियाँ पढ़ीं। लेखक के एक ही नेत्र के सक्षम होने से जो कठिनाई बनी हुई थी उसे ध्यान में रखते हुए यह खण्ड इस सहायता के बिना सम्पूर्ण होना अशक्य था।

डॉ. सतीन्द्रकुमार मुखर्जी एम.ए., पी-एच. डी. से समय-समय पर प्राप्त सहायता के लिए लेखक उनका भी आभारी है।

मार्च 1939 —सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

[illegible]

विषय–सूची

अध्याय—15

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

अध्याय–16

पंचरात्र मत

अध्याय–17

आलवार

अध्याय-18

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सर्वेक्षण

अध्याय–19

यामुनाचार्य का दर्शन

अध्याय–20

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

अध्याय–21

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

अध्याय–22

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

अध्याय–23

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

परिशिष्ट

————

अध्याय 15

भास्कराचार्य का सम्प्रदाय

भास्कर का समय

उदयनाचार्य ने अपनी न्याय कुसुमांजलि की टीका में भास्कराचार्य के विषय में उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्होंने वेदान्त की त्रिदंड शाखा के मतानुसार वेदान्त ग्रन्थों की टीका की है। उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म में बिकासात्मक परिणाम होता है।[1] भट्टोजी दीक्षित ने भी, अपने तत्त्व विवेक टीका-विवरण नामक ग्रन्थ में, भास्कर भट्ट के विषय में कहा है कि वे भेदाभेद-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।[2] भास्कराचार्य, शंकराचार्य के बाद हुए, यह निर्विवाद सत्य है, यद्यपि उन्होंने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है फिर भी वे जिस प्रकार से उनका उल्लेख करते हैं इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी टीका शंकराचार्य की ब्रह्मसूत्र की टीका के कुछ मुख्य सिद्धान्तों के खण्डन के हेतु लिखी है। वे टीका के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि टीका लिखने का मुख्य हेतु, उन मतों का खण्डन करना है जो सूत्रों के सच्चे अर्थ को छिपा कर केवल अपने व्यक्तिगत मतों का मण्डन करते हैं। अन्य स्थानों पर भी वे मायावाद को स्वीकार करने वाले टीकाकारों के विरुद्ध कड़ी भाषा का उपयोग कर कहते हैं कि यह टीकाकार बौद्ध है।[3] वे शंकराचार्य का विरोध अवश्य करते थे किन्तु यह विरोध केवल शंकराचार्य के मायावाद–अर्थात् जगत् माया

---

1 त्रिदंड का अर्थ तीन दंडों से है। मनु के अनुसार कुछ ब्राह्मणों में एक तथा कुछ में तीन दंडों को धारण करने का नियम था।

पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ब्रह्मसूत्र पर भास्कर की टीका की प्रस्तावना में यह कहते हैं कि रामानुज, टंक गुहदेव, भारुचि तथा यामुनाचार्य, जो रामानुज के गुरु थे उनके पहले के सभी ब्रह्मसूत्र के वैष्णव टीकाकार त्रिदंडी थे। यह कथन अत्यन्त रोचक है किन्तु अभाग्यवश वे यह नहीं बताते कि उन्होंने यह किस प्रमाण के आधार पर कहा है।

2 ''भट्ट भास्करस्तु भेदाभेदवेदान्त-सिद्धान्तवादी''
पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद ने अपनी भास्कर की टीका की प्रस्तावना में भट्टोजी दीक्षित रचित 'वेदान्त तत्त्व टीका विवरण' से उद्धृत किया है।

3 सूत्राभिप्राय-संवृत्यास्वाभिप्रायाप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये। –भास्कर की टीका, पृ० 1।
और भी, 'ये तु बौद्ध-मतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽपि अनेन न्यायेन सूत्र कारेणैव निरस्ताः।'
–वही 2, 2–29।

से उत्पन्न है और वह ब्रह्म का परिणाम नहीं है–तक ही सीमित था। किन्तु शंकराचार्य और भास्कराचार्य दोनों ब्रह्म को उपादान और निमित्त कारण मानने में एक मत हैं। शंकराचार्य इस सिद्धान्त का मण्डन इसलिए करते हैं, कि उनकी मान्यतानुसार ब्रह्म के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, किन्तु वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म में अनिर्वचनीय और असत् माया के संयोग से हुई है, और ब्रह्म जगत् से वस्तुतः भिन्न नहीं है, तो भी जगत् ब्रह्म का मायोपहित विवर्त है, माया रूप इस जगत् का ब्रह्म बीज रूप सत्य है। भास्कराचार्य का कहना है कि माया है ही नहीं, ब्रह्म ही अपनी शक्ति द्वारा जगत् रूप से परिवर्तित होता है। पंचरात्र में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है, उनकी मान्यतानुसार वासुदेव जगत् का निमित्त और उपादान कारण है, भास्कराचार्य का यहाँ भागवत धर्म से भी ऐकमत्य है। पंचरात्र के इस सिद्धान्त से उनका वे कोई विरोध नहीं पाते हैं।[1] वे केवल उनके जीववाद से सहमत नहीं हैं क्योंकि पंचरात्र के मतानुसार जीव ब्रह्म से उत्पन्न है।[2]

यद्यपि हम निश्चित रूप से तो नहीं कह सकते, किन्तु यह सम्भव है कि भास्कराचार्य ब्राह्मणों के उस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जो अन्य ब्राह्मणों के समान एक दंड को धारण न कर तीन दंड धारण करते थे, इसलिए उनकी वेदान्त सूत्र की टीका त्रिदंडी ब्राह्मण सम्प्रदायानुवर्त्ती कही जा सकती है। साधन-चतुष्टय पर विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए आश्रम-धर्म उसकी रूढ़ियों और उसके कर्मकाण्ड का त्याग करना आवश्यक नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि वेद तीन दंड धारण करने का आदेश देते हैं।[3]

माधवाचार्य अपने शंकर विजय ग्रन्थ में शंकराचार्य और भास्कर भट्ट की भेंट का उल्लेख करते हैं किन्तु यह कितना विश्वसनीय है यह कहना कठिन है।[4]

भास्कराचार्य ने शंकर-मत का खण्डन किया, और उदयनाचार्य ने भास्कर का उल्लेख किया है, इससे यह निश्चित है कि भास्कराचार्य आठवीं और दसवीं शताब्दी के बीच रहे होंगे। पंडित विन्ध्येश्वरीप्रसाद, महाराष्ट्र में नासिक के पास डा० भाऊदासजी द्वारा पाए हुए ताम्र पत्र के आधार पर कहते हैं कि शांडिल्य गोत्र में उत्पन्न, कवि चक्रवर्ती त्रिविक्रम के पुत्र, कोई भास्कर भट्ट थे जिन्हें विद्यापति की उपाधि मिली हुई

अन्य स्थान पर शंकर महायान बौद्धवाद के ही विचारों का प्रतिपादन करते हैं ऐसा कहा गया है।

विगीतं विच्छिन्नमूलं माध्यमिक-बौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।
—वही, 1,4,25।

1 वासुदेव एवं उपादान-कारण जगतो निमित्तकारण चेति ते मन्यन्ते····
तदेतद् सर्वश्रुति प्रसिद्ध एव तस्मान्नात्र निराकरणीयं पश्यामः।

2 वही। —भास्कर भाष्य, 2, 2–41।

3 वही 3, 4–26 और भी देखो तं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

4 शंकर विजय, 1580।

थी और वे शांडिल्य गोत्रोत्पन्न भास्कराचार्य के छठे पूर्वज थे, जो एक ज्योतिषी और सिद्धान्त शिरोमणि के रचयिता थे। वे ऐसा मानते हैं कि ज्येष्ठ विद्यापति भास्कर भट्ट ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे।[1] किन्तु उनका यह कथन साधक प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दोनों के नाम में समानता होने के अलावा कोई ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं मिलता जो यह सिद्ध कर सके कि इन्हीं विद्यापति भास्कर भट्ट ने ब्रह्म सूत्र की टीका लिखी है।[2] जो कुछ हम संभाव्य निश्चय के साथ यह कह सकते हैं वह इतना ही है कि भास्कराचार्य का काल मध्य आठवीं शताब्दी और मध्य दसवीं शताब्दी के बीच का है, बहुत सम्भव है कि उनका काल नवमी शताब्दी रहा हो क्योंकि वे रामानुजाचार्य से अनभिज्ञ थे।[3]

भास्कर और शंकर

ब्रह्म सूत्र 2-1-14 का अर्थ स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य और भास्कराचार्य, छान्दोग्य उपनिषद् 6-1-1 प्रपाठक का दो भिन्न दृष्टिकोण से विवरण प्रस्तुत करते हैं।[4] वाचस्पति शंकराचार्य की उपरोक्त टीका को समझाते हुए कहते हैं कि, मिट्टी को मिट्टी रूप में जान लेने से मिट्टी से बना सब जान लिया जाता है, इसलिए नहीं-कि मिट्टी की वस्तुएँ मिट्टी ही हैं क्योंकि वास्तव में हर एक वस्तु भिन्न है। अगर ऐसा है तो हम मिट्टी की एक वस्तु जान लेने पर मिट्टी की दूसरी वस्तु को कैसे जान सकते हैं। मिट्टी की वस्तुएँ वास्तव में है ही नहीं, वे तथा जो, विकार रूप से दीखते हैं, शब्द प्रयोग मात्र (वाचारम्भणम्) हैं, केवल कोरा नाम हैं (नामधेयम्), उनके अनुरूप कोई लक्ष्य पदार्थ या विषय है ही नहीं; उनका अस्तित्व ही नहीं है।[5]

भास्कराचार्य के अनुसार इस पाठ का अर्थ यह है कि मिट्टी ही केवल सत्य है।

---

1 पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की प्रस्तावना।

2 हम संस्कृत साहित्य में अनेकों भास्कर के नाम सुनते हैं जैसेकि लोक भास्कर, आन्त भास्कर, हरिभास्कर, भदन्त भास्कर, भास्कर मिश्र, भास्कर शास्त्री, भास्कर दीक्षित, भट्टभास्कर, पंडित भास्कराचार्य, भट्ट भास्कर, मिश्र, त्रिकांड मंडन, लागाक्षी भास्कर, शांडिल्य भास्कर, वत्स भास्कर, भास्कर देव, भास्कर नृसिंह, भास्करारण्य, भास्करानन्दनाथ, भास्कर सेन।

3 वे अन्य लेखकों के विषय में बहुत कम उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि शांडिल्य भागवत सम्प्रदाय के महान् ग्रन्थकार हैं। वे पाशुपत, शैव, कापालिक और काठक-सिद्धान्ती तथा पंचाध्यायी इन चार प्रकार के महेश्वरों का वर्णन करते हैं। शास्त्र को उनका मुख्य ग्रन्थ मानते हैं। वे पंचारात्रिकों का भी उल्लेख करते हैं जिनसे वे अधिकतर सहमत हैं।

4 तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः ब्र० सू० 2–1–14।
यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—छांदोग्य 6–1–1।

5 भामती, ब्रह्म सूत्र 2–1–14।

भाषा की सार्थकता दो बातों पर आश्रित है, विषय और उनसे सूचित तथ्य तथा नाम पर, जो उन्हें सूचित करते हैं। कार्य हमारे व्यावहारिक आचरण तथा तत्संबन्धित वस्तु और विषय का अधिष्ठान है, भाषा और नाम उन्हीं का निर्देश करते हैं। कार्यकारण फिर कैसे एक हो सकते हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि भाषा कार्य को ही निर्देश करती है और इसी से हमारा व्यवहार संभव है यह सत्य है, किन्तु कार्य वस्तुतः कारण के आविर्भाव, परिणाम और सत्ता की अवस्थाएँ मात्र हैं। अतः इस दृष्टि से कि कार्य आता जाता है, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है, जबकि कारण निरन्तर एकसा ही रहता है और अपने सारे सत्य परिणामों का अधिष्ठान है, अतः यह कहा जा सकता है कि कारण ही केवल सत्य है—मिट्टी ही केवल सत्य है। कार्य कारण की ही एक अवस्था है और कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों है।[1] कार्य अर्थात् नाम (नामधेय) सत्य है और श्रुति भी ऐसा ही कहती है।[2]

भास्कराचार्य शंकराचार्य के मत का खण्डन इस प्रकार करते हैं, मायावादी, नाना रूप जगत् की सत्ता मानने वालों के विरोध में जो दलील देते हैं वे ही उनके विरोध में भी दी जा सकती हैं क्योंकि वह अद्वैत की सत्ता मानते हैं। जो व्यक्ति श्रुति का श्रवण और तत्त्वचिंतन करता है वह स्वयं प्रथम अविद्या से अभिभूत होता है और अगर इस अविद्या के कारण उसका द्वैत ज्ञान मिथ्या है तो उसका अद्वैत ज्ञान भी उसी कारण-वश मिथ्या माना जा सकता है। समस्त ब्रह्म ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि यह भी जगत् के ज्ञान की तरह मिथ्या ज्ञान है। वे आगे फिर ऐसी दलील देते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नार्थ और शब्द के मिथ्या ज्ञान द्वारा, अच्छे बुरे का किसी और अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार अद्वैत मतवादी उपनिषद् ग्रन्थों के शब्दार्थों के मिथ्या-ज्ञान द्वारा ही सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क मिथ्या-सादृश्यानुमान पर आधारित है। जब कोई कुछ स्वप्नों के भले-बुरे परिणाम के बारे में निर्णय करता है तब वह बिना किसी आधार के ऐसा नहीं करता,

---

राहु एक राक्षस है जो शरीर रहित केवल शीश ही है। उसका सारा शरीर मस्तक ही है। तो भी भाषा की सुविधा के लिए हम राहु का सिर (राहोः शिरः) ऐसा प्रयोग करते हैं। ठीक उसी प्रकार मिट्टी ही केवल सत्य है, और मिट्टी के बर्तन, घड़ा, शकोरा इत्यादि भाषा के प्रयोग मात्र हैं ऐसी कोई यथार्थ वस्तु या सत्ता ही नहीं जिनका कि वे नाम हो सकते हैं। उनकी सत्ता ही नहीं है वे विकल्प मात्र हैं, वाचा केवलं आरभ्यते विकार-जातं न तु तत्त्वतोऽस्ति यतो नामधेयमात्रं एतत्····यथा राहोः शिरः शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति, तथा चावस्तुतया अनृतं विकार-जातम्।

1 वागिन्द्रियस्य उभयमारम्भणं विकारो नामधेयम्····उभयमालम्ब्य वागव्यवहारः प्रवर्तते घटेन उदकं आधारेऽति मृण्मयं इत्यस्य इदं व्याख्यानं····कारणमेव कार्यात्मना घटवदवतिष्ठते····कारणस्यावस्थामात्रम् कार्यं व्यतिरिक्ता-व्यतिरिक्तं शुक्ति-रजत-वदागमापायिधर्मित्वाच्च अनृतम् अनित्यमिति च व्यपदिश्यते।

— भास्कर भाष्य, 2–1–14।

2 अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति····इत्यादि।

— वही।

क्योंकि उसके निर्णय का आधार विशेष प्रकार के स्वप्नों के अनुभव ही है। और स्वप्नानुभव तथ्य हैं जो अपनी विशेषता रखते हैं। शश-विषाण (खरगोश के सींग) की तरह केवल मिथ्या नहीं हैं। शश-विषाण के दृष्टान्त के आधार पर कोई किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। वर्णों का भी अपना आकार और रूप है और इनका सर्वसाधारण की मान्यतानुसार, विशेष ध्वनि से सम्बन्ध है। यह भी मानी हुई बात है कि भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वर्णों का उपयोग एक ही ध्वनि के सूचन में किया जा सकता है। पुनः अगर कोई किसी भूल से भय का अनुभव करके मर जाता है तो वह केवल असत् या मिथ्या वस्तु के कारण नहीं मरता, क्योंकि वह सचमुच डरा था, उसकी मृत्यु का कारण भय था, जो किसी यथार्थ वस्तु की स्मृति से उत्तेजित हुआ था। भय के अनुभव में मिथ्यात्व केवल इतना ही था कि डराने वाली जिस वस्तु का भय हुआ वह उस समय उपस्थित नहीं थी। इस प्रकार हम ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत कर सकते, जिससे हम यह सिद्ध कर सकें कि मिथ्या-ज्ञान या केवल मिथ्यात्व से सच्चाई या सच्चे ज्ञान तक पहुँच सकते हैं। पुनः शास्त्र जगत् का मिथ्यात्व कैसे प्रतिपाद कर सकते हैं? अगर श्रवण से प्राप्त सारा ज्ञान मिथ्या है तो सारी भाषाएँ भी मिथ्या हो जाती हैं और तब शास्त्र को भी मिथ्या ही मानना होगा।

इसके अतिरिक्त यह अविद्या भी क्या है यदि कोई इसका वर्णन नहीं कर सकता तो कोई इसे दूसरे को कैसे समझा सकता है? और यह कथन कि अविद्या विविध आचार-व्यवहार से पूर्ण आनुभविक जगत् के ठोस एवं मूर्त्त रूप में अभिव्यक्ति पाकर भी अनिर्वचनीय बनी रहती है, अत्यन्त निरर्थक है।[1] जो इस प्रत्यक्ष तथा अनुभव व्यावहारिक जगत् के रूप में अभिव्यक्त होगा, वह अनिर्वचनीय है यह कथन कितना अर्थहीन विषयक है।[2] अगर वह अनादि है तो वह नित्य अवश्य है और तब मोक्ष प्राप्त असंभव है। वह सत् और असत् दोनों नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा कहना परस्पर विरोधी है। वह केवल अभाव रूप भी नहीं हो सकता क्योंकि जो असत् है वह बन्धन का कारण भी नहीं हो सकता है। अगर वह बन्धन का कारण है तो वह भाव रूप अवश्य है, और तब ब्रह्म में द्वैत उत्पन्न होने का दोष आए बिना नहीं रह सकता। इसलिए मायावादी का सिद्धान्त मिथ्या प्रमाणित होता है।

सत्य तो वास्तव में यह है कि जिस प्रकार दूध दही के रूप में जमता है वैसे ही ईश्वर ही स्वयं अपनी इच्छा, ज्ञान और अनन्त से अपने आपको जगत् रूप में परिणमित करता है। ईश्वर निरवयव होते हुए भी, जगत् के रूप से परिणमित होता है इस कथन में कोई असंगति नहीं है, क्योंकि वह अपनी विभिन्न शक्तियों को अपनी

---

1 यस्याः सर्वमिदं कृत्स्नं व्यवहाराय कल्पते
निर्वक्तुं सा न शक्येति वचनं वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

2 यस्याः कार्यं इदंकृत्स्नं व्यवहार्य कल्पते।
निर्वक्तुं सा न शक्येऽति वचनं वचनार्थकम्।

—भास्कर भाष्य।

इच्छा से रूपांतरित कर ऐसा परिणाम ला सकता है। ईश्वर की दो शक्तियाँ हैं। भोग्य शक्ति द्वारा वह भोग्य सृष्टि बना है और भोक्त-शक्ति द्वारा भोक्ता जीव बना है। यह सब होते हुए भी वह स्वयं अपने आप में अपरिणामी और निर्मल है। केवल अपनी शक्ति के रूपांतरण से वह भोक्ता और भोग्य रूप जगत् में परिणमित होता है। सूर्य अपने बिम्ब में से जैसे किरणों को प्रसारित कर फिर अपने में समेट लेता है फिर भी सूर्य ही बना रहता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर जगत् का निर्माण और समाहरण करता है।[1]

भास्कराचार्य के भाष्य में उपलब्ध दर्शन

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भास्कराचार्य के मतानुसार, जीव और जड़ जगत्, स्वयं ब्रह्म की अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा उसके परिणाम मात्र हैं। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है कि जगत् और जीव ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न ? भास्कराचार्य उत्तर देते हैं कि भेद में अभेद धर्म विद्यमान है (अभेदधर्मश्च), लहर समुद्र से भिन्न भी है और अभिन्न भी। लहरें समुद्र की शक्ति की अभिव्यक्ति हैं इसलिए जो सागर अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भिन्न दीखता है वस्तुतः वह अपनी शक्ति से अभिन्न है। ठीक इसी प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशक या दाहक के रूप में भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए जो एक है वह नाना रूप भी है, जो है वह न तो नितान्त एक रूप है न नितान्त भिन्न रूप है।[2]

जीव ईश्वर से वस्तुतः भिन्न नहीं है वरन् उसका मात्र अंश है, जैसे अग्नि-स्फुलिंग, अग्नि के अंश हैं। किन्तु ईश्वराअंश जीवों की यह विशेषता है, कि वे ब्रह्म से एक होते हुए भी अनादिकाल से अविद्या, इच्छा और कर्मों के प्रभाव में रहे हैं।[3] जिस तरह आकाश सब जगह एक सा ही है तो भी मठ या घर के अन्तर्गत आकाश, महत् आकाश नहीं है। एक दृष्टिकोण से वह अखण्ड आकाश का अंश कहा जा सकता है, अथवा जिस प्रकार वायु पंच प्राण के रूप में भिन्न-भिन्न जैविक में व्यापार करती है, ठीक इसी प्रकार जीव भी एक अर्थ में ईश्वर के अंश कहे जा सकते हैं। शास्त्र, जीव को ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का आदेश देते हैं, वह युक्ति संगत है और योग्य भी है, क्योंकि जीव की परमात्मा, ब्रह्म या ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा ही मुक्ति का कारण है तथा सांसारिक वस्तुओं की अभिलाषा ही बंध का कारण है।[4] जीव, अविद्या, इच्छा और कर्म से अभिभूत होने के कारण अणुरूप है और जिस प्रकार

---

1 भास्कर भाष्य, 2-1-27तथा 1-4-25।

2 अभेद-धर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदः स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, नहि तरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ताः शक्तयः शक्ति-शक्तिमतोश्च अनन्यत्वमन्यत्वं चोपलक्ष्यते यथाग्नेर्दहन प्रकाशनादिशक्तयः····तस्मात् सर्वम् एकानेकात्मकं नात्यतमभिन्नं भिन्नं वा।

—भास्कर भाष्य 2–1–18।

3 वही, 1–4–21।

4 रागोहिपरमात्म विषयो यः स मुक्तिहेतुः विषय-विषयो यः स बंधहेतुः।

—भास्कर भाष्य।

चंदन लेप का एक अंश सारे वातावरण को सुगंधित बना देता है इसी प्रकार जीव भी स्वभाव में रहते हुए सारे शरीर को चेतन कर देता है। वह स्वभाव से चेतन है केवल अन्य विषयों के ज्ञान के संबंध में ही उनकी उपस्थिति पर वह निर्भर है।[1] जीव का स्थान हृदय में है और हृदय के चर्म द्वारा वह सारे देह के सम्पर्क में रहता है। यद्यपि वह बन्धनयुक्त है, अविद्या इत्यादि से प्रभावित है और अणुरूप है, तो भी अंततोगत्वा वह अणुरूप नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है। बुद्धि, अहंकार, पंच इन्द्रियाँ और पंच प्राण से प्रभावित होकर जीव पुनर्जन्म के चक्र में फँसता है। अणुरूप होना और बुद्धि इत्यादि के सम्पर्क में रहना जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु जहाँ तक वह सम्बन्ध विद्यमान है वहाँ तक, जीव के कर्तृत्व पूर्णतया सत्य है, किन्तु इन कर्तृत्व का मूल, अंत में ईश्वर स्वयं ही है। ईश्वर ही हम से सारे कर्म कराता है, वही हम से सत्कर्म कराता है और हमारे अन्तर में रहता हुआ हमारे सारे कर्मों का नियन्त्रण भी करता है।

मनुष्य को प्रत्येक आश्रम में शास्त्रोक्त कर्म करना चाहिये, वह कभी भी उस अवस्था पर नहीं पहुँच सकता जहां वह शास्त्रोक्त कर्म के बंधन से ऊपर उठ जाता हो।[2] अतः शंकराचार्य का यह कथन ठीक नहीं है कि उच्च ज्ञान का अधिकारी जीवन के धर्म तथा शास्त्रोक्त कर्म और आचार से परे है या जिन लोगों के वास्ते शास्त्रों में जो कर्मकांड निर्दिष्ट किये गये वे उच्च ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। दूसरे शब्दों में शंकराचार्य का यह कथन कि कर्म और ज्ञान में कहीं भी समुच्चय नहीं है यह असत्य है। भास्कराचार्य यह अवश्य मानते हैं कि नित्य नैमित्तिक कर्म, ब्रह्म को परम सत्य का दर्शन नहीं करा सकते, तो भी ज्ञान-समुच्चित कर्म परम श्रेय, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति करा सकते हैं। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हमारा धर्म है। हम शास्त्र के आदेशानुसार ही इसे स्वीकरते हैं क्योंकि शास्त्र यहां पर हमें विधि देता है, आत्मा जानने योग्य है इत्यादि (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः), इसलिये शंकराचार्य का यह कथन ठीक नहीं है कि शास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म हमें अधिक से अधिक पापरहित बनाकर वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी बनाते हैं। भास्कराचार्य यह कहते हैं कि शास्त्रोक्त कर्म करना हमारे लिए उतना ही आवश्यक है जितना मुक्ति के लिये ज्ञान प्राप्त करना है।

---

1 वही 2–3–18, 22, 23।

2 भास्कर भाष्य, 1–1–1।

ब्रह्म सूत्र, एक अर्थ में मीमांसा सूत्र से ग्रथित है जिसका अनुकरण करना आवश्यक है, क्योंकि कर्मकाण्ड का पालन करने के पश्चात् ही ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, इसलिये ब्रह्म-ज्ञान कर्मकांड की आवश्यकता हटा नहीं सकता, तथा ब्रह्म सूत्र कोई उच्च तथा भिन्न लोगों के ही लिये है इस विचार को मान्य रखते हुए भास्कर उपवर्ष या उपवर्षाचार्य का अनुसरण करते हैं तथा उन्हीं की मीमांसा-सूत्र की टीका का उल्लेख करते हैं तथा उन्हें इस प्रणाली के संस्थापक कहते हैं।

—वही 1-1-1 तथा 2-2-27 और 1-1-4। आत्म ज्ञानाधिकृतस्य कर्मभिर्विनापवर्गानुपपत्ते ज्ञानेन कर्म समुच्चीयते।

भास्कराचार्य ज्ञान और चैतन्य के बीच विशेषतः आत्म-चैतन्य और ज्ञान के बीच भेद मानते हैं। ज्ञान का अर्थ विषय-ज्ञान है जो इन्द्रिय, मनस् और विषय के सम्बन्ध से प्रकाश और स्मृति और संस्कार की अंतः क्रिया से प्राप्त होने वाला अनुभव है। ज्ञान स्वतः चालित नहीं है, वह सहकारी सम्बन्ध से इंद्रियादि-व्यापार-जनित कार्य है। (जिससे) जब कभी ऐसे सहायक सम्मिलित होकर इंद्रियों को संचालित करते हैं तब विषय-ज्ञान होता है। भास्कराचार्य इसलिए कुमारिल के मत से स्पष्ट विरोध करते हैं।[1] कुमारिल के मतानुसार ज्ञान वह भाव पदार्थ है जो प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किन्तु बुद्धि-व्यापार के कारक के रूप में अनुमान-गम्य है यह स्वतः प्रज्ञात नहीं है। अगर हम इस प्रकार प्रत्यक्ष बुद्धि-व्यापार को समझाने के लिए अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ को अनुमान द्वारा मान लें तो हमें इस भाव-पदार्थ को समझाने के लिए दूसरे भाव-पदार्थ की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी और इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। तदुपरान्त प्रत्यक्ष बुद्धि-व्यापार को समझाने के लिए अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ को अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि अगर वह पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो, बुद्धि-व्यापार के साथ उसका सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, फिर उसका अनुमान कैसे किया जा सकता है? इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य है अन्य कोई अप्रत्यक्ष भाव पदार्थ इसका कारण नहीं है। विषय-ज्ञान (संवेदना) अनेकों सहायकों की सम्बन्धित क्रियाओं का प्रत्यक्ष कार्य है। विषय-ज्ञान, आत्म-चैतन्य से नितान्त भिन्न है, क्योंकि आत्म-चैतन्य नित्य है और हमेशा रहता है, जबकि विषय-ज्ञान, तत्सम्बन्धी सहायक परिस्थितियों पर आश्रित है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भास्कराचार्य का प्रामाण्यवाद स्वतन्त्र है विषय-ज्ञान (संवेदना) के बारे में न्याय से इनकी युक्ति है किन्तु वह न्याय से भिन्न भी है क्योंकि वे जीव को निरन्तर आत्म-चैतन्य मानते हैं। शंकराचार्य के प्रमाण्यवाद से भी यह भिन्न है क्योंकि विषय-ज्ञान उपाधियुक्त चैतन्य नहीं है किन्तु अन्य प्रकार का ज्ञान है।[2] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वेदान्त परिभाषा के रचयिता धर्मराजध्वरींद्र के मत से विपरीत भास्कराचार्य, मनस् को ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं।[3] ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के विषय में भास्कराचार्य का यह मत है कि सत्य-ज्ञान स्वतः प्रमाणित है, मिथ्या-ज्ञान परतः प्रमाणित है।[4]

जैसा कहा गया है, तदनुसार भास्कराचार्य के मत से मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त नहीं होती है, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते हुए हमें शास्त्रोक्त धर्म का आचरण करना आव-

---

1 ज्ञान क्रिया कल्पनायां प्रमाणाभावात्—आलोकेंद्रिय मनः संस्कारेषु हि सत्सु संवेदनमत्पद्यते इति तदभावे नोत्पद्यते, यदि पुनरपरं ज्ञानं कल्प्यो तस्याप्यन्यत् इति अनवस्था न च ज्ञान-क्रियानुमाने लिंगमस्ति, संवेदनमिति चेन्न, अगृहीत संबंधत्वात्।

—भास्कर भाष्य 1-1-1।

2 केचिदाहुः आत्मा प्रमाण्यमिंद्रिय द्वारापाधि निर्गम विषयेषु वर्तते—तदिदमसम्यम् दर्शन—आलोकेंद्रियादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यमानं—चान्यदिति युक्तं। —भास्कर भाष्य।

3 वही 2-4-17।

4 वही 1-4-21।

श्यक है क्योंकि ज्ञान और कर्म में विरोध नहीं है। धर्म को त्याग देंगे तो मुक्ति नहीं मिलेगी।[2] मुक्तावस्था में अखण्ड निरन्तर सुख का ज्ञान प्राप्त होता है।[1] मुक्त चाहे तो शरीर इन्द्रिय आदि से सम्पर्क रखे या न रखे।[3] वह सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् है और सब जीवों से और ईश्वर स्वयं से अभिन्न है।[4] मुक्त होने के लिए ब्रह्म के प्रति राग आवश्यक है जिसका स्वरूप विशद करते हुए उसे (समाराधना) भक्ति कहा है और भक्ति का अर्थ ईश्वर का ध्यानादि से परिचर्या करना कहा है। भक्ति किसी प्रकार का ईश्वर के प्रति प्रेम या भाव नहीं है जैसा वैष्णव संप्रदाय में माना है, किन्तु वह ध्यान है।[5] यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि अगर ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ हो तो ध्यान किसका किया जाय? क्या हम जगत् का ध्यान करें? भास्कराचार्य उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म जगद् रूप में परिणत होने पर विलीन नहीं होता एवं जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है इसका अर्थ केवल यही है कि जगत् ब्रह्ममय है, जड़ नहीं है। जगत् चिन्मय अभिव्यक्ति है और चिन्मय परिणाम है, जो जड़ रूप से दीखता है वह वास्तव में चिन्मय है। जगत् रूप में परिणत ब्रह्म, जो अनेक शक्ति-सम्पन्न है और इसके अलावा भी जो निष्प्रपंच ब्रह्म है वह अपने अन्तर्यामी रूप से परे है, भक्ति ध्यान इसी का करना चाहिए। नानात्व रूप से अभिव्यक्त जगत्, अन्त-में अपने मूल स्रोत निष्प्रपंच ब्रह्म में वापस मिल जाएगा, शेष में कुछ भी नहीं बचेगा। जड़ रूप जगत् चैतन्य में पानी के नमक के कण की तरह घुल-मिल जाएगा।[6] यह पर ब्रह्म, जिसका ध्यान करना कहा गया है, वह सद्-लक्षण और बोध-लक्षण है।[7] वह अनन्त और असीम है। ब्रह्म को सत्, चित् और अनन्त रूप कहा गया है किन्तु ये उक्त पद किन्हीं तीन भाव पदार्थों को सूचित नहीं करते, ये ब्रह्म के गुण हैं और अन्य सभी गुणों की तरह अपने द्रव्य से अलग नहीं रह सकते। क्योंकि द्रव्य गुण बिना नहीं रह सकता, और न गुण द्रव्य के बिना। द्रव्य गुण अपने धर्म के कारण भिन्न पदार्थ नहीं बन जाता।[8]

भास्कराचार्य जीवनमुक्त स्थिति को नहीं मानते, क्योंकि जहाँ तक शरीर है वहाँ तक संचित कर्मानुसार गति और आश्रम-धर्म पालन करना ही पड़ता है। साधारण बद्ध पुरुष से, ज्ञानी का भेद यही रहता है कि बद्ध अपने को कर्त्ता इत्यादि मानता है,

---

1 वही 3–4–26।

2 वही 4–4–8।

3 वही 4–4–12।

4 मुक्तः कारणात्मानं प्राप्तः तद्वदेव सर्वज्ञानः सर्वशक्तिः।

—भास्कर भाष्य 4–4–7।

5 वही 3–2–24।

6 वही 2–2–11, 13, 17।

7 वही 3–2–23।

8 न धर्म धर्मि-भेदेन स्वरूपभेद इति; नहि गुणरहितं द्रव्यमस्ति, न द्रव्य रहितो गुणः।

—वही, 3–2–23।

ज्ञानी ऐसा नहीं सोचता । अगर कोई जीवन-काल में मुक्त हो जाये तो वह सबके मन को जान सकता है । मुक्तावस्था में जीव निःसम्बन्ध हो जाता है या जैसाकि भास्कराचार्य कहते हैं वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हो जाता है, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, जीवन काल में मुक्ति मिल ही नहीं सकती क्योंकि जहाँ तक मनुष्य जीवित है वहां तक उसे आश्रम-धर्म पालन करना पड़ेगा । ईश्वर की पहचान और उसके प्रति सबल ध्यान केन्द्रित करना मानव के लिए आवश्यक है ताकि उसे मृत्यु के उपरान्त मुक्ति प्राप्त हो सके ।[1]

---

1 भास्कर भाष्य 3–4–26 ।

अध्याय 16

पंचरात्र मत

पंचरात्र की प्राचीनता

पंचरात्र सिद्धान्त वास्तव में बहुत प्राचीन है जिसका ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से सम्बन्ध है। वह एक दृष्टि से भविष्य के समस्त वैष्णव संप्रदायों की नींव है। शतपथ ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि परम पुरुष नारायण ने, समस्त नरों से परे बनने की एवं सबसे एक होने की इच्छा प्रकट की, तब उनको पंचरात्र यज्ञ का दर्शन हुआ जिसे करके, वे अपना ध्येय पा सके।[1] ऐसा हो सकता है कि 'पुरुषो ह नारायणः' के ये विशेष नाम आगे जाकर नर और नारायण नामक दो ऋषियों में परिणत हो गये हों। पाठ का अर्थ यह भी हो सकता है कि नारायण नाम का एक पुरुष पंचरात्र यज्ञ करके महान् देवता बन गया। वेंकट सुधी ने अपने 1900 पंक्तियों से युक्त सिद्धान्त रत्नावली नामक ग्रन्थ में, शास्त्र प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि नारायण सर्वश्रेष्ठ देव है और शिव, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि देव उसके अधीन हैं।[2] सिद्धान्त रत्नावली के चतुर्थ अध्याय में ऐसा कहा है कि नारायण शब्द उपनिषद् के ब्रह्मन् शब्द का सूचक है। महाभारत (शांति पर्व 334 अध्याय) में उल्लेख है कि नर नारायण, स्वयं, अपरिणामी ब्रह्म की, जो सारी सत्ता की आत्मा है, उपासना करते हैं, और तब भी उन्हें सबसे महान् कहा गया है। बाद के अध्याय में ऐसा उल्लेख है कि एक राजा, नारायण का अनन्य भक्त था जो सात्वत धर्मविधि के अनुसार उनकी उपासना करता था।[3] वह उनका इतना अनन्य भक्त था कि उसने अपना सब कुछ राज-पाट, धनराशि इत्यादि को नारायण की ही देन मान लिया था। वह अपने घर में पंच-रात्र अनुयायी साधुओं को सम्मान और आश्रय देता था। इन साधुओं ने राजा के आश्रय में रहकर यज्ञ किया पर वे नारायण के दर्शन नहीं कर सके इससे बृहस्पति क्रुद्ध हो गये। कुछ सन्तों ने इस वृतान्त को इस प्रकार कहा कि जब ऋषि कठोर तपस्या के बाद भी ईश्वर दर्शन न कर सके तब स्वर्ग से एक सन्देश आया कि महानारायण श्वेत द्वीपवासियों को ही साक्षात्कार प्रदान करते हैं, जो इन्द्रीयहीन हैं, जिन्हें भोजन की आवश्यकता नहीं होती और जो एकेश्वरवादी भक्त हैं। ये सन्त श्वेत द्वीप के

---

1 शतपथ ब्राह्मण, 13, 6, 1।

2 सिद्धान्त रत्नावली हस्तलिखित है। अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

3 सात्वत संहिता नामक प्राचीन पंचरात्र संहिता प्राप्त है जिसका उल्लेख शीघ्र ही किया जाएगा।

लोगों के अपार सौंदर्य से चकाचौंध हो गये अतः उन्हें न देख सके तब वे तपस्या करने लगे। तत्पश्चात् वे उन्हें दृष्टिगोचर हो पाए। श्वेत द्वीपवासी मंत्र जप द्वारा देवता की आराधना करते थे और उन्हें भेंट अर्पित करते थे। इसके बाद स्वर्ग से फिर सन्देश आया कि वे श्वेत द्वीपवासियों को देख पाये हैं इसी में उन्हें सन्तोष मान लेना चाहिए और वापस घर लौट जाना चाहिए क्योंकि महेश्वर का बिना पूर्ण भक्ति के साक्षात्कार नहीं होता। नारद ने भी, ऐसा कहा जाता है, कि श्वेत द्वीप के विचित्र वासियों को दूर से देखा था। नारद फिर श्वेतद्वीप गये और वहाँ उन्होंने अपने आराध्यदेव नारायण के दर्शन किए। नारायण ने उनसे कहा कि वासुदेव परम और अपरिणामी ईश्वर हैं; जिनके संकर्षण की उत्पत्ति हुई जो सब जीवों के अधिपति हैं, उनसे प्रद्युम्न हुए जो मनस् हैं, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए जो अहंकार हैं। अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिनसे यह सारी सृष्टि प्रकट हुई। प्रलय के बाद वासुदेव से कर्मपूर्वक संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध पैदा होते हैं।

कुछ उपनिषद् वैष्णव उपनिषद् कहे जाते हैं जो पंचरात्र ग्रन्थों के बाद रचे गयें हैं। ये उपनिषद् इस प्रकार हैं: अव्यक्तोपनिषद् या अव्यक्त नृसिंहोपनिषद् जिसकी टीका वासुदेवेन्द्र के शिष्य उपनिषद् ब्रह्म योगिन् ने की है, काली सन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, गरुड़ोपनिषद्, गोपाल तापनी उपनिषद् गोपालोत्तर तापनी उपनिषद्, तारा सारोपनिषद्, त्रिपादविभूति महानारायण उपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, नृसिंहतापिनी उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामतापिनी उपनिषद्, रामोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामरहस्य उपनिषद्, वासुदेवोपनिषद् जिनके टीकाकार उपनिषद् ब्रह्मयोगिन् हैं। ये सब उपनिषद् अनावश्यक वर्णन, क्रिया, कर्म और मंत्रों मे भरे हैं। इनका पंचरात्र ग्रन्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इनमें से कुछ उपनिषदों को, जैसे कि नृसिंहतापिनी, गोपालतापिनी इत्यादि वैष्णव-सम्प्रदाय के गौड़िय पंथ वालों ने अपना लिया है।

पंचरात्र साहित्य का स्थान

यामुन अपने 'आगम प्रामाण्य' ग्रन्थ में पंचरात्र की विशिष्टता की इस प्रकार विवेचना करते हैं। उनका कथन है कि भाषा द्वारा दिया हुआ उपदेश या तो स्वतः प्रमाण होता है या अन्य प्रमाणों की वैधता द्वारा सिद्ध होता है। सामान्य मनुष्य का उपदेश स्वतः सिद्ध नहीं होता। पंचरात्र से सम्बन्धित विशिष्ट आनुष्ठानिक प्रक्रियायें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा ज्ञेय नहीं है। केवल ईश्वर ही पंचरात्र का उपदेश दे सकते हैं क्योंकि उनका ज्ञान अमर्यादित है और जगत् की सारी वस्तुओं तक पहुँचता है। यद्यपि इस मत के विरोधी यह कहना चाहते हैं कि यदि प्रत्यक्ष के क्षेत्र के अंतर्गत सब वस्तुएँ आ जाती हैं तो वे प्रत्यक्ष हैं ही नहीं एवं उसके उपरान्त यह तथ्य कि कुछ वस्तुयें अन्य वस्तुओं से बड़ी हैं यह सिद्ध नहीं करता कि कोई भी वस्तु जो बड़ी या छोटी होने की क्षमता रखती हो उसकी असीम क्षमता हो।[1] फिर भी यदि यह मान

1 अथ एकस्मिन् सातिशये केनाप्यन्येन
निरतिशयेन भवितव्यम् इति आहोस्वित्

लिया जाये कि कोई व्यक्ति ऐसा भी है, जिसके प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा असीम है। इससे ऐसा मानने को बाध्य नहीं होना पड़ता कि वह व्यक्ति पंचरात्र के कर्मकाण्ड के विषय में उपदेश दे सके, और कोई भी ऐसा आगम प्राप्त नहीं है जो पंचरात्र में कहे कर्मकाण्ड का आदेश देता हो। यह निश्चित भी नहीं किया जा सकता कि पंचरात्र के रचनाकारों ने अपने ग्रन्थों को वेदों के आधार पर रचा है या उन्होंने अपने स्व-कल्पित विचारों को जन्म दिया और वे वेद पर आधारित हैं ऐसा कह दिया। यह तर्क किया जाए कि पंचरात्र मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थों के समान वेदों पर आधारित होने के कारण ही प्रमाण रूप है, किन्तु यह मिथ्या सिद्ध होता है जब हम यह पाते हैं कि स्मृति में, जो वेद पर आधारित है, पंचरात्र का विरोध किया गया है। अगर ऐसा कहा जाय कि पंचरात्र कर्म-काण्ड के अनुयायी अन्य वेद अनुयायी ब्राह्मणों जैसे ब्राह्मण हैं तो विरोधी पक्ष का यह कहना है कि पंचरात्र के अनुयायी बाह्य रूप से ब्राह्मण होने का दिखावा करें किन्तु समाज उन्हें ऐसा नहीं मानता। सहज सामान्य ब्राह्मण भागवत और पंचरात्र के अनुयायी ब्राह्मणों के साथ सामाजिक भोज में एक पंक्ति में नहीं बैठते। सात्वत शब्द ही निम्न जाति का द्योतक है[1] और भागवत और सात्वत शब्द पर्यायवाची है। ऐसा कहा जाता है कि पंचम जाति के सात्वत लोग राजाज्ञा से मंदिर में पूजा करते हैं और वे भागवत कहलाते हैं। सात्वत, आजीविका के लिए मंदिर में पूजा करते हैं और दीक्षा तथा मूर्ति पर चढ़ाई भेंट से अपना निर्वाह करते हैं, उनका अन्य ब्राह्मणों से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए वे ब्राह्मण नहीं कहे जा सकते। ऐसा भी कहा जाता है कि जो व्यक्ति आजीविका मात्र के लिए पूजा करता है उसके दर्शन से ही लोग अपवित्र हो जाते हैं जिनकी शुद्धि योग्य प्रायश्चित कर्म द्वारा ही हो सकती है। पंचरात्र ग्रन्थ निम्न कोटि के सात्वत और भागवत अपनाते हैं, इसलिए ये ग्रन्थ अप्रमाण और अवैदिक माने जाने चाहिए। अगर ये ग्रन्थ वेद पर आधारित हैं तो उनका विशेष प्रकार के कर्म-काण्ड के प्रति आग्रह होना अर्थ-हीन है इसी कारण से बादरायण भी ब्रह्मसूत्र में पंचरात्र के दार्शनिक मत का खण्डन करते हैं।

ऐसा तर्क अवश्य किया जा सकता है कि पंचरात्र की विधि ब्राह्मण अंतर्गत स्मृति साहित्य की विधियों से मेल नहीं खाती किन्तु ऐसे विरोध महत्त्व नहीं रखते क्योंकि दोनों ही वेद पर आधारित हैं। जबकि ब्रह्मणोक्त स्मृति की प्रमाणता भी वेद पर आधारित है तो पंचरात्र को न इन स्मृतियों की विधि से सामंजस्य करने की आवश्यकता है न इन स्मृतियों को पंचरात्र की विधि से।

समान जातीयेनान्येन निरतिशयदशाम्
अधिरूढ़ेन भवितव्यम् इति ।।
न तावद् अग्रिमः कल्पः कल्पतेऽनुपलम्भतः ।
नहि दृष्टं शरावादि व्योमेव प्राप्त वैभवम् ।। —आगम प्रामाण्य, पृ० 3।

1 मनु ऐसा कहते हैं :
वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च ।
भारुश्च निजंघ्रश्च मैत्र–सात्वत एवच । — आगम प्रामाण्य, पृ० 8।

प्रश्न यह उठता है कि वेद किसी एक व्यक्ति की वाणी है या नहीं। वेद मनुष्य की कृति है इस कथन के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि वेद एक साहित्य होने के नाते निश्चित रूप से मनुष्य की कृति हैं। दैवी पुरुष, जो पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है वह अपनी कृपा से मनुष्य के हित के लिए वेद की रचना कर उसकी विधि देता है। मीमांसाकार भी यही मानते हैं कि सांसारिक जीवन का व्यवहार, पाप-पुण्य से प्रभावित है। इसलिए दैवी पुरुष जिसने जगत् उत्पन्न किया है वह पाप-पुण्य के मूल को साक्षात् देखता है। संसार हमारे कर्मों के प्रभाव से तत्क्षण उत्पन्न नहीं होता और हमें यह मानना ही पड़ेगा कि कोई ऐसी सत्ता है जो हमारे कर्मों के फलों का उपयोग करके उसके योग्य जगत् की रचना करती है। समस्त शास्त्र भी ऐसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। इसी ईश्वर ने, एक तरफ वेदों की रचना की और मनुष्यों को सांसारिक एवं स्वर्ग सुख प्राप्त कराने योग्य कर्मों की विधि दी और दूसरी तरफ, ईश्वर भक्ति से परमानन्द की प्राप्ति और ईश्वर के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त कराने के लिए पंचरात्र ग्रन्थों की रचना की। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो रचना से प्राप्त रचयिता, या सर्जक के तर्कसंगत निष्कर्षों को ठीक नहीं मानते और वेदों को नित्य सनातन और अपौरुषेय मानते हैं। इस दृष्टि से जिन कारणों से वेद और संवाद्री स्मृतियाँ प्रमाण हैं, ठीक उन्हीं कारणों से पंचरात्र भी प्रमाण है। किन्तु सत्य तो यह है कि वेदों से ही हम जान पाते हैं कि उनका रचयिता परम पुरुष है। उपनिषद् में जिसे परमेश्वर कहा है वही वासुदेव है और वे ही पंचरात्र के रचयिता हैं। आगे और भी तर्क दिये जाते हैं कि वेद का प्रयोजन विधि निषेधात्मक कर्म की आज्ञा ही देना नहीं है किन्तु दिव्य पुरुष के रूप में परम सत्ता की प्रकृति का वर्णन करना भी है। इसलिए हमें पंचरात्र की प्रमाणता को स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि वह अपना मूल, दैवी पुरुष नारायण और वासुदेव में बताता है। यामुन तत्पश्चात् बराह, लिंग एवं मत्स्य पुराण, मनु संहिता और अन्य स्मृति के पाठों की ओर संकेत करते हैं। यामुन अपने 'पुरुष निर्णय' ग्रन्थ में विशद रूप से शास्त्रों के तर्क की विवेचना करते हुए यह बताने की कोशिश करते हैं कि उपनिषद् और पुराण में कहे गये महान् दैवी पुरुष नारायण ही हैं। यह दैवी सत्ता शैवों का शिव नहीं हो सकती, क्योंकि तीन प्रकार के शैव मतानुयायी अर्थात् कापालिक, कालमुख, और पाशुपत एक दूसरे की विरोधी आचार प्रक्रिया का विधान करते हैं। यह सम्भव नहीं है कि शास्त्र इस प्रकार के विरोधी आचारों की आज्ञा दें। इनके कर्मकांड भी प्रकट रूप से अवैदिक हैं। ये कर्म-काण्ड रुद्र से उत्पन्न हुए हैं इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह रुद्र वही है जिसका उल्लेख वेदों में है। ऐसा हो सकता है कि ये जिस रुद्र का उल्लेख करते हैं, वह कोई अन्य पुरुष भी हो। वे उन अनेक पुराणों का भी उल्लेख करते हैं जिनमें शैवों की निन्दा की गई है। अगर पंचरात्र मत वेदोक्त होता तो हम वेदों में उन पाठों को ढूँढ पाते जो पंचरात्र का आधार हैं, इस तर्क के विरोध में यामुन का कथन है कि पंचरात्र ग्रन्थ ईश्वर ने उन भक्तों के हित के लिए स्वयं रचे हैं जो वेदोक्त बहुश्रम साध्य क्रियाओं से घबड़ा गये थे। इसलिए वेद में पंचरात्र ग्रन्थों के समर्थक पाठ न पाये जाने का कारण समझा जा सकता है। जब शांडिल्य ने चारों वेदों में अपने अभीष्ट हेतु को प्राप्त करने का कोई साधन नहीं पाया तब वे भक्ति की तरफ झुके, इसका कथन

मतलब वेद की निन्दा नहीं है। इसका अर्थ यही होता है कि पंचरात्र में अभीष्ट प्राप्त करने का साधन वेद से भिन्न है। पंचरात्र, वेदोक्त कर्मकाण्ड के अलवा अपने विशेष कर्मकाण्ड की विधि बताते हैं, इससे वे अवैदिक सिद्ध नहीं होते। क्योंकि जहां तक हम यह प्रमाणित नहीं कर पाते कि पंचरात्र अवैदिक है वहां तक पंचरात्रोक्त विशेष विधि भी अवैदिक है ऐसा नहीं कह सकते अन्यथा यह तर्क चक्राकार दोष से बच नहीं सकता। यह गलत है कि पंचरात्रोक्त विशेष कर्मकाण्ड वेदोक्त कर्मकाण्ड के सचमुच विरोधी हैं। यह भी गलत है कि बादरायण ने पंचरात्र का खण्डन किया है। अगर उन्होंने ऐसा किया होता तो महाभारत में वे उसकी वकालत क्यों करते ? पंचरात्र मत के चार व्यूहों को स्वीकार किया गया है इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वे अनेकेश्वरवादी हैं क्योंकि चार व्यूह, दैवी पुरुष वासुदेव की ही अभिव्यक्ति हैं। बादरायण के ब्रह्म सूत्रों का ठीक तरह से अर्थ किया जाय तो पता लगेगा कि वे पंचरात्र का विरोध नहीं करते अपितु उनका समर्थन हैं।

समाज के अति सम्माननीय लोग मूर्ति-पूजा में उन सब क्रिया-कलापों का पालन करते हैं जिन्हें पंचरात्र में कहा है। विरोधी पक्ष का यह तर्क कि भागवत अब्राह्मण हैं, दोषयुक्त है, क्योंकि भागवत वही चिह्न धारण करते हैं जो अन्य ब्राह्मण धारण करते हैं। मनु ने पंचम जाति को सात्वत कहा है इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि सब सात्वत पंचम जाति के हैं। तदुपरान्त, विरोधी पक्षों का सात्वत शब्द का अर्थ पंचम है ऐसा मानना अनेकों शास्त्रों के विरुद्ध है क्योंकि वे शास्त्र सात्वतों की प्रशंसा करते है। कुछ सात्वत मूर्ति या मन्दिर बनाकर या मन्दिर से सम्बन्धित अन्य कार्यों द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भागवतों का यही धर्म है। इस प्रकार यामुन ने अपने 'आगम प्रामाण्य' और 'काश्मीरागम प्रामाण्य' में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पंचरात्र वेद की तरह प्रमाण हैं क्योंकि उनका मूल उद्गम स्थान एक ही दैवी पुरुष नारायण हैं।[1]

दसवीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक शैव और श्री वैष्णव दक्षिण में एक साथ रहे जहाँ शैव मतानुयायी राजाओं ने श्री वैष्णवों को सताया और उनके मन्दिर के देवताओं की अवहेलना की और श्री वैष्णव पंथी राजाओं ने शैवों और उनके मन्दिरों के देवताओं से भी उसी प्रकार का व्यवहार किया। इसलिए यह समझ में आता है कि ये भिन्न पंथ के अनुयायी एक-दूसरे के खण्डन में व्यस्त रहते थे। इन विवादपूर्ण ग्रन्थों में 'सिद्धान्त रत्नावली' नामक एक ऐसा महत्वपूर्ण व विशद ग्रन्थ प्राप्त होता है जिसके रचयिता वेंकट सुधी हैं। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और श्री शैल ताताचार्य के पुत्र और श्री शैल निवास के भाई थे। 'सिद्धान्त रत्नावली' चार अध्याय का ग्रन्थ है जिसमें 100,000 से अधिक वर्ण हैं। वेंकट सुधी का जीवन-काल 14वीं और 15वीं शताब्दी था, उन्होंने क्रम से 'रहस्य त्रय सार' और 'सिद्धान्त वैजयन्ती' नामक दो ग्रन्थ और लिखे।

---

1 आगम प्रामाण्य में पृ० 85 पर 'काश्मीरागम' का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में यामुन ने उन्हीं विषयों पर विवेचना की है जो 'आगम प्रामाण्य' में है, उपरोक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नहीं मिली है।

पंचरात्र का संक्षिप्त वर्णन करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें गोपाल सूरि का 'पंचरात्र रक्षा-संग्रह' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रतीत होता है। गोपाल सूरि कृष्ण दैशिक के सुपुत्र थे और वेदान्त रामानुज के शिष्य थे, जो स्वयं कृष्ण दैशिक के शिष्य थे। उनकी 'पंचरात्र-रक्षा' पंचरात्र के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न क्रिया-कलापों का वर्णन करती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से लेखक पंचरात्र को वेद पर आधारित नहीं मानते थे यद्यपि श्री वैष्णव, पंचरात्र को वेद जितना ही प्रामाणिक मानते थे।[1] सांख्य और योग की तरह इसे वेद के उप ग्रन्थ के रूप में माना जाता था। चामुन के कथनानुसार उन भक्तों के लिए जो विशाल वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में अक्षम थे इसमें वेद्की शिक्षाओं का संक्षेप था। मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में निर्देश मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित अनेक क्रिया-कलापों का वर्णन तथा श्री वैष्णवों के कर्तव्य एवं धर्मानुरूप कर्मकांडों का विशद रूप से वर्णन जैसे दीक्षा, नामकरण और धार्मिक चिह्नों का धारण आदि पंचरात्र साहित्य के मुख्य विषय हैं। मूर्ति पूजा का प्रचलन स्पष्ट रूप से अवैदिक है किन्तु इसका प्रचार ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में था इसके अनेकों प्रमाण प्राप्त हैं। इस विधि का उद्गम कैसे हुआ और भारत के किस जाति के लोग इसके मूल प्रवर्तक रहे यह कहना कठिन है। वेद के अनुयायी और मूर्ति पूजकों के बीच संघर्ष लम्बे समय का है, तो भी हम यह जानते हैं कि ईसा के पूर्व 2 शताब्दी में भी भागवत सम्प्रदाय दक्षिण ही में नहीं, उत्तर में भी पूरी जीवित स्थिति में था। बेसनगर के स्तम्भ के साक्ष्य से पता चलता है कि यूनानी लोग भी किस प्रकार भागवत धर्म में परिवर्तित किये गये थे। महाभारत में भी सात्वत क्रिया कलापों का उल्लेख है—जिसके अनुसार विष्णु की पूजा की जाती थी और वहाँ पर पंचरात्र के व्यूह-सिद्धान्त का भी उल्लेख है। नाराणीय विभाग में पंचरात्र पूजा का स्थान श्वेत द्वीप है ऐसा सूचित किया गया है। वहीं से पंचरात्र मत, भारत में आया। लेकिन विद्वानों का प्रयत्न श्वेत द्वीप की भौगोलिक स्थिति को स्थिर कर पाने में अभी तक असफल रहा है।

पुराण एवं स्मृति-साहित्य में भी ब्राह्मण सत्ता के साथ संघर्ष प्रकट रूप से पाया जाता है। इस प्रकार कूर्म पुराण के पंद्रहवें अध्याय में भी यह कहा गया है, कि

---

1 वेंकटनाथ व्यास का उद्धरण देते हुए यों कहते हैं :

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोगकृतान्तेन पंचरात्रानुशब्दितम्॥ —सेश्वर मीमांसा पृ० 19।

किसी समय कभी पंचरात्र वेदों का मूल माना जाता है और कई बार वेद को पचरात्र का मूल बताया जाता है। इस प्रकार वेंकटनाथ उपरोक्त अनुसंधान में व्यास का उद्धरण देते हैं जिसमें पंचरात्र वेदों का मूल है ऐसा कहा गया है 'महतो वेद वृक्षस्य मूल भूतो महान् अयम्' वे दूसरे अवतरण का उद्धरण देते हैं जिसमें वेद को पंचरात्र का मूल माना गया है—'श्रुति मूलम् इदं तंत्रं प्रमाणं कल्प सूत्रवत्' दूसरी जगह वे पंचरात्र को वेद का विकल्प कहते हैं—'अलाभे वेदमंत्राणां पंचरात्रोदितेन वा।'

पंचरात्रों का जन्म, पूर्व जन्म में गौ हत्या के महापाप के फलस्वरूप हुआ है एवं वे पूर्ण रूप से अवैदिक हैं और शाक्त, शैव एवं पंचरात्र के धर्म ग्रन्थ मानव को भ्रम में डालने वाले हैं।[1] पराशर पुराण में भी यह कहा है कि पंचरात्र के अनुयायी शाप भ्रष्ट हैं।[2] वसिष्ठ संहिता, सांब पुराण व सूत-संहिता आदि में उनको महापात की और पूर्णतः अवैदिक कहकर पूरी शक्ति से उनकी निन्दा की गई है। उनके विरुद्ध दोष आरोप का अन्य कारण यह भी था कि वे पंचरात्री अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्त्रियों एवं शूद्रों को भी प्रवेश देते थे। अश्वलायन स्मृति के अनुसार केवल जाति से बहिष्कृत व्यक्ति ही पंचरात्रों के धर्म चिह्नों को स्वीकार करते हैं। बृहदन्नारदीय पुराण के चौथे अध्याय में यहाँ तक कहा गया है कि पंचरात्री के साथ वार्तालाप करने से नरक में जाना पड़ेगा। इसी प्रकार का निषेध कूर्म-पुराण में भी पाया जाता है एवं यह भी कहा है कि उनको (पंचरात्रियों को) अंत्येष्टि क्रिया में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। वायु-पुराण का समर्थन देते हुए श्री हेमाद्रि का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण पंचरात्र में परिवर्तित हो जाता है तो, वह सम्पूर्ण वैदिक अधिकारों से च्युत हो जाता है। लिंग-पुराण भी उन्हें सर्वधर्म बहिष्कृत कहते हैं। आदित्य और अग्नि पुराण भी जो पंचरात्रों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखते हैं उनसे पूर्ण विरोध प्रगट करते हैं। विष्णु, सातापत, हारीत, बोधायन और यम संहिता भी पंचरात्रियों और उनके साथ सम्बन्ध रखने वालों से पूर्ण विरोध प्रकट करते हैं। फिर भी पंचरात्री, वेद के अनुयायियों के प्रति मैत्री भाव रखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि पंचरात्री अल्प संख्या में थे जिन्हें अपने रक्षण का भय रहता था और वैदिक धर्म-परायणी की निन्दा करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। कुछ ऐसे भी पुराण हैं जैसे कि विष्णु पुराण, भागवत और महाभारत, जो उनके बहुत पक्ष में हैं। यह विचित्र बात है कि पुराणों के कुछ भाग पंचरात्र के पक्ष में हैं और कुछ कट्टरपन के साथ विपक्ष में हैं। पंचरात्रियों के अनुकूल पड़ने वाले पुराण हैं, विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह जो सात्विक पुराण कहलाते हैं।[3] इस प्रकार स्मृतियों

---

[1] का पालं गारुदं शाक्तं भैरवं पूर्व-पश्चिम्।
पंचरावं, पाशुपत्तं तथा न्यानि सहस्त्रशः ।। —कूर्म पुराण, अध्याय 15।
(दीक्षित के तत्त्व कौस्तुभ से उद्धृत, किन्तु यहीं कुछ हेर-फेर के साथ छपी प्रति में 16वें अध्याय में मिलता है)।
स्कन्द पुराण भी कहता है:

पंचराले च कापाले, तथा काल मुखेऽपि च।
शाक्ते च दीक्षिता यूयं भवेत ब्राह्मणाधमाः ।।

[2] द्वितीयं पांचराले चा तंत्र भागवंते तथा।
दीक्षिताश्च द्विजा नित्यं भवेयुः गर्हिता हरेः ।।
(भट्टो जी दीक्षित के तत्त्व कौस्तुभ से उद्धृत) पाण्डुलिपि पृ० 4।

[3] प्रमाण संग्रह का ऐसा मत है:

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभं।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभ दर्शने।

सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि च षट् पृथक्। —तत्त्व कौस्तुभ पाण्डुलिपि पृ० 13।

में वासिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर और काश्यप श्रेष्ठ मानी गई हैं ।[1] 'प्रमाण संग्रह' नामक ग्रन्थ, पंचरात्र के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उनकी प्रमाणिकता, उपरोक्त पुराण और स्मृति द्वारा तथा महाभारत, गीता, विष्णु, धर्मोत्तर, प्राजापत्य स्मृति, इतिहास समुच्चय, हरिवंश, वृद्ध मनु, शांडिल्य स्मृति और ब्रह्माण्ड पुराण के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है ।

पंचरात्र साहित्य

पंचरात्र साहित्य विशाल है और उसके कुछ ही छपे हुए ग्रन्थ प्राप्त हैं। प्रस्तुत लेखक को बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह करने का अवसर मिला है, यहाँ उनका संक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न किया जाएगा यद्यपि इनका दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व नहीं है । इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संहिता, सात्वत संहिता है । महाभारत, अहिर्बुध्न्य संहिता, ईश्वर संहिता और अन्य संहिताओं में सात्वत का उल्लेख है । सात्वत संहिता में हम ऐसा उल्लेख पाते हैं कि श्री भगवान् ने ऋषियों के लिए, संकर्षण से प्रार्थना किये जाने पर, पंचरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया ।[2] इस ग्रन्थ के 24 अध्याय हैं जो नारायण से उत्पन्न चार विभव देवताओं की पूजा-विधि, परिधान और आभूषण तथा अन्य विशेष प्रकार की पूजा, मूर्ति-स्थापना इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालते हैं। ईश्वर संहिता में लिखा है कि एकायन वेद, जो समस्त वेदों के स्रोत हैं, वासुदेव के साथ उत्पन्न हुए और पुरातन काल से सब वेदों के मूल के रूप में स्थित रहे, उन्हीं से आगे चलकर उद्भूत होने के कारण उनका नाम विकार-वेद पड़ा । जब ये वेद प्रकट हुए तब लोग अधिकतर संसारी हो गये थे अतः वासुदेव ने एकायन वेद को गुप्त कर लिया और कुछ ही चुने हुए व्यक्तियों के सामने, जैसे कि सन, सनत्सुजाति, सनक सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन जो एकान्तिन कहलाते थे, इसे प्रकट किया । मरीचि, आत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ स्वयंभुव इत्यादि अन्य ऋषियों ने एकायन वेद नारायण से पढ़ा, उसी आधार पर एक ओर पंचरात्र साहित्य पद्य में लिखा गया तथा दूसरी ओर मनु एवं अन्य ऋषियों द्वारा अनेक धर्मशास्त्र लिखे गये । सात्वत, पौष्कर और जयाख्य तथा अन्य ऐसे पंचरात्र ग्रन्थ संकर्षण के आदेशानुसार, एकायन वेद के मूल सिद्धांतों के आधार पर लिखे गये, जो आगे जाकर लुप्त हो गये । शांडिल्य ने भी एकायन वेद के सिद्धांत संकर्षण से सीखे और फिर उन्होंने ऋषियों को सिखाया । नारायण द्वारा सिखाई गई एकायन वेद की अन्तर्वस्तु सात्विक का शास्त्र कहा गया है; और अन्य शास्त्र जो अंशतः एकायन वेद पर आधारित हैं और अंशतः ऋषियों की अपनी रचनाएँ हैं, वे राजस शास्त्र कहे गए और जो केवल मनुष्य की कृतियाँ हैं, उनका नाम तामस शास्त्र पड़ा । राजस शास्त्र दो प्रकार के हैं; पंचरात्र और वैखानस । सात्वत, पौष्कर और जयाख्य, सम्भवतः ऋषियों द्वारा लिखे गए पंचरात्र के आदि ग्रन्थ हैं । इनमें से भी सात्वत सर्वोत्तम माना गया है क्योंकि इसमें नारायण और संकर्षण के बीच संवाद है ।

---

1 उसी ग्रन्थ में पृ० 14 ।

2 कांजीवरम् से प्रकाशित 1902 ।

ईश्वर संहिता में 24 अध्याय हैं जिनमें से 16 अध्यायों में पूजा-विधि का वर्णन है। इसके बाद मूर्ति, दीक्षा, ध्यान, मंत्र, शुद्धि, आत्म-निग्रह और एक यादव पर्वत की पवित्रता का एक-एक अध्याय में वर्णन मिलता है।[1] पूजा-विधि के अध्याय में इतःस्ततः दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है जो श्री वैष्णव दर्शन और धर्म के आधार हैं।

हय शीर्ष संहिता चार विभागों में लिखी गई है। पहला विभाग प्रतिष्ठा काण्ड है जिसमें 42 अध्याय हैं, दूसरा 37 अध्यायों वाला सकर्षण है। लिंग नामक तीसरा भाग 20 अध्यायों का है और चौथा जिसे सौरकाण्ड कहते हैं, 45 अध्यायों का है।[2] सभी अध्यायों में अनेक लघु देवों की मूर्ति-प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रिया, मूर्ति बनाने के प्रकार और अन्य कर्मकाण्ड का वर्णन मिलता है। विष्णु तत्त्व संहिता में 39 अध्याय हैं जिनमें मूर्तिपूजा-विधि, स्नान, वैष्णव-चिह्न और शुद्धि के विषय का ही विस्तार से उल्लेख है। परम संहिता में 39 प्रकरण हैं जिनमें मुख्यतः सृष्टि-प्रक्रिया, दीक्षा-विधि तथा अन्य पूजा-विधियों का वर्णन हुआ है।[3] दसवें अध्याय में योग का उल्लेख है। यहां ज्ञान और कर्म योग की चर्चा है, ज्ञान योग को कर्म योग से श्रेष्ठ बताया गया है यद्यपि दोनों में सह अस्तित्व माना गया है। ज्ञान योग अंशतः व्यावहारिक दर्शन है जिसके द्वारा इन्द्रियों की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध करने का प्रयास है। इसमें समाधि अर्थात् ऐकान्तिक एकाग्रता और प्राणायाम के अभ्यास का भी समावेश है। योग का प्रयोग जोड़ना अर्थात् अपने को किसी से आबद्ध कर देना, अर्थ में किया गया है। योग का अभ्यासी मन को ईश्वर में एकाग्रतः करता है और ऐकान्तिक समाधि द्वारा अपने को समस्त संसार-बंधनों से मुक्त करता है। यहाँ कर्मयोग क्या है यह स्पष्ट नहीं किया गया है, सम्भवतः इसका अर्थ विष्णु-पूजा से है। पराशर संहिता में जो पाण्डुलिपि के रूप में ही उपलब्ध है, 8 अध्याय हैं जिसमें ईश्वर के नाम-जप का विधान है।

पद्मसंहिता में 31 अध्याय हैं जिसमें अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड, मंत्रजप, भेंट, धार्मिक उत्सव इत्यादि का वर्णन है।[4] परमेश्वर संहिता में 15 अध्याय हैं जिसमें मंत्रों का ध्यान, यज्ञ, कर्मकाण्ड-विधि और शुद्धि कर्मों का वर्णन है।[5] पौष्कर संहिता, जो प्राचीन ग्रन्थों में से एक है, 43 प्रकरण की है जिसमें मूर्तिपूजा के विविध प्रकार, अंत्येष्टि यज्ञ और कुछ दार्शनिक प्रसंगों की चर्चा की गई है। फिर भी ये विशेष महत्त्व के नहीं हैं अतः इनको छोड़ा जा सकता है। प्रकाश संहिता में दो प्रकरण हैं; जिसका पहला प्रकरण 'परमतत्त्वनिर्णय' 15 अध्यायों वाला है और दूसरा 'परमतत्त्व-प्रकाश' कहलाता है जिसमें 12 अध्याय ही हैं।[6] महासनत्कुमार संहिता में कुल

---

1 कांजीवरम् से प्रकाशित 1921।

2 यह लेखक को पाण्डुलिपि प्रति में ही मिलता है।

3 यह भी हस्तलिखित ही मिला है।

4 यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

5 यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

6 यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

मिलाकर 4 अध्याय और 40 खण्ड हैं जिसमें सम्पूर्णतः पूजा-विधि का वर्णन है। यह वृहद् ग्रन्थ है जिसमें 10,000 पद्य हैं। इस ग्रन्थ के ब्रह्म-रात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र और ऋषिरात्र नामक चार अध्याय हैं। अनिरुद्धसंहिता महोपनिषद् के 34 अध्याय हैं जिनमें अनेक कर्म-काण्ड, दीक्षा-विधि, प्रायश्चित-कर्म, मूर्ति-स्थापना और मूर्ति निर्माण की विधि दी हुई है।[1] काश्यप संहिता में 12 प्रकरण हैं जिसमें मुख्यतः विष और मंत्रोच्चारण द्वारा विष के निवारण का उल्लेख है। विहगेन्द्र संहिता में अधिकांश मंत्रों का ध्यान और यज्ञ बलि का उल्लेख 24 अध्यायों में किया गया है। 12वें अध्याय में पूजा विधि के अन्तर्गत विस्तार के साथ प्राणायाम या प्राणों के नियमन के बारे में उल्लेख है। सुदर्शन संहिता में 41 अध्याय हैं जिसमें मंत्र जप और प्रायश्चित का समावेश है। अगस्त्य संहिता में 32 प्रकरण हैं, वसिष्ठ में 24, विश्वामित्र में 26 और विष्णु संहिता में 30 अध्याय हैं। ये सब हस्तलिखित हैं और न्यूनाधिक रूप में आनुष्ठानिक पूजा विधि का ही वर्णन करते हैं। विष्णु संहिता सांख्य मत से अधिक प्रभावित है और पुरुष को सर्वव्यापी मानती है। इसमें पुरुष की गत्यात्मक सक्रियता प्रतिष्ठित हुई है जिससे ही प्रकृति का विकास सम्भव है। पंच इन्द्रियों की पाँचों शक्तियाँ विष्णु की शक्ति मानी गई हैं। विष्णु की शक्ति के स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूप होते हैं। अपने पर रूप में वह चित् शक्ति रूप है, विश्व की शक्ति है, कारण शक्ति है, जिसके द्वारा चैतन्य विषय को ग्रहण करता है तथा वह सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् भी है। सूक्ष्म रूप में, ये पाँचों शक्तियां ईश्वर की सूक्ष्म देह बनी हुई हैं। विष्णु संहिता के 13वें अध्याय में योग और उसके छह सहायक षडगयोग का वर्णन है और यह भी बताया गया है कि किस प्रकार योग-मार्ग द्वारा भक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे भागवत योग की सज्ञा दी गई है। यहां पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि जीव को इस मत में सर्वव्यापी माना है जो श्री वैष्णव मत के विरुद्ध है। योग के अष्टांगमार्ग की बहुधा अनुशंसा की गई है जिसे कि वैष्णव सम्प्रदाय के आरम्भिक अनुयायी जब, तब उपयोग में लाते रहे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मार्कण्डेय संहिता में 32 प्रकरण हैं जिसमें 108 संहिताओं का उल्लेख है और 91 संहिताओं की सूची दी गई है।[2] यह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है जिसे रामानुज, सौम्य जामातृ मुनि तथा अन्य आचार्यों ने अपनाया है। हिरण्यगर्भ संहिता के 4 अध्याय हैं।

जयाख्य तथा अन्य संहिताओं का तत्वदर्शन

पंचरात्र साहित्य वस्तुतः विशाल है, किन्तु इस साहित्य का अधिकांश भाग कर्म-काण्ड के विस्तृत विवरणों से पूर्ण है उसमें दर्शन का अंश बहुत कम है। प्राप्त संहिताओं में हैं जिनमें दर्शन का कुछ अंश मिलता है वे केवल जयाख्य संहिता, अहिर्बुध्न्य सहिता, विष्णु संहिता, विहगेन्द्र संहिता, परम संहिता और पौष्कर संहिता हैं। इनमें से भी जयाख्य और अहिर्बुध्न्य संहितायें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

---

1 यह भी हस्तलिखित ही प्राप्त है।

2 ये भी हस्तलिखित हैं।

जयाख्य, आरम्भ में इस सिद्धान्त को लेकर चलता है कि केवल यज्ञ, दान, वेदाध्ययन और शुद्धिकर्म द्वारा कोई भी स्वर्ग या बन्धन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक हम पर-तत्त्व को नहीं पहचानते, जो सर्वव्यापक, नित्य, स्वयंवेद्य, शुद्ध चैतन्य है और जो अपनी इच्छा के अनुरूप अनेक रूप धारण कर सकता है, तब तक मुक्ति की आशा व्यर्थ है। यहाँ पर तत्त्व हमारे हृदय में वास करता है और स्वरूप से निर्गुण है यद्यपि वह गुणों से आवृत्त (गुण गुह्य) और नामरहित (अनामक) है।

अनेक ऋषि गन्धमादन पर्वत पर शांडिल्य के पास पहुँचे और उनसे जिज्ञासा की कि परमतत्त्व किस प्रकार जाना जा सकता है। शांडिल्य उत्तर देते हुए बोले कि यह ज्ञान परम गुह्य और प्राचीन है, वह उन्हीं आस्तिकों को दिया जा सकता है जिनमें उत्कट गुरु-भक्ति है। सर्व प्रथम इस ज्ञान का उपदेश श्री विष्णु ने नारद को दिया। भगवान विष्णु ही हमारे प्राप्य हैं और वे शास्त्र द्वारा ही पाये जा सकते हैं और शास्त्र गुरु से ही सीखे जा सकते हैं। इसलिए गुरु ही परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए मूल एवं प्रथम साधन हैं जो शास्त्र अध्यापन द्वारा ऐसा ज्ञान कराता है।

जयाख्य संहिता तत्पश्चात् तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन करती है उनमें प्रथम ब्रह्म सर्ग है जो मुख्यतः पौराणिक प्रकृति का है। उसमें यह उल्लेख है कि सर्व प्रथम विष्णु ने ब्रह्मा की उत्पत्ति की, ब्रह्मा ने अहंकारवश अपनी बनायी सृष्टि को अशुद्ध बना दिया। तत्पश्चात् स्वेद के दो कणों से उत्पन्न मधु और कैटभ नामक दैत्यों ने वेदों को चुराकर बड़ा क्षोभ मचा दिया। विष्णु अपनी शारीरिक शक्ति से उनसे लड़े किन्तु असफल रहे, फिर वे मंत्र-शक्ति द्वारा लड़े और अन्त में उन्होंने उनका नाश किया।

दूसरा सर्ग सांख्य दर्शन में उपवर्णित तत्त्वों के विकास का है। जयाख्य संहिता में ऐसा कहा है कि प्रधान में तीनों गुण परस्पर एकता से एक साथ रहते हैं। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि तीनों एक साथ कार्य करते हुए दीप की एकता बनाते हैं ठीक उसी प्रकार तीनों गुण एक साथ रहकर प्रधान बने हैं। यद्यपि ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं किन्तु प्रधान में एकात्म भाव से रहते हैं (भिन्नम् एकात्म लक्षणम्)। एकात्म स्थिति से गुणों का पृथक्करण होने पर पहले सत्व निकलता है तत्पश्चात् रजस् और अन्त में तमस्। गुणों की इस त्रिगुण इकाई से बुद्धि तत्त्व पैदा होता है और बुद्धि से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न होते हैं जो प्रकाशात्मा, विकृतात्मा और भूतात्मा कहलाते हैं। प्रथम अहंकार से, जो तेजस् या प्रकाशात्मा कहलाता है पंच ज्ञानेन्द्रिय और मनस् की उत्पत्ति होती है। दूसरे अहंकार से, पंच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। भूतात्मा नामक तृतीय अहंकार से भूतयोनि या तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं और तन्मात्राओं से पंचभूत की उत्पत्ति होती है। प्रकृति स्वभावतः जड़ और भौतिक है इसलिए प्रकृति का विकास भी जैसी आशा की जानी चाहिए, निसर्गतः भौतिक ही होता है। इस सम्बन्ध में यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि भूत पदार्थ अन्य भूत पदार्थों को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं। उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि यद्यपि धान का बीज और चावल निसर्गतः भौतिक हैं तो भी बीज में सर्जन-शक्ति है, चावल में नहीं; उसी प्रकार यद्यपि प्रकृति और उसके विकासज दोनों प्रकृत्या भौतिक

हैं, फिर भी एक दूसरे से उत्पन्न होता है। जड़ प्रकृति से विकसित तत्त्व ब्रह्म से अभिन्न शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा के प्रकाश द्वारा व्याप्त होने के कारण चैतन्य युक्त दीखते हैं।[1] जिस प्रकार लोहे का टुकड़ा चुम्बक की शक्ति ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार प्रकृति, ब्रह्म से एक रस आत्मा के साहचर्य से, चैतन्य-विशिष्ट हो जाती है। प्रश्न यह उठता है कि जब जड़ और चेतन एक दूसरे से प्रकाश और अन्धकार की तरह भिन्न हैं तो जड़ प्रकृति और शुद्ध चैतन्य में क्या कोई साहचर्य हो सकता है। उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि जीव, विशुद्ध चैतन्य के सत्य अनादि वासना के योग का परिणाम है। इस वासना को दूर करने के लिए ब्रह्म में से एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है कि जीव के अन्तर्गत शुद्ध चैतन्य, उसके कर्मों के नाश के कारण वासना रहित होकर अन्त में ब्रह्म से एक रस हो जाता है। कर्म, पाव रूपी वासना के साहचर्य से ही फल देते हैं। आत्मा या जीव का ईश्वर-शक्ति द्वारा ही गुणों से संयोग होता है, इस कारण वह अपनी वासनाओं को जान सकता है[2] जो प्रकृत्या जड़ हैं और गुणों से उद्भूत होती हैं। जहां तक जीव माया से आवृत्त है वहाँ तक वह अच्छा बुरा अनुभव प्राप्त करता है। चैतन्य का जड़ से सम्बन्ध ईश्वर की विशिष्ट शक्ति द्वारा होता है, जो आत्मा को माया के संयोग से अनेक भोगों का अनुभव कराता है। बन्धन के टूटते ही शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है।

तृतीय सर्ग शुद्ध सर्ग है, जिसमें वासुदेव अपने में से अच्युन, सत्य और पुरुष नामक तीन उपदेवों को प्रकट करते हैं जो वासुदेव से अभिन्न हैं और उनकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है। पुरुष रूप से वासुदेव सारे देवों के अन्तर्यामी बन कर उन्हें कार्य करने की प्रेरणा एवं नेतृत्व प्रदान करते हैं। ईश्वर इसी रूप में, वासना से निगडित मनुष्यों में कार्यरत है और उन्हें उन मार्गों पर प्रेरित करता है जिससे वे अन्त में बन्धन-रहित हो जाँय।

ईश्वर आनन्दमय एवं चैतन्य है, वह सबसे परे, परम और अन्तिम सत्ता है, वह स्वयंभू है और सबका आधार है। वह अनादि और अनन्त है जिसे सत् या असत् नहीं कहा जा सकता (न सत् तन् नासदुच्यते) वह निर्गुण है किन्तु गुण से उत्पन्न सभी विषय का भोग करता है जो हमारे बाहर और भीतर बसा हुआ है। वह सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा और सर्वाधिपति है और सभी उसमें विद्यमान हैं। वह अपने में सारी शक्तियों का संयोजन करता है और उसमें सारी क्रियाएँ सहज रूप से होती रहती हैं। वह सबों में व्यापक है तो भी असत् कहलाता है क्योंकि वह इन्द्रियगोचर नहीं है। किन्तु जिस प्रकार फूलों की सुगन्ध स्वतः उपलब्ध होती है, उसी प्रकार वह भी

---

1 चिद् रूपं आत्म तत्त्वं यद् अभिन्नं ब्रह्मणि स्थितं।
तँनैतच्छुरितं भाति अचिच् चिन्मय वद् द्विज।

—जयाख्य संहिता (हस्त०) 3–14।

जब यह प्रकरण लिखा गया था तब जयाख्य संहिता छपी नहीं थी। अब गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज में छप गई है।

2 मायामये द्विजाधारे गुणाधारे ततो जड़े।
शक्त्या संयोजितो ह्यात्मा वेत्त्यात्मीया च वासनाः॥

—जयाख्य संहिता, 3–24।

स्वयंवेद्य है।[1] जगत् की सारी सत्ता उसमें निहित है, और वह देश काल के बन्धन से परे है। जिस प्रकार तप्त अयागोलवी में अग्नि, गोले से अभिन्न होकर रहता है उसी प्रकार ईश्वर सारे जगत् में व्याप्त है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु एक दृष्टि से दर्पण के अन्दर और दूसरी दृष्टि से उसके बाहर है ठीक उसी प्रकार ईश्वर एक दृष्टि से ऐन्द्रिय गुणों से, संयुक्त और दूसरी दृष्टि से असंयुक्त दोनों ही है। ईश्वर जड़ और चेतन दोनों में उसी तरह व्याप्त है जैसे औषधियों में रस।[2] ईश्वर की सत्ता तर्क और प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। उसकी सर्वव्यापी सत्ता उसी प्रकार अवाच्य और अप्रदर्शनात्मक है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और दूध में मक्खन। वह सहज सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठ अग्नि में प्रवेश करते ही अपने अस्तित्व को मिटा देता है और सारी नदियाँ समुद्र में लीन होकर एकरस हो जाती हैं उसी प्रकार योगी ईश्वर में प्रविष्ट होकर उससे अभिन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में नदियों और सागर में, जिसमें वे मिलती हैं, भेद है, फिर भी वह अलक्ष्य है।[3] ईश्वर और भक्त में भी सागर और नदी के जल की तरह भेद और अभेद दोनों हैं। यह स्थिति ईश्वर के भक्तों में भी विद्यमान है। सिद्धान्त यहाँ जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा रहा है वह भेदाभेदवाद अनेकत्व में एकत्व का सिद्धान्त है।

यहां ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न माना गया है और सारे ज्ञेय पदार्थ अंतःकरणस्थ स्वीकृत हुए हैं।[4] सत्य ज्ञान उपाधि-रहित है, जिन्होंने ईश्वर से एकात्म होना सीखा है उन्हें वह योग द्वारा ही प्राप्त है।[5]

जब कोई ईश्वर कृपा से यह समझने लगता है कि हमारे सारे कर्म और कर्म-फल प्रकृति के गुण रूप हैं, तब उसमें आध्यात्मिक अन्तर जागृति होती है और वह स्वयं क्या है, इस दुःख का क्या सार है इन पर विचार करता है और तब वह सच्चे गुरु के पास जाता है। जब भक्त पुनर्जन्म के अनन्त चक्र और उससे उत्पन्न क्षणभंगुर जन्म के दुःख और तत्सम्बन्धित अन्य वेदनाओं पर सतत चिन्तन करता है और गुरु के आदेशानुसार यम-नियम का पालन करता है एवं मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करता है तब उसका मन संसार-सुख से ऊपर उठ जाता है और शरद् ऋतु में पानी व निस्तरंग सागर और निर्वति दीप की तरह स्वच्छ हो जाता है। जब हृदय में चैतन्य का प्रकाश होता है, तब सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के मूल विषय सहित हृदय समक्ष आ जाते हैं ज्ञान और ज्ञेय

---

1 स्व संवेद्यं तु तद् विद्धि गन्धः पुष्पादिको यथा।

—जयाक्ष सं० 4–76।

2 चेतनाचेतनाः सर्वे भूताः स्थावरजंगमाः।
पूरिताः परमेशेन रसेनौषधयो यथा॥

—जयाख्य सं० 4–93।

3 सरित्संघाद् यथा तोयं संप्रविष्टं महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोऽदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा॥

—वही, 4–123।

4 ब्रह्माभिन्नं विभोर्ज्ञानम् श्रोतुम् इच्छामि तत्वतः।
येन सम्प्राप्यते ज्ञेयम् अन्तःकरणसंस्थितम्॥

—वही, 4–1।

5 सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तम् ज्ञानमेकान्तनिर्मलं।
उत्पद्यते हि युक्तस्य योगाभ्यासात् क्रमेण तत्॥

—वही, 5–2।

एक हो जाते हैं और फिर धीरे-धीरे परम ज्ञान और निवृत्ति आती है जिससे निर्वाण प्राप्त होता है। जो सब कुछ ज्ञेय रूप है वह ज्ञान से अभिन्न है यद्यपि वह भिन्न प्रतीत हो। ज्ञान की अन्तिम अवस्था शब्दों से परे है। वह तर्क और इन्द्रियों के साधन बिना साक्षात् अनुभवगम्य है उसका वर्णन प्रतीकों द्वारा ही किया जा सकता है। अन्तिम अवस्था स्वरूप से ही अलौकिक है, चरम और निःशेष है और आधारहीन है। इस सत्ता मात्र से जीव का आनन्दानुभव प्रगट है। भावजा समाधि और मंत्र जाप संज्ञक दोनों समाधियों में से दूसरी ज्यादा फलप्रद है। मंत्र जप द्वारा, माया और तत् जनित, आत्मानुभूति के सारे व्यवधान नष्ट हो जाते हैं।

वासुदेव से अच्युत, सत्य और पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जयाख्य संहिता का कहना है कि यह उत्पत्ति अहेतुक और सहज होती है और ये तीन अभिव्यक्तियाँ, परस्पर प्रतिबिम्बित होकर एक रूप से व्यवहार करती हैं और इस सूक्ष्म अवस्था में यह ईश्वर की क्रियाशक्ति के रूप से मनुष्य हृदय में रहती है और क्रम से उसे मुक्ति की चरम सीमा तथा आनन्दानुभूति की स्थिति तक पहुँचती है।

जयाख्य संहिता दो प्रकार के ज्ञान का उल्लेख करती है, जिसे स्थिति (सत्ताख्य) और क्रियाशील (क्रियाख्य) कहा गया है। क्रियाख्य ज्ञान के अन्तर्गत यम-नियम आदि नैतिक अनुशासन आते हैं। यम-नियम के क्रियाख्य ज्ञान के अनवरत अभ्यास द्वारा ही सत्ताख्य ज्ञान पूर्ण परिपक्व होता है। यम और नियम के अन्तर्गत यहाँ पर पवित्रता, बलिदान, तपस्या, वेदाध्ययन, मैत्री, अखण्ड क्षमा, सत्य, समस्त प्राणियों एवं अपने शत्रुओं के प्रति सद्भाव, दूसरों की सम्पत्ति के प्रति सम्मान भाव, मनोनिग्रह ऐन्द्रिय सुखों के प्रति विराग, यथाशक्ति दानपरता, सत्य एवं प्रिय भाषण शत्रु और मित्र के प्रति समभाव, ईमानदारी, सरलता तथा प्रत्येक प्राणी के प्रति दया-भाव इत्यादि गुण आते हैं। यहाँ पर तीनों गुणों की साम्यावस्था को अविद्या कहा गया है और अविद्या के फलस्वरूप राग-द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति मानी गई है। 'आत्मा' की संज्ञा द्वारा गुण, अविद्या और माया मय शुद्ध चैतन्य का सूचन किया गया है।

उपरोक्त कथन से यह मत सिद्ध होता है कि ईश्वर अपने में से त्रिविध शक्ति के रूप से प्रकट होता है जो मनुष्यों में सूक्ष्म शरीर के रूप में स्थित है। इस शक्ति की वजह से शुद्ध चैतन्य, मूल प्रवृत्तियों और अन्तर्जगत् के सम्पर्क में आता है जिससे अन्तःकरण के व्यापार जड़ और अचेतन होते हुए भी चेतन रूप से व्यवहार करने लगते हैं। इसी सम्पर्क के कारण उक्त अनुभूति सम्भव हो पाती है। अन्त में यही अन्तरंग शक्ति जड़ पदार्थ से चेतन पदार्थों को अलग करती है और मुक्ति दिलाती है जिससे मनुष्य में रहा चैतन्य ब्रह्म से एक रस हो जाता है। चैतन्य तत्त्व का प्रकृति से उत्पन्न अचेतन मनोव्यापार के साथ संयोग किसी भी मिथ्या कल्पना से नहीं है और वह भ्रम भी नहीं है किन्तु यह हममें स्थित ईश्वरीय अन्तर शक्ति के व्यापार से है। व्यक्ति या जीव जिसे आत्मा भी कहते हैं वह इस अनिच्छिन संयोग से उत्पन्न हुआ है। यह संघात, जब अन्तःकरण व्यापार और क्लेशों से विलग हो जाता है तब ब्रह्म से सामरस्य होता है, क्योंकि वह उसका अंश है और ब्रह्म में, एक में अनेकत्व भाव से भेदाभेद भाव से स्थित है। इस मत का सांख्य दर्शन से भेद इतना ही है कि जयाख्य संहिता में प्रकृति के तत्त्वों के उत्पादन-क्रम को सांख्यमतानुसार स्वीकार किया है किन्तु पुरुष

के स्वभाव के बारे में मतभेद किया गया है। पुरुष और प्रकृति के बीच अनुभवातीत भ्रम को नहीं माना है जो कि ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका का मत है। यहाँ पर प्रकृति, पुरुष को मुक्त करने के हेतु से विकास करती है इस मत को नहीं माना है और न इस मत को माना है कि प्रकृति पुरुष या ईश्वर द्वारा प्रेरित हो, गतिशील होती है। यहाँ प्रकृति में से तत्त्वों को उत्पन्न करने की सहज जननशक्ति को माना गया है।

जयाख्य संहिता में भक्त को योगी कहा है। अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो मार्गों को माना है, एक ध्यान-समाधि द्वारा और दूसरा मन्त्र-जप की साधना द्वारा। योग के विषय में यह धारणा है कि योगी को अपनी इन्द्रियों पर पूरा काबू होना चाहिए और प्रत्येक प्राणी से द्वेष-रहित होना चाहिए। अत्यंत विनीत भाव से उसे एकान्त स्थान पर बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियन्त्रण लाने का प्रयास करते रहना चाहिए। फिर प्राणायाम की तीन विधियाँ—प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का उल्लेख किया गया है। फिर योग के तीन प्रकारों पर भी प्रकाश डाला है जिन्हें प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य की संज्ञा दी है किन्तु इनका क्या अर्थ है यह स्पष्ट नहीं किया गया है। ऐसा हो सकता है कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केन्द्रित करना है जैसे कि प्रकृति के मूल तत्त्वों पर, पुरुष पर अथवा आश्चर्यजनक सिद्धियों को दिलाने वाले योग पर। चार प्रकार के आसनों का भी योग वर्णन पाया जाता है जिनके नाम पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक हैं। योगासनों का भी वर्णन है। मनोनिग्रह जो योग का मूल उद्देश्य है उसे दो प्रकार का माना है, वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियों पर निग्रह करना और मन की उन प्रवृत्तियों पर निग्रह करना जो उसमें स्वभावतः हैं। सत्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर ध्यानस्थ किया जा सकता है। अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल निष्कल और विष्णु अर्थात् शब्द, व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी उल्लेख देखने में आता है। सकल या स्वविग्रह नामक योग में योगी, इष्टदेव की स्थूल मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित करता है, तत्पश्चात् क्रम से, जब वह ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है तब वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना पर ध्यान केन्द्रित करता है, तत्पश्चात् मटर जैसे छोटे परिणाम की वस्तु पर, फिर घोड़े के बाल जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके बाद मनुष्य के सर के बाल पर, फिर उसके शरीर के रोम पर, इस प्रकार के अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरंध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है। निष्कल योग में योगी अन्तिम सत्य का ध्यान करता है, जिससे उसे वह स्वयं ब्रह्मरूप है यह ज्ञान होता है। तीसरे प्रकार के योग में मंत्रों पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है जिसके द्वारा भी योगी को अन्तिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त में ब्रह्मरंध्र के द्वार से निकल जाता है और अपनी देह छोड़ देता है और मूल सत्यरूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[1]

---

[1] जयाख्य संहिता, अध्याय 33।

14वें अध्याय में योग के उस क्रम का वर्णन है जिससे योगी की देह का धीरे-धीरे नाश होता है।

विष्णु संहिता के चौथे प्रकरण में (हस्तलिखित) प्रकृति के तीन गुण माने गये हैं। प्रकृति व उससे उद्भूत तत्त्वों को क्षेत्र कहा गया है और ईश्वर को क्षेत्रज्ञ कहा है।[1] प्रकृति और ईश्वर मानों एक होकर रहते हैं।[2] प्रकृति तत्त्वों का विकास करती है और पुरुष की अध्यक्षता में या पुरुष के आदेशानुसार फिर तत्त्वों को अपने में समेट लेती है। फिर भी प्रकृति स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करती दीखती है।[3] पुरुष को सर्वव्यापी चैतन्य तत्त्व माना गया है।

विष्णु संहिता में तीन प्रकार के सात्विक, राजस और तामस अहंकार का वर्णन करते हुए कहा है कि राजस अहंकार कर्मेन्द्रियों को केवल उत्पन्न ही नहीं करता, किन्तु ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का सक्रिय निर्देशन भी करता है। ज्ञान, शक्ति के रूप में, वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का ध्यान भी है और वह अन्वय व्यतिरेक-क्रियात्मक बुद्धि व्यापार भी है। विष्णु संहिता आगे जाकर ईश्वर की पांच शक्तियों का उल्लेख करती है, जिसके द्वारा ईश्वर, निर्गुण होते हुए भी, अपने को दृश्य गुणों से युक्त प्रकट करता है। सम्भवतः इस प्रकार से ही प्रकृति की समस्त शक्तियाँ ईश्वर में निहित हैं और इसी अर्थ में क्षेत्र अथवा प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। इन शक्तियों में पहली चित् शक्ति[4] अर्थात् चैतन्य शक्ति है जो सारी क्रियाओं की अपरिणामी नींव है। दूसरी, पुरुष रूप से भोक्त-शक्ति है। तीसरी शक्ति कारण शक्ति है जो विश्व के विविध रूपों में प्रकट होती है। चौथी शक्ति इन्द्रियों के विषय को ग्रहण कर ज्ञान रूप बनाती है। पाँचवीं शक्ति द्वारा ज्ञान क्रियात्मक होता है। छठी शक्ति विचार और क्रिया रूप से प्रकट होती है।[5] इस प्रकार यह दीखता है कि पुरुष और भोक्ता एक स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है किन्तु ईश्वर की शक्ति ही है। ठीक उसी प्रकार प्रकृति भी एक स्वतन्त्र तत्त्व न होकर ईश्वर की शक्ति की मात्र अभिव्यक्ति है।

विष्णु संहिता में वर्णित भागवत योग का क्रम प्रधानतः शरीर और मन का नियन्त्रण है जिसमें क्रोध तृष्णा इत्यादि, एकान्त स्थान में ध्यान करने अभ्यास, ईश्वर की शरणागति और आत्म-निरीक्षण का समावेश है। परिणामस्वरूप जब चित्त निर्मल और संसार से विरक्त हो जाता है तब विवेक-दृष्टि जागृत होती है जिससे अपवित्र, बुरा और पवित्र और भले के बीच भेद पहचानने में आता है। इससे राग या भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति से मनुष्य आत्म संतुष्ट हो जाता है और अपने उच्च आदर्श के प्रति निष्ठावान् बनता है तथा सच्चे ज्ञान को प्राप्त करता है। ईश्वर से

---

1 क्षेत्राख्या प्रकृतिर्ज्ञेया तद्वित् क्षेत्रज्ञ ईश्वरः। —विष्णु संहिता 4।

2 उभयं चेदं अत्यन्तम् अभिन्नम् इव तिष्ठति। —विष्णु संहिता।

3 तन्नियोगात् स्वतंत्रेव सूते भावान् हरित्यपि —विष्णु संहिता।

4 चिच्छक्तिः सर्व कार्यादिः कूटस्थः परमेष्ठ्यसौ।
द्वितीया तस्य या शक्तिः पुरुषाख्यादि बिक्रिया॥
विश्वाख्या विविधभासा तृतीया करुणात्मिका।
चतुर्थी विषयं प्राप्य निवृत्त्याख्या तथा पुनः॥ —विष्णु संहिता।

5 पूर्वा-ज्ञान-क्रिया शक्तिः सर्वाख्या तस्य पंचमी। —विष्णु संहिता।

समरस होने के लिए, जो मुक्तावस्था है, प्राणायाम के क्रम को अपनाने का आदेश किया गया है, जिसमें अनेक प्रकार के ध्यान करने पड़ते हैं, भक्ति का अर्थ यहाँ परमेश्वर के प्रति भक्ति के झुकाव से लिया है, जिसको सफल करने का साधन, योग है। तथाकथित भागवतों का भक्ति सम्प्रदाय योग शास्त्र के इतने प्रभाव में था कि भक्त की योगी बनना आवश्यक माना जाता था[1] क्योंकि केवल भक्ति मुक्ति देने में समर्थ नहीं समझी जाती थी। परम संहिता के दसवें अध्याय में ब्रह्मा और परम के बीच संवाद द्वारा योग का क्रम वर्णन किया गया है। वहाँ ऐसा कहा है कि योग द्वारा प्राप्त किया ज्ञान अन्य ज्ञानों से उच्च है। योग के ज्ञान बिना किये हुए कर्म, इष्ट फल नहीं दे सकते। योग का अर्थ चित्त का किसी विषय पर बिना क्षोभ के समाधान होना कहा है।[2] जब चित्त कर्म करने में दृढ़ता से स्थिर हो जाता है तो उसे कर्म योग कहते हैं।[3] जब चित्त ज्ञान पर अस्खलित रूप से लग जाता है तो उसे ज्ञान योग कहा है।[4] दोनों योग करते हुए योगी विष्णु की शरण लेकर परमेश्वर से एकात्मकता प्राप्त करता है। ज्ञान योग और कर्म योग दोनों ही, एक ओर यम नियम युक्त नैतिक साधन के रूप से और दूसरी ओर वैराग्य और समाधि रूप से, ब्रह्म पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि गीता में कर्म योग का अर्थ, बिना फलाशा के शास्त्रोक्त वर्ण धर्म पालन करना माना है। यहाँ कर्म योग का अर्थ यम नियम किया गया है, जिसमें व्रत, उपवास, दान और सम्भवतः आत्म निग्रह से प्राप्त विविध गुणों का समावेश है। वैराग्य का अर्थ इन्द्रियों का विषय से पराङ्मुख होना है और समाधि का अर्थ उस ज्ञान से है जिसके द्वारा चित्त ईश्वर में अस्खलित रूप से लग जाय। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों से, वैराग्य द्वारा, निरोधित हो जाती हैं तब चित्त को ईश्वर में, परम तत्त्व में स्थिर रूप से लगना ही पड़ता है। इसे ही योग कहा है। अनवरत अभ्यास द्वारा, जब वैराग्य परिपक्व होता है तब वासना या मूल क्लेश तथा इच्छाओं का अन्त हो जाता है। यह सलाह दी गई है कि योगी को बलात आत्म निग्रह करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे धीरे-धीरे और सुगमता से आगे बढ़ना चाहिए जिससे वह लम्बे समय में चित्त पर पूरी-पूरी विजय पा जाए। योगी को भोजन और अन्य आवश्यकताओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है जिससे शरीर स्वस्थ रहे। उसे योगाभ्यास के लिए, विक्षेप रहित, एकान्त स्थान पसन्द करना चाहिए। उसे शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाली कोई भी क्रिया किसी भी वजह से नहीं करना चाहिए। तदुपरान्त उसे सदैव यह चिन्तन करते रहना चाहिए कि वह ईश्वर के अधीन है एवं उत्पत्ति, स्थिति और नाश उसके धर्म नहीं हैं। इस प्रकार उसके चित्त

---

1 तस्मात् सर्व प्रयत्नेन भक्तो योगी भवेत् सदा। —वि० सं० अध्याय 30।

2 यत् करोति समाधानं चित्तस्य विषये क्वचित्।
अनुकूलं असंक्षोभं संयोग इति कीर्त्यते ।। —परम संहिता, अध्याय 10 (हस्त०)।

3 यदि कर्माणि बध्नाति चित्तम् स्खलितं नरम्।
कर्म योगो भवत्येषः सर्वपापप्रणाशनः। —परम संहिता, अध्याय 10।

4 यदि तु ज्ञान एवार्थे चित्तं बध्नाति निर्व्यथः।
ज्ञान योगः स विज्ञेयः सर्व-सिद्धिकरः शुभः ।। —परम संहिता, अध्याय 10।

में निर्मल भक्ति का जन्म होगा जिससे वह धीरे-धीरे आसक्ति की जड़ों को उखाड़ सकेगा। अभुक्त इच्छाओं के आकर्षक अनुभव दुःखपूर्ण हैं, इस विषय पर योगी को चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिए, जिससे वह ऐसे अनुभवों के प्रति राग से विमुख हो जाय।

कर्म योग और ज्ञान योग में कौन श्रेष्ठ है, इस बारे में कहा है कि किस प्रकार का योग चुना जाय, इस विषय में कोई नियम नहीं हो सकते। कोई स्वभाव से कर्म योग के लिए और कोई ज्ञान योग के लिए उपयुक्त होते हैं। विशेष योग्यता वाले कर्म और ज्ञान दोनों योगों का संयोजन कर सकते हैं।

अहिर्बुध्न्य संहिता का तत्वदर्शन

अहिर्बुध्न्य संहिता में अहिर्बुध्न्य कहते हैं कि उन्होंने लम्बी तपस्या के बाद संकर्षण से सच्चा ज्ञान प्राप्त किया, इस सत्य ज्ञान का नाम सुदर्शन है जो विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है।[1] अन्तिम सत्ता अनादि, अनन्त और नित्य है, नामरूप-रहित है और मन और वाणी से परे है, वह सर्व शक्तिमान् और अपरिणामी है। इस नित्य और अपरिणामी सत्ता से स्वतः स्फूर्त संकल्प उठता है, यह संकल्प देशकाल और द्रव्य से मर्यादित नहीं है। ब्रह्म सहजानुभव रूप है और निःसीम सुखानुभव-लक्षण हैं। (निःसीम-सुखानुभव-लक्षणम्)। वह हर जगह है, और हरेक में स्थित है। वह निस्तरंग सागर के समान है। उसमें सांसारिक पदार्थों में पाये जाने वाले गुण, नाम मात्र भी नहीं है। वह स्वयं सिद्ध और अपने में परिपूर्ण है जिसकी यह (इदं) तथा इस प्रकार (इत्थं) इत्यादि शब्दों से व्याख्या नहीं की जा सकती। वह आनन्द और शुभ है और सर्वथा पाप रहित है। ब्रह्म के अनेक नाम हैं जैसे कि परमात्मन्, आत्मन्, भगवान्, वासुदेव, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान इत्यादि। जब शुद्ध ज्ञान द्वारा अनेकों जन्मों के संचित पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं ओर वासना दग्ध हो जाती है, प्रकृति के तीनों गुण मनुष्य को बन्धन में नहीं डालते पर तब मनुष्य अविलम्ब ही ब्रह्म स्वरूप प्राप्त करता है, जो अन्तिम सत्ता है, जिसे 'यह' और 'ऐसा' इन शब्दों द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता। ब्रह्म समग्र की आत्मा है और सब पदार्थों को अन्तः प्रज्ञात्मक रूप से देखता है। उसके लिए भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल अपना अस्तित्व नहीं रखते। इसलिए ब्रह्मन् कालसापेक्ष नहीं है, वह कालातीत है। इसी प्रकार वह गौण और प्रधान गुणों से परे है तो भी वह षट्गुण सम्पन्न है। सब गुणों में ज्ञान सर्वप्रथम और मुख्य है। वह आध्यात्मिक और स्वःप्रकाश्य है, वह सब वस्तुओं में प्रवेश कर उन्हें प्रकाशित करता है और नित्य है। ब्रह्मन् स्वरूप से शुद्ध चैतन्य रूप है तो भी उसमें ज्ञान गुण रूप से स्थित है, ऐसा माना है।[2] ब्रह्म की शक्ति

---

1 सुदर्शनस्वरूपं तत् प्रोच्यमानं मया शृणु।
श्रुते यत्राखिलाधारे सशयास्ते न सन्ति वै॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता 3, 2–5।

2 अजडं स्वात्मसंबोधि नित्यं सर्वावगाहनम्।
ज्ञानं नाम गुणम् प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणाश्च परिगीयते॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता 3, 2–53।

उसे कहा गया हैं, जिससे उसने समस्त विश्व को उत्पन्न किया है ।[1] ब्रह्मन् का कर्तृत्व-भाव उसका ऐश्वर्य है । भगवान् का बल वह है जिससे वह सतत कार्य करते भी नहीं नहीं थकता, वीर्य के गुण द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान कारण रहते भी अपरिणामी ही रहता है, और उसका तेज वह है जिससे वह बिना सहायता के, जगत्-रचना करता है । ये पांचों गुण ज्ञान के अंतर्गत हैं और ज्ञान ही ईश्वर का स्वरूप है । जब ब्रह्म जो ज्ञान रूप है और सर्व गुण सम्पन्न है, अपने को नाना रूप में प्रकट करने का संकल्प करता है तब वह सुदर्शन कहलाता है ।

प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ स्वभाव से अचिन्त्य हैं और द्रव्य से अपृथक् स्थित हैं । वे द्रव्य की सूक्ष्म या अव्यक्त अवस्थाएँ हैं जो पृथक् रूप से गोचर नहीं होतीं या किसी शब्द द्वारा उनका विधान या निषेध नहीं किया जा सकता तथा जो कार्य रूप से ही जानी जा सकती है ।[2] उसी प्रकार ईश्वर में शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है जिस प्रकार चन्द्र रश्मि चन्द्र से अभिन्न है । शक्ति सहज रूप है और जगत् उसकी अभिव्यक्ति है । इसे आनन्द कहा गया है क्योंकि वह निरपेक्ष है; वह नित्य है क्योंकि कालातीत है; वह पूर्ण है क्योंकि अरूप है । वह जगत् रूप से अभिव्यक्त होती है इसलिए उसे लक्ष्मी कहते हैं ।[3] वह अपने को जगत् रूप से संकुचित करती है इसलिए कुन्डलिनी कही जाती है और ईश्वर की महान् शक्ति होने के कारण विष्णु शक्ति भी कही गई है । शक्ति वास्तव में ब्रह्म से भिन्न है तो भी उससे अभिन्न दिखती है । इस शक्ति द्वारा ईश्वर अविराम रूप से बिना थकावट के और बिना अन्य की सहायता लिये सतत जगत् की रचना करता है (सततं कुर्वतो जगत्) । ईश्वर की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है, स्थावर रूप से उसका प्रथम प्रकार काल, अव्यक्त और पुरुष में प्रकट होते हैं तथा दूसरा प्रकार क्रिया रूप से । ईश्वर की क्रिया शक्ति सहज है जो विचार और संकल्प रूप से क्रिया में व्यक्त होती है ।[4] इसे संकल्प या विचार कहा है जिसकी गति अव्याहत है और जो अव्यक्त, काल, पुरुष इत्यादि सारे जड़ और चेतन पदार्थों को उत्पन्न करती है ।[5] इसी शक्ति को दूसरे शब्दों में लक्ष्मी या विष्णु शक्ति कहा है जो अव्यक्त को अपने विकास मार्ग पर प्रेरित करती है, प्रकृति तत्त्वों को पुरुष के सम्मुख उपस्थित करती है और समस्त अनुभव में ओतप्रोत तथा गतिमान (अनुस्यूत) है । जब वह इन व्यापारों का संकोचन करती है तब प्रलय

---

1 जगत् प्रकृतिभावौ यः सा शक्ति परिकीर्तिता । —वही, सं० 3, 2–57 ।

2 शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्या अपृथक् स्थिताः
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः
सूक्ष्मावस्था ही सा तेषाम् सर्वभावानुगामिनी,
इदंतया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते । —वही, सं० 3, 2–3 ।

3 अहिर्बुध्न्य संहिता 2–59 ।

4 स्वातंत्र्यमूल इच्छात्मा प्रेक्षारूपं क्रियाफलः । —वही, 3–30 ।

5 उन्मेषो यः सुसंकल्पः सर्वत्राव्याहतः क्रतौ ।
अव्यक्तकालपुंरूपां चेतनात्मिकाम् । —वही 3, 30–31 ।

होता है। इसी शक्ति के बल से सृष्टि सर्जन के समय त्रिगुणात्मक प्रकृति विकासोन्मुख बनती है। प्रकृति पुरुष का संयोग भी इसी शक्ति द्वारा होता है। यह संकल्प स्पन्दन रूप है वह अनेक रूप धारण करता है और अपने परिणामों से भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति करता है।[1]

मूलावस्था में नाना रूप जगत्, सुप्तावस्था में था, वह एक साम्यावस्था थी जिसमें ईश्वर की शक्तियां, निस्तरंग सागर की तरह पूर्णतः निरुद्ध थी। यह शक्ति अपनी स्थिर या निरुद्धावस्था में शून्यत्व रूपिणी है (शून्यत्व रूपिणी) क्योंकि यहाँ कोई अभिव्यक्ति नहीं है। वह स्वाश्रित है और वह स्थिरावस्था से गतिशील क्यों होती है इसका कोई कारण नहीं दिया जा सकता है।[2] वह एक है और ब्रह्म परमसत्ता से अभिन्न है। यही शक्ति, निर्मल एवं समल सभी तत्वों को और समस्त भौतिक रूपों को अपने में से परिणाम के रूप में प्रकट करती है। वह ईश्वर की क्रिया, वीर्य, तेजस् और बल के रूप में प्रकट होती है जो उसी की अभिव्यक्ति के रूप हैं; द्रष्टा और दृश्य, जड़ और चेतन, शुद्ध और मिश्रण, भोक्ता और भोग्य, अनुभविता और अनुभूति के विषय इत्यादि रूप में सारे द्वन्द्व भी इसी के रूप हैं। प्रगति के क्रम से यह शक्ति सृष्टि का विकास करती है और जब वह विपरिवर्तित होती है, तब प्रलय होता है।

इस शक्ति की दो भिन्न युगल क्रियाओं से नाना प्रकार की शुद्ध रचनाएँ होती हैं। ज्ञान और बल द्वारा संकर्षण का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का आध्यात्मिक रूप उत्पन्न होता है, शक्ति और तेज द्वारा अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। ये तीनों देवी रूप व्यूह कहे गये हैं और प्रत्येक व्यूह दो गुणों के संयोग का परिणाम है। यद्यपि प्रत्येक व्यूह में दो गुण प्रधान हैं फिर भी वह ईश्वर के षड् गुणों से युक्त हैं क्योंकि ये सब विष्णु के ही रूप हैं।[3] प्रत्येक व्यूह का दूसरे के रूप में प्रकट होने तथा निम्न धरातल से उच्च धरातल तक की स्थिति में पहुँचने में 1600 वर्ष का समय लगता है। श्राडर, महा सनत्कुमार संहिता का सन्दर्भ देते हुए इस प्रकार कहते हैं 'वासुदेव अपने चित्त से श्वेत वर्णा देवी शांति तथा संकर्षण या शिव को उत्पन्न करते हैं, तत्पश्चात् शिव के वाम भाग में से रक्तवर्णा देवी 'श्री' उत्पन्न होती है, जिसके पुत्र प्रद्युम्न अथवा ब्रह्मन् हैं। प्रद्युम्न फिर पीतवर्णा सरस्वती को और अनिरुद्ध या पुरुषोत्तम को उत्पन्न करते हैं। पुरुषोत्तम की शक्ति श्याम वर्णी 'रति' बनती है जो त्रिविध माया कोष हैं।[4]' श्राडर आगे हमारा ध्यान इस बात पर खींचते हैं कि वे तीनों युगल

1 सोऽयं सुदर्शनम् नाम संकल्पः स्पन्दनात्मकः।
विभज्य बहुधा रूपं भावे भावेऽवतिष्ठते॥ —वही, 3–39।

2 तस्य स्तैमित्य रूपा या शक्तिः शून्यत्व रूपिणी।
स्वातंत्र्यादेव कस्मात् चित् क्वचित् सोन्मेषं ऋच्छति
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः।
—अहिर्बुध्न्य संहिता, 5–3 और 4।

3 व्याप्ति मात्रं गुणोन्मेषो मूर्तिकार इति त्रिधा।
चतुर्तस्य स्थितिर्विष्णोर्गुण व्यक्ति करोद्भवः॥ —वही, 5–21।

4 Introduction to Panearatra श्री श्राडर लिखित, पृ० 36।

ब्रह्मांड के बाहर हैं इसलिए वे सांसारिक देवों से स्वरूपत: भिन्न हैं, यथा शिव इत्यादि। व्यूह तीन भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, वे हैं, (1) उत्पत्ति, स्थिति और लय (2) सांसारिक वस्तुओं का पोषण (3) मुमुक्षु भक्तों की सहायता। संकर्षण जीवों के अधिष्ठाता हैं और वे उन्हें प्रकृति से अलग करते हैं।[1] दूसरा दैवी रूप सारे प्राणियों के मनस् पर आधिपत्य करता है और उन्हें समस्त धार्मिक क्रियाओं के विषय में विशिष्ट निर्देश देता है। समस्त मनुष्यों की उत्पत्ति भी इसी के अधीन है तथा विशेष रूप से, जिन लोगों ने अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पण कर दिया है और ईश्वर से पूर्णत: अनुरक्त हो गये हैं, ऐसे भक्तों का रक्षण यही शक्ति करती है।[2] अनिरुद्ध रूप से, वह जगत् की रक्षा करता है और मनुष्यों को ज्ञान की अन्तिम कोटि पर ले जाता है। वह अच्छे बुरे जैसे मिश्र वर्ग की सृष्टि भी करता है (मिश्र-वर्ग-सृष्टिम् च करोति) [3] ये तीनों रूप वासुदेव से अभिन्न हैं और विष्णु के शुद्ध या पूर्ण अवतार हैं।

इनके अतिरिक्त वासुदेव के दो और रूप हैं जिन्हें आवेशावतार और साक्षात् अवतार कहा है। पहला, अर्थात् आवेशावतार दो प्रकार का है, स्वरूपावेश (परशुराम, राम इत्यादि) और शक्ति आवेश (ईश्वर की शक्ति-विशेष का प्रकट होना, जैसाकि ब्रह्मा और शिव का विशेष अवसर पर ईश्वर की विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न होना)। ये गौण रूप के आवेशावतार, ईश्वर संकल्प से मनुष्य योनि में पैदा होते हैं जैसे कि राम, कृष्ण, पशुयोनि में जैसेकि वराह मत्स्य एवं नृसिंह आदि अवतार और वृक्ष रूप में भी अवतार धारण करते हैं—(दण्डक वन में वक्र आम्र वृक्ष)। ये सब रूप ईश्वर के अनुभवातीत मौलिक रूप नहीं हैं। किन्तु ये संकल्प-शक्ति से दैवी क्रिया की प्रकट अभिव्यक्तियाँ हैं।[4] साक्षात् अवतार की उत्पत्ति ईश्वर से अविलम्ब होती है जैसे दिए से दिया जलता है, इसलिए ये अवतार स्वरूप अनुभवातीत हैं और सांसारिक अवतारों से भिन्न हैं। मुमुक्षु को इन अवतारों की आराधना करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं।[5] तत्त्वत्रय में उल्लिखित विष्वक्सेन संहिता के आधार पर ब्रह्मन्, शिव, बुद्ध,

---

1 सोऽयं समस्त जीवानाम् अधिष्ठातृतया स्थितः
संकर्षणस्तु देवेशो जगत्-सृष्टिमनास्ततः
जीव-तत्वम् अधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत् ॥

विष्वक्सेन संहिता से उद्धृत जो वरवर की, लोकाचार्य रचित तत्त्वत्रय की टीका में प्राप्त है। —तत्वत्रय, पृ० 125।

2 तत्त्वत्रय में विष्वक्सेन संहिता के उद्धरण को देखो। पृ० 126–127।

3 तत्त्वत्रय, पृ० 128।

4 मदिच्छया ही गौणत्वं मनुष्यत्वमिवेच्छया-अप्राकृत-स्वासाधारण-विग्रहेण सह नागतं ....गौणस्य मनुष्यत्वादिवत्, अप्राकृत-दिव्य-संस्थानम् इतर जातीयं कृत्वा अवतार रूपत्वाभावात् स्वरूपेण नागतमिति सिद्धम्। —तत्त्वत्रय, पृ० 130।

5 प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदंशमात्वात् विशेषतः
अजहत्स्वभावाविभवा दिव्या प्राकृत विग्रहाः

व्यास, अर्जुन, पावक और कुबेर ईश्वर प्रेरित व्यक्ति या आवेशावतार हैं, जिनकी आराधना मुमुक्षु को नहीं करनी चाहिए। इसी अनुसंधान में अन्य संहितायें राम, आत्रेय कपिल इत्यादि को भी इसी वर्ग में सम्मिलित करती हैं।

पुनः प्रत्येक व्यूह से तीन उप-व्यूह प्रकट होते हैं। वासुदेव में से केशव, नारायण और माधव, संकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन प्रद्युम्न से त्रिविक्रम वामन और श्रीधर और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाम और दामोदर प्रकट होते हैं। ये सब देवता प्रत्येक मास के अध्यक्ष हैं, जो बारह राशियों के सूर्यों के प्रतिनिधि हैं। ये देवता मात्र ध्यान करने के हेतु से ही उत्पन्न किए गए हैं। इनके अतिरिक्त, अहिर्बुध्न्य संहिता में 39 विभव अवतारों का भी उल्लेख है।[1] वरवर के कथनानुसार जिन

दीपात् दीपा इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते
आर्या एव हि सेनेश संसृत्युत्तरणाय ते
मुख्या उपास्याः तैनेश नच्यानितरान् विदुः ।। —तत्त्वत्रय, पृ० 131।

1 अहिर्बुध्न्य संहिता पृ० 46। विष्वक्सेन संहिता के मतानुसार समस्त अवतार अनिरुद्ध से उत्पन्न हैं या अन्य अवतारों से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म अनिरुद्ध से हुए और उनसे महेश्वर तथा हयशीर्ष मत्स्य से हुए, जो कृष्णावतार हैं। पद्म तन्त्र के आधार पर, मत्स्य, कूर्म, वराह, वासुदेव से, नृसिंह और वामन और श्रीराम, परशुराम संकर्षण से, बलराम प्रद्युम्न से, तथा कृष्ण और कल्कि अनिरुद्ध से उत्पन्न हुए हैं। (पद्म तन्त्र 1–2–31 इत्यादि) किन्तु लक्ष्मी तन्त्र के आधार पर (2–55) समस्त विभव अनिरुद्ध से आये हैं। एक अन्य प्रकार का और भी अवतारक माना है जो अर्चावतार है। कृष्ण, नृसिंह, इत्यादि की मूर्ति जब वैष्णव क्रिया कर्म द्वारा प्रतिष्ठित की जाती है तब उसमें विष्णु की शक्ति अवतरित हो जाती है जिससे भक्त को मूर्ति में इन्हीं शक्तियों का अनुभव होता है (विष्वक्सेन संहिता, तत्त्वत्रय में उल्लिखित) विष्णु जब अनिरुद्ध के रूप में समस्त पर नियन्त्रण करते हैं तब उसे अन्तर्यामी अवतार कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के अवतार माने गये हैं जैसे विभव, आवेश, अर्चा और अन्तर्यामी। 39 विभव अवतार, पद्मनाम, ध्रुव, अनन्त, सत्यकाम, मधुसूदन, विद्याधिदेव कपिल, विश्वरूप, विहंगम, क्रोड़ात्मन्, वडवावक्त्र धर्म, वागीश्वर, एकार्णवशायिम्, कमठेश्वर, वराह, नरसिंह, पियूषहरण, श्रीपति, कान्तात्मन्, राहुजित्, कालनेमिघ्न, पारिजात हर, लोकनाथ, शान्तात्मन्, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायिन्, एकशृगतनु, वामन देव, त्रिविक्रम, नर, नारायण, हरि, कृष्ण, परशुराम, राम, वेदविद्, कल्किन, पाताल शयन है। सात्वत संहिता और अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार वे तेज रूप हैं और अपने विशेष रूप में पूजा के योग्य हैं। (सा० सं 12) (अ० बु० 66) महाभारत के नारायणीय प्रकरण में विहंगम या हंस, कमठेश्वर या कूर्म, एक शृगतनु या मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम और राम वेदविद् और कल्किन इत्यादि दस अवतारों का उल्लेख है। क्रोड़ात्मन्, लोकनाथ और कान्तात्मन् अवतारों का उल्लेख है। क्रोड़ात्मन्, लोकनाथ और कान्तात्मन्, अवतारों को क्रमशः कभी

उद्देश्यों को ध्यान में रखकर इन अवतारों का आविर्भाव हुआ है वे तीन उद्देश्य हैं। जो ऋषि अवतार के बिना नहीं रह सकते, उन्हें संगति देने के हेतु से इन्हें (अवतारों को) प्रकट किया गया है यह प्रथम है। गीता में उल्लिखित परित्राण शब्द का अर्थ यही है। इन अवतारों को प्रगट करने का दूसरा हेतु साधुओं के विरोधियों का नाश करना है। तीसरा हेतु, वेद-धर्म की स्थापना अर्थात् ईश्वर-भक्ति की स्थापना है।[1]

ईश्वर, अन्तर्यामी के रूप में हमारा नियन्त्रण करता है उसी की प्रेरणा से हम पाप करके नरक जाते हैं और पुण्य करके स्वर्ग में। इस प्रकार हम अन्तर्यामी ईश्वर से कहीं भी बच नहीं सकते। अन्य रूप में वह हमारे हृदय में रहकर हमारे ध्यान का विषय बनता है।[2] पुनः, जब कोई मूर्ति की, चाहे मिट्टी, पत्थर या धातु की हो, योग्य क्रिया द्वारा प्रतिष्ठा की जाती है तब वह ईश्वर की सत्ता और विशेष शक्ति से प्रेरित होती है। इन्हें अर्चावतार कहते हैं, अर्थात् अर्चना द्वारा ईश्वर की पूजा के हेतु मूर्ति में अवतरण होना। इससे समस्त कामनायें प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार से ईश्वर की पाँच प्रकार की सत्ता है, पहली परा, दूसरी व्यूह, तीसरी विभवावतार, चौथी अन्तर्यामिन् और पांचवीं अर्चावतार है।[3]

यज्ञ वराह, मनु वैवस्वत और काम भी कहा है। काम को कभी धन्वन्तरि भी कहते हैं (श्राडर का पंचरात्र देखो पृ० 45)। भागवत पुराण में कथित 23 अवतार (1–3) उपरोक्त सूची के अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु यह शंकास्पद है, जैसा कि श्राडर कहते हैं कि वागीश्वर और हयशीर्ष, सनत्कुमार और सनक या नारद एक ही हैं। श्री रूप रचित लघु भागवतामृत में कथित विभव अवतार भी अधिकतर उपरोक्त सूची में आ जाते हैं यद्यपि कई नामों में परिवर्तन दीखता है। ब्रह्म संहिता के प्रमाण पर रूप कृष्ण को ईश्वर का स्वयं रूप मानते हैं। उनका मत है कि ईश्वर से एक रस हो, वे अनेक रूप धारण कर सकते हैं, इसे एकात्म रूप अवतार कहते हैं। वह एकात्म रूप अवतार भी दो प्रकार का होता है, स्व विलास और स्वांश। जब अवतार बल और गुणों में ईश्वर के समान होते हैं तो उन्हें स्वांशावतार कहते हैं। वासुदेव स्वविलासावतार कहे गए हैं। किन्तु जब अवतार में निम्न (अल्प) गुण होते हैं तो वे स्वांशावतार कहलाते हैं। संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, मत्स्य, कूर्म इत्यादि स्वांशावतार कहे जाते हैं। ईश्वर जब अपने अंश गुणों से किसी में प्रविष्ट होता है तो वह आवेशावतार कहलाता है। नारद, सनक इत्यादि आवेशावतार हैं। उपरोक्त रूपों में ईश्वर का, संसार के कल्याण के लिए प्रकट होना अवतार कहलाता है।

1 तत्त्वत्रय पृ० 138 साधु शब्द की यहाँ व्याख्या इस प्रकार की गई है।
"निर्मत्सरः मत्समाश्रयणे प्रवृत्तः मन्नाम कर्म स्वरूपाणां वाङ्मनसा गोचरतया मद्दर्शनेन विना आत्म धारणयोवर्णादिकम् अलभमानाः क्षणमात्र कालं कल्प सहस्रं मन्वानाः प्रशिथिल सर्वगात्रा भवेयुः।"

2 तत्त्वत्रय, 139–140।

3 तत्त्वत्रय में विष्वक्सेन संहिता का सन्दर्भ देखो। पृ० 122।

अहिर्बुध्न्य संहिता में ऐसा कहा है कि सुदर्शन या दिव्य संकल्प की शक्ति द्वारा (जिससे व्यूह उत्पन्न होते हैं) एक सुदर्शन के समान कान्ति वाला स्थान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान रूप एवं आनन्द रूप है। यहां पर भोग का अनुभव आनन्दमय होता है, जो ज्ञान रूप है। यहाँ पर के समस्त अनुभव आनन्दमय होते हैं तथा इस अनुभवातीत आध्यात्मिक जगत् के वासी भी आनन्दस्वरूप होते हैं। उनके देह भी ज्ञान और आनन्द-मय होते हैं।[1] इस जगत् के वासी प्रलय के समय मुक्त हो जाते हैं। वे जिस प्रकार सांसारिक जीवन में ईश्वर से अनुरक्त थे वैसे अब भी ईश्वर में अनुरक्त रहते हैं।[2]

ईश्वर अपने श्रेष्ठ रूप में हमेशा अपनी शक्ति लक्ष्मी या श्री से संलग्न रहते हैं।[3] तत्त्वत्रय और वरवर रचित उसकी टीका में हमें तीन सहधर्मिणी देवियाँ, लक्ष्मी, भूमि और नीला का उल्लेख मिलता है। श्राडर ऐसा कहते हैं कि विहगेन्द्र संहिता और सीता उपनिषद् में इन्हें इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति माना है। सीता उपनिषद् में, जिसका ज्यादा उल्लेख करते हैं सीता को महालक्ष्मी कहा गया है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप से प्रकट है। यहाँ सीता को, महेश्वर से पृथक् एवं एक रूप शक्ति माना है जिसमें जगत् के समस्त चित् और अचित् पदार्थों का समावेश है। वह लक्ष्मी, भूमि और नीला के विविध रूप में भी विद्यमान है। कल्याण, शक्ति और सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी इसी के रूप हैं। तीसरे रूप से यहाँ शक्ति द्वारा सारी औषधियाँ उगती हैं और काल का निर्णय होता है।[4]

अहिर्बुध्न्य संहिता के छठे अध्याय में मध्यवर्ती सर्ग का वर्णन है। परम अहंकार के रूप में ईश्वर की शक्ति उससे पृथक् एवं अभिन्न है। ईश्वर अपनी शक्ति के बिना रह नहीं सकता और न शक्ति उसके बिना। ये दोनों जगत् के मूल कारण हैं। व्यूहों और विभवों के रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति निर्मल या शुद्ध कही गई है क्योंकि इनके ध्यान द्वारा ही योगी अपने इष्ट को पा सकते हैं।[5] व्यूह और विभव

---

1. शुद्धा पूर्वोदिता सृष्टिर्या साव्यूहादि भेदिनी।
सुदर्शनाख्यात्संकल्पात्तस्यैव प्रभोज्ज्वला॥
ज्ञानानदंमयीस्त्याना देशभावं व्रजत्युत।
संदेशः परमं व्योम निर्मलं पुरुषात्परम्। इत्यादि। —अ० सं० 6–21–22।

2. अहिर्बुध्न्य संहिता 6–29।

3. अहिर्बुध्न्य संहिता, 6–25।

4. सीता उपनिषद् में इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति के अनोखे अर्थ पाये जाते हैं। सात्वत संहिता (9–85) में 12 अन्य शक्तियों का उल्लेख मिलता है।
लक्ष्मी, पुष्टिर्दया निद्रा, क्षमा कांतिः सरस्वती,
धृतिर्मैत्री रतिस्तुष्टिर्मति द्वादशमी स्मृता॥
श्राडर का पंचरात्र : भूमिका देखो, पृ० 55, इन शक्तियों का अवतारों से सम्बन्ध है।

5. श्राडर पद्म तन्त्र के आधार पर कहते हैं कि पर रूप के ईश्वर का कभी व्यूह वासुदेव से तादात्म्य या कभी भेद किया गया है। परा वासुदेव अपने अर्ध भाग से व्यूह

से अशुद्ध (शुद्धेतर) सृष्टि उत्पन्न होती है। शक्ति के दो प्रकार हैं, क्रिया शक्ति और भूत शक्ति। भूत शक्ति को संकल्पमयी मूर्ति माना जा सकता है। इस शक्ति में अन्तर्निहित क्रिया व्यापार, विचार और संप्रत्यय रूप में प्रकट होते हैं।[1] अशुद्ध सृष्टि, पुरुष, गुण और काल रूप से तीन प्रकार की है। पुरुष को चार वर्णों के स्त्री-पुरुष युगल की (संहति) इकाई माना है, ये चार युगल प्रद्युम्न के मुख, छाती, जंघा एवं पैर से उत्पन्न हुए माने गये हैं। प्रद्युम्न के ललाट, भृकुटि और कर्ण से काल और गुण की सूक्ष्मावस्था उत्पन्न होती है। इन सबके प्रगट होने पर इस सृष्टि का विकास और प्रगति अनिरुद्ध के आधीन होती है फिर वे योग के उत्साह से, काल और नियति रूपी द्विविध समय का निर्माण करते हैं। अनिरुद्ध ने क्रम से सत्व, रजस् और तमस् रूप मौलिक शक्ति को भी उत्पन्न किया। गुण रूप में विद्यमान आडिय भूत शक्ति से जिसे सजातीय साहित्य में प्रकृति भी कहते हैं, पहले सत्व गुण का विकास हुआ। इसके बाद सत्व से रजस् का और फिर रजस् से तमस् का विकास हुआ। इस मूलभूत अविकसित गुण का प्रद्युम्न से आविर्भाव हुआ। जिसे दूसरे शब्दों में प्रकृति भी कह सकते हैं, जो अनिरुद्ध के उत्साह से संसिक्त होकर, क्रम से पहले सत्व, रजस् और तमोगुण में व्यक्त होता है। इसलिए इस सिद्धान्त को परिमित अर्थ में ही सत्कार्यवाद कहा जा सकता है क्योंकि अनिरुद्ध के उत्साह से संसिक्त हुए बिना, प्रकृति तीनों गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकती।[2]

अनिरुद्ध, प्रद्युम्न द्वारा केवल जड़ प्रकृति का विकास करने के लिए ही नहीं थे किन्तु पुरुष को भी, जो उस शक्ति में निहित है, नियति और काल रूप में प्रकट करने को प्रेरित किये गये थे। जड़ रूप नियति और काल से प्रथम सत्व, सत्व से रजस् और रजस् से तमस् का विकास होता है। विष्वक्सेन संहिता के आधार पर, अनिरुद्ध ने ब्रह्म को उत्पन्न किया और ब्रह्मा ने चार वर्ण के स्त्री पुरुषों को उत्पन्न किया।[3]

वासुदेव बनते हैं और नारायण रूप से रहते हैं जो माया के सर्जक हैं।

—पंचरात्र पृ० 53।

1 भूतिः शुद्धेतरा विष्णोः पुरुषो द्विचतुर्मयः।
स मनूनां समाहारो ब्रह्म क्षत्रादिभेदिनाम् ॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता 6, 8-9।

2 अंतस्थ पुरुषां शक्ति तामादाय स्वमूर्तिगामू।
संबर्धयति योगेन ह्यनिरुद्धः स्वतेजसा ॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता 6-14।

3 विष्वक्सेन संहिता इस सम्बन्ध में वैदिक लोगों की आलोचना करती है जो एकेश्वरवाद को नहीं मानते थे किन्तु स्वर्ग प्राप्ति के लिए वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड पर आस्था रखते थे। इससे अन्त में उनका सांसारिक जीवन में पतन हो गया :

त्रयीमार्गेषु निष्णाताः फलवादे रमन्ति ते
देवा दीने व मन्वाना न च मां मेनिरे परम्,
तमः प्रायास्त्विमे केचिन् मम निंदां प्रकुर्वते
संलापम् कुर्वते व्यग्रं वेदवादेषु निष्ठिताः

बुद्धि तमोगुण से उत्पन्न होती है, उससे अहंकार और अहंकार से पंच तन्मात्र और 11 इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। पंच तन्मात्र से पंच महाभूत होते हैं। जितने समस्त भूत पदार्थ हैं वे पंच महाभूत के ही प्रकार हैं।

यहाँ पुरुष का विशेष अर्थ किया गया है जो सांख्य मतानुसार नहीं है। पुरुष का अर्थ समस्त आत्माओं की समष्टि रूप में किया गया है जैसे मधुमक्खियों का छत्ता। ये जीव अनादि वासना से संयुक्त होते हैं, वे ईश्वर के विशिष्ट भेद हैं (भूति-भेदाः) वे स्वरूप से सर्वज्ञ हैं परन्तु वे क्लेश और अविद्या से व्याप्त हैं जो भगवत्-शक्ति रूप माया से प्रेरित होती है। वे ईश्वर के विशेष रूप हैं (भूतिभेदाः) और स्वरूप से सर्वज्ञ है, और ईश्वर शक्ति से प्रेरित हो उसकी संकल्प गति के अनुसार ये अविद्या तथा क्लेश में फँसे रहते हैं।[1] यह आत्मा इस प्रकार अशुद्ध और सीमित होने से जीव कही गयी है। आत्मा बन्धन के दुःख से पीड़ित होती है और मुक्ति का प्रयास करती है. जिसे वह अन्त में प्राप्त करती है। इन्हीं अशुद्ध जीवों से पुरुष बना है, अतः अंशतः अपवित्र होने के कारण शुद्धयशुद्धिमय है (शुद्धयशुद्धिमय 4–34) इस पुरुष में समस्त मानव, बीज रूप से स्थित हैं, जिन्हें मनु कहा गया है। वे क्लेश और कर्माशय रहित हैं, सर्वज्ञ हैं और पूर्ण रूप से ईश्वर प्रेरित हैं। किन्तु इनका माया के साथ सम्बन्ध ईश्वर इच्छा से होते हुए भी ऊपरी ही है। लिंग और वर्ण भेद के बीज को सनातन और सर्वातीत माना गया है (पुरुष सूक्त से तुलना करो) यह भेद मानव (मनु) के चारों जोड़ों में भी है। अविद्या चित्त की आध्यात्मिक गति का अनुकरण करती है, इसी से जीव शुद्ध होते हुए भी वासना युक्त होते हैं। ये जीव इस संयोग की अवस्था में विष्णु संकल्प से प्रेरित होकर ही रहते हैं जिसे पुरुषपद कहा है।[2] वे ईश्वर के स्वरूप में अवतरित और तिरोहित होते दिखाई देते हैं। ईश्वर के रूप होने के ये अजन्मा, सनातन और ईश्वर के भूत्यंशर के भाग हैं।

ईश्वर के संकल्प की प्रेरणा से, अनिरुद्ध में एक शक्ति उत्पन्न होती है। ईश्वर के संकल्प से पुनः प्रेरित होकर, उपरोक्त कथित मनु इस शक्ति में प्रवेश कर पिण्ड रूप से रहता है (तिष्ठन्ति कललीभूताः 6–45) विष्णु की शक्ति के दो प्रकार हैं, जिन्हें क्रिया रूप और भूति कहा गया है। भूति, क्रियाख्य से उत्पन्न है।[3] यह गतिशील

मामू न जानन्ति मोहेन मयि भक्ति पराङ्मुखः
स्वर्गादिषु रमन्त्येते अवसाने पतन्ति ते।

—तत्त्वत्रय, पृ० 128।

1 सर्वात्मनाम् समष्टिर्या कोशो मधु कृतामिव। —अहि० सं० 6–33।
आत्मनो भूति भेदास्ते सर्वज्ञाः सर्वतोमुखाः,
भगवच्छक्ति मायंवमन्द-तीव्रादि भावया
ततत सुदर्शनोन्मेष-निमेषानुकृतात्मना,
सर्वतो विध्या विद्धाः क्लेशमाया-वशीकृताः॥ —अहि० सहिता 6, 35, 36।

2 विष्णोः संकल्प रूपेण स्थित्वास्मिन् पौरुषे पदे। —वही 6–41।

3 क्रियाख्यो यो य मुन्मेष स भूति परिवर्तकः। —वही, 6–29।

क्रिया ईश्वर से भिन्न है जो शक्ति का अधिपति है। इसके अनेक नाम दिये गये हैं— लक्ष्मी, संकल्प, स्वतन्त्र इच्छा (स्वातन्त्र्य मूल इच्छातगा)। यह इच्छा क्रिया, कल्पना के मानसिक चित्र पट खड़े करती है (प्रेक्षारूपः क्रियाफलः) और पुनः अव्यक्त, काल और पुरुष उत्पन्न करती है। सृष्टि रचना के समय ईश्वर अव्यक्त को विकासोन्मुख बनाता है, काल को कलन के साथ संयुक्त करता है और पुरुष को सुख दुःख के अनुभव करने की स्थिति में ले जाता है। प्रलय के समय इन शक्तियों का संकोच कर लिया जाता है।

ईश्वर की शक्ति में स्थित गर्भस्थ मनु में काल और गुण रहते हैं। विष्णु की संकल्प शक्ति की उत्तेजना से काल शक्ति-नियति उत्पन्न होती है (विष्णु संकल्प चोदिता) जिससे सृष्टि का नियन्त्रण होता है (सर्व-नियामकः)। काल और गुण ईश्वर-शक्ति के गर्भ में रहते हैं। इस प्रकार यहाँ शक्ति का अर्थ सांख्य-पातंजल-मतानुसार प्रकृति से भिन्न है क्योंकि गुण इस मतानुसार मूल पदार्थ हैं और काल गुणों के व्यापार के अन्तर्गत तत्त्व समझा गया है। काल शक्ति से नियति उत्पन्न होती है इसी कारण से मनु भी इसी स्तर के तत्त्व हैं। तत्पश्चात् ईश्वर के संकल्प द्वारा नियति में से काल की उत्पत्ति होती है तब मनु फिर इसी स्तर में प्रवेश करते हैं।[1] ऊपर हम कह चुके हैं कि काल शक्ति और गुण, विष्णु की आद्य शक्ति में एक साथ रहते हैं। यह बीजभूत गुण ही काल-क्रम से, अपने को अभिव्यक्त करता है। जब सत्वगुण काल के संयोग से प्रथम उत्पन्न होता है तब मनु इस पदार्थ में प्रवेश करते हैं और तत्पश्चात् सत्त्व से रजस् और रजस् से तमस् के आविर्भाव के साथ उनकी कोटि में अवतरित हो जाते हैं। गुणों का क्रमवद्ध विकास विष्णु की संकल्प-शक्ति द्वारा ही होता है। यद्यपि विष्णु की संकल्प-शक्ति उत्तरोत्तर विकास क्रम से सर्वव्यापी एवं अलौकिक है, तो भी विष्णु विशेष रूप से सत्त्व गुण के अधिपति माने गए हैं तमस्, भारी (गुरु) विष्टम्भक, मोह पैदा करने वाला (मोहन) और स्थिर (अप्रवृत्तिमत्) हैं, रजस् सदैव चलित और दुःखदायक है। सत्त्व, उज्ज्वल, स्वच्छ अशुद्धि-रहित और सुखदायक है।[2] विष्णु के संकल्प से तीनों गुणों के विकास द्वारा गुणों का कुछ अंश एक रूप बन जाता है, (त्रैगुण्य) इस अवस्था में तीनों गुण एकाकार हो जाते हैं (गुण साम्य)

---

1 प्रलय क्रम का वर्णन करते हुए ऐसा कहा है कि एक समय जगत् केवल काल रूप ही रहता है। समय में प्रगट होने वाली शक्ति को काल कहा है (कालगत शक्ति) और यही शक्ति सब पदार्थों को गति देती है और परिणाम करती है (अशेष प्रकृतलिनी) अहि० सं० 4–48 काल को समस्त पदार्थों को तोड़ने वाला साधन भी कहा गया है जिस प्रकार नदी का वेग किनारों को तोड़ देता है।

कलथत्यखिलं काल्यं नदी कूलं यथा रयः। —वही 6–51।

2 सत्वं तत्र लघु स्वच्छं गुणरूपं अनामयम् —अहि० सं० 6–52।
तदएतद् प्रचलं दुःखं रजः शश्वत् प्रवृत्तिमत् —अहि० सं० 6–57।
गुरु विष्टंभक्तं शश्वन्मोहनं चाप्रवृत्तिमत् —अहि० सं० 6–60।

और यहाँ स्वभाव, अविद्या योनि, अक्षर और अयोनि एवं गुण योनि की स्थिति पाई जाती है।[1]

गुणों की इस प्रकार समानानुपात अवस्था को गुणों का साम्य कहा है, जो तमोमय है उसे सांख्य मतानुसार मूल अथवा प्रकृति कहा गया है। जब मनु का इसमें प्रवेश होता है तब समष्टि, पुरुष, योनि और कूटस्थ संज्ञा दी जाती है। काल तत्त्व, जो जगत् के परिणाम का कारण है; (जगतः संप्रकल्यनम्) फलोदय के हेतु से, पुरुष और प्रकृति से संयुक्त वियुक्त होता रहता है। विष्णु की संकल्प शक्ति, काल, प्रकृति और मनु के विविध संघात द्वारा कार्यान्वित होती है और वह मिट्टी के पिण्ड की तरह उपादान कारण बनकर महत् से लेकर मिट्टी, जल इत्यादि सारे तत्त्वों को उत्पन्न करती है। प्रकृति पानी या मिट्टी की तरह, विकासात्मक या उपादान कारण है, पुरुष अपरिणामी रहता हुआ केवल अपने सान्निध्य से ही[2] विविध परिणामों को रूप देता है। काल पुरुष और प्रकृति का अन्तस्थ गतिशील तत्त्व है। प्रकृति, पुरुष और काल की त्रयी, उत्पन्न होने वाले समस्त तत्त्वों का आधार है। इस त्रयी में प्रकृति जो परिणामशील है, उपादान कारण है, पुरुष अपने में कूटस्थ रहता हुआ भी अपने सान्निध्य से ही परिणाम की क्रिया को अवसर देता है और काल तत्त्वों के अन्तः संश्लेषणात्मक व संरचनात्मक कारण को गतिशीलता प्रदान करता है। किन्तु ये कारण स्वतः उक्त त्रयी के विकास के लिए पर्याप्त नहीं हैं। त्रयी, ईश्वर की दैवी शक्ति से ही विकासोन्मुख होती है। पुरुष अधिष्ठान कारण माना गया है, काल भीतर घटित होने वाली क्रिया का सिद्धान्त है और ईश्वर की संकल्प शक्ति अलौकिक और व्यापक कर्तृत्व रूप से स्थित है जिसमें कारण रूप त्रयी अपनी गति का मूल आधार पाती है। विकास के क्रम में पहला तत्त्व महत् उत्पन्न होता है, जिसे सत्व, रजस् और तमस् की विशेष अभिव्यक्ति के आधार पर अनेक नाम से जाना जाता है जैसे विद्या, गौः यवनी, ब्राह्मी, वधू, मति, बुद्धि, मधु, अख्याति, ईश्वर और प्रज्ञा। सत्व, रजस् या तमस् के विशेष उन्मेष को ध्यान में रखते हुए, तमस्, सत्व और रजस् की विशेष अभिव्यक्ति के अनुसार इसे क्रम से काम, बुद्धि

---

1 सुदर्शनभयेनैव संकल्पेनात्र वै हरेः।
चोद्यमानेऽपि सृष्टयर्थं पूर्णं गुणयुगं तदा
अंशतः साम्यमा याति विष्णु संकल्प चोदितम्॥ —अहि० सं० 6, 61-62।

यह पाठ क्लिष्ट है यह समझ में नहीं आता कि गुण अंशतः एक रूप कैसे हो सकते हैं। सम्भवतः यह अर्थ हो सकता है कि जब गुण विकासोन्मुख होते हैं तब गुण अपने विशेष व्यापार को नहीं प्रगट कर सकते हैं और दूसरे गुणों से एक सरीखे दीखने लगते हैं। इस अवस्था में, विकासोन्मुख विशेष गुण का अपना विशेष व्यापार नष्ट प्रायः हो जाता है और वे तमस् जैसे दीखने लगते हैं। जिस प्रमाण में सत्त्व तमस् जैसा दीखता है उसी प्रमाण में तमस् रजस् जैसा दीखने लगता है।

2 पयोमृदादिवत् तत्र प्रकृतिः परिणामिनी,
पुमानपरिणामी सत् सन्निधानेन कारणं
कालः पचति तत्त्वे द्वे प्रकृतिं पुरुषं च ह॥ —अहि० सं० 7, 5–6।

और प्राण कहते हैं ।[1] पल और क्षण रूप में स्थूल काल, बुद्धि और प्राण भी महत् के विविध भेद हैं ।[2] बुद्धि और प्राण की शक्ति मानो काल के ही द्वारा व्यक्त रूप धारण करती है । विचार और कर्म का सामञ्जस्य काल द्वारा होता है क्योंकि काल को कलन-कारण, या संरचनात्मक कारण माना गया है । महत् का सात्त्विक अंग, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के रूप में प्रकट होता है और तमोऽभिभूत अंग इससे विपरीत गुणों को प्रकट करते हैं ।

महत् के प्रकट होने के साथ ही मनु का उसमें अवतरण होता है । महत् में से और महत् में, इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें विषयों के सत् असत् रूप का अनुभव होता है ।[3] पुनः महत् में से और महत् में ही अहंकार की उत्पत्ति विष्णु के संकल्प की प्रेरणा से होती है ।[4] अहंकार की चार भिन्न संज्ञाएँ दी गई हैं, जैसे अभिमान, प्रजापति, अभिमन्ता और बोद्धा । अहंकार की सत्व, रजस् या तमस् के प्राधान्य से वैकारिक, तेजस् और भूतादि तीन किस्में हैं । अहंकार, इच्छा, क्रोध, तृष्णा, मनस् और तृषा के रूप में अभिव्यक्त होता है । जब अहंकार उत्पन्न होता है तो मनु उसमें प्रवेश करते हैं, अहंकार से मनु का चिन्तनात्मक इन्द्रिय रूप मनस् प्रकट होता है । इसी स्तर पर पहुँचने के बाद ही मनु, सर्वप्रथम चिन्तन करने योग्य बनते हैं । भूतादि रूप तमोमय अहंकार से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है जिससे आकाश प्रकट होता है । आकाश का गुण शब्द है जो सबको अवकाश देता है । आकाश को इस प्रकार रिक्त अवकाश कहना योग्य है जो शब्द गुण युक्त है ।[5] आकाश के उत्पन्न होते ही मनु आकाश में प्रवेश करते हैं । वैकारिक अहंकार से वाक् और श्रवणेंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं ।[6] मनु इस स्तर पर इन इन्द्रियों से संयुक्त हो जाते हैं । विष्णु की संकल्प शक्ति के प्रभाव से, भूतादि में से स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है जिससे वायु प्रगट होती है, वैकारिक अहंकार से, विष्णु की कल्पना शक्ति द्वारा स्पर्शेन्द्रियाँ तथा हस्तादि कर्मेन्द्रियाँ प्रकट होती हैं । यहाँ पर मनु का इन ग्रहणशील और क्रियाशील इन्द्रियों से सम्बन्ध हो जाता है । भूतादि से रूप तन्मात्रा उत्पन्न हो जाती है जिससे फिर स्थूल तेज प्रकट होता है । पुनः वैकारिक अहंकार से चक्षु इन्द्रिय और पाद रूप कर्मेन्द्रिय प्रकट होती हैं और मनु का फिर इन इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है । भूतादि से रस तन्मात्रा और उससे जल या

---

1 कालो बुद्धिस्तथा प्राण इति त्रेधा स गीयते ।
तमः सत्वरजो भेदात् तत्तदुन्मेष संज्ञया ।।
—अहि० सं० 7–9 ।

2 कालस्त्रुटिलवाद्यात्मा बुद्धि रध्यवसायिनी,
प्राणः प्रयतनाकार इत्येता महतो भिदाः ।
—वही 7–11 ।

3 बोधनं नाम वेद्यम् तदिन्द्रियं तेषु जायते ।
येनार्थाअध्यवस्येयुः सदसत् प्रविभागिनः ।
—वही, 7–14 ।

4 विद्यया उदरे तत्राहंकृतनीम् जायते ।
—वही, 7–15 ।

5 शब्दैकगुणम् आकाशं अवकाशप्रदायीच ।
—अहि० सं० 7–22 ।

6 तदा वैकारिकात् पुनः श्रोत्रम् वाग्इनि विज्ञान कर्मेन्द्रिययुगं मुने ।
—अहि० सं० 7, 23, 24 ।

आप उत्पन्न होते हैं। तदुपरान्त, वैकारिक अहंकार से रसनेन्द्रिय और लिंग उत्पन्न होने पर मनु का इनसे सम्बन्ध होता है। पुनः भूतादि से घ्राण तन्मात्रा और इससे पृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर वैकारिक अहंकार से ज्ञानात्मक घ्राणेंद्रिय और उपस्थ उत्पन्न होते हैं। विष्णु की संकल्प शक्ति से प्रेरित होकर मनु फिर इसमें प्रवेश करते हैं।[1]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय, प्रत्येक तन्मात्रा के विकास के साथ उत्पन्न होती है तथा पूर्ण विकास होने पर दसों इन्द्रियाँ युगल रूप से प्रकट हो जाती हैं। भूतादि के क्रमशः प्रलय का वर्णन किए गए अध्याय में यह बताया है कि प्रत्येक भूत के प्रलय के साथ, उससे उत्पन्न इन्द्रिय युगल का भी साथ-साथ प्रलय होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि हरेक स्तर पर भूत तत्त्व और कर्म तथा ज्ञानेन्द्रियों के बीच सहकार है। ज्यों-ज्यों क्रम से तत्त्वों का विकास होता है त्यों-त्यों जीव उनमें प्रवेश करते हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि जीव अनादि-काल से तत्त्वों के विकास से सम्बन्धित होने के कारण इन्द्रिय तथा उनके विषयों से भी सरलता से मिल जाते हैं। जब समस्त भूतादि तथा दस इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं, तब कल्पना के कार्य, संकल्प शक्ति (संरम्भ) और मनस् अहंकार और बुद्धि से पंच प्राण उत्पन्न होते हैं। इन तत्त्वों के विकास से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।[2] प्रलय क्रम विकास क्रम से ठीक उल्टा है।

मनु अपनी पत्नियों में अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो मानव कहलाये हैं। वे पुनः और अन्य अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो चारों वर्णों में नव मानव नाम से जाने गये हैं। उनमें से वे जो विवेक ज्ञान द्वारा अपना कार्य 100 वर्षों तक पूर्ण करते हैं वे हरि में वास करते हैं और जो सकाम सेवा करते हैं वे कर्मानुसार आवागमन में ही रहते हैं। ऊपर कहे अनुसार मनु कूटस्थ पुरुष का व्यक्ति रूप हैं। सारे जीव इस प्रकार विष्णु के भूत्यंश हैं। प्रकृति जो विद्या भी है और सृष्टि रचना के समय जल रूप में अपने को बरसा कर अन्न की सृष्टि करती है और प्रलय के समय शुष्क, ताप रूप है, वह जब मेघ का रूप धारण करती है तब अन्न उपजाती है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किये अन्न को खाकर मनुष्य अपनी पूर्ण ज्ञान की मूलावस्था से गिर जाता है (ज्ञान-भ्रंशम् प्रपद्यते)। इस समय आदि मनु, जो मनुष्य सर्वज्ञता से च्युत

---

1 अहि० सं० 7, 39–40।

2 सकल्प श्चैव संरम्भः प्राणाः पंचविधास्तथा,
मनसो हंकृतेर्बुद्धेर्जायते पूर्वमेव तु,
एवं संपूर्ण सर्वगाः प्राणापानादिसंयुताः
सर्वेन्द्रिययुता स्तत्र देहिनो मनवो मुने ॥ —अहि० सं० 7, 42–43।

इस प्रकार तेजस् अहंकार के संयोग से भूतादि से पंच तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पाँचों में से उसी क्रम से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं जैसे आकाश, वायु, तेजस्, अप् और पृथ्वी। पुनः तेजस् और वैकारिक अहंकार के संयोग से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

हो गये हैं उनके लिए शास्त्र प्रकट करते हैं।[1] उसके बाद ही जीव शास्त्रों के आदेशों का अनुगमन करते हुए अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्य आनन्द और क्रिया शक्ति रूपी विष्णु भावक और भाव्य रूप से विभाजित हो जाते हैं। पहली विष्णु की संकल्प शक्ति है और दूसरी शक्ति संकल्प शक्ति का विषय बनती है। इससे शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। चारों मनुओं का जनक कूटस्थ पुरुष, शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच स्थित है।[2] विष्णु की सुदर्शन शक्ति के बाहर कुछ भी नहीं है। मोक्ष का स्वरूप

जीव और ईश्वर के बीच क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न के बारे में पंचरात्र और अहिर्बुध्न्य संहिता का यह मत है कि प्रलय में जीव विष्णु में अव्यक्त रूप से रहते हैं और नव सर्जन के समय उसमें से पृथक् हो जाते हैं। मुक्त होने के बाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते हैं फिर आवागमन नहीं होता। मुक्त होने पर वे ईश्वर में प्रवेश तो करते हैं किन्तु उससे एक नहीं होते, वे विष्णु से अपना भिन्न अस्तित्व रखते हैं या विष्णु-धाम वैकुण्ठ में वास करते हैं। वैकुण्ठ वास को बहुधा विष्णु से एकात्म होना भी माना है। यह सम्भवतः सालोक्य मुक्ति है जिसका वर्णन अन्य स्थान पर प्राप्त है। अहिर्बुध्न्य संहिता के 14वें अध्याय में मुक्ति को ईश्वरत्व की प्राप्ति कहा है (भगवत्ताययी मुक्तिया वैष्णवं तद् विशेत् पदम्)।[3] निस्वार्थता से पुण्य कर्म करना मुक्ति पाने का साधन माना जाता है।[4] जीवों को अनादि, अनन्त, शुद्ध चैतन्य और आनन्द रूप माना है वे अधिकांश में ईश्वर जैसे हैं (भगवन्मय) तो भी उनका अस्तित्व ईश्वर की आध्यात्मिक शक्ति से है (भगवद् भाविताः सदा)।[5] इस विचार को यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि भाव्य भावक शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी भी पुंशक्ति है. जिसको गीता में क्षेत्रज्ञ शक्ति की संज्ञा दी है और इसे ही गौड़ीय सम्प्रदाय में तटस्थ शक्ति कहा है।[6] ईश्वर की सर्जन, पालन और संहार इन तीन शक्तियों के अलावा चौथी और पाँचवीं शक्ति भी है जिसे अनुग्रह और निग्रह कहते हैं। विष्णु आप्तकाम है उन्हें कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं है। उनकी स्वतन्त्रता दिव्य है तो भी

---

1 तत्तु वेद्यम् पयः प्राश्य सर्वे मानवमानवाः।
ज्ञान भृंशम् प्रपद्यन्ते सर्वज्ञाः स्वत एवते॥ —अहि० सं० 7, 61–62।
इसे यहूदी-ईसाई मत के साथ तुलना कीजिए जैसा कि श्राडर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है। पृ० 78।

2 अंशयो पुरुषो मध्येयः स्थितः स चतुर्युगः
शुद्धेतरमयं विद्धि कूटस्थं तत् महामुने॥ —वही, 7, 70।
गौडीय मत की तुलना करो जो जीवों को ईश्वर की तटस्थ-शक्ति मानता है—जो अन्तरंग और बहिरंग शक्ति के बीच है।

3 अहि० सं० 14, 3, 4, 41।

4 साधनं तस्य च प्रोक्तो धर्मेनिरभिसंधिकः —वही, 14, 4।

5 वही, 14, 4।

6 पुंशक्तिः कालमय्यन्या युमान् सोऽयमुदीरितः —वही, 14, 10।

वह एक स्वेच्छाचारी राजा की तरह क्रीड़ा करते हैं।[1] इस क्रीड़ा को गौड़ीय मत में लीला कहा है। ईश्वर की ये सब क्रियाएँ उसकी संकल्प-शक्ति के ही भिन्न रूप हैं जिसे सुदर्शन कहा गया है। अपनी निग्रह रूपी लीला में ईश्वर जीवों के स्वभाव को ढक लेता है जिससे वे अपने को अनन्त अनुभव न करके अणु रूप पाते हैं, सर्वशक्तिमत्ता के बजाय अल्प शक्तिमान्, सर्वज्ञता की जगह, अल्पज्ञ और अज्ञानी पाते हैं। ये तीन प्रकार के मल हैं और तीन ही प्रकार के बन्धन हैं। इस आवरण शक्ति द्वारा जीव अज्ञान, अहंकार, राग और द्वेषादि से पीड़ित हो जाता है। अज्ञान और रागादि से पीड़ित हो और सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने की इस प्रकृति से प्रेरित हो वह पाप और पुण्य कर्म करने लगता है। इससे वह आवागमन के चक्र में फँसता है और अनेक प्रकार की वासनाओं से युक्त हो जाता है। सर्जन, पालन और संहार की शक्ति, बन्धन शक्ति और उसकी आवश्यकताओं द्वारा ही जागृत होती है और उसे जीवों को कर्मानुसार अनुग्रह और निग्रह के लिए क्रियाशील बनाती है। यह क्रीड़ा काल से परे होने के कारण अनादि है। तदनुसार बन्धन भी अनादि हैं। बन्धन किसी विशेष समय पर जीवों को अपने स्वस्वरूप से च्युत होने से प्राप्त हुआ है, यह परिस्थिति के विश्लेषण द्वारा कहा गया है। ईश्वर जीवों के दुःख और शोक की स्थिति पर दया करके अपनी अनुग्रह या कृपा शक्ति द्वारा, उनके कर्म की गति को रोक देता है। अच्छे और बुरे कर्म तथा उनके उपयुक्त सुख-दुःख रूपी भोगों के रुक जाने पर जीव मुक्ति के प्रति झुकता है उसमें वैराग्य उत्पन्न होता है और विवेक दृष्टि जागृत होती है। तब वह शास्त्र और गुरु के पास जाता है, सांख्य और योग के आदेशानुसार व्यवहार करने लगता है, वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त में विष्णु-धाम पहुँचता है।

लक्ष्मी को विष्णु की अन्तिम तथा नित्य शक्ति माना है, उसे गौरी, सरस्वती धेनु भी कहा है। यही परम शक्ति संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार ये भिन्न शक्तियाँ अभिव्यक्त होने पर ही गोचर होती हैं, किन्तु जब वे अव्यक्त होती हैं तब भी वे विष्णु में लक्ष्मी रूप से परम शक्ति के रूप में रहती हैं। यही लक्ष्मी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाती है। व्यक्ति, अव्यक्ति, पुरुष, काल या सांख्य और योग इन सभी का लक्ष्मी में ही वास है। लक्ष्मी ही परम शक्ति है जिसमें सब लीन होते हैं। अन्य प्रकट शक्तियों से पृथक् रूप में होने में इसे पंचम शक्ति कहा है। मुक्त पुरुष इस लक्ष्मी में प्रवेश करता है जो विष्णु का परम धाम है। (परं धाम या परमं पद्म) या परं ब्रह्म है। इस शक्ति के अन्तराल में आनन्द का भाव है तो भी वह स्वरूप से आनन्दमयी है। इसे उज्ज्वल और विष्णु का भाव कहा है। यह शक्ति, उत्पत्ति, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह रूपी पाँच कार्य करती मानी गई है (पंच कृत कारी)। ब्रह्म का इस शक्ति के साथ संयोग होने से वह जगत् पालक अल्प विष्णु से भिन्न, महा विष्णु कहलाता है। यह शक्ति सर्वदा अन्तः क्षुब्ध रहती है जो कि बाहर से नहीं दिखाई पड़ती। यह अन्तः क्षोभ और हलचल इतनी सूक्ष्म है कि वह सागर की

---

1 सर्वै रननुयोज्यं तत् स्वातंत्र्यम् दिव्यमीशितुः।
अवाप्त विश्व कामोऽपि क्रीड़ते राजवद् वशी॥

—वही, 14, 13।

तरह शान्त दीखती है ।[1] इस प्रकार शक्ति विष्णु की माया भी कहलाती है ।[2] इस शक्ति का अंशमात्र ही भाव्य और भावक शक्ति रूप में प्रकट होता है, भावक शक्ति ही सुदर्शन नाम से जानी गई है । भाव्य जगत् रूप से प्रगट होती है और इसका उद्देश्य भी संसार है ।

संकल्प शक्ति, जिससे प्रत्यय, वास्तविक आदर्श जगत् में विचार और इसके अर्थ के रूप में प्रगट होते हैं, वह सुदर्शन शक्ति का सार है । दृश्य की बाह्य हलचल जब शब्द द्वारा चिन्तन रूप में ग्रहण की जाती है तब हमें सुदर्शन की शक्ति या महा विष्णु की संकल्प शक्ति का भान होता है । समस्त जगत् का कारण सुदर्शन शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रकार है । इस प्रकार बाह्य जगत् की सारी हलचल तथा वाचा की समस्त क्रियाएँ ही केवल नहीं किन्तु द्रष्टा दृश्य रूप क्रिया जिससे सारा जगत् विचार और वाणी के रूप में ग्रहण किया जाता है, ये सब ईश्वर की सुदर्शन शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं । समस्त ब्रह्म रूप और अभिव्यक्तियाँ गुण या कर्म रूप हैं, और वे दोनों सुदर्शन की शक्ति के ही रूप हैं । हमारी वाणी इस सत्ता के दो प्रकारों को ही निर्दिष्ट कर सकती है । इसी कारण वे सब सुदर्शन को ही इंगित करते हैं जो विष्णु का वाच्य है, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन वे नहीं कर सकते । शब्द, इसलिए विष्णु के स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकते । शब्द, जगत् को रहस्यात्मक प्रतीक के रूप में अपने में समा सकता है और उसकी सारी शक्तियों का वर्णन भी कर सकता है, यह सब कुछ होते हुए भी अंग सा है चाहे फिर शब्द सारे जगत् को अपने में समा लेने की शक्ति रख सके या सारे जगत् को अपने में समाहित कर सके और ईश्वर से तादात्म्य भी कर सके तो भी यह तादात्म्य केवल सुदर्शन से ही होता है । यह शंक और विचारक द्वारा ईश्वर में लय या उसकी अनुभूति प्रवेश करना ईश्वर की सुदर्शन शक्ति द्वारा ही हो सकता है जो लक्ष्मी का एक अंश है । इस प्रकार विष्णु से एकात्मता का अर्थ सुदर्शन से तादात्म्य है या लक्ष्मी में प्रवेश होना है ।[3]

नमः का तात्पर्य है मनुष्य के द्वारा ज्ञान पर बोध के सहारे महा विष्णु की पति रूप में हृदय से स्वीकृति ।[4] कालतः और गुणतः विष्णु का प्रकर्ष ही उनका ज्यायस्त्व है ।[5] विष्णु ही महान् है और सब उससे निम्न कोटि में हैं । महान् और कनिष्ठ के

---

1 सदा प्रतायमानापि सूक्ष्मैर्भावर लक्षणैः
निर्व्यापारेव सा भाति स्तैमित्य मिव वोऽदधेः,
तयै वोऽपहितम् ब्रह्म निर्विकल्पं निरंजनम् ।। —अहि० सं० 51, 49 ।

2 मायाश्चर्यकरत्वेन पंच कृत्य करी सदा । —वही 51, 58 ।
संकल्प शक्ति का सार है जिससे आदर्श एवं वास्तविक जगत् में, प्रत्यय, शब्द तथा उसके अर्थ के रूप में विषय के रूप में प्रकट होते हैं ।

3 अहि० सं० 51, 69–78 ।

4 प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्या प्रह्वीभावात्मिका स्वतः
उत्कृष्टं परमुद्दिश्य तन्नम परिगीयते । —अहि० सं० 52, 2 ।

5 कालतो गुणतश्चैव प्रकर्षो यत्र तिष्ठति
शब्दस्तं मुख्यया वृत्या ज्यायानित्यवलम्बते । —वही 52, 4 ।

सम्बन्ध का अर्थ यह है कि दूसरा पहले पर अवलम्बित है और दूसरे का जीवन ही पहले के लिए है। इस सम्बन्ध को शेष-शेषिता कहा है। दोनों में आराधक आराध्य सम्बन्ध है (नंतृ-नंतव्य भाव)। सच्चा नमन उसे कहते हैं कि जब वह उपरोक्त भाव सहज ही बिना किसी हेतु या उद्देश्य के प्रगट हो और केवल यही विचार रहे कि विष्णु मुझ से कहीं महान् हैं और मैं उनसे कितना हीन हूँ।[1] नमन का यह क्रम भक्त को ईश्वर के निकट ही नहीं पहुंचाता किन्तु ईश्वर को भक्त के पास लाता है। किसी भी प्रकार का प्रयोजन नमन के फल को बिगाड़ देता है। नमन प्रपत्ति क्रम का, अर्थात् ईश्वर से संरक्षण प्राप्त करने का प्रथम चरण है।[2] जब मनुष्य का ज्ञान, अनादि वासना से, बल की अर्थ हीनता से और अशुद्धि के संग से, अवरुद्ध हो जाता है, और जब मनुष्य को इन कमियों का पूर्ण रूप से भान होता है तब उसमें कार्पण्य अर्थात् दैन्य-भावना आती है। हम स्वतन्त्र हैं यह भावना कार्पण्यता को मिटाती है। परमेश्वर सर्वदा दयावान् है इस उत्कट विश्वास के गुण को महा-विश्वास कहा है। ईश्वर उदासीन है और प्रत्येक को उसके कर्मानुसार दया दृष्टि करता है, यह विचार महा-विश्वास का बाधक है। ईश्वर कृपामय है, सर्व शक्तिमान् है, वह अवश्य हमारी रक्षा करेगा यह भावना उसकी रक्षण-शक्ति में विश्वास उत्पन्न करती है। ईश्वर निर्गुण होने से हमारे रक्षण की याचना के प्रति उदासीन रहेगा, यह विचार, उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर को महान् गुरु या सर्वाधिपति स्वीकारना, जिसके आदेश की किसी भी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती यह प्रातिकूल्य विवर्जन नामक गुण उत्पन्न करता है। शास्त्र-विरुद्ध ईश्वर की सेवा उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर की इच्छानुसार हम चलें ऐसा मन में दृढ़ निश्चय और जगत् में जड़ और चेतन पदार्थ ईश्वर के ही अंश हैं ऐसा दृढ़ विश्वास शरणागति का गुण उत्पन्न करता है। जीव के प्रति वैर भाव इस गुण का अवरोधक है। ईश्वर के प्रति नमन (नमः) उपरोक्त गुणों से युक्त होना चाहिए। ईश्वर के प्रति सच्चे नमन (नमः) के साथ वह दृढ़ विश्वास आवश्यक है कि पदार्थों के प्रति हमारी अधिकार-भावना जो अनादि वासना तथा इच्छादिजनित है वह मिथ्या है। भक्त यह माने कि वह स्वतन्त्र नहीं है और न उसके पास अपना कहने को कुछ भी है। मेरा शरीर, मेरी सम्पत्ति, मेरे सम्बन्धी मेरे नहीं हैं वे ईश्वर के ही हैं। इस विश्वास से उत्पन्न उत्कट भाव से ईश्वर को नमन करना चाहिए। भक्त को ऐसा लगे कि अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के लिए आराधना के सिवाय दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है और इस प्रकार वह अपने को ईश्वर को समर्पण करे और उसे अपनी तरफ खींचे। नमन का ध्येय उत्कृष्ट निरहंकारता और ईश्वर में आत्म-समर्पण है वह अपने लिए कुछ न बाकी रखे। जगत् ईश्वर से उत्पन्न है तो भी उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिए वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण है और भक्त को हमेशा यह ध्यान रहे कि ईश्वर सब प्रकार से महान् है।

---

1 उपाधि रहिते नायं येन भावेन चेतनः।
नयति ज्यायसे तस्मै तद्वा नमनमुच्यते ॥ —अहि० सं० 52, 9।

2 फलेप्सा तद्विरोधिनी। —वही, 52, 15।

अहिर्बुध्न्य संहिता के 26वें प्रकरण में ईश्वर-प्राप्ति के साधन रूप प्रपत्ति, न्याय या शरणागति के सिद्धान्त का जो उल्लेख मिलता है उसमें इन्हीं उपरोक्त गुणों का विवेचन है ।[1] शरणागति की व्याख्या यहाँ इस प्रकार की गई है, हम पाप और दोषयुक्त हैं, विष्णु की कृपा के बिना हम भटके हुए हैं, हम सर्वथा निराधार हैं इस विश्वास से ईश्वर की कृपा याचना करना शरणागति है ।[2] जो मनुष्य प्रपत्ति के मार्ग को अपनाता है उसे सारी तपस्या, यज्ञ, तीर्थाटन और दान के फल मिलते हैं और बिना अन्य साधन के सरलता से मुक्ति मिल जाती है । आगे और उल्लेख किया गया है कि प्रपत्ति-मार्ग अपनाने के लिए एक ही भाव की आवश्यकता है, कि वह विष्णु पर सर्वथा आश्रित रहे और अपने को नितान्त निराधार समझे । उपरोक्त भावना में दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हुए साधक अपने आपको आराधनारत रखे तो उसे अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा,[3] ईश्वर ही सब कुछ कर लेगा । प्रपत्ति इस प्रकार से उपाय ज्ञान है, उपाय ही नहीं है क्योंकि यह एक धारणा है, कर्म नहीं है । यह एक प्रकार से तरणी है जिसमें यात्री बैठता है और मल्लाह उसे पार लगा देता है ।[4]

शुद्ध सर्ग का वर्णन करते हुए, ऐसा कहा है कि प्रलय के समय सारे कार्य अव्यक्त और सक्रिय हो जाते हैं और उसमें किसी प्रकार की हलचल नहीं होती । विष्णु के उपरोक्त कहे षड्गुण अर्थात्, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज परम शान्ति की अवस्था में वायुविहीन आकाश की तरह रहते हैं ।[5] इन सारी शक्तियों का शान्त भाव ही लक्ष्मी है जो मानो शून्यावस्था है । वह सहज ही स्फुटित हो गतिशील हो जाती है । ईश्वर की यह शक्ति भिन्न होते हुए भी, उसका ही स्वरूप है । इस प्रगट क्रियात्मक रूप को ही शक्ति कहा है । अव्यक्त रूप में वह विष्णु से अभिन्न रहती है । विष्णु के इन गुणों को प्रकृति के गुणों से भिन्न समझना चाहिए, प्रकृति के गुणों का विकास अशुद्ध सर्ग के समय कहीं निम्न स्तर पर होता है ।

व्यूहों का वर्णन करते ऐसा कहा गया है कि संकर्षण अपने में सारे जगत् को, कपाल में तिलक की तरह धारण करते हैं (तलकालक) संकर्षण द्वारा धारण किया हुआ

---

1 षोढा हि वेद-विदुषो वदन्त्येनं महामुने,
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व-वरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।। —अहि० सं० 37, 27–28 ।

2 अहं अस्मि अपराधानाम् आलयोऽकिंचनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मतिः
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेस्मिन् प्रयुज्यताम् ।। —अहि० सं० 37, 30–31 ।

3 अहि० सं० 37, 34–35 ।

4 अत्र नाविति दृष्टान्तादुपायज्ञानमेव तु ।
नरेण कृत्यमन्यत् तु नाविकस्येव तद्धरेः । —अहि० ०सं ।

5 पूर्णस्तिमित षाड्गुण्यमसमीराम्बरोपमम् । —अहि० सं० 5, 3 ।

जगत् अभी अव्यक्त रूप में ही है। वह अशेष भुवनाधार है।[1] मनु काल और प्रकृति प्रद्युम्न में से प्रगट होते हैं।[2] प्रद्युम्न के ही प्रभाव से मनुष्य शास्त्र विधि से कर्म करने को प्रेरित होते हैं।[3] अनिरुद्ध, जिसे महा विष्णु भी कहते हैं, बल और शक्ति का देवता है, और इसी की शक्ति से जगत् की रचना और पालन होता है। इसी से ही जगत् की वृद्धि होती है। इसी शक्ति से जगत् भय रहित रहता है और मुक्ति पाता है। शंकराचार्य के कथनानुसार संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मनस् है, और अनिरुद्ध अहंकार है।[4] किन्तु ऐसा मत पंचरात्र ग्रन्थों में बहुत कम देखने में आता है। तत्त्वत्रय में दिए विष्वक्सेन संहिता के उद्धरण के आधार पर संकर्षण जीवों का अध्यक्ष है, प्रद्युम्न को मनोमय माना हैं, किन्तु अनिरुद्ध के बारे में कुछ भी नहीं कहा है। लक्ष्मी तन्त्र (4-9-14) में ऐसा कहा है कि संकर्षण आत्मा, बुद्धि, मनस् है और वासुदेव सृजनात्मक लीला है। विष्वक्सेन संहिता में अनिरुद्ध मिश्र वर्ग (नियति रूप शुद्धाशुद्ध सर्ग) का निर्माण करते हैं, संकर्षण ने चेतन तत्त्व को जगत् से पृथक् किया और स्वयं प्रद्युम्न बन गए। अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर पुरुष प्रकृति का भेद प्रद्युम्न स्तर पर होता है, संकर्षण स्तर पर नहीं। अहिर्बुध्न्य संहिता में अनिरुद्ध को सत्य तथा उससे उत्पन्न तत्त्वों का तथा मनु का अध्यक्ष माना है।[5] इसी ग्रन्थ में लक्ष्मी को विष्णु-शक्ति माना है किन्तु उत्तर नारायण में लक्ष्मी और भूमि को तथा तत्त्वत्रय में लक्ष्मी, भूमि और नीला को विष्णु-शक्ति माना है, विहगेन्द्र संहिता (2-8) में उन्हें देवी की इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति कहा है। सीता उपनिषद् में भी इसी प्रकार उल्लेख है यहाँ इसका सम्बन्ध वैखानस शाखा से है। विहगेन्द्र संहिता सुदर्शन की आठ शक्तियों का उल्लेख करती है, जो कीर्ति, श्री, विजय, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हैं। किन्तु सात्वत संहिता में (9-85) विष्णु की श्री जीवत्स उत्पन्न 12 शक्तियों का उल्लेख है, वे लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि और मति हैं।

पंचरात्र अंशतः वैदिक और अंशतः तांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित है।[6] वह इसलिए मन्त्र के गुह्य स्वरूप को मानता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि जगत् सुदर्शन शक्ति से उत्पन्न हुआ है इसलिए जगत् की सारी शक्तियाँ, नैसर्गिक, भौतिक इत्यादि सभी सुदर्शन के ही रूप हैं। सुदर्शन की शक्ति समस्त चेतन एवं जड़ पदार्थों में तथा बन्धन और मुक्ति के रूप में प्रकट है। जो कोई भी उत्पन्न करने की शक्ति

---

1 ऐसा कहा है कि संकर्षण द्वारा ही समस्त शास्त्र उत्पन्न हुए हैं और प्रलय के समय वे उन्हीं में समा जाते हैं।
—अहि०सं० 55, 16।

2 अहि० सं० 6, 9–12।

3 अहि० सं० 55, 18 प्रद्युम्न को वीर भी कहा है।

4 भिन्न व्यूहों के कार्य के बारे में मत मतान्तर हैं। लक्ष्मी तंत्र देखो 4, 11–20 विष्वक्सेन सं० भी तत्त्वत्रय में उद्धृत।

5 अहि० सं० 6, 27।

6 वेद-तंत्र-मयोद्भूत नाना प्रसव शालिनी।
—अहि० सं० 6–9।

रखता है वह सुदर्शन शक्ति का ही प्रगटीकरण है।[1] मंत्र भी शुद्ध चैतन्य रूप विष्णु की शक्ति है। उस शक्ति की सर्व प्रथम अभिव्यक्ति, जो घण्टों की दीर्घ ध्वनि के रूप में होती है, उसे नाद कहते हैं।[2] इसे योगी ही सुन सकते हैं। दूसरी अभिव्यक्ति सागर से बूँद की तरह होती है, उसे बिन्दु कहते हैं। बिन्दु में नाम और उसके द्वारा संकेतित शक्ति का तादात्म्य है। इसके बाद नामी का उदय होता है जिसे शब्द ब्रह्मन् कहते हैं। इस प्रकार हरेक वर्ण की उत्पत्ति के साथ तदनुरूप अर्थ शक्ति (नाम्युदय) भी उत्पन्न होती है। इसके बाद अहिर्बुध्न्य संहिता में बिन्दु शक्ति से स्वर और व्यंजन की उत्पत्ति का वर्णन है। विष्णु की कुण्डलिनी शक्ति के नृत्य से 14 प्रकार के प्रयत्नों द्वारा 14 स्वरों की उत्पत्ति होती है।[3] अपनी द्विधा सूक्ष्म शक्ति से यह रचना और संहार का कारण होती है। यह शक्ति मूलाधार से उठकर नाभि तक रहती है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। योगी ही इसे अनुभव कर सकता है। आगे वह हृदय कमल की तरफ बढ़ती है और कण्ठ द्वारा व्यक्त शब्द के रूप में प्रगट होती है। स्वर शक्ति सुषुम्ना नाड़ी में से चलती है। इस तरह से भिन्न-भिन्न व्यंजनों की ध्वनियाँ जगत् की भिन्न शक्तियों के आदर्श रूप हैं, वे भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रतीक या शक्तियों की अध्यक्ष मानी गई है।[4] इनमें से कुछ वर्णों का भिन्न क्रम और व्यूह में समुच्च, जिसे चक्र या कमल कहते हैं, भिन्न प्रकार की जटिल शक्तियों का प्रतिनिधि माना गया है। इन चक्रों की पूजा और ध्यान करने से चक्र में निहित शक्ति वश में आती है। हरेक चक्र और मन्त्र के साथ भिन्न देवताओं का सम्बन्ध है। पंचरात्र ग्रन्थों के अधिकांश भाग इन चक्र और देवताओं के वर्णन और उनके पूजा क्रम, उनके अनुरूप मूर्ति और मन्दिर बनाने के वर्णन से भरपूर हैं। मन्त्रों के ध्यान द्वारा, उनके अनुरूप रक्षण कार्य भी होता जाता है।

अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों की तरह अहिर्बुध्न्य संहिता में भी नाड़ी तन्त्र का वर्णन है। सारी नाड़ियों का मूल (काण्ड) उपस्थ से 9 इंच ऊपर है। यह काण्ड चार इंच लम्बा और चौड़ा अण्डाकार रूप है। यह चर्बी, मांस, रक्त और अस्थि का बना होता है। उपस्थ से दो इंच नीचे और गुदा से दो इंच दूर जो स्थान है उसे शरीर मध्य या केवल मध्य कहा है। यह चतुर्भुजाकार है इसे आग्नेय मण्डल भी कहते हैं। नाड़ियों के मूल

---

1 सुदर्शनाह्वया देवी सर्व कृत्यकरी विभोः
तन्मयं विद्धि सामर्थ्यं सर्वं सर्व-पदार्थजम्
धर्मस्यार्थस्य कामस्य मुक्तेर्बन्धत्रयस्य च
यद्यत् स्वकार्यसामर्थ्यं तत्तत् सौदर्शमं वपुः। —अहि० सं० 16, 4 और 6।

2 साक्षात् विष्णोः क्रिया शक्तिः शुद्ध संविन्मयी परा। —वही 16, 10।
इस क्रिया शक्ति को सामर्थ्य या योग या पारमेष्ठय या महातेजस् या महायोग भी कहा है। —अहि० सं० 16, 32।

3 नटीव कुण्डली शक्तिराद्या विष्णोर्विजृम्भते। —अहि० सं० 11, 55।

4 विष्णु शक्तिर्मया वर्णा विष्णु संकल्प जृम्भिताः
अधिष्ठिता यथा भावैस्तथा तन्मे निशामय। —अहि० सं० 17, 3।

को नाभि चक्र भी कहते हैं। जिसमें 12 आरे होते हैं। नाभि चक्र के चारों तरफ अष्ट मुख कुण्डली (सर्प) है जिसने अपने शरीर से सुषुमा के ब्रह्मरंध्र-द्वार को बन्द कर रखा है।[1] चक्र के मध्य में दो नाड़ियाँ हैं जिन्हें अलम्बुषा और सुषुम्ना कहा है। सुषुम्ना के दूसरी ओर कुहू, वरुण, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा और विश्वोदरा आदि नाड़ियाँ हैं। लेकिन कुल मिलाकर 72000 नाड़ियाँ शरीर में हैं, इनमें से इड़ा और पिंगला और सुषुम्ना अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हैं। इनमें से सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य में पहुँचती है बहुत ही महत्त्व रखती है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले में फँसी रहती है ठीक उसी प्रकार आत्मा, प्राण से संयुक्त हो, नाभि चक्र में फँसा है। सुषुम्ना के पाँच मुख हैं जिनमें से चार खून का वहन करते हैं और मध्यवर्ती मुख कुण्डली के शरीर से बन्द है। दूसरी नाड़ियाँ छोटी हैं और शरीर के भिन्न भागों से जड़ी हुई हैं। इड़ा और पिंगला शरीर के सूर्य और चन्द्र के रूप में मानी जाती हैं।

शरीर में दस प्रकार के प्राण वायु रहते हैं जिन्हें प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय कहा है। 'प्राण' वायु नाभि चक्र में स्थित है किन्तु वह हृदय, मुख और नाक से प्रगट होता है। 'अपान' वायु, गुदा, उपस्थ, जंघा, पांव, पेट, अंडकोष, कमर का भाग, आंतों तथा सारे निम्न भाग में क्रियाशील है। 'व्यान' आंख और कान के बीच, पांव की अंगुली, नाक, गला और मेरुदण्ड में स्थित है। 'उदान' हाथ में और 'समान' सारे शरीर में स्थित होकर सामान्य परिसंचरण का कार्य करता है।[2] 'प्राण' का कार्य स्वास प्रक्रिया को पूरा करना है, व्यान का कार्य किसी वस्तु की तरफ झुकना या दूर हटना है। 'उदान' शरीर को ऊपर या नीचे उठाता है। 'समान' से खाना पचाने का और शरीर-वृद्धि का कार्य होता है। नाग वायु द्वारा वमन का कार्य सम्पन्न होता है, देवदत्त से निद्रा आती है, इत्यादि। इन नाड़ियों को इड़ा द्वारा श्वास लेकर शुद्ध किया जाता है। 1 से 16 गिनती करने में जो समय लगता है उतना श्वास लेना चाहिए। 1 से 31 की गिनती तक श्वास को अन्दर रोकना चाहिए। इस दरमियान किसी का ध्यान करना आवश्यक है। फिर योगी को इसी प्रकार पिंगला से श्वास लेना चाहिए और उसी प्रकार रोक रखना चाहिए फिर उसे इड़ा द्वारा श्वास फेंकना चाहिए। यह अभ्यास दिन में तीन बार करते हुए तीन मास तक करना चाहिए। प्रत्येक समय अभ्यास तीन बार करना आवश्यक है। इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाएँगी और इससे वह अपने शरीर स्थित सभी वायु पर ध्यान स्थिर कर सकेगा। प्राणायाम के अभ्यास में उसे इड़ा द्वारा 1 से 16 गिनती श्वास अन्दर लेना चाहिए, विशेष मंत्र का जप करते रहना चाहिए, फिर श्वास पिंगला द्वारा 1 से 16 गिनती तक बाहर फेंकना चाहिए। पुनः उसे पिंगला द्वारा श्वास अन्दर लेकर इड़ा से बाहर फेंकना चाहिए। शनैः शनैः कुम्भक को बढ़ाना

---

[1] अहि० सं० 32, 11। यह वर्णन शाक्त तन्त्र से भिन्न है। वहाँ कुण्डली शरीर-मध्य में रहती है, ऐसा कहा है।

[2] अहि० सं० 32, 33–37, यहाँ पर आयुर्वेद तथा शाक्त तन्त्रों से चक्रों के स्थान के विषय भिन्न हैं।

चाहिए। उसे प्राणायाम का अभ्यास दिन में 16 बार करना चाहिए। इसे प्राणायाम प्रक्रिया कहते हैं। इस अभ्यास से वह समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है जिससे उसे सर्व प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

किन्तु नाड़ी शुद्धि के पहले योगी को आसन का अभ्यास करना आवश्यक है। चक्र, पद्म, कूर्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त और गो मुख इत्यादि आसनों का उल्लेख अहिर्बुध्न्य संहिता में किया गया है। आसनों का अभ्यास योगी के स्वास्थ्य को ठीक रखता है। किन्तु इन शारीरिक आसनों का कोई फल नहीं होता जब तक योग की आध्यात्मिक दृष्टि का उदय नहीं होता। योग जीवात्मा और परमात्मा का संयोग कहा है।[1] अहिर्बुध्न्य संहिता के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के दो मार्ग बताए गए हैं। एक को विष्णु की कोई एक शक्ति के रूप में ध्यान लगाकर आत्म समर्पण करना कहा है, इसे हृद्‌वृं योग भी कहते हैं। यहाँ किसी एक विशेष रूप को मन्त्र द्वारा ध्यान लगाना होता है। दूसरा मार्ग योग का है।[2] अहिर्बुध्न्य संहिता में, अधिकतर पहले हृद योग के उपदेशों पर ही जोर दिया गया है। दूसरे योग का केवल एक अध्याय में ही उल्लेख कर दिया गया है। जीवात्मा के भी दो प्रकार माने गये हैं एक जो प्रकृति से प्रभावित है, दूसरा जो उसके प्रभाव से परे है। परमेश्वर से कर्म और ज्ञान द्वारा तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है। कर्म के भी दो प्रकार हैं, इच्छा प्रेरित, जिन्हें प्रवर्तक कहा है और निवर्तक जो इच्छा रहितता से प्रेरित होते हैं। इनमें से दूसरे प्रकार के कर्म ही मुक्ति प्राप्त करा सकते हैं पहले प्रकार का कर्म इच्छा की फल-प्राप्ति करा सकता है। उच्च आत्मा सूक्ष्म, सर्वंग, सर्वभृत्, ज्ञान रूप अनादि, अनन्त है और अविकारी है, ज्ञान क्रिया रहित, अकाम, अजाति, अरूप और निर्गुण है तो भी सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, स्वयं प्रकाश्य और सबों का पालनकर्त्ता है। वह सहज बोध द्वारा गम्य है।[3] योग जिसके द्वारा हमारी लघु आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है वह अष्टांग द्वारा सिद्ध होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के अष्टांग हैं।

इनमें से यम में सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा का समावेश होता है।[4] नियम में सिद्धांत-श्रवण, दान, मति, ईश्वर-पूजन, सन्तोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, मन्त्रजप, व्रत आते हैं।[5] यद्यपि जीव का परमात्मा

---

1 संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ।। —अहि० सं० 31, 15।

2 यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्म समर्पणम्।
विशिष्ट द्वैतायास्मै चक्र रूपायमं व्रतः
वियुक्तं प्रकृतेः शुद्धं दद्यादात्म हविः स्वयम् ।। —अहि०सं० 30, 4, 5।

3 अहि० सं० 31, 7–10।

4 अहि० सं० 31, 18–23। यहाँ योग से मतभेद है। योग नियम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश करता है। देखो योग सूत्र 2–30।

5 अहि० सं० 32, 30। यहाँ पर भी पातंजल योग से भेद है। योग में शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को नियम कहा है। देखो योग सूत्र 2–23।

आप उत्पन्न होते हैं। तदुपरान्त, वैकारिक अहंकार से रसनेन्द्रिय और लिंग उत्पन्न होने पर मनु का इनसे सम्बन्ध होता है। पुनः भूतादि से घ्राण तन्मात्रा और इससे पृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर वैकारिक अहंकार से ज्ञानात्मक घ्राणेंद्रिय और उपस्थ उत्पन्न होते हैं। विष्णु की संकल्प शक्ति से प्रेरित होकर मनु फिर इसमें प्रवेश करते हैं।[1]

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय, प्रत्येक तन्मात्रा के विकास के साथ उत्पन्न होती है तथा पूर्ण विकास होने पर दसों इन्द्रियाँ युगल रूप से प्रकट हो जाती हैं। भूतादि के क्रमशः प्रलय का वर्णन किए गए अध्याय में यह बताया है कि प्रत्येक भूत के प्रलय के साथ, उससे उत्पन्न इन्द्रिय युगल का भी साथ-साथ प्रलय होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि हरेक स्तर पर भूत तत्त्व और कर्म तथा ज्ञानेन्द्रियों के बीच सहकार है। ज्यों-ज्यों क्रम से तत्त्वों का विकास होता है त्यों-त्यों जीव उनमें प्रवेश करते हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि जीव अनादि-काल से तत्त्वों के विकास से सम्बन्धित होने के कारण इन्द्रिय तथा उनके विषयों से भी सरलता से मिल जाते हैं। जब समस्त भूतादि तथा दस इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं, तब कल्पना के कार्य, संकल्प शक्ति (संरम्भ) और मनस् अहंकार और बुद्धि से पंच प्राण उत्पन्न होते हैं। इन तत्त्वों के विकास से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।[2] प्रलय क्रम विकास क्रम से ठीक उल्टा है।

मनु अपनी पत्नियों में अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो मानव कहलाये हैं। वे पुनः और अन्य अनेक पुत्रों को जन्म देते हैं जो चारों वर्णों में नव मानव नाम से जाने गये हैं। उनमें से वे जो विवेक ज्ञान द्वारा अपना कार्य 100 वर्षों तक पूर्ण करते हैं वे हरि में वास करते हैं और जो सकाम सेवा करते हैं वे कर्मानुसार आवागमन में ही रहते हैं। ऊपर कहे अनुसार मनु कूटस्थ पुरुष का व्यक्ति रूप हैं। सारे जीव इस प्रकार विष्णु के भूत्यंश हैं। प्रकृति जो विद्या भी है और सृष्टि रचना के समय जल रूप में अपने को बरसा कर अन्न की सृष्टि करती है और प्रलय के समय शुष्क, ताप रूप है, वह जब मेघ का रूप धारण करती है तब अन्न उपजाती है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार उत्पन्न किये अन्न को खाकर मनुष्य अपनी पूर्ण ज्ञान की मूलावस्था से गिर जाता है (ज्ञान-भ्रंशम् प्रपद्यते)। इस समय आदि मनु, जो मनुष्य सर्वज्ञता से च्युत

---

1 अहि० सं० 7, 39–40।

2 सकल्प श्चैव संरम्भः प्राणाः पंचविधास्तथा,
मनसो हंकृतेर्बुद्धेर्जायते पूर्वमेव तु,
एवं संपूर्ण सर्वगाः प्राणापानादिसंयुताः
सर्वेन्द्रिययुता स्तत्र देहिनो मनवो मुने ॥ —अहि० सं० 7, 42–43।

इस प्रकार तेजस् अहंकार के संयोग से भूतादि से पंच तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पाँचों में से उसी क्रम से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं जैसे आकाश, वायु, तेजस्, अप् और पृथ्वी। पुनः तेजस् और वैकारिक अहंकार के संयोग से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

हो गये हैं उनके लिए शास्त्र प्रकट करते हैं।[1] उसके बाद ही जीव शास्त्रों के आदेशों का अनुगमन करते हुए अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्य आनन्द और क्रिया शक्ति रूपी विष्णु भावक और भाव्य रूप से विभाजित हो जाते हैं। पहली विष्णु की संकल्प शक्ति है और दूसरी शक्ति संकल्प शक्ति का विषय बनती है। इससे शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। चारों मनुओं का जनक कूटस्थ पुरुष, शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच स्थित है।[2] विष्णु की सुदर्शन शक्ति के बाहर कुछ भी नहीं है। मोक्ष का स्वरूप

जीव और ईश्वर के बीच क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न के बारे में पंचरात्र और अहिर्बुध्न्य संहिता का यह मत है कि प्रलय में जीव विष्णु में अव्यक्त रूप से रहते हैं और नव सर्जन के समय उसमें से पृथक् हो जाते हैं। मुक्त होने के बाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते हैं फिर आवागमन नहीं होता। मुक्त होने पर वे ईश्वर में प्रवेश तो करते हैं किन्तु उससे एक नहीं होते, वे विष्णु से अपना भिन्न अस्तित्व रखते हैं या विष्णु-धाम वैकुण्ठ में वास करते हैं। वैकुण्ठ वास को बहुधा विष्णु से एकात्म होना भी माना है। यह सम्भवतः सालोक्य मुक्ति है जिसका वर्णन अन्य स्थान पर प्राप्त है। अहिर्बुध्न्य संहिता के 14वें अध्याय में मुक्ति को ईश्वरत्व की प्राप्ति कहा है (भगवत्तायमी मुक्तिया वैष्णवं तद् विशेत् पदम्)।[3] निस्वार्थता से पुण्य कर्म करना मुक्ति पाने का साधन माना जाता है।[4] जीवों को अनादि, अनन्त, शुद्ध चैतन्य और आनन्द रूप माना है वे अधिकांश में ईश्वर जैसे हैं (भगवन्मय) तो भी उनका अस्तित्व ईश्वर की आध्यात्मिक शक्ति से है (भगवद् भाविताः सदा)।[5] इस विचार को यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि भाव्य भावक शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी भी पुंशक्ति है. जिसको गीता में क्षेत्रज्ञ शक्ति की संज्ञा दी है और इसे ही गौड़ीय सम्प्रदाय में तटस्थ शक्ति कहा है।[6] ईश्वर की सर्जन, पालन और संहार इन तीन शक्तियों के अलावा चौथी और पाँचवीं शक्ति भी है जिसे अनुग्रह और निग्रह कहते हैं। विष्णु आप्तकाम है उन्हें कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं है। उनकी स्वतन्त्रता दिव्य है तो भी

---

1 तत्तु वेद्यम् पयः प्राश्य सर्वे मानवमानवाः।
ज्ञान भृंशम् प्रपद्यन्ते सर्वज्ञाः स्वत एवते॥ —अहि० सं० 7, 61–62।
इसे यहूदी-ईसाई मत के साथ तुलना कीजिए जैसा कि श्राडर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है। पृ० 78।

2 अंशयो पुरुषो मध्येयः स्थितः स चतुर्युगः
शुद्धेतरमयं विद्धि कूटस्थं तत् महामुने॥ —वही, 7, 70।
गौडीय मत की तुलना करो जो जीवों को ईश्वर की तटस्थ-शक्ति मानता है—जो अन्तरंग और बहिरंग शक्ति के बीच है।

3 अहि० सं० 14, 3, 4, 41।

4 साधनं तस्य च प्रोक्तो धर्मेनिरभिसंधिकः —वही, 14, 4।

5 वही, 14, 4।

6 पुंशक्तिः कालमय्यन्या युमान् सोऽयमुदीरितः —वही, 14, 10।

वह एक स्वेच्छाचारी राजा की तरह क्रीड़ा करते हैं।[1] इस क्रीड़ा को गौड़ीय मत में लीला कहा है। ईश्वर की ये सब क्रियाएँ उसकी संकल्प-शक्ति के ही भिन्न रूप हैं जिसे सुदर्शन कहा गया है। अपनी निग्रह रूपी लीला में ईश्वर जीवों के स्वभाव को ढक लेता है जिससे वे अपने को अनन्त अनुभव न करके अणु रूप पाते हैं, सर्वशक्तिमत्ता के बजाय अल्प शक्तिमान्, सर्वज्ञता की जगह, अल्पज्ञ और अज्ञानी पाते हैं। ये तीन प्रकार के मल हैं और तीन ही प्रकार के बन्धन हैं। इस आवरण शक्ति द्वारा जीव अज्ञान, अहंकार, राग और द्वेषादि से पीड़ित हो जाता है। अज्ञान और रागादि से पीड़ित हो और सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने की इस प्रकृति से प्रेरित हो वह पाप और पुण्य कर्म करने लगता है। इससे वह आवागमन के चक्र में फँसता है और अनेक प्रकार की वासनाओं से युक्त हो जाता है। सर्जन, पालन और संहार की शक्ति, बन्धन शक्ति और उसकी आवश्यकताओं द्वारा ही जागृत होती है और उसे जीवों को कर्मानुसार अनुग्रह और निग्रह के लिए क्रियाशील बनाती है। यह क्रीड़ा काल से परे होने के कारण अनादि है। तदनुसार बन्धन भी अनादि हैं। बन्धन किसी विशेष समय पर जीवों को अपने स्वस्वरूप से च्युत होने से प्राप्त हुआ है, यह परिस्थिति के विश्लेषण द्वारा कहा गया है। ईश्वर जीवों के दुःख और शोक की स्थिति पर दया करके अपनी अनुग्रह या कृपा शक्ति द्वारा, उनके कर्म की गति को रोक देता है। अच्छे और बुरे कर्म तथा उनके उपयुक्त सुख-दुःख रूपी भोगों के रुक जाने पर जीव मुक्ति के प्रति झुकता है उसमें वैराग्य उत्पन्न होता है और विवेक दृष्टि जागृत होती है। तब वह शास्त्र और गुरु के पास जाता है, सांख्य और योग के आदेशानुसार व्यवहार करने लगता है, वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त में विष्णु-धाम पहुँचता है।

लक्ष्मी को विष्णु की अन्तिम तथा नित्य शक्ति माना है, उसे गौरी, सरस्वती धेनु भी कहा है। यही परम शक्ति संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार ये भिन्न शक्तियाँ अभिव्यक्त होने पर ही गोचर होती हैं, किन्तु जब वे अव्यक्त होती हैं तब भी वे विष्णु में लक्ष्मी रूप से परम शक्ति के रूप में रहती हैं। यही लक्ष्मी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाती है। व्यक्ति, अव्यक्ति, पुरुष, काल या सांख्य और योग इन सभी का लक्ष्मी में ही वास है। लक्ष्मी ही परम शक्ति है जिसमें सब लीन होते हैं। अन्य प्रकट शक्तियों से पृथक् रूप में होने में इसे पंचम शक्ति कहा है। मुक्त पुरुष इस लक्ष्मी में प्रवेश करता है जो विष्णु का परम धाम है। (परं धाम या परमं पद्म) या परं ब्रह्म है। इस शक्ति के अन्तराल में आनन्द का भाव है तो भी वह स्वरूप से आनन्दमयी है। इसे उज्ज्वल और विष्णु का भाव कहा है। यह शक्ति, उत्पत्ति, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह रूपी पाँच कार्य करती मानी गई है (पंच कृत कारी)। ब्रह्म का इस शक्ति के साथ संयोग होने से वह जगत् पालक अल्प विष्णु से भिन्न, महा विष्णु कहलाता है। यह शक्ति सर्वदा अन्तः क्षुब्ध रहती है जो कि बाहर से नहीं दिखाई पड़ती। यह अन्तः क्षोभ और हलचल इतनी सूक्ष्म है कि वह सागर की

---

1 सर्वै रननुयोज्यं तत् स्वातंत्र्यम् दिव्यमीशितुः।
अवाप्त विश्व कामोऽपि क्रीड़ते राजवद् वशी ।। —वही, 14, 13।

तरह शान्त दीखती है।[1] इस प्रकार शक्ति विष्णु की माया भी कहलाती है।[2] इस शक्ति का अंशमात्र ही भाव्य और भावक शक्ति रूप में प्रकट होता है, भावक शक्ति ही सुदर्शन नाम से जानी गई है। भाव्य जगत् रूप से प्रगट होती है और इसका उद्देश्य भी संसार है।

संकल्प शक्ति, जिससे प्रत्यय, वास्तविक आदर्श जगत् में विचार और इसके अर्थ के रूप में प्रगट होते हैं, वह सुदर्शन शक्ति का सार है। दृश्य की बाह्य हलचल जब शब्द द्वारा चिन्तन रूप में ग्रहण की जाती है तब हमें सुदर्शन की शक्ति या महा विष्णु की संकल्प शक्ति का भान होता है। समस्त जगत् का कारण सुदर्शन शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इस प्रकार बाह्य जगत् की सारी हलचल तथा वाचा की समस्त क्रियाएँ ही केवल नहीं किन्तु द्रष्टा दृश्य रूप क्रिया जिससे सारा जगत् विचार और वाणी के रूप में ग्रहण किया जाता है, ये सब ईश्वर की सुदर्शन शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। समस्त ब्रह्म रूप और अभिव्यक्तियाँ गुण या कर्म रूप हैं, और वे दोनों सुदर्शन की शक्ति के ही रूप हैं। हमारी वाणी इस सत्ता के दो प्रकारों को ही निर्दिष्ट कर सकती है। इसी कारण वे सब सुदर्शन को ही इंगित करते हैं जो विष्णु का वाच्य है, ईश्वर के स्वरूप का वर्णन वे नहीं कर सकते। शब्द, इसलिए विष्णु के स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकते। शब्द, जगत् को रहस्यात्मक प्रतीक के रूप में अपने में समा सकता है और उसकी सारी शक्तियों का वर्णन भी कर सकता है, यह सब कुछ होते हुए भी अंग सा है चाहे फिर शब्द सारे जगत् को अपने में समा लेने की शक्ति रख सके या सारे जगत् को अपने में समाहित कर सके और ईश्वर से तादात्म्य भी कर सके तो भी यह तादात्म्य केवल सुदर्शन से ही होता है। यह शंक और विचारक द्वारा ईश्वर में लय या उसकी अनुभूति प्रवेश करना ईश्वर की सुदर्शन शक्ति द्वारा ही हो सकता है जो लक्ष्मी का एक अंश है। इस प्रकार विष्णु से एकात्मता का अर्थ सुदर्शन से तादात्म्य है या लक्ष्मी में प्रवेश होना है।[3]

नमः का तात्पर्य है मनुष्य के द्वारा ज्ञान पर बोध के सहारे महा विष्णु की पति रूप में हृदय से स्वीकृति।[4] कालतः और गुणतः विष्णु का प्रकर्ष ही उनका ज्यायस्त्व है।[5] विष्णु ही महान् है और सब उससे निम्न कोटि में हैं। महान् और कनिष्ठ के

---

1 सदा प्रतायमानापि सूक्ष्मैर्भावर लक्षणैः
निर्व्यापारेव सा भाति स्तैमित्य मिव वोऽदधेः,
तयै वोऽपहितम् ब्रह्म निर्विकल्पं निरंजनम्॥ —अहि॰ सं॰ 51, 49।

2 मायाश्चर्यकरत्वेन पंच कृत्य करी सदा। —वही 51, 58।
संकल्प शक्ति का सार है जिससे आदर्श एवं वास्तविक जगत् में, प्रत्यय, शब्द तथा उसके अर्थ के रूप में विषय के रूप में प्रकट होते हैं।

3 अहि॰ सं॰ 51, 69–78।

4 प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्या प्रह्वीभावात्मिका स्वतः
उत्कृष्टं परमुद्दिश्य तन्नम परिगीयते। —अहि॰ सं॰ 52, 2।

5 कालतो गुणतश्चैव प्रकर्षो यत्र तिष्ठति
शब्दस्तं मुख्यया वृत्या ज्यायानित्यवलम्बते। —वही 52, 4।

सम्बन्ध का अर्थ यह है कि दूसरा पहले पर अवलम्बित है और दूसरे का जीवन ही पहले के लिए है। इस सम्बन्ध को शेष-शेषिता कहा है। दोनों में आराधक आराध्य सम्बन्ध है (नंतृ-नंतव्य भाव)। सच्चा नमन उसे कहते हैं कि जब वह उपरोक्त भाव सहज ही बिना किसी हेतु या उद्देश्य के प्रगट हो और केवल यही विचार रहे कि विष्णु मुझ से कहीं महान् हैं और मैं उनसे कितना हीन हूँ।[1] नमन का यह क्रम भक्त को ईश्वर के निकट ही नहीं पहुंचाता किन्तु ईश्वर को भक्त के पास लाता है। किसी भी प्रकार का प्रयोजन नमन के फल को बिगाड़ देता है। नमन प्रपत्ति क्रम का, अर्थात् ईश्वर से संरक्षण प्राप्त करने का प्रथम चरण है।[2] जब मनुष्य का ज्ञान, अनादि वासना से, बल की अर्थ हीनता से और अशुद्धि के संग से, अवरुद्ध हो जाता है, और जब मनुष्य को इन कमियों का पूर्ण रूप से भान होता है तब उसमें कार्पण्य अर्थात् दैन्य-भावना आती है। हम स्वतन्त्र हैं यह भावना कार्पण्यता को मिटाती है। परमेश्वर सर्वदा दयावान् है इस उत्कट विश्वास के गुण को महा-विश्वास कहा है। ईश्वर उदासीन है और प्रत्येक को उसके कर्मानुसार दया दृष्टि करता है, यह विचार महा-विश्वास का बाधक है। ईश्वर कृपामय है, सर्व शक्तिमान् है, वह अवश्य हमारी रक्षा करेगा यह भावना उसकी रक्षण-शक्ति में विश्वास उत्पन्न करती है। ईश्वर निर्गुण होने से हमारे रक्षण की याचना के प्रति उदासीन रहेगा, यह विचार, उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर को महान् गुरु या सर्वाधिपति स्वीकारना, जिसके आदेश की किसी भी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती यह प्रातिकूल्य विवर्जन नामक गुण उत्पन्न करता है। शास्त्र-विरुद्ध ईश्वर की सेवा उपरोक्त गुण का बाधक है। ईश्वर की इच्छानुसार हम चलें ऐसा मन में दृढ़ निश्चय और जगत् में जड़ और चेतन पदार्थ ईश्वर के ही अंश हैं ऐसा दृढ़ विश्वास शरणागति का गुण उत्पन्न करता है। जीव के प्रति वैर भाव इस गुण का अवरोधक है। ईश्वर के प्रति नमन (नमः) उपरोक्त गुणों से युक्त होना चाहिए। ईश्वर के प्रति सच्चे नमन (नमः) के साथ वह दृढ़ विश्वास आवश्यक है कि पदार्थों के प्रति हमारी अधिकार-भावना जो अनादि वासना तथा इच्छादिजनित है वह मिथ्या है। भक्त यह माने कि वह स्वतन्त्र नहीं है और न उसके पास अपना कहने को कुछ भी है। मेरा शरीर, मेरी सम्पत्ति, मेरे सम्बन्धी मेरे नहीं हैं वे ईश्वर के ही हैं। इस विश्वास से उत्पन्न उत्कट भाव से ईश्वर को नमन करना चाहिए। भक्त को ऐसा लगे कि अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के लिए आराधना के सिवाय दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है और इस प्रकार वह अपने को ईश्वर को समर्पण करे और उसे अपनी तरफ खींचे। नमन का ध्येय उत्कृष्ट निरहंकारता और ईश्वर में आत्म-समर्पण है वह अपने लिए कुछ न बाकी रखे। जगत् ईश्वर से उत्पन्न है तो भी उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिए वह जगत् का निमित्त और उपादान कारण है और भक्त को हमेशा यह ध्यान रहे कि ईश्वर सब प्रकार से महान् है।

---

1 उपाधि रहिते नायं येन भावेन चेतनः।
नयति ज्यायसे तस्मै तद्वा नमनमुच्यते ।। —अहि० सं० 52, 9।

2 फलेप्सा तद्विरोधिनी। —वही, 52, 15।

अहिर्बुध्न्य संहिता के 26वें प्रकरण में ईश्वर-प्राप्ति के साधन रूप प्रपत्ति, न्याय या शरणागति के सिद्धान्त का जो उल्लेख मिलता है उसमें इन्हीं उपरोक्त गुणों का विवेचन है।[1] शरणागति की व्याख्या यहाँ इस प्रकार की गई है, हम पाप और दोषयुक्त हैं, विष्णु की कृपा के बिना हम भटके हुए हैं, हम सर्वथा निराधार हैं इस विश्वास से ईश्वर की कृपा याचना करना शरणागति है।[2] जो मनुष्य प्रपत्ति के मार्ग को अपनाता है उसे सारी तपस्या, यज्ञ, तीर्थाटन और दान के फल मिलते हैं और बिना अन्य साधन के सरलता से मुक्ति मिल जाती है। आगे और उल्लेख किया गया है कि प्रपत्ति-मार्ग अपनाने के लिए एक ही भाव की आवश्यकता है, कि वह विष्णु पर सर्वथा आश्रित रहे और अपने को नितान्त निराधार समझे। उपरोक्त भावना में दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हुए साधक अपने आपको आराधनारत रखे तो उसे अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा,[3] ईश्वर ही सब कुछ कर लेगा। प्रपत्ति इस प्रकार से उपाय ज्ञान है, उपाय ही नहीं है क्योंकि यह एक धारणा है, कर्म नहीं है। यह एक प्रकार से तरणी है जिसमें यात्री बैठता है और मल्लाह उसे पार लगा देता है।[4]

शुद्ध सर्ग का वर्णन करते हुए, ऐसा कहा है कि प्रलय के समय सारे कार्य अव्यक्त और सक्रिय हो जाते हैं और उसमें किसी प्रकार की हलचल नहीं होती। विष्णु के उपरोक्त कहे षड्गुण अर्थात्, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज परम शान्ति की अवस्था में वायुविहीन आकाश की तरह रहते हैं।[5] इन सारी शक्तियों का शान्त भाव ही लक्ष्मी है जो मानो शून्यावस्था है। वह सहज ही स्फुटित हो गतिशील हो जाती है। ईश्वर की यह शक्ति भिन्न होते हुए भी, उसका ही स्वरूप है। इस प्रगट क्रियात्मक रूप को ही शक्ति कहा है। अव्यक्त रूप में वह विष्णु से अभिन्न रहती है। विष्णु के इन गुणों को प्रकृति के गुणों से भिन्न समझना चाहिए, प्रकृति के गुणों का विकास अशुद्ध सर्ग के समय कहीं निम्न स्तर पर होता है।

व्यूहों का वर्णन करते ऐसा कहा गया है कि संकर्षण अपने में सारे जगत् को, कपाल में तिलक की तरह धारण करते हैं (तलकालक) संकर्षण द्वारा धारण किया हुआ

---

1 षोढा हि वेद-विदुषो वदन्त्येनं महामुने,
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व-वरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥ —अहि० सं० 37, 27–28।

2 अहं अस्मि अपराधानाम् आलयोऽकिंचनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मतिः
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥ —अहि० सं० 37, 30–31।

3 अहि० सं० 37, 34–35।

4 अत्र नाविति दृष्टान्तादुपायज्ञानमेव तु।
नरेण कृत्यमन्यत् तु नाविकस्येव तद्धरेः। —अहि० ०सं।

5 पूर्णस्तिमित षाड्गुण्यमसमीराम्बरोपमम्। —अहि० सं० 5, 3।

जगत् अभी अव्यक्त रूप में ही है। वह अशेष भुवनाधार है।[1] मनु काल और प्रकृति प्रद्युम्न में से प्रगट होते हैं।[2] प्रद्युम्न के ही प्रभाव से मनुष्य शास्त्र विधि से कर्म करने को प्रेरित होते हैं।[3] अनिरुद्ध, जिसे महा विष्णु भी कहते हैं, बल और शक्ति का देवता है, और इसी की शक्ति से जगत् की रचना और पालन होता है। इसी से ही जगत् की वृद्धि होती है। इसी शक्ति से जगत् भय रहित रहता है और मुक्ति पाता है। शंकराचार्य के कथनानुसार संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मनस् है, और अनिरुद्ध अहंकार है।[4] किन्तु ऐसा मत पंचरात्र ग्रन्थों में बहुत कम देखने में आता है। तत्त्वत्रय में दिए विष्वक्सेन संहिता के उद्धरण के आधार पर संकर्षण जीवों का अध्यक्ष है, प्रद्युम्न को मनोमय माना हैं, किन्तु अनिरुद्ध के बारे में कुछ भी नहीं कहा है। लक्ष्मी तन्त्र (4-9-14) में ऐसा कहा है कि संकर्षण आत्मा, बुद्धि, मनस् है और वासुदेव सृजनात्मक लीला है। विष्वक्सेन संहिता में अनिरुद्ध मिश्र वर्ग (नियति रूप शुद्धाशुद्ध सर्ग) का निर्माण करते हैं, संकर्षण ने चेतन तत्त्व को जगत् से पृथक् किया और स्वयं प्रद्युम्न बन गए। अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर पुरुष प्रकृति का भेद प्रद्युम्न स्तर पर होता है, संकर्षण स्तर पर नहीं। अहिर्बुध्न्य संहिता में अनिरुद्ध को सत्य तथा उससे उत्पन्न तत्त्वों का तथा मनु का अध्यक्ष माना है।[5] इसी ग्रन्थ में लक्ष्मी को विष्णु-शक्ति माना है किन्तु उत्तर नारायण में लक्ष्मी और भूमि को तथा तत्त्वत्रय में लक्ष्मी, भूमि और नीला को विष्णु-शक्ति माना है, विहगेन्द्र संहिता (2-8) में उन्हें देवी की इच्छा, क्रिया और साक्षात्शक्ति कहा है। सीता उपनिषद् में भी इसी प्रकार उल्लेख है यहाँ इसका सम्बन्ध वैखानस शाखा से है। विहगेन्द्र संहिता सुदर्शन की आठ शक्तियों का उल्लेख करती है, जो कीर्ति, श्री, विजय, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हैं। किन्तु सात्वत संहिता में (9-85) विष्णु की श्री जीवत्स उत्पन्न 12 शक्तियों का उल्लेख है, वे लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि और मति हैं।

पंचरात्र अंशतः वैदिक और अंशतः तांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित है।[6] वह इसलिए मन्त्र के गुह्य स्वरूप को मानता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि जगत् सुदर्शन शक्ति से उत्पन्न हुआ है इसलिए जगत् की सारी शक्तियाँ, नैसर्गिक, भौतिक इत्यादि सभी सुदर्शन के ही रूप हैं। सुदर्शन की शक्ति समस्त चेतन एवं जड़ पदार्थों में तथा बन्धन और मुक्ति के रूप में प्रकट है। जो कोई भी उत्पन्न करने की शक्ति

---

1 ऐसा कहा है कि संकर्षण द्वारा ही समस्त शास्त्र उत्पन्न हुए हैं और प्रलय के समय वे उन्हीं में समा जाते हैं। —अहि०सं० 55, 16।

2 अहि० सं० 6, 9–12।

3 अहि० सं० 55, 18 प्रद्युम्न को वीर भी कहा है।

4 भिन्न व्यूहों के कार्य के बारे में मत मतान्तर हैं। लक्ष्मी तंत्र देखो 4, 11–20 विष्वक्सेन सं० भी तत्त्वत्रय में उद्धृत।

5 अहि० सं० 6, 27।

6 वेद-तंत्र-मयोद्भूत नाना प्रसव शालिनी। —अहि० सं० 6–9।

रखता है वह सुदर्शन शक्ति का ही प्रगटीकरण है।[1] मंत्र भी शुद्ध चैतन्य रूप विष्णु की शक्ति है। उस शक्ति की सर्व प्रथम अभिव्यक्ति, जो घण्टों की दीर्घ ध्वनि के रूप में होती है, उसे नाद कहते हैं।[2] इसे योगी ही सुन सकते हैं। दूसरी अभिव्यक्ति सागर से बूँद की तरह होती है, उसे बिन्दु कहते हैं। बिन्दु में नाम और उसके द्वारा संकेतित शक्ति का तादात्म्य है। इसके बाद नामी का उदय होता है जिसे शब्द ब्रह्मन् कहते हैं। इस प्रकार हरेक वर्ण की उत्पत्ति के साथ तदनुरूप अर्थ शक्ति (नाम्युदय) भी उत्पन्न होती है। इसके बाद अहिर्बुध्न्य संहिता में बिन्दु शक्ति से स्वर और व्यंजन की उत्पत्ति का वर्णन है। विष्णु की कुण्डलिनी शक्ति के नृत्य से 14 प्रकार के प्रयत्नों द्वारा 14 स्वरों की उत्पत्ति होती है।[3] अपनी द्विधा सूक्ष्म शक्ति से यह रचना और संहार का कारण होती है। यह शक्ति मूलाधार से उठकर नाभि तक रहती है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। योगी ही इसे अनुभव कर सकता है। आगे वह हृदय कमल की तरफ बढ़ती है और कण्ठ द्वारा व्यक्त शब्द के रूप में प्रगट होती है। स्वर शक्ति सुषुम्ना नाड़ी में से चलती है। इस तरह से भिन्न-भिन्न व्यंजनों की ध्वनियाँ जगत् की भिन्न शक्तियों के आदर्श रूप हैं, वे भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रतीक या शक्तियों की अध्यक्ष मानी गई है।[4] इनमें से कुछ वर्णों का भिन्न क्रम और व्यूह में समुच्च, जिसे चक्र या कमल कहते हैं, भिन्न प्रकार की जटिल शक्तियों का प्रतिनिधि माना गया है। इन चक्रों की पूजा और ध्यान करने से चक्र में निहित शक्ति वश में आती है। हरेक चक्र और मन्त्र के साथ भिन्न देवताओं का सम्बन्ध है। पंचरात्र ग्रन्थों के अधिकांश भाग इन चक्र और देवताओं के वर्णन और उनके पूजा क्रम, उनके अनुरूप मूर्ति और मन्दिर बनाने के वर्णन से भरपूर हैं। मन्त्रों के ध्यान द्वारा, उनके अनुरूप रक्षण कार्य भी होता जाता है।

अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों की तरह अहिर्बुध्न्य संहिता में भी नाड़ी तन्त्र का वर्णन है। सारी नाड़ियों का मूल (काण्ड) उपस्थ से 9 इंच ऊपर है। यह काण्ड चार इंच लम्बा और चौड़ा अण्डाकार रूप है। यह चर्बी, मांस, रक्त और अस्थि का बना होता है। उपस्थ से दो इंच नीचे और गुदा से दो इंच दूर जो स्थान है उसे शरीर मध्य या केवल मध्य कहा है। यह चतुर्भुजाकार है इसे आग्नेय मण्डल भी कहते हैं। नाड़ियों के मूल

---

[1] सुदर्शनाह्वया देवी सर्व कृत्यकरी विभोः
तन्मयं विद्धि सामर्थ्यं सर्वं सर्व-पदार्थजम्
धर्मस्यार्थस्य कामस्य मुक्तेर्बन्धत्रयस्य च
यद्यत् स्वकार्यसामर्थ्यं तत्तत् सौदर्शमं वपुः। —अहि० सं० 16, 4 और 6।

[2] साक्षात् विष्णोः क्रिया शक्तिः शुद्ध संविन्मयी परा। —वही 16, 10।
इस क्रिया शक्ति को सामर्थ्य या योग या पारमेष्ठय या महातेजस् या महायोग भी कहा है। —अहि० सं० 16, 32।

[3] नटीव कुण्डली शक्तिराद्या विष्णोर्विजृम्भते। —अहि० सं० 11, 55।

[4] विष्णु शक्तिर्मया वर्णा विष्णु संकल्प जृम्भिताः
अधिष्ठिता यथा भावै स्तथा तन्मे निशामय। —अहि० सं० 17, 3।

को नाभि चक्र भी कहते हैं। जिसमें 12 आरे होते हैं। नाभि चक्र के चारों तरफ अष्ट मुख कुण्डली (सर्प) है जिसने अपने शरीर से सुषुमा के ब्रह्मरंध्र-द्वार को बन्द कर रखा है।[1] चक्र के मध्य में दो नाड़ियाँ हैं जिन्हें अलम्बुषा और सुषुम्ना कहा है। सुषुम्ना के दूसरी ओर कुहू, वरुण, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा और विश्वोदरा आदि नाड़ियाँ हैं। लेकिन कुल मिलाकर 72000 नाड़ियाँ शरीर में हैं, इनमें से इड़ा और पिंगला और सुषुम्ना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से सुषुम्ना जो मस्तिष्क के मध्य में पहुँचती है बहुत ही महत्त्व रखती है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले में फँसी रहती है ठीक उसी प्रकार आत्मा, प्राण से संयुक्त हो, नाभि चक्र में फँसा है। सुषुम्ना के पाँच मुख हैं जिनमें से चार खून का वहन करते हैं और मध्यवर्ती मुख कुण्डली के शरीर से बन्द है। दूसरी नाड़ियाँ छोटी हैं और शरीर के भिन्न भागों से जड़ी हुई हैं। इड़ा और पिंगला शरीर के सूर्य और चन्द्र के रूप में मानी जाती हैं।

शरीर में दस प्रकार के प्राण वायु रहते हैं जिन्हें प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय कहा है। 'प्राण' वायु नाभि चक्र में स्थित है किन्तु वह हृदय, मुख और नाक से प्रगट होता है। 'अपान' वायु, गुदा, उपस्थ, जंघा, पांव, पेट, अंडकोष, कमर का भाग, आंतों तथा सारे निम्न भाग में क्रियाशील है। 'व्यान' आंख और कान के बीच, पांव की अंगुली, नाक, गला और मेरुदण्ड में स्थित है। 'उदान' हाथ में और 'समान' सारे शरीर में स्थित होकर सामान्य परिसंचरण का कार्य करता है।[2] 'प्राण' का कार्य स्वास प्रक्रिया को पूरा करना है, व्यान का कार्य किसी वस्तु की तरफ झुकना या दूर हटना है। 'उदान' शरीर को ऊपर या नीचे उठाता है। 'समान' से खाना पचाने का और शरीर-वृद्धि का कार्य होता है। नाग वायु द्वारा वमन का कार्य सम्पन्न होता है, देवदत्त से निद्रा आती है, इत्यादि। इन नाड़ियों को इड़ा द्वारा श्वास लेकर शुद्ध किया जाता है। 1 से 16 गिनती करने में जो समय लगता है उतना श्वास लेना चाहिए। 1 से 31 की गिनती तक श्वास को अन्दर रोकना चाहिए। इस दरमियान किसी का ध्यान करना आवश्यक है। फिर योगी को इसी प्रकार पिंगला से श्वास लेना चाहिए और उसी प्रकार रोक रखना चाहिए फिर उसे इड़ा द्वारा श्वास फेंकना चाहिए। यह अभ्यास दिन में तीन बार करते हुए तीन मास तक करना चाहिए। प्रत्येक समय अभ्यास तीन बार करना आवश्यक है। इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाएँगी और इससे वह अपने शरीर स्थित सभी वायु पर ध्यान स्थिर कर सकेगा। प्राणायाम के अभ्यास में उसे इड़ा द्वारा 1 से 16 गिनती श्वास अन्दर लेना चाहिए, विशेष मंत्र का जप करते रहना चाहिए, फिर श्वास पिंगला द्वारा 1 से 16 गिनती तक बाहर फेंकना चाहिए। पुनः उसे पिंगला द्वारा श्वांस अन्दर लेकर इड़ा से बाहर फेंकना चाहिए। शनैः शनै कुम्भक को बढ़ाना

---

1 अहि० सं० 32, 11। यह वर्णन शाक्त तन्त्र से भिन्न है। वहाँ कुण्डली शरीर-मध्य में रहती है, ऐसा कहा है।

2 अहि० सं० 32, 33–37, यहाँ पर आयुर्वेद तथा शाक्त तन्त्रों से चक्रों के स्थान के विषय भिन्न हैं।

चाहिए। उसे प्राणायाम का अभ्यास दिन में 16 बार करना चाहिए। इसे प्राणायाम प्रक्रिया कहते हैं। इस अभ्यास से वह समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है जिससे उसे सर्व प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

किन्तु नाड़ी शुद्धि के पहले योगी को आसन का अभ्यास करना आवश्यक है। चक्र, पद्म, कूर्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त और गो मुख इत्यादि आसनों का उल्लेख अहिर्बुध्न्य संहिता में किया गया है। आसनों का अभ्यास योगी के स्वास्थ्य को ठीक रखता है। किन्तु इन शारीरिक आसनों का कोई फल नहीं होता जब तक योग की आध्यात्मिक दृष्टि का उदय नहीं होता। योग जीवात्मा और परमात्मा का संयोग कहा है।[1] अहिर्बुध्न्य संहिता के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के दो मार्ग बताए गए हैं। एक को विष्णु की कोई एक शक्ति के रूप में ध्यान लगाकर आत्म समर्पण करना कहा है, इसे हृदय योग भी कहते हैं। यहाँ किसी एक विशेष रूप को मन्त्र द्वारा ध्यान लगाना होता है। दूसरा मार्ग योग का है।[2] अहिर्बुध्न्य संहिता में, अधिकतर पहले हृद योग के उपदेशों पर ही जोर दिया गया है। दूसरे योग का केवल एक अध्याय में ही उल्लेख कर दिया गया है। जीवात्मा के भी दो प्रकार माने गये हैं एक जो प्रकृति से प्रभावित है, दूसरा जो उसके प्रभाव से परे है। परमेश्वर से कर्म और ज्ञान द्वारा तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है। कर्म के भी दो प्रकार हैं, इच्छा प्रेरित, जिन्हें प्रवर्तक कहा है और निवर्तक जो इच्छा रहितता से प्रेरित होते हैं। इनमें से दूसरे प्रकार के कर्म ही मुक्ति प्राप्त करा सकते हैं पहले प्रकार का कर्म इच्छा की फल-प्राप्ति करा सकता है। उच्च आत्मा सूक्ष्म, सर्वग, सर्वभृत्, ज्ञान रूप अनादि, अनन्त है और अविकारी है, ज्ञान क्रिया रहित, अकाम, अजाति, अरूप और निर्गुण है तो भी सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, स्वयं प्रकाश्य और सबों का पालनकर्त्ता है। वह सहज बोध द्वारा गम्य है।[3] योग जिसके द्वारा हमारी लघु आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है वह अष्टांग द्वारा सिद्ध होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के अष्टांग हैं।

इनमें से यम में सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा का समावेश होता है।[4] नियम में सिद्धांत-श्रवण, दान, मति, ईश्वर-पूजन, सन्तोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, मन्त्रजप, व्रत आते हैं।[5] यद्यपि जीव का परमात्मा

---

[1] संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ।। —अहि० सं० 31, 15।

[2] यद्वा भगवते तस्मै स्वकीयात्म समर्पणम् ।
विशिष्ट द्वैतायास्मै चक्र रूपायमं व्रतः
वियुक्तं प्रकृतेः शुद्धं दद्यादात्म हविः स्वयम् ।। —अहि०सं० 30, 4, 5।

[3] अहि० सं० 31, 7–10।

[4] अहि० सं० 31, 18–23। यहाँ योग से मतभेद है। योग नियम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश करता है। देखो योग सूत्र 2–30।

[5] अहि० सं० 32, 30। यहाँ पर भी पातंजल योग से भेद है। योग में शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को नियम कहा है। देखो योग सूत्र 2–23।

से संयोग ही योग कहा गया है तो भी अहिर्बुध्न्य संहिता के रचयिता, पातञ्जल के योगानुशासन और उनके मत से योग चित्तवृत्तियों का निरोध है, इससे परिचित थे।[1]

अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रमा की व्याख्या 'यथार्थावधारणम्' कही है अर्थात् प्रमा वस्तु का यथार्थ ज्ञान है और वह प्रमाण से ग्राह्य है। मनुष्य के लिए हितकर वस्तु प्रमाण से प्राप्त होती है. उसे प्रमाणार्थ कहते हैं। वह भी दो प्रकार का है, एक वह जो आत्यन्तिक और ऐकान्तिक हित का आह्वान करता है दूसरा जो परोक्ष रूप से हितकर है, इसे हित या साधन कहा है। ईश्वर से तादात्म्य होना जो अत्यन्त आनन्दमय है, अत्यन्त हितकर है। उसकी प्राप्ति के दो मार्ग धर्म और ज्ञान हैं। ज्ञान भी दो प्रकार के हैं, साक्षात्कार और परोक्ष। धर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है जो दो प्रकार का है एक साक्षात् रूप से और दूसरा परोक्ष रूप से, ईश्वर-भक्ति की प्रेरणा करता है। ईश्वर की दृष्टि से आत्म समर्पण या हृद्योग परोक्ष धर्म है, जबकि जिस मार्ग से योगी भगवान् का साक्षात्कार करता है वह साक्षात् धर्म है जो पंचरात्र ग्रंथों में उपदिष्ट है और सात्वत शासन कहलाता है। सांख्य मार्ग से ईश्वर का केवल परोक्ष ज्ञान ही प्राप्त होता है किन्तु योग और वेदान्त द्वारा भगवान का साक्षात्कार होता है। मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम की तरह साध्य है यद्यपि ये तीनों आपस में एक दूसरे के सहायक भी हैं।[2]

---

1 अहि० सं० 13, 27–28।

2 अहि० सं० 13।

अध्याय 17

आलवार

आलवारों का कालक्रम

भागवत पुराण 11 : 5, 38–40 में ऐसा उल्लेख है कि विष्णु के भक्त दक्षिण में ताम्रपर्णी, कृतमाला (वैगाई), पयस्विनी (पलर) कावेरी और महानदी (पेरियार) के तट पर जन्म लेंगे ।[1] यह आश्चर्य की बात है कि नाम्मालवार और मधुर कवियालवार ताम्रपर्णी देश में जन्मे । पेरियालवार और उनकी पुत्री आण्डाल कृतमाल में, पोयगैयालवार, भूतत्तालवार, पेयरिवार और निरु भरिसैं पीरान, पयस्विनी में, टोन्डारादि थोड़ी यालवार, तिरुयाण आलवार और तिरु मंगैयालवार कावेरी में, और परियालवार और कुल शेखर पेरुमाल महानद देश में जन्मे थे । भागवत् माहात्म्य में भक्ति को एक दुःखी महिला का रूपक दिया है जो द्रविड़ देश में जन्मी थी, कर्नाटक और महाराष्ट्र में प्रौढ़ा हुई और जिसने अपने दो पुत्र ज्ञान और वैराग्य के साथ महान् संकट काट कर गुजरात और उत्तरी भारत में वृन्दावन की यात्रा की । अनेक संकटों के कारण उसके दोनों पुत्र मर गये । भागवत पुराण के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत ही भक्ति सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र रहा ।

आलवार दक्षिण के बहुत ही पुराने वैष्णव सन्त थे, जिनमें से सरोयोगिन् या पोयगैआलवार, और पुतयोगिन् या भूतत्तालवार से महदयोगिन अथवा पेय आलवार, भक्तिसार और तिरु मरिसैं पिरान बहुत पुराने थे : नाम्मालवार या शठ कोष, मधुर कवियल्विार, कुल शेखर पेरुमाल, विष्णु चित्तन् (या पेरियालवार) और गोड़

---

[1] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भागवत पुराण आलवार सम्प्रदाय के उत्कर्ष काल के पश्चात् लिखा गया है । जो पद्य यहाँ उद्धृत किया है वह वेंकटनाथ ने अपने 'रहस्य त्रय' ग्रन्थ में दिया है । प्रपन्नामृत (अ० 77) में आलवार के पूर्वगामी तीन वैष्णव सन्तों का उल्लेख है । (1) कोसारयोगिन्, जन्म कांची (2) भून योगीन्द्र जन्म मल्लीपुर (3) भ्रान्त योगीन्द्र, जो महत् या महार्य भी कहलाते थे और विष्वक्सेन के अवतार थे । इन्हीं सन्तों ने वैष्णवों के पाँच संस्कारों का (तपः पौंड्रस्तथा नाम मंत्रोयोगश्च पंचमः) प्रचार किया वे भावनाप्रधान वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे । जिसमें भक्ति का अर्थ गलदश्रु भावमदोन्मादन है । उन्होंने मस्ती के अनुभवों को तीन ग्रन्थों में वर्णन किया है यह 300 पद्य वाला तमिल ग्रन्थ है । वे माधव, दासाई और सरोयोगिन् नाम से जाने गए थे ।

(आण्डाल) उनके बाद हुए और भक्तां घ्रिरेणु (तोण्डरादि पोड़ियाल्वार) योगी वाह (तिरुपावाल्वार) और परकाल (तिरु मंगैयाल्वार) सबसे पीछे हुए। परम्परा से पहले के आल्वारों का काल ई० पू० 4203 और पिछले का काल ई० पू० 2706 माना गया है।[1] वर्तमान अनुसंधान के अनुसार उनका काल ई० स० की सातवीं या आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं माना जाता। आलवारों के विषय में परम्परागत सूचना भिन्न-भिन्न गुरु परम्परा के ग्रन्थों में मिल सकती है। गुरु परम्परा के आधार पर भूत्तात्त, पोयगै और पेयाल्वार, विष्णु की गदा, शंख और नन्दक के अवतार थे, कदनमलै और मयिलै भी अवतार थे। जबकि तिरुभरिसैपीरान विष्णु के चक्र के अवतार थे। नाम्मालवार विष्वक्सेन के अवतार थे और कुल शेखर पीरुमाल, विष्णु के कौस्तुभ के अवतार थे। इसी प्रकार पेरियालवार, और तिरुमंगेयालवार, गरुड, वनमाला और शार्ङ्ग के अवतार थे। तिरुपाणालवार अन्तिम अवतार थे। आण्डाल जो पेरियालवार की दत्तक पुत्री थी और मधुर कवियालवार जो नाम्मालवार के शिष्य थे भी आलवार कहे गये हैं। यों मद्रास प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों से आये थे। इनमें से सात ब्राह्मण थे, एक क्षत्रिय, दो शूद्र और एक निम्न पनर जाति का था। गुरु परम्पराओं में इनका जीवन वृत्तान्त दिया है और उनका कालपनिक समय जब वह अपनी समृद्धि की स्थिति में थे ईसा से पूर्व दिया गया है। गुरु परम्पराओं के अतिरिक्त, व्यक्तिगत लेख भी पाए गए हैं जिनमें निम्न महत्त्वपूर्ण हैं: पंडित गरुड वाहन कृत दिव्य मूर्ति चरित (1) दिव्य-सूरि जो रामानुज के समकालीन थे पिंबारार्गीय पेरुमाल जीवार का 'गुरु परम्परा प्रभावम्' जो दिव्य सूरि चरित के आधार पर मणि प्रबाला शैली अर्थात् संस्कृत और तामिल भाषा मिश्रित में लिखा गया है, (3) पेरिय तिरु मुड़ि अड़ैवु आम्विलाई कण्डाडै यप्पन कृत मणवाल मामुनी कृत तामिल ग्रन्थ है। (4) उपदेश रत्नमालै, तामिल में रचित ग्रन्थ है, इसमें आलवारों की सूची दी है। (5) यतीन्द्र श्रवण प्रभावम्, पिल्लै लोकाचार्यर कृत है। आलवारों के विषय में सूचना देने वाला दूसरा स्रोत, आलवारों के ग्रन्थों का विख्यात् संग्रह है जो 'नाल आमीर दिव्य प्रबंधम्' नाम से प्रख्यात है। इनमें दिव्य प्रबन्ध पर 10 टीकाएँ हैं और नाम्यालवार लिखित तिरुवायमोरीं है। इनके अतिरिक्त मद्रास प्रान्त में अभिलेखों के रूप में अनेक पुरालेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं।

माणवाल मामुनि, अपने यतींद्र प्रवण प्रवंध' में कहते हैं कि पेयालवार मूतत्तालवार, पोयगैयालवार और तिरुमरिषै पीरान पल्लवों के काल में हुए जो काँची में ई० पू० 4वीं शताब्दी में आये थे। पुनः प्रो० डूब्रील कहते हैं भामलै नगर जहाँ भूतत्तालवार रहते थे, नृसिह वर्मन प्रथम के पहले विद्यमान नहीं था। क्योंकि इन्होंने ही सातवीं शताब्दी के मध्य में इस नगर को बसाया था। तदुपरान्त तिरुभंगे यालवार परमेश्वर वर्मन द्वितीय के बनाए वैष्णव मन्दिर की प्रशंसा की, इससे यह अनुमान होता है कि आलवारों का आठवीं शताब्दी (ई० स०) में उत्कर्ष हुआ यही शताब्दी

1 एस० के० आयंगर की लिखित : वैष्णवों का प्राचीन इतिहास पृ० 4–13, रा० ब० भाण्डारकर की वैष्णव, शैव और उपसम्प्रदाय, पृ० 68, 69।

चोल और पाण्डय प्रदेशों में और वैष्णव सम्प्रदाय तथा शंकर के महान् आन्दोलनों का समय रहा है।[1]

परम्परागत वर्णन के आधार पर नाम्मालवार कार्ली के सुपुत्र थे जो पाण्ड्य राज दरबार में प्रतिष्ठित स्थान रखते थे और उन्होंने अपने कालमार्रन परांकुश और शठकोप इत्यादि नाम रखे, तथा उनके शिष्य मधुरकवियालवार थे। उनका जन्म स्थान तिरुक्कुरगुर था। मदुरा में दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक का काल कलि 3871 का है, जब पुरान्तक राज्य करते थे। उनके उत्तर मंत्री माल के सुपुत्र थे, इन्हें मधुर कवियालवार नाम से भी जाना जाता था। दूसरा शिलालेख मारंजदैयम् के राज्य काल का है। कार्ल का 3871 वां वर्ष ईसोत्तर 770 के बराबर है। इसी समय परान्तक पांड्य सिंहासनारूढ़ हुए। इनके पिता परांकुश ई० सं० 700 में मर गए। किन्तु मालकारी मंत्री पद पर वर्तमान रहे। नाम्मालवार का नाम कार्लीमार्रन था इससे अनुमान लगता है कि उत्तर मंत्री कार्ली इनके पिता थे। इस वर्णन का गुरु परम्परा द्वारा भी समर्थन होता है। उपरोक्त प्रमाणों तथा अन्य प्रमाणों से जो गोपीनाथ राउ देते हैं, यह सिद्ध होता है कि नाम्मालवार तथा मधुर कवियालवार का काल ई० सं० 8 शताब्दी या नवम् शती का पूर्व भाग रहा। कुल शेखर पेरु का भी सम्भवतः यही काल रहा होगा। पेरियालवार तथा उनकी दत्तक पुत्री आण्डाल सम्भवतः श्री बल्लभ देव के समकालीन रहे जो नवीं शती में विद्यमान थे। तोण्डर आड़ी पोड़ियालवार, तिरुभंगैयालवार और तिर, पाणालवार समकालीन थे। तिरुभंगैयालवार पल्लवमल की रणदुन्दुभि का जिक्र करते हैं जो इस 717 और 779 के बीच राज्य करते थे इसलिए ये आलवार इस काल के पहले नहीं हो सकते थे। किन्तु तिरुभंगैयालवार, काँची में विष्णु की प्रशंसा करते हुए वैरमेघ पल्लव का उल्लेख करते हैं, जिनका काल सम्भवतः नवमी शताब्दी था। इससे यह धारणा की जा सकती है कि तिरुभंगै इसी समय रहे होंगे। श्री एस० के० आयंगर के कथनानुसार आलवार अन्तिम 8वीं शताब्दी के प्रथम भाग में विद्यमान रहा होगा।[2] सर आर० जी० भण्डारकर का अभिप्राय है कि कुलशेखर पेरुमाल मध्य 12वीं शताब्दी में रहे होंगे। वे ट्रावणकोर के राजा थे और उनकी 'मुकुन्द माला' कृति में 'भागवत पुराण' (11 : 2, 36) के एक पद का उद्धरण मिलता है। इस आलेख की साक्षी से सेंद कुलीय पेरमादी का कार्यकाल 1138–1150 का है। इन्होंने कुलशेखरांक को पराजित किया था। भण्डारकर कुलशेखरांक को कुलशेखर पेरुमाल से अभिन्न मानते हुए इनका काल बारहवीं ईसवी शताब्दी निर्धारित करते हैं। जबकि श्री राऊ उन्हें नवम् शताब्दी पूर्वार्ध का बतलाते हैं। श्री भण्डारकर का मानना है कि आलवार सर्वप्रथम 5वीं या 6वीं शताब्दी में विद्यमान रहे, और कहते हैं गुरु परम्परा-सूची में दिया हुआ आलवारों की प्राथमिकता क्रम अविश्वसनीय है। आयंगर की आलोचना का मुख्य बिन्दु यह है कि

1 सद्गत श्री ह्वी.ए. गोपीनाथ राउ कृत सर सुब्रह्मण्य आयर व्याख्यान 1923, पृ. 17।

2 इस भाग को रामानुज मुरुं दादी कहा है। आलवारों का क्रम यहाँ इस प्रकार है, पोयनैयालवार, भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुपाणालवार, तिरुमरिसै पीरान् तोण्डराड़ि थोड़ीयालवा र, कुलशेखर, पेरियालवार, आण्डाल, तिरुभंगैयालवार।

वे श्री भण्डारकर के इस कथन का विरोध करते हैं कि कुल शेखर पेरुमाल और कुलशेखरांक, दोनों व्यक्ति एक ही थे। आलवारों के ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखे गए थे और इनमें से जो प्राप्त हैं वे सब रामानुज या नाथमुनि के काल में संगृहीत हुए थे। इस संग्रह में 4000 ऋचाएँ हैं जिसे 'नालायीर दिव्य प्रबंधम्' कहते हैं। लेकिन कम से कम इसका एक भाग कुरुत्तलवम् या कुरुत्तम्, जो कि रामानुज के प्रमुख शिष्य थे, रचा गया था और जिसके एक इस ग्रन्थ में दिया हुआ आलवारों का क्रम गुरु-परम्परा के क्रम से भिन्न है इसमें नाम्मालवार का उल्लेख पृथक् किया गया है। पुनः रामानुज के अनुगामी एवं शिष्य, पिल्लान्, जिन्होंने नाम्मालवार के तिरुवायमोर्री की टीका की है वे एक पद्य में सभी आलवारों के नाम देते हैं केवल आण्डाल को ही छोड़ दिया है।[1] इससे यह पता चलता है कि कुल शेखर रामानुज के समय में आलवार मान लिये गए थे। श्री वेंकटनाथ (14वीं शताब्दी) का सूची में जो एक तामिल प्रबंध में दी है, मधुर कवियालवार तथा आण्डाल को छोड़ सभी आलवारों के नाम दिए हैं। प्रबंध में वाड़कलै सम्प्रदायानुसार गुरु-परम्परा का भी उल्लेख है जिसका प्रारम्भ रामानुज से होता है।[2]

कुलशेखर, अपने मुकुन्दमाला नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि वे कोल्लि (चोल की राजधानी उरैपुर) कुदाल (मदुरा) और कोंगु के राजा थे। त्रावनकोर (वंजीकुलम्) के निवासी होने के कारण, वे पांड्य और चोल की राजधानी, मदुरा और उरैपुर के राजा बन गए। ई० स० 900 के बाद जब चोल राजा परांतक शक्तिशाली हो गया और जब चोल की राजधानी उरैपुर न रहकर तंजौर हो गयी थी, तब त्रावणकोर का चोल और पाण्ड्य राज्यों पर आधिपत्य असम्भव था। यह परिस्थिति महान् पल्लवराज-नृसिंह वर्मन् के उत्थान (600) के पहले या नन्दि वर्मन् के साथ उस वंश के पतन के बाद (800) में ही सम्भव थी। अगर वेरेमेग्र के समकालीन तिरुमार्गेयारिवार को अन्तिम आलवार माना जाय तो कुलशेखर का जीवन काल छठी शताब्दी में हमें रखना पड़ेगा। किन्तु गोपीनाथ राउ कुलशेखर के पाठ का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि वह पाठ पल्लव राजा की हार और मृत्यु उनके हाथों हुई इस घटना का संकेत करता है। वे इस राजा को पल्लव नरेश दन्तिवर्मन् बताते हैं जो 825 में हुए थे, तथा उनके मतानुसार दन्तिवर्मन् का शासन काल नवम् शताब्दी का प्रथम भाग था। कुछ भी हो, भण्डारकर का कुलशेखर को कुलशेखरांक (1150) के साथ एक करना असम्भव है क्योंकि 1088 के एक अभिलेख में मिलता है कि कुलशेखर ने सैत्तरुमसिरल का पाठ

---

1 भूतं सरश्च महदनव्य भट्टनाथ
श्री भक्ति सार कुलशेखर योगिवाहान्
भक्तांध्रिरेणुपरकाल यतींद्रमिश्रान्
श्रीमत् परांकुश मुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

—श्री आयंगर में 'वैष्णव सम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास' से उद्धृत।

2 रामानुज के गुरु पेरिय नाम्बी थे, उनके बाद अलवन्दर मनक्कल नम्बी, उय्यक्कोन्दर, नाथमुनि, शठकोप, विष्वक्सेन (सेनाई नाथन्), महालक्ष्मी और विष्णु हैं।

—वही, पृ० 21।

किया ।[1] श्री आयंगर आगे और कहते हैं कि श्री भण्डारकर के कथनानुसार मुकुन्दमाला के अनेक संस्मरणों में भागवत पुराण के उद्धरण नहीं मिल पाते । इसलिए हम भण्डारकर का यह मत कि कुलशेखर मध्य 12वीं शताब्दी में हुए, उसे सर्वथा अमान्य ठहराते हैं ।

आलवारों के कालक्रम के बारे में दक्षिणवासी इतिहासकार एवं पुरालेखज्ञों में भारी मतभेद रहा है, यह मतभेद न केवल आलवारों के कालक्रम के बारे में है, बल्कि उनकी तिथि तथा पहले और अन्तिम तथा मध्य आलवार कौन थे, इस बारे में भी है । इस प्रकार श्री आयंगर पहले चार आलवारों का काल दूसरी शताब्दी के आस-पास रखते हैं जबकि श्री गोपीनाथ राउ सातवीं शताब्दी का मध्य रखते हैं ।[2] श्री आयंगर ने नाम्मालवार का काल मध्य छठी शताब्दी के पहले भाग में माना है, जबकि गोपीनाथ राउ नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध बताते हैं । श्री आयंगर आलवारों का इतिहास सातवीं शताब्दी के मध्य तक समाप्त मानते हैं किन्तु श्री गोपीनाथ राउ कुलशेखर के समय को 825 ई० मानते हैं तथा पेरियालवार का समय इसी के साथ या कुछ पहले का बताते हैं तथा तोण्डरादिपोड़ी आलवार तिरुभंगैयालवार, तिरुपाणालवार, (समकालीन) का समय ई० 830 के लगभग मानते हैं । विवादग्रस्त मतों को देखते हुए, जिनका विशद् उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता, मैं श्री गोपीनाथ के मत से सहमत होना उपयुक्त समझता हूँ । प्रथम चार आलवारों के समय को छोड़कर अन्य आलवारों का क्रम, कालक्रमानुसार नहीं किया गया है, क्योंकि उनमें से बहुत से समकालीन थे और जिनका इतिहास 200 वर्ष के भीतर अर्थात् 7 से 9वीं शताब्दी के अन्दर समाप्त हो जाता है ।

आलवार उसे कहते हैं जिसे ईश्वर का सहज साक्षात् ज्ञान हो और जो ईश्वर के ध्यान में डूबा रहता है । आलवारों के ग्रन्थ विष्णु के उत्कृष्ट एवं अभिन्न प्रेम से भरे हुए हैं । यह प्रेम प्रपत्ति सिद्धान्त की नींव बनकर रहा । आलवार और अरगीयसों में अन्तर यह है कि आलवारों को ब्रह्मन् और उनकी शरणागति के सुख का व्यक्तिगत अनुभव था और अरगीयस विद्वान थे और उन्होंने आलवार सिद्धान्तों को विशद् रूप से प्रस्तुत किया था । अरगीयसों के बारे में हम आगे कहेंगे । पौगे, भूतात्त और पेय ने तिरुवन्ताड़ी ग्रन्थ के 100 पद्य के अलग-अलग तीन प्रकरण रचे थे ।[3] तिरुमरीसाई पीरान ने अपने जीवन का अधिकांश भाग त्रिपलीकेन, कांजीवरम् और कुम्भकोनम में बिताया था 'नन मुखम् तिरु-वन्ताड़ि' जिसमें 96 दोहे हैं और 'तिरु चण्ड वृत्तम्' नामक तीन स्तोत्र, तिरुमरिसेपीरान ने लिखे हैं । नाम्मालवार कुरूक्क की शूद्र जाति में जन्मे थे । जो आजकल तिने वल्ली जिले में आलवार्तीरू नगरी के नाम से जाना जाता है । ये आलवारों में से बहुसर्जक लेखक थे और उनकी कविताएँ 'नालाचीर दिव्य प्रबंधम्' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं । उनके रचित 'तिरुवृत्तम्' नामक ग्रंथ में 100 श्लोक हैं

1 श्री आयंगर कृत—वैष्णव सम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास, पृ० 33 ।

2 ये पेयालवार, भूतात्तालवार और पोयगैयालवार तिरु मरिसैपीरान् है, इनमें से पहले तीन श्री निवासों में मुदलार्रवार कहलाते हैं ।

3 गवर्मेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास से हस्तलिखित प्राप्त ।

'तिरु वाषिरियम्' में सात श्लोक हैं, 'पेरियतिरुवंताड़ी' 87 श्लोकों का ग्रन्थ है और 'तिरु वाय मोली' नामक ग्रंथ में 1102 श्लोक हैं। नाम्म आलवार का समस्त जीवन ईश्वर के ध्यान में ही बीता। उनके शिष्य मधुर कवि उन्हें विष्णु का अवतार मानते थे। कुलशेखर राम के अनन्य भक्त थे। उनका रचित मुख्य ग्रन्थ पेरुमाल तिरुमोरीं है। पेरियालवार, जो विष्णुचित्त नाम से भी जाने जाते थे, वे श्री बित्तिपुत्तुर में जन्मे थे। उनके मुख्य ग्रन्थ तिरुपल्लाण्डु और तिरुमोरीं हैं। पेरियालवार की दत्तक पुत्री, आण्डाल कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वह अपने को कृष्ण की गोपियों में से एक मानती थी और जिसने अपना जीवन कृष्ण-मिलन के लिए बिताया। वह श्रीरंगम् के रंगनाथ भगवान् को ब्याही गई थी। उनकी मुख्य रचनाएँ तिरु पावै और नच्छीयार हैं। तिरुमोरीं तोंडराड़ी पोडि-आर्लवार मन्दनगुडी में जन्मे थे। वे देवादेवी नाम की वेश्या के छल में फँस गए थे किन्तु प्रभु रंगनाथ की कृपा से बच गए। उनकी मुख्य रचना 'तिरुमालै' और 'तिरु पल्लियेरूची' हैं। तिरुपाणार्रवार को निम्न जाति के सन्तान-विहीन पनार ने पाला-पोसा था। उनकी दस श्लोकी एक रचना है जिसका नाम 'अमलनादि विरान्' है। तिरु मगें चोर जाति में उत्पन्न हुए थे। उनकी मुख्य रचनाएँ 'पेरिय तिरुमोरीं' 'तिरुकुरुन दाण्डकम,' 'तिरु नेडु दाण्डकम्,' 'तिरु वेरुट्टिरुक्कै' इसके, सिरिय तिरुमड़ल' और 'पेरिय तिरुमड़ल' हैं। तिरुमंगे पहले डाका डालते थे किन्तु रंगनाथ भगवान् की कृपा से उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। 'नाल आयीर दिव्य प्रबंधम्' नामक ग्रंथ जिसमें आलवारों की रचनाएँ हैं, तामिल देश में महान् पवित्र ग्रंथ माना जाता है और उसे वेदों के समकक्ष रखते हैं। वह ग्रन्थ बड़ी धूमधाम से मन्दिर में ले जाया जाता है और उस समय इस ग्रन्थ के श्लोकों का पाठ होता रहता है। इस ग्रन्थ का पाठ अन्य मुख्य अवसरों पर भी किया जाता है जैसा कि विवाह, मृत्यु इत्यादि। इस ग्रन्थ के पदों का पाठ मन्दिर के सामने के कक्ष में भी किया जाता है और वेद मन्त्रों के साथ क्रिया-कर्म के समय भी इनका उपयोग होता है।

आलवारों का तत्त्व दर्शन

आलवारों की कृतियाँ साहित्यिक एवं भक्ति की दृष्टि से ही महत्त्व रखती है, इसलिए उन्हें तात्विक दृष्टि से देखना कठिन है। दृष्टान्त के तौर पर ग्रन्थों के सामान्य विषय का परिचय कराने के लिए, मैं 'नाम्मांवार' के (शठ कोप) रचना के मुख्य विषय का संक्षेप में वर्णन करूँगा। वह अभिराम वराचार्य की द्रमिड़ोपनिषद् के आधार पर रचित है।[1] शठ कोप की प्रभु के प्रति भक्ति उनके हृदय में समा न सकी, वह उत्कट भाव उनकी कविता में फूट निकला और जिससे दुःखी लोगों के हृदय को सांत्वना मिली। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें अपने जनसाधारण के दुःखों के प्रति उनके माता-पिता से भी अधिक सहानुभूति थी। शठ कोप का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि मनुष्य अपने को महान् आत्मा पुरुषोत्तम के प्रति स्त्री भाव से समर्पित करे; और प्रत्येक जीव को उसी पर निर्भर रहने वाली स्त्री समझे, इसलिए शठ कोप अपने को स्त्री भाव से प्रियतम की लगन में डूबे हुए, उसी पर सर्वथा

1 गवर्मेन्ट ओरियन्टल हस्तलिखित पुस्तकालय मद्रास से प्राप्त।

आधीन मानते थे। वे अपने चार ग्रंथों में से प्रथम में आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं, दूसरे में भगवान के महान् तथा उदार गुणों के अनुभव का वर्णन करते हैं, तीसरे में प्रभु से मिलने की उत्कंठा और चौथे में भगवान से ऐकात्म्य की अनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कंठा की तुलना में कितनी कम ठहरती है। पहले प्रकरण के दस श्लोकों में दास्य भाव प्लावित है। इसी में वे भगवान् के विशिष्ट गुणों का वर्णन भी करते हैं। दूसरे दस श्लोकों में भगवान की दया का वर्णन करते हुए कहते हैं हमें दुनियां की क्षणभंगुर एवं निरर्थक वस्तुओं से सर्वथा राग हटा लेना चाहिए। तत्पश्चात् वे भगवान् से लक्ष्मी सहित दुनियां में अवतार धारण करने की प्रार्थना करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। वे अपने पापों को स्वीकारते हुए प्रभु से अपने वियोग के असह्य दुःख का वर्णन करते हैं। फिर वे भगवान से आलिंगन करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि उनकी त्रुटियों का कारण उनका स्वयं का ही दोष है। वे कहते हैं कि दास्य भाव की अभिव्यक्ति और सफलता किसी प्रकार के पूजा के उपकरणों पर आधारित कर्मकांड पर निर्भर नहीं है, केवल तीव्र उत्कण्ठा पर ही निर्भर है। सच्ची भक्ति की ही नितान्त आवश्यकता है। भगवान् के उत्तम गुणों के मनन से जनित तीव्र आनन्द से यह भक्ति प्रारम्भ होनी चाहिए, जिससे भक्त को यह प्रतीत हो जाए कि इन गुणों से महान् कहीं किसी में कुछ नहीं है। वे नम्र हृदय से यह कहते हैं कि भगवान् उन भक्तों की सेवा को स्वीकार कर लेते हैं, जो कुटिल शत्रु को भी अन्य साधनों द्वारा अधिकार में लाने के बजाय, केवल मैत्री का ही सम्बन्ध जोड़ते हैं।[1] जो लोग अपने सहज भाव को स्वीकारने में तत्पर हैं, उसी तत्परता से उन्हें अपने में भगवान् का अनुभव होगा। सम्पूर्ण भक्ति द्वारा ही हम भगवान के कृपा पात्र बन सकते हैं अन्य कोई साधन व्यर्थ है। वे दूसरे शतक में कहते हैं कि जिस भक्त को भगवान के उत्तम गुणों का अनुभव है किन्तु मोहवश अन्य वस्तु से विरक्त नहीं हुआ है, वह ईश्वर के वियोग के असह्य दुःख की पीड़ा भोगता है और उसे ऐसे दुःख से पीड़ित समस्त मानव जाति से सहानुभूति होती है। पुराण कथा और, विशेषकर भागवत की कथाओं द्वारा शठकोष को ईश्वर की निकटता का अनुभव होता है जो दुःखों को दूर कर भगवान के सम्बन्ध को दृढ़ करता है। फिर उन सन्तों का वर्णन करते हैं जिन्होंने अपने अन्तर में ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, जो समस्त आनन्दमय भावों की खान हैं और वह इस आनन्दानुभव की तीव्र अभिलाषा करते हैं। इस अभिलाषा से शठकोप के हृदय में भगवत्-विरह का तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ और निरर्थक इच्छाओं की विरक्ति हुई। उन्होंने प्रभु से न मिल पाने की अपनी असमर्थता पर अत्यन्त दुःख प्रकट किया और ऐसा करने से वे दुःखाभिभूत हो अचेत हो गए, इससे भगवान् ने उन्हें साक्षात् दर्शन दिए, फिर उन्होंने भगवान् के दर्शन के आनन्द का वर्णन किया। किन्तु तो भी उन्हें वे खो देंगे यह भय लगा रहा है क्योंकि वे उनके लिए महान् है, इसलिए उन्होंने प्रभु के राग की शरण ली। तत्पश्चात् वे यों

---

[1] कौटिल्य वस्तु करण त्रितयेऽपि जन्तुष्वात्मीत्यमेव करण त्रितयैकरूपम्। संदर्श्य तानपि हरिः स्व-वशीकरोति आचष्ट सार्द्र-करुणो मुनि रष्टमेन।

—द्रमिड़ोपनिषद् तात्पर्य हस्त०।

कहते हैं कि जिनमें अधिकार की भावना है वे ही ईश्वर से मिल सकते हैं। वे भगवान् के तेजस्वी गुणों का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना मोक्ष से अधिक वांछनीय है, वे कहते हैं। मोक्ष की सच्ची परिभाषा भगवान् का दास बनना ही है।[1] तीसरे शतक के प्रथम भाग में वे भगवान् के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। वे विलाप करते हैं कि वे अपनी इन्द्रियाँ और मन की सीमा के कारण उनके पूर्ण सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर सकते हैं। फिर वे ईश्वर की असीम अनुकम्पा और अपने दास भाव का वर्णन करते हैं। तत्पश्चात् वे समस्त संसार और सांसारिक वस्तुओं के निर्देशक शब्दों में भगवान् के शरीर की कल्पना करते हैं।[2] ईश्वर की सेवा से उत्पन्न हर्ष और आनन्द का भी वर्णन करते हैं और कहते हैं कि जो भगवान् के निकट नहीं आ सकते उन्हें भगवान् की मूर्ति में तथा उनकी पौराणिक कथाओं में मन लगाकर सान्त्वना लेनी चाहिए। तत्पश्चात् वे अपने को भगवान् के विरह के शोक में डुबा देते हैं और आशा करते हैं कि वे अपनी इन्द्रियों को वश में करके भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकेंगे। वे उन लोगों के लिए दुःखी होते हैं जो कृष्ण को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करते हैं। वे भगवान् के दर्शन तथा उसके आनन्द का वर्णन करते हैं।

चतुर्थ शतक में सुख देने वाली समस्त वस्तुओं की क्षणभंगुरता का वर्णन किया गया है और भगवान् को प्रसन्न करना ही सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य माना है। वह यह समझाते हैं कि किस प्रकार सर्व पदार्थों से विरक्ति होने से और देशकाल की मर्यादा रहित भगवत्-प्रेम के उत्कर्ष से, तथा उनके सतत दर्शन न होने से वियोग की पीड़ा से वे अपने को स्त्री मानते हैं और वियोग के इस असह्य दुःख से अचेत हो जाते हैं।[3] तत्पश्चात् भगवान् किस प्रकार भक्त प्रणय से रीझ जाते हैं और वह उन्हें आलिंगन में लेकर मन, वचन और देह-क्रिया द्वारा भोग्य बनाकर भक्त अपनी अभिलाषा पूर्ण करता है, इसका वर्णन मिलता है। इसके बाद उन्होंने किस प्रकार तीव्रता से कृष्ण प्राप्ति का प्रयास किया और श्रीकृष्ण उनके सामने से अंतर्ध्यान हो गए और किस प्रकार फिर

---

1 मोक्षादरं स्फुटमवेक्ष्य मुनिर्मुकुन्दे।
मोक्षं प्रदातुं सदक्ष फलम् प्रवृत्ते॥
आत्मेष्टमस्य पद किंकसातैकरूपम्।
मोक्षाख्य वस्तु नवमे निरणयि तेन॥

—द्रमिड़ोपनिषद्-तात्पर्य, हस्त०।

2 सर्वं जगत् समवलोक्य विमोश्शरीरं।
तद्वाचिनश्च सकला नपि शब्दराशीन्॥
तं भूत-भौतिक-मुखान् कथयन् पदार्थान्
दास्यं चकार वचसैव मुनिश्चतुर्थे॥

—वही।

3 तं पुरुषार्थ मितरार्थ रुचे निर्वन्या
सांद्र स्पृहा समय देश विदूरेगं च
इष्सुः शुचा तदनवाप्ति भुवो द्वितीये
स्त्री भावनां समधिगम्य मुनिर्मुमोह।

—द्रमिड़ोपनिषद्, हस्त०।

वे एक बार पुनः विरह दुःख में डूब गए, इसका वर्णन हुआ है। फिर उन्हें भगवान् की झलक और उनकी सर्वश्रेष्ठता की अनुभूति का आनन्द मिलता है। आगे जाकर वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उनका भगवत् दर्शन एक स्वप्न था और उसके टूट जाने से वे मूर्छित हो गए। समय-समय पर आने वाले इस विरह काल के सूनेपन को वे भगवत् नाम के जप में बिताते थे और उनकी आराधना करते थे। वे विलाप किया करते थे कि बिना भगवान् के सब कुछ सूना है। बीच-बीच में ईश्वर की ओर से विमुख होने की त्रुटि करती चली जा रही मानवता के प्रति गहरी सहानुभूति उमड़ती रही। उनके अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति राग ही बन्धन है।[1] जब कोई यह अनुभव कर लेता है कि भगवान् ही सब कुछ है तो उसके सारे बन्धन टूट जाते हैं।

पंचम शतक में वे यों कहते हैं कि प्रभु कृपा ही मनुष्य का रक्षण कर सकती है। वे अपने को प्रभु की पत्नी अनुभव करते हैं और उससे आलिंगन के सतत अभिलाषी हैं। भगवान से मिलने के शोक, विलाप और चिन्ता से अभिभूत होकर वे मूर्छा रूपी अंधकार में डूब गए जिससे इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गईं। मूर्छा के बाद वे भगवान के आभूषण देख पाए किन्तु उनका साक्षात् दर्शन न कर पाए जिससे शोक व हर्ष दोनों में डूबते रहे। वियोग-दुःख से छुटकारा पाने को उन्होंने भगवान् से तादात्म्य साध सुख पाया और उन्होंने यह सोचकर भगवान् की क्रियाओं का अनुकरण किया, कि जगत् भगवान से ही उत्पन्न हुआ है।[2] आगे 70, 80 पदों में वे कुम्भकोनम की श्रीकृष्ण की मूर्ति के प्रति अपने अनुराग का वर्णन करते हैं और यह भी वर्णन करते हैं भगवान के उनसे उदासीन हो जाने के कारण किस तरह उन्होंने महान् दुःख उठाया क्योंकि भगवान् ने अपने प्रेमी को आलिंगनादि प्रेम-व्यापार द्वारा संतुष्ट नहीं किया, और किस तरह भगवान् से अपने प्रणय व्यापार की उपेक्षा के कारण अप्रसन्न हो गए और किस तरह अन्त में भगवान् ने स्नेहपूर्वक आलिंगनादि प्रदान कर उन्हें संतुष्ट किया। भगवान् को जो जगत् का दिव्य अधिपति है, उनके लिए प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न हुई और उन्हें मानुषिक प्रेम के प्रकार से सन्तुष्ट किया।[3] वे प्रभु के आलिंगन से प्राप्त महासुख

---

1 प्रीताः परंहरिरमुष्य नदा स्वभावादं
एनःमनो वचन-देह-कृत-क्रियाभिः
स्रक् चंदन-प्रमुख-सर्वविध-स्वभोग्यः
संश्लिष्टवानिदमुवाच मुनि स्टितीये।। —वही।

2 शोकं ज तम् परि जिहीर्षु रिवाखिलानाम्
सर्गादि, कर्तुः अनुकारर सेन शौबेः
तस्य प्रवृत्तिः अखिला रचिता मायेऽति,
तद् भावभाविता मना मुनि राहा षष्ठे।

3 कोपं मम प्रणयजम् प्रशमय कृष्ण,
स्वाधीनताम् आतनुतेऽति सविस्मयः सः
स्वीयां विरुद्ध जगद् आकुलिलां न च तेन
संदर्शिता अनुवभूव मुनिः तृतिये। —वही।

का वर्णन करते हैं, इस उन्मत्त इन्द्रिय प्रेम और ईश्वरीय आलिंगन को पाकर वे जीवन के सम्बन्ध में सांसारिक रुचि से विमुख हो गए।

नवम् शतक में, ये महात्मा, यह जानकर कि वे सामान्य पदार्थ को नहीं देख सकते हैं और विश्व में भगवान् के दैवी अस्तित्व से भी सन्तोष नहीं होता इसलिए उन्होंने भगवान् के अप्राकृत वपु में ध्यान लगाया और उनका सान्निध्य प्राप्त करने को विलाप करने लगे। शतक का अधिकतर भाग विरह के विलाप से पूर्ण है। पुनः किस प्रकार सतत विलाप और चिन्तन से उन्हें साक्षात्कार हुआ इसका वर्णन करते हैं, किन्तु फिर भी वे दुःखी रहे क्योंकि वे उन्हें स्पर्श न कर सके। तत्पश्चात् भगवान ने प्रार्थना सुनकर मानुषी रूप धारण किया और उनके दुःखों को दूर किया।[1] अन्य कई पदों में वे भगवान् से वियोग और क्षणिक मिलन के दुःख का वर्णन करते हैं और किस प्रकार पक्षियों द्वारा भगवान् को सन्देश भेजते हैं, किस प्रकार भगवान् ने मिलन में विलम्ब किया इसलिए दुःखी हुए कैसे वह निर्दिष्ट समय पर मिलन की आशा रखते थे तथा वे किस प्रकार स्वर्ग में किए जाने वाले काम धरती पर भी दोहराए जाएँ और किस तरह उनका व्यवहार गोपियों जैसा ही तीव्र और प्रचंड हो यही सब वर्णन के विषय रहे। अंतिम पदों में वे यही निष्कर्ष पर आते हैं कि भगवान् का सच्चा दर्शन अति प्रेमी भक्त को ही हो सकता है, इन चर्म चक्षुओं के लिए दर्शन सम्भव नहीं है।

श्री हूपर ने नाम्मालवार रचित तिरुवृत्तम् ग्रन्थ के कई रोचक उद्धरणों का अनुवाद किया है, यहाँ जो उद्धरण दिए गए हैं उनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उनके भगवान् के प्रति प्रेम गीत किस प्रकार के हैं।[2]

वह बाला अपने मोहक केशों से, उन चरणों का प्रेम करती चिरंजीव रहे जिन चरणों को देवता पूजते हैं, वह कन्हैया के मेघ समान काले चरणों में प्रेम करती है, उसकी आँखें शोक से गहरे सरोवर में कायल मछली की नाई लाल लाल हो गई हैं।[3] अब इस ग्राम में जिसका शीतल स्वभाव था वहाँ परम लू बरसती है। क्या कृष्ण अपना राजदंड एक तरफ रखकर मेरी इस विरही बाला का प्रेम चुराने के लिए काल मेघ बन गये हैं, क्योंकि तुलसी के लिए सुधबुध खोकर खुली आँखों से अश्रुपात कर रही है।[4]

भगवान् के वियोग में आलवार को अन्धकार को देखने में आनन्द आता है क्योंकि वे कृष्ण जैसे काले हैं:

---

1 संग निवर्त्य मम संस्मृति मंडले माम्
संस्थापयम् कथम् अस्तीति अनु चोदितेन
आश्चर्य लोक तनुताम् अपि दर्शयित्वा
विस्मारितः किल शुचम् हरिणा स्तमेऽसौ।
—वही।

2 आलवारों के गीत—जे० एस० एम० हूपर रचित पृ० 61–68।

3 युवती यहाँ पर आलवारों की शिष्या है और प्रेयसी गृहिणी है, कन्हैया कृष्ण हैं।

4 ये भी युवती के वचन हैं, तुलसी से श्रीकृष्ण अभिप्रेत हैं।

तुम कृष्ण के स्वर्ग के समान सुन्दर हो, जब वह चला जाता है तब वियोग कितना लम्बा दीखता है किन्तु वे जब होते हैं तब संयोग के क्षण कितने छोटे लगते हैं। प्रेमी का दीर्घ अथवा अल्प सान्निध्य दुःख ही दुःख देता है। कपटी होते[1] हुए भी वह आच्छादक मेघ धन्य हैं। मेरी उस सुन्दर कंकण वाली युवती का क्या होगा जो बड़ी कायल जैसी अश्रुयुक्त आँखों सहित अपने हृदय में तुलसी के प्रति प्रेम पीड़ा छिपाकर घूम रही है, और तुलसी के पुष्ण गरुड द्वारा लाए गए हैं और वे झंझावात में गिरि की ओट में घनीभूत होते जा रहे हैं।[2]

आलवार हंसों और बत्तखों से अपना संदेश ले जाने की याचना करता है। उड़ते हुए हंस और बलाका। मैंने आते ही याचना की, कि जो कोई भी पहले पहुँचे किन्तु यह भूले नहीं। अगर तुम मेरे हृदय से कन्नन को वहाँ देखो तो उन्हें मेरी याद दिला देना और कहना कि तुम अभी तक उनके पास नहीं गए क्या यह उचित है ?

आलवार विलाप करता है कि मेघ उनका सन्देश नहीं ले जाएँगे। वह मेघ और कृष्ण की समानता बताता है :

मेघावली, मुझे यह बताओ कि तुमने तिरुमाल का धन्य रूप किस प्रकार पाया ? तुम जीवन देने वाला पानी भर कर आकाश में घूमते हो, इससे तुम्हारा शरीर पीड़ित होता है शायद इसी तपस्या से तुम्हें कृष्ण का रंग प्राप्त हुआ।

मित्र भगवान् की निष्ठुरता का भी वर्णन करता है :

इस रात्रि के लम्बे समय में जब मनुष्य को अंधकार में भी रहना पड़ता है, तब भी उसे दया नहीं आती कि वह असह्य शोक में खड़ी हुई है, उसकी कटि कोमल है और वह मृगनयनी वन में घूम रही है, क्या मैंने उसे कन्नन के चरण कमल की लम्बी स्तुति करके इसलिए पैदा किया था ?

आलवार नीलकमल में श्रीकृष्ण की समानता देखता है और भगवान् को सर्वत्र देखता है :

नीले विशाल गिरि पर कमल के सारे सरोवर मेरे लिए भगवान् की चक्षु की सुन्दरता है; जो भगवान् जगत् पति है स्वर्ग का भी पति है और समस्त पुण्यशाली आत्माओं का पति है और वह मेरा भी है।

आलवार भगवान की महानता के गुण गान करता है :

सन्तों ने अपने पवित्र श्रम से पुण्य कमा कर कहा है और दावे के साथ कहा है कि भगवान का रंग शानदार सौन्दर्य नाम और रूप और तेजस्वी गुण यह है वह है' किन्तु उनका श्रम भगवान की महानता को नहीं पा सकता। उनका ज्ञान एक टिमटिमाते दीप के समान है।

सौतेली माता, प्रणयिनी, पर दयार्द्र है क्योंकि प्रेमिका लम्बी रात्रि सहन नहीं कर सकती :

सुन्दर दन्त, गोल स्तन एवं गुलाबी मुख वाली, मेरे पाप से उत्पन्न वह युवती विलाप करती रहती है, वह सुन्दर किन्तु अनन्त रातें तुलसी के लिए उसकी अनन्त अभिलाषा की तरह कितनी नित्य हैं। (आलवार)

1 वियोग बहुत लम्बा दीखता है और मिलन क्षणिक।

2 माता का युवती के लिए विलाप।

पुनः सौतेली माता दयार्द्र होती है क्योंकि उसकी युवती कन्या अभी इस उत्कट प्रेम के लिए अल्पायु है :

अभी उसके स्तन पूरे खिले नहीं हैं, मुलायम बाल अभी छोटे ही हैं और अंचल अभी तक कटि पर ढीला है, आँखों पर अभी भी निर्दोष भाव और बोली भी तुतलाती है।

पुनः भगवान् प्रेयसी के प्रति मोह होने पर मित्र के उलाहने का उत्तर देते हैं :

उसके लाल कमल-नयन मेरा जीवन हैं वे स्वर्ग के समान हैं।

प्रेयसी अंधकार सहन नहीं कर सकती और तो भी चंद्र के आगमन से दुःखी हो जाती है :

हे बालचन्द्र ! तूने रात्रि में विशाल अंधकार को वेष्टित कर लिया है मुझे भी उसी प्रकार समेट ले। क्या चंद्र अधिक प्रकाश डाल कर मुझ असहाय को सुखी करना चाहता है, जो तुलसी पुष्पों के लिए आतुर है ?

प्रेयसी की सहचरी उसे शिथिल हुई देख निराश होती है :

अहा हाः वह सुबकती है और गद्गद् होकर घनश्याम को पुकार रही है। क्या मालूम वह जी सकेगी या उसका यह शरीर और जीव चला जाएगा।

पुनः कुल शेखर रचित तिरुमाल तिरुमोर्री अध्याय ५ में ऐसा कहा है :

यद्यपि लाल अग्नि स्वतः उभरती है और प्रचंड दाह बरसाती है, तो भी लाल कमल, केवल लाल चंड आँखों वाले भगवान् के लिए ही फूलते हैं, जिनका निवास ऊँचे स्वर्ग में है, हे वितुवकोडु के पति ! क्या तू मेरा दुःख दूर नहीं करेगा ? मेरा हृदय तेरे असीम प्रेम के सिवाय और कहीं नहीं पसीजता।

समस्त नदियाँ अपना पानी इकट्ठा कर फैलती हैं और दौड़ती हुई समुद्र में मिलती हैं, बाहर अलग नहीं रह सकतीं। हे मेरे आधार ! तेरे आनंद में डूबे बिना मेरा कोई सहारा नहीं है, हे वितुवकोडु के पति, हे मेघ वर्णी गुणी, केवल तू ही सत्य है।[1]

उसी पुस्तक में आगे और लिखा है :[2]

मेरा संसार से कोई रिश्ता नहीं है और यह संसार झूठ को सच मानता है अतः मैं पुकारता हूँ, हे रंगन् मेरे पति ! तेरे ही लिए मेरा राग जलता है।

मेरा इस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्षीण कटि युक्त युवतियों के समूह में से केवल मैं ही प्रेम और हर्ष से तुझे पुकारती हूँ हे रंगन् मेरे पति !

पुनः 'नालायीर दिव्य प्रबंधम्' ग्रन्थ के तीरु पावइ खण्ड में कवित्री आण्डाल गोपी भाव से अपनी सहेलियों से सोए हुए कृष्ण को जगाने के लिए कहती है।

हम गायों के साथ जंगल में चलें और वहाँ चलकर भोजन करें। ग्वाले हमें नहीं पहचानेंगे। यह कितना सुन्दर वरदान है कि तुम हम जैसों में ही पैदा हुए हो। गोविंद तुम्हें किसी की कमी नहीं है, पर हमारा तुमसे यह सम्बन्ध कभी नहीं छूटेगा। अगर

1. हूपर कृत, वही, पृ० 48।

2. वही, पृ० 44।

हम प्यार दुलार में तुम्हारा बचपन का नाम पुकारें तो तुम रुष्ट न हो जाना। हम तो बच्चे हैं कुछ नहीं जानते, क्या तुम हमें मृदंग दोगे ? ओ० एलोरेम्वावाय ।[1]

पुनः पेरियालवार अपने को यशोदा मानते हुए बालक कृष्ण का वर्णन करते हैं जो धूल में पड़ा हुआ चंद्र को पुकार रहा है :

(1) वह धूल में लोट रहा है जिससे भौंहे के पास वाले मणि लटकने लगे हैं और किंकणी के घुँघरू नाद करते हैं। मेरे पुत्र गोविंद के खेल को तो तुम देखो। हे पूर्ण चंद्र ! अगर तेरे आँखें हो तो तू यहाँ से चला जा।

(2) मेरा नन्हा अमृत समान प्यारा ! मेरे आशीर्वचन तुझे बुला रहे हैं छोटे-छोटे हाथों से ईशारा कर रहे हैं। हे पूर्ण चंद्र ! अगर तू इस श्याम नन्हे से खेलना चाहता है तो बादलों में न छिप, किन्तु खुश होकर इधर आजा।[2]

पुनः तिरुभंगे कहते हैं :

बुढ़ापा आते ही हम बैसाखी का सहारा लेते हैं, जब दोहरी कमर होकर हमारी आँखें जमीन पर गड़ जाएँगी, और हम क्षीण हो जाएँगे और पाँव डगमगाएँगे तब थक कर आराम के लिए बैठ जाएँगे और बदरी की स्तुति करेंगे जिसने अपने घर में मायावी राक्षसी माता का स्तन पान करके उसे मार डाला—

पुनः आंडाल कहती है : हे नन्द गोपाल की पुत्री ! तू द्वार खोल दे, तू मत्त हस्ती की तरह पुष्ठ बाहु की वजह से दौड़ नहीं पाती तेरे सिर के बाल नपिन्नाई की सुगंध से व्याप्त हैं। देख सर्वत्र मुर्गे बोल रहे हैं, माधवी कुंज में कोयल कूक रही है, तू अपने हाथ में गेंद लेकर आजा, प्रसन्नतापूर्वक अपने कर कमलों द्वारा खोल दे जिसमें तेरी चूड़ियाँ खनखना उठें जिससे उसके नाद के साथ तेरे भाई का नाम हम गाएँगे। ओ एलोरम्वावाय।

तू उन्हें 33 देवों के साथ युद्ध में लड़ने के लिए साहसी बनाने में सक्षम है। तू अपनी निद्रा से जाग उठ। तू न्यायी है, तू सशक्त है और निर्मल है, तू अपने शत्रुओं को जला देता है निद्रा से जग। ओ नारी नपिन्नाई तेरे कोमल स्तन छोटी कटोरियों के समान हैं, तेरे मधुर होठ लाल हैं, और तेरी क्षीण कटि है, हे लक्ष्मी ! निद्रा से जग कर अपने दूल्हे को पंखा और दर्पण दे दे, और हमें स्नान करा दे। ओ एलोरम्वावाय।

आलवारों की भक्ति के मुख्य गुण का वर्णन करते हुए नाम्मालवार को पराकुंश अथवा शठकोप भी कहा गया है। गोविंदाचार्य ने 'दी डीवाइन विजडम ऑफ द्राविड सेन्टस' तथा 'दी होली लाइवज ऑफ दी अजहवार्स' ग्रन्थों में कहा है कि नाम्मालवार की मान्यतानुसार जब कोई भक्ति में परिपूर्ण समर्पण भाव से अभिभूत हो जाता है तब वह सरलता से सत्य को पा जाता है।[3] नाम्मालवार ने कहा है मुक्ति के लिए केवल भगवान की कृपा ही चाहिए, हमें समर्पण करने के अतिरिक्त और कुछ भी करना नहीं

---

1. वही, पृ० 57।
2. वही, पृ० 37।
3. वही, पृ० 35।

है। निम्न शब्दों में नाम्मालवार कहते हैं कि भगवान् हमें अपने से प्यार करने को सतत उकसाते रहते हैं।

मैंने आनन्दमय भगवान का नाम सुना और मेरी आँखों में पानी भर आया। अरे यह क्या हुआ ? मैंने पूछा। यह कैसा विस्मय है कि सर्व सम्पन्न भगवान्, स्वयं, दिन-रात मुझसे मेरे निरन्तर मिलन के लिये प्रणय कर रहे हैं और मुझे अकेला छोड़ना नहीं चाहते ?

नाम्मालवार पुनः लिखते हैं कि भगवान् की स्वतन्त्रता पर केवल उनकी कृपा का ही बन्धन है। उन्हीं के शब्दों में : हे कृपा ! तूने भगवान् को उनकी न्यायपूर्ण इच्छा की स्वतन्त्रता से रोक रखा है। कृपापूर्ण वायु से सुरक्षित हो, भगवान अपनी इच्छा होते भी मुझसे अलग नहीं हो सकते। अगर वे ऐसा कर भी सकें तो मैं कहूंगा कि मेरी ही जीत हुई क्योंकि उन्हें कृपा देकर ही अपनी स्वतन्त्रता खरीदनी पड़ेगी।'' उक्त स्थिति का समर्थन करते हुए वे एक भक्त की नारी का उदाहरण देते हैं जिसने काँची के वरदराज के चरण पकड़ कर यह कहा था, ''भगवान् मैंने तो अब तेरे चरण मजबूती से पकड़ लिये हैं अब तुझसे हो सके तो मुझे ठुकरा दे और अपने को मुझ से दूर कर ले।''

नाम्मालवार तुवलील या निनृउकुमिक्रमे जो प्रेम का तामिल पर्यायवाची शब्द है, का प्रयोग करते हैं। जिसका तात्पर्य प्रेम के उस सतत वर्तुलाकार में घूमते भाव से है जो गहरा-गहरा छेद करता हुआ जाता है किन्तु जो कभी, न तो अवसन्न होता है और न कभी बिखर पाता है। इस प्रेम का वर्तुलाकार रूप में हृदय में छेद करना मूक प्रक्रिया है, जो वर्णनातीत है तथा उतना ही अवाच्य है। जब गाय को अपने बछड़े को दूध पिलाने की आतुरता होती है तब उसके थन दूध से भर कर टपकते हैं। इसी प्रकार भगवत्-प्रेम शाश्वत एवं निरन्तर विकासशील है।[1] यामुन ने 'भगवद् विषयम्' नामक ग्रन्थ में नाम्मालवार और निरुमंगै आलवार के प्रेम की विभिन्नता स्पष्ट की है। निरुमंगै आलवार सम्मोहक प्रेम की प्रलापी, हर्षोन्मत्त आदान-प्रदान की स्थिति में ईश्वर के साथ सतत सख्य की अभिव्यक्ति के विश्वासी थे। ये प्रेम की अनन्त गहराई में डूबे हुए थे और वे मादक पदार्थ के सेवन से उत्पन्न अचेतावस्था की तरह नशे में रहने के भय में सदा रहा करते थे। नाम्मालवार के प्रेम में भगवान् की तीव्र खोज प्रमुख बात थी। वे एकाकी भाव से अभिभूत हो अपने आप को खो बैठते थे। वे बिल्कुल मदोन्मत्त तो कभी नहीं रहते थे। अपने प्रियतम और पति के मिलन की आशा से उनकी चेतना सशक्त और मजबूत रहती थी।[2] इस अवस्था का वर्णन तिरुवाई मोरीं में इस प्रकार है :

वह रात और दिन नींद क्या है जानती ही नहीं। उसकी कमल जैसी आँखें आँसुओं में तैरती रहती हैं, वह रोती और चक्कर खाती रहती हैं। हाय ! तेरे बिना मैं कैसे इसे सहन करूँ। सारा जगत् उसके साथ सहृदय हो उच्छ्वसित होता रहता है।

---

1. द्रविड़ सन्तों का दैवी ज्ञान, पृ० 127-28।
2. देखो-भागवद् विषयम् पृ० 6, पृ० 2965 तथा दैवी ज्ञान पृ० 130-31।

ईश्वरीय प्रेम की तीन अवस्थाएँ भी बहुधा वर्णन की गई हैं, स्मृति, ध्यान और पुनः संगम। पहले का अर्थ भगवान से भूतकाल में प्राप्त उत्कृष्ट सुखों की स्मृति है। दूसरे का अर्थ ऐसी भूतपूर्व स्मृति तथा वर्तमान में उसकी अनुपस्थिति के दुःख में मूर्च्छित होना और हताश होना है। तीसरे का अर्थ ध्यानस्थ अवस्था में एकाएक सरलता का आवेश होना, जिसके उन्माद के कारण से मूर्च्छा से मृत्यु भी हो सकती है।[1]

आलवारों में तात्विक चिन्तन का विकास पाया नहीं जाता, उनमें केवल भगवान् के प्रेम का आनन्दानुभव ही था, फिर भी हम नाम्मालवार के ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप के अनुभव के वर्णन पाते हैं। वे कहते हैं, "इस विस्मयपूर्ण वस्तु का वर्णन करना अशक्य है, आत्मा, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है, जिसे भगवान् ने अपने प्रकार के रूप में मुझे दिखाने की कृपा की अर्थात् मेरा और भगवान् का सम्बन्ध उद्देश्य और विधेय जैसा द्रव्य और गुण जैसा और स्वर-व्यंजन जैसा है, आत्मा का स्वरूप ज्ञानियों को भी अगम्य है। इसे यह और वह ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, योग द्वारा भी आत्मा का साक्षात्कार इंद्रियप्रत्यक्षविषय ज्ञान जैसा नहीं हो सकता। आत्मा का दर्शन जैसाकि भगवान् ने मुझे कराया है वह शरीर इंद्रिय प्राण मन और बुद्धि इत्यादि विकारी तत्त्वों के कहीं परे है। आत्मा सबसे विलक्षण और सूक्ष्म है, इसे अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा इंद्रियगोचर पदार्थों की कोटि में नहीं आती।[2]

आत्मा को यहाँ शुद्ध सूक्ष्म तत्त्व माना है जो मल रहित है और जो अन्य विषयों की तरह जाना नहीं जा सकता। सत्ता के स्वरूप के विषय में दार्शनिक वर्णन एवं अपने मत के तार्किक या प्रमाणगत प्रश्नों की गवेषणा आलवार क्षेत्र के बाहर थी। उन्होंने तो प्रेरणा युक्त गीत गाये और बहुधा ऐसा भी मानते थे कि इन कृतियों में इनका कुछ भी हाथ नहीं है वे तो समझते थे कि भगवान् ही उनके मुख से बोल रहे हैं। ये गीत बहुधा झांझ और मादक स्वर माधुर्य के साथ गाये जाते थे यही उनकी विशिष्टता थी और इस प्रकार ये गीत दक्षिण भारत में प्रचलित तत्कालीन संगीत की रूढ़ि से सर्वथा भिन्न थे। श्री रामानुज के विशेष आदेशानुसार आलवार ग्रन्थों के संकलन के अभ्यास से तथा रामानुज स्वयं ने आलवारों से अपने मत की पुष्टि में जो प्रेरणा पाई है इससे यह पता लगता है कि आलवार विष्णु पुराण और भागवत् के अन्तर्गत आये हुए कृष्ण के चरित्र से पूर्ण परिचित थे।[1] कम से कम एक लेखांश ऐसा मिलता है जिससे यह अर्थ

---

1 भागवत् विषयम् पृ० 8, पृ० 3195 और दैवी ज्ञान, पृ० 151।

2 दैवी ज्ञान, पृ० 189, तिरुवाय मोर्री, 8, 5-8।

3 सर रा० गो० भाण्डारकर कहते हैं कि कुलशेखर आलवार ने अपने मुकुन्द माला नामक ग्रन्थ में भागवत से एक पाठ उद्धृत (11 : 2 : 36) किया है (वैष्णव, शैव और अन्य छोटे सम्प्रदाय पृ० 70) श्री एस० के० आयंगर अपने 'दक्षिण में वैष्णवों का पुरातन इतिहास' में इसका प्रतिवाद करते हैं और कहते हैं कि यह पाठ कन्नड़, ग्रन्थ और देवनागरी पुस्तक, तीनों ग्रन्थों में नहीं पाया जाता जो कि इनके देखने में आये थे (पृ० 28) वे ऐसा भी सूचन करते हैं कि इस पाठ का उद्धरण का विषय शंकास्पद है क्योंकि यह पाठ बहुत से दक्षिण ग्रन्थों के अन्त में पाया जाता

निकाला जा सकता है कि राधा (नप्पिनाई) कृष्ण की प्रियतमा थी। आलवार कृष्ण के वृन्दावन के बाल्यकाल का उल्लेख करते हैं और उनमें से अपने प्रति यशोदा या ग्वाल बाल या गोपियों के भाव रखते थे। उनके गीतों में ईश्वरीय प्रेम कभी-कभी भक्त का कृष्ण से मिलन की आतुरता में व्यक्त होता है या कभी इनमें विरह, दुःख, सन्तोष, कृष्ण से साक्षात् मिलन का आनन्द, या कृष्ण के साथियों से भावमय एकता में अभिव्यक्त होता है। भागवत (1 : 11, 12) में भी हम ऐसा पाते हैं कि तीव्र भाव से भक्त प्रेम मद में विभोर हो जाते हैं, किन्तु भक्त ने कृष्ण से सम्बन्ध रखने वाले पौराणिक व्यक्तियों से एकात्मता प्राप्त की हो और ऐसी काल्पनिक एक रसता से उत्पन्न उत्कट भावों को व्यक्त किया हो ऐसा नहीं देखने में आता। हम गोपी के कृष्ण के प्रति प्रेम को जानते हैं, किन्तु किसी ने अपने को गोपी से तादात्म्य कर विरह की वेदना व्यक्त की हो ऐसा कहीं नहीं सुना। विष्णु, भागवत एवं हरिवंश पुराणों में कृष्ण की पौराणिक प्रेम कथाओं का ही वर्णन है। किन्तु वहाँ भक्तों ने कृष्ण के प्रेमियों से काल्पनिक तादात्म्य कर भगवान का प्रेम प्राप्त किया हो ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है वहाँ केवल यही बताया गया है कि जिन्हें कृष्ण से प्रेम है, कृष्ण की प्रेम गाथा सुनकर उनका प्रेम और तीव्र हो जाता है। किन्तु यह तथ्य कि कृष्ण की पौराणिक कथा का प्रभाव भक्तों पर इतना हो जाय कि भक्त कृष्ण के प्रेमी जनों के भाव से परिपूर्ण होकर उनके ही जैसे बन जायँ, यह किसी भी धर्म के भक्ति इतिहास में एक नवीन बात ही है। सम्भवतः यह स्थिति भारत के अन्य भक्ति सम्प्रदायों में भी नहीं पायी जाती। आलवारों ही में हम सर्व प्रथम इस भाव को पाते हैं जो आगे जाकर गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्तों के जीवन और उनकी रचना और विशेषकर श्री चैतन्य के जीवन में उत्कट रूप में पहुंचा। इसका उल्लेख हम आगे जाकर इस पुस्तक के चतुर्थ ग्रन्थ में करेंगे। पौराणिक व्यक्तियों के भावों का कृष्ण के जीवन से ओत-प्रोत हो जाने का अर्थ यही है कि भक्त में उन व्यक्तियों का कृष्ण के प्रति विशेष भाव और अवस्था का ओत-प्रोत होना क्योंकि वे कल्पना से उन व्यक्तियों के तादात्म्य साध कर वे उनके भावों का अनुभव करते हैं ऐसा सोचने लगते हैं। इसी कारण से हम देखते हैं कि जब यह भाव गौड़ीय सम्प्रदाय में दृढ़ीभूत हुआ और अलंकार शास्त्र द्वारा दसवीं से चौदहवीं शताब्दी में काम-संवेग का विवेचन मान्यता को प्राप्त हुआ, तब गौड़ीय वैष्णवों ने प्रणय-भाव की उत्कर्ष अवस्थाओं के विश्लेषण को भक्ति भाव का विकास माना। हमें रूप गोस्वामी रचित 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ में इस भाव के विकास का उत्तम दृष्टान्त मिलता है। वहाँ गोपियों और राधा के पौराणिक जीवन में साधारण भक्ति का गम्भीर शृंगार भक्ति में संवेदनात्मक अनुकरण द्वारा परिवर्तित होना बताया गया है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे हम नाटकीय हाव-भाव की विवेचना संवेदनात्मक रस लेकर करते हैं। अलंकार शास्त्री ऐसा कहते हैं कि नाटक के प्रेक्षकों के संवेग नाटक को देखकर इस प्रकार उत्तेजित हो जाते हैं कि उस समय के लिये देशकाल और व्यक्तिगत अनुभूतियों का इतिहास, जो व्यक्ति का स्वरूप बनाते हैं, उनकी मर्यादाएँ टूट जाती हैं। सामान्य व्यक्तिगत भावों का तिरोहित होना और भावों का एक ही दिशा में परिप्लावित होना,

---

है जो धार्मिक कर्म का वेद मन्त्रों के उच्चारण में त्रुटि होने की आशंका के निवारणार्थ क्षमा याचना के रूप में संकलित किया जाना प्रतीत होता है।

कल्पना द्वारा, रंगमंच पर नट के उस भाव से ही तादात्म्य नहीं ला देता किन्तु उन नाटक सम्बद्ध व्यक्तियों से तादात्म्य भी कर देता है जिनके भावों की अभिव्यक्ति या अनुकृति की जा रही है। एक भक्त गाढ़ चिंतन द्वारा स्वयं के भावों की उस अवस्था की मादकता तक पहुँच सकता है कि एक छोटे, नगण्य संकेत से भी वह अपने को राधा और गोपी के काल्पनिक लोक में पहुँच कर एक अति उत्तेजित और कामुक प्रेमी के सभी भावों का अनुभव करने लगे।

ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि आलवार ही सर्व प्रथम इस प्रकार के भक्त हुए जिन्होंने भावों के ऐसे परिवर्तन का विकास किया। इसी प्रकार राजा कुलशेखर जो आलवार थे और राम भक्त थे, वे रामायण का पाठ हर्षोन्मत्त होकर सुना करते थे। सुनते-सुनते वे इतने उत्तेजित हो जाते थे कि जब राम का लंका पर आक्रमण के प्रसंग का वर्णन होता था तब वे राम की सहायता के लिये अपनी सेना को तैयार होकर कूच करने का हुक्म दे दिया करते थे।

आलवारों के भक्ति गीत कृष्ण के पौराणिक जीवन के अनेक प्रसंगों का प्रगाढ़ परिचय देते हैं। विविध भाव जो उन्हें उत्तेजित करते थे वे मुख्यत: वात्सल्य, मैत्री, सख्य, दास्य तथा दाम्पत्य भाव थे। इन भावों के द्वारा माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव, पुत्र का पिता जगत् कर्ता के प्रति आदर भाव, तथा प्रणयिनी का प्रेमी के प्रति श्रृंगार भाव मुख्य थे। कुछ आलवारों में जैसाकि हम नाम्मालवार और तिरुमंगयालवार में पाते हैं, उपरोक्त अन्तिम भाव अर्थात् श्रृंगार भाव को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इन आलवारों में पारमार्थिक अनुभव में हम भगवान के प्रति पति और प्रेमी की उत्कट अभिलाषायें पाते हैं। उनके प्रेम की इस अभिव्यक्ति में हम उन श्रृंगारी इच्छाओं के अधिकतर विकृति जन्य प्रतीकों को पाते हैं जिन्हें गौड़ीय वैष्णवों की रचना में अत्यधिक महत्त्व मिला है। गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रेयसी के शारीरिक सौंदर्य के वर्णन की अति हो गई है। आलवारों में उससे विपरीत, भगवान के अतींद्रिय सौंदर्य और शोभा, तथा भगवान् कृष्ण के लिये स्त्री भाव से उत्कट आतुरता का वर्णन है। तीव्र अभिलाषा कभी-कभी प्रेमी की पीड़ा के दयनीय विकृति जन्य चिह्नों से भी व्यक्त हुई है। कभी भगवान के पास दूत भेजा जाता है, कभी पूरी रात भगवान् की प्रतीक्षा में बितायी जाती है या कभी भगवान से सचमुच आलिंगन कर उसके उन्मादी आनन्द के भोग आदि का वर्णन मिलता है। भगवान् स्वयं भी अपने प्रेमी आलवार के सौंदर्य और लावण्य से मोहित होकर उससे प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं। इन भावों को व्यक्त करते हुए कृष्ण के कथानक में आये हुए अन्य व्यक्तियों के जीवन प्रसंगों का वर्णन किया जाता है, जिसके द्वारा आलवार प्रियतमा का प्रेम उत्कट हो जाता है। भावविह्वलता पानी के भँवर की तरह है जो अनन्त काल तक जीव में कभी वियोग के दुःख में और कभी मिलन के सुखोन्माद में व्यक्त होती है। आलवार अपने परमानन्द के अनुभव में भगवान् को सर्वत्र देखते हैं और उनकी प्राप्ति की गम्भीरता में उस आनन्द की अधिकाधिक माँग करते हैं। वे परम कोटि के उन्माद का भी अनुभव करते हैं जब वे अर्ध-चेतन या अचेतन हो जाते हैं और बीच-बीच में जागृति की स्थिति में भी आतुरता अभिव्यक्त होती है। यद्यपि भगवान् के प्रति आतुरता काम के साम्य पर वर्णित है तो भी यह उपमा इस हद तक नहीं ले जाई गई जिसमें काम के निम्न कोटि के विकारों का जान-

बूझ कर उल्लेख हो। इसलिये आलवारों का भगवत्-प्रेम मानवी प्रेम शब्दों में वर्णन होते हुए भी दिव्य है। सम्भवतः आलवार यह बताने में अगुवा रहे कि प्रकार भगवान् के प्रति प्रेम एक कोमल भाव है जो दाम्पत्य प्रेम के मदोन्मत्त आवेश को मृदुता देता है। दक्षिण का शैव सम्प्रदाय भी लगभग इसी काल में विकसित हुआ। शिव स्तोत्र भक्ति के उच्च और गम्भीर भाव से परिपूर्ण हैं जिनका मुकाबला अन्य किसी साहित्य में सम्भव नहीं है किन्तु इन स्तोत्रों में भगवान की महानता, गौरव एवं सर्वोच्च स्थिति तथा उसके प्रति आत्म संयम, ईश्वर-समर्पण भाव तथा आत्मत्याग ही मुख्य हैं। आत्म समर्पण एवं भगवान ही हमारा सब कुछ है इस भाव से उस पर अवलम्बन करना आलवारों में भी इतना ही अधिक प्रधान है किन्तु आलवारों में यह भाव आत्यन्तिक प्रेम की मृदुलता में गला हुआ है। शिव स्तोत्र भक्ति की दिव्य ज्योति से परिपूर्ण हैं किन्तु यहाँ समर्पण भाव का प्राधान्य है। माणिक्क वाचकर अपने 'तिरु वाचकम्' में शिव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :[1]

क्या मैं तेरा दास नहीं हूँ? क्या तू मुझे अपना नहीं बनायेगा, मैं प्रार्थना करता हूँ। तेरे सभी दासों ने तेरे चरणों का सान्निध्य प्राप्त किया है। क्या मैं अपने इस पापी शरीर को छोड़कर तेरे दर्शन नहीं कर सकूँगा? ओ शिवलोक के पति! मुझे भय है, मुझे नहीं सूझता कि मैं तुझे कैसे पाऊँगा। मैं सर्वथा झूँठा हूँ। मेरा हृदय भी झूँठा, वैसा ही मेरा प्रेम है। किन्तु यदि यह तेरा पापी दास रोये तो क्या वह तेरी आत्मा की अमृतमयी मृदुता को नहीं पा सकेगा? शुद्ध मधुमय आल्हाद के पति! तू कृपा करके अपने दास को सिखा जिससे वह तेरे निकट आ सके।

"मुझे तेरे चरणों में प्रीति नहीं थी। सुन्दर सुगन्धित केश वाली गौरी के अर्धांग। जिस जादुई शक्ति से पत्थर पके फल बन गये, उससे तेने मुझे अपने चरणों का प्रेमी बनाया। हे प्रभु! तेरा मृदु प्रेम अमर्यादित है। हे निर्मल अन्तरिक्ष देव। मैं कैसा भी विचलित हो जाऊँ और कैसे ही मेरे कर्म हों, तू अपने चरण कमलों का दर्शन देकर मेरी रक्षा कर।

भक्त ने भगवान के प्रेम की प्रियता का अनुभव किया है और यह भी माना है कि भगवान की कृपा से ही वह उसकी ओर आकर्षित हो सकता है और प्रेम कर सकता है :

बाजरे के दाने जैसा तू दूसरे फूलों से मधु मत चख। जब कभी हम उसका चिंतन करते हैं और उन्हें देखते हैं और उनके विषय में वार्तालाप करते हैं तब अति मृदु मधुरूप आल्हाद बहता है और हमारा शरीर उस आनन्द में गल जाता है। हे गुंजन करती मधुमक्खी! केवल उस दिव्य नर्तक के पास ही तू जा और उसके गुणों की श्वास से गुंजार कर।

आलवार और श्री वैष्णवों के बीच कुछ धार्मिक मतों का विरोध

अर्गीयस नाथ मुनि यामुन, रामानुज तथा उनके साथियों ने आलवारों के प्रेरणात्मक उपदेशों का अनुसरण किया है किन्तु कुछ मुख्य धार्मिक सिद्धान्तों के बारे

---

1 तिरुवाचकम् : पोप द्वारा अनुवादित। पृ० 77।

में उनका आलवारों से मतभेद था। ये विषय पृथक् ग्रन्थों में संगृहीत किये गये हैं जिनमें से एक स्वयं रामानुज द्वारा लिखित अष्टादश रहस्यार्थ-विवरण है, तथा दूसरी रचना का नाम 'अष्टादश भेद निर्णय' है।[1] वेंकटनाथ तथा अन्य लोगों ने भी इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से कुछ मतभेदों का वर्णन निम्नानुसार है।

भेद का प्रथम विषय 'स्वामी-कृपा' है। आलवारों की मान्यता यह है कि स्वामी-कृपा सहज है, वह किसी प्रकार के साधन या भक्त के गुण-विशेष पर निर्भर नहीं है। ईश्वर की कृपा उसका दैवी विशेषाधिकार है, अगर किसी अन्य पर आधारित रहे तो वह वहाँ तक सीमित हो जाती है। कुछ लोगों का यह मत है कि कृपा भक्त के पुण्य कर्म पर निर्भर है। अगर ऐसा न हो तो कालान्तर में हर कोई मुक्त हो जायगा और किसी को कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न आवश्यक नहीं रहेगा। अगर ऐसा माना जाए कि भगवान अपने सहज भाव से किसी पर कृपा दृष्टि करते हैं और किसी पर नहीं, तो वे पक्षपाती कहलायेंगे, इसलिए यह मानना योग्य है कि भगवान् कृपा दृष्टि करने में पूर्ण स्वतन्त्र है तो भी व्यावहारिक दृष्टि से वे कृपा पारितोषक के रूप में उन्हीं पर वितरण करते हैं जो भक्त गुणी और पुण्यशील हैं। यद्यपि भगवान् पूर्णतः कृपामय है और सबों पर बिना किसी के प्रयत्न के कृपा दिखाने में स्वतन्त्र हैं तो भी वे ऐसा नहीं करते। वे केवल भक्त पर, जब वह पुण्य कर्म करते हैं तभी कृपा करते हैं। इसलिये भगवान की कृपा निर्हेतुक एवं सहेतुक दोनों ही है।[2] बाद में कहा गया मत रामानुज तथा उनके अनुगामियों का है। यहाँ यह बताना उचित होगा कि आलवार और रामानुज पंथियों में मुख्य धार्मिक सिद्धान्तों के भेद उनके पीछे हुए अनुसंधान की खोज का परिणाम है जबकि आलवार ग्रन्थों की बहुत टीका की जाने लगी और रामानुज की स्वयं की रचनाओं में अनेक विद्वानों को सिद्धांत स्पष्ट करने के हेतु से स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी। पीछे आने वाले विद्वानों ने जब आलवार और रामानुज पंथ के ग्रन्थों की तुलना की तब वे इस निष्कर्ष पर आये कि उनके मुख्य सिद्धांतों में कुछ भेद अवश्य है। इसी प्रश्न को लेकर आलवारी तेंगलाई और वड़जलाई पंथियों के बीच तीव्र विरोध उपस्थित हो गया था। पिछले पंथ के प्रवर्तक श्री वेंकट थे। इस भेद का उल्लेख 'अष्टदश भेद निर्णय' में संक्षेप से बताया गया है। धर्म के मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा रामानुज ने अपने 'अष्टांग रहस्यार्थ विवरण' में की है। भगवान् को प्राप्त करने का मुख्य साधन शरणागति या 'प्रपत्ति' है। प्रपत्ति का अर्थ भगवान में आराधनरत मन की स्थिति से है और वह इस आस्था के साथ कि केवल भगवान् ही हमारा रक्षक है, प्रपत्ति में भगवान् ही केवल हमारा रक्षक है इस निश्चय से मन का भगवान के प्रति आर्तभाव और उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये शरणागति के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है यह मान्यता है।[3] भक्त का पूर्णतः नारायण पर विश्वास है, वह अन्य किसी की

---

1 ये दोनों हस्तलिखित ही हैं।

2 कृपा-स्वरूपतो निर्हेतुकः रक्षण समये चेतना-कृत-सहेतुको भूत्वा रक्षति।

—अष्टादश भेद निर्णय, हस्त० पृ० 2।

3 अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महा-विश्वास पूर्वकम्।
तद् एकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।

—अष्टांगरहस्यार्थविवरण, पृ० 3।

प्रार्थना नहीं करता, तथा उसकी प्रार्थना अन्य किसी हेतु से न होकर केवल गहन प्रेम से प्रेरित है। प्रपत्ति के गुण में कट्टर रिपु के प्रति भी सर्व साधारण की ओर जैसी दया, सहानुभूति और मैत्री का समावेश होता है। इसे 'निर्भरत्व' कहा है [1]ऐसा भक्त यह अनुभव करता है कि स्वामी ही उसकी आत्मा का स्वरूप है इसलिये किसी भी परिस्थिति में वही एक आधार है।[2] भक्त का यह मानना कि हमारे उच्च हेतु तक पहुँचने के लिये शास्त्रोक्त कर्म सहायक नहीं है इसे 'उपाय शून्यता' कहा है अर्थात् अन्य उपायों की निरर्थकता। भक्त अपने पर आने वाली आपत्तियों पर हंसता रहता है। अपने को भगवान का दास मानकर, वह भगवान के ही मनुष्य जो कोई भी दु:ख डालते हैं उन्हें खुशी के साथ सहन करता है, इसे 'पारतंत्र्य' कहते हैं। भक्त यह सोचता है कि आत्मा ज्ञानमय है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इसलिये वह भगवान के लिये ही जीता है और उसके अधीन है।[3] वैष्णव बहुधा एकान्तिम् कहे गये हैं और गलती से उन्हें एकेश्वरवादी कहा गया है। किन्तु एकान्तित्व—विशेष लक्षणपूर्ण शरणागति का भाव और भगवान् में बिना हिचकिचाये अवलम्बन ग्रहण करने से है, जो भगवान् में सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों के समय में भी पूर्ण विश्वास रखता है। भक्त का हृदय भगवान् की उपस्थिति से हर्षपूर्ण हो जाता है, भगवान् उसकी इन्द्रियाँ, इच्छा भाव एवं अनुभव को चेतना देते हैं। जिस पूर्णता से भक्त भगवान् का अपने सारे व्यवहार, विचार और विश्व के समस्त पदार्थों में अनुभव करता है वह भाव उसे उस लोक में ले जाता है जहाँ सांसारिक भावनाएँ—वैर, तृष्णा, ईर्ष्या, धिक्कार आदि सब निस्सार हो जाते हैं। भगवान् की उपस्थिति में भक्त संसार के समस्त जीवों की ओर दया और मैत्री भाव से भर जाता है।[4] भक्त को आचार्य से दीक्षा लेनी पड़ती नहीं है, जिसके सामने उसे अपने की सब बातें कह देनी चाहिए और अपना सब कुछ गुरु को अर्पण कर देना चाहिये, तभी वह अपने को विष्णु का दास मान सकता है।[5] उसे

रामानुज 'गद्यत्रयम्' ग्रन्थ में कहते हैं कि मन की ऐसी याचना अपने पाप, त्रुटियों एवं अपराध को स्वीकारने पर भी रहती है, भक्त यह समझता है कि वह भगवान् का निराधार दास है और वह उसकी कृपा से तरने का बहुत उत्सुक है, देखो शरणागति गद्यम्, गद्यत्रयम् में पृ० 52—54।

1 यह 'प्रपत्ति नैष्ठिकम्' शब्द से जाना गया है (अष्टांग रहस्यार्थ विवरण, पृ० 3-7) इसके उपरोक्त खण्ड की बन्दर और कपोत की कहानी से तुलना करो।

2 यहाँ स्वामी शब्द को जबरदस्ती इस अर्थ में लिया गया है स्वम् अपना स्वयं का।

3 ज्ञानमयो हि आत्मा शेषो हि परमात्मन: इति ज्ञानानन्दमयो ज्ञानन्दगुणक: सन् स्वरूपं भगवदाधीनं स तदर्थमेव तिष्ठतीति ज्ञात्वाऽवतिष्ठते इति यद् एतद् तद् अप्राकृतत्वम्।

—अष्टांग रहस्य विवरण, पृ० 11

4 इस गुण को नित्य रंगित्व कहा है।

5 परमैकान्तिन् को जो पाँच संस्कार करने होते हैं वे ये हैं—

ताप: पौण्ड्स् तथा नाम मंत्रो यागश्च पंचम:
अमी ते पंच संस्कारा: परमैकान्ति-हेतव:।

—वही, पृ० 15।

तात्त्विक दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि जीव और जगत् विष्णु के अधीन हैं।[1] उसे यह तात्त्विक ज्ञान होना चाहिये कि जीव और जगत् सर्वथा भगवान् पर आश्रित हैं, ऐसी मान्यता का अर्थ यह होता है कि भगवान् हमारी इन्द्रियों के व्यापार में उपस्थित हैं, जिससे इन्द्रियाँ पूरे नियन्त्रण में आ सकती हैं। इन व्यापारों में भी भगवान् की उपस्थिति है इस अनुभव से भक्त नैतिक वीर बनकर इन्द्रियों के प्रलोभनों से दूर हो जाता है।[2] वेद और शास्त्रोक्त धर्म निम्न स्तर के लोगों के लिए हैं : जिन्होंने अपने को भगवान् में पूर्ण समर्पण कर दिया है उन्हें वे साधारण धर्म जो प्रत्येक को पालन करने पड़ते हैं, पालना आवश्यक नहीं होता। ऐसे लोग भगवान् की सहज कृपा से मुक्त हो जाते हैं और शास्त्रोक्त धर्म पालन न करने पर भी उन सबके फलों को पाते हैं।[3] उसे सर्वदा अपनी त्रुटियों का भान रहता है पर दूसरों के दोष नही देखता। वह उनके साथ लगभग अंधे जैसा व्यवहार करता है। वह तो इसी विचार में मस्त रहता है कि उसके सारे कर्म भगवान् के अधीन हैं। उसके लिए कोई भी भोग नहीं है क्योंकि वह अनुभव करता है कि भगवान् ही इंद्रियों द्वारा सारे भोग भोगता है।[4]

'अष्टांग भेद निर्णय' में कहा है कि आलवारों के मतानुसार मुक्ति में भगवान्

---

1 इसे सम्बन्ध ज्ञानित्वम् कहा है। सब कुछ ईश्वर के लिए है इसे शेष भूतत्वम् कहा है। वही, 18। इससे यही अर्थ प्रगट होता है कि भक्त भगवान् का दास है, वह उसके प्रियजनों के लिए ही जीवन जिए, जीव और जगत् भगवान् में अंश रूप से आश्रित हैं और उससे सभी प्रकार से संचालित हैं, वह तात्त्विक विचार से मानव मात्र की सेवा एवं भगवत् सेवा सहज ही अनुमति होती है, इसे शेष-वृत्तिपरत्व कहा है।
—वही, पृ० 19-20।

2 इसे नित्यशूरत्व कहा है।

3 ज्ञान निष्ठो विरक्तो वा मद् भक्तो ह्यनपेक्षकः
सलिंगान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेत् अविधिगोचरः।
इत्येवम् ईषण-त्रय-विनिर्मुक्तः सन् भगवन्निर्हेतुक कटाक्ष एव मोक्षोपायः इति तिष्ठति खलु सोऽधिकारी सकल धर्माणाम् अवश्यो भवति अष्टादश रहस्यार्थ विवरण पृ० 23। शास्त्रोक्त धर्म त्याग कर भगवान् की भक्ति को 'अविधि गोचर कहा' है। इस ग्रन्थ के अन्य खण्ड में रामानुज मोक्ष का इस प्रकार वर्णन करते हैं। मोक्ष यह निश्चय है कि ज्ञान, आनन्द और शक्ति में भगवान् इस लोक और परलोक के समस्त पदार्थों से अतीत हैं। मुक्ति के लिए भगवान् की शरण लेना मुमुक्षुत्व कहा है। रामानुज का अविधि गोचर सम्बन्धी विचार रामानुज द्वारा भाष्य में इसी विषय पर उनके अनुयायियों की व्याख्या से विरोध पैदा करता है। हो सकता है उनके विचारों में परिवर्तन हुआ हो। यहाँ पर दिए विचार उस समय के हैं, जब वे आलवारों से प्रभावित थे।

4 इसे पराकाष्ठत्व कहा है (वही 23-24) मूर्ति को भगवान् की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है ऐसा मानकर पूजा करना उपाय स्वरूप ज्ञान कहा है। सांसारिक पदार्थों से विरक्ति और भगवत्प्रेम से परिप्लावित हो जाना है और भगवान ही जीवन का श्रेष्ठ विश्राम है इसे आत्मारामत्व कहा है।

अपनी खोई हुई वस्तु (आत्मा) पाते हैं, या मुक्ति भगवान् की असीम दासता है इसलिए मुक्ति भगवान् के लिए अर्थ रखती है भक्त के लिए नहीं। दास की सेवा केवल भगवान् की दासता के लिए है। इसलिए भक्त का यहाँ कोई स्वार्थ नहीं है।[1] आर्गीयसों के मतानुसार, यद्यपि मुक्ति मुख्यतः भगवान के लिए ही है तो भी वह साथ ही साथ भक्तार्थ भी है, क्योंकि भक्त भगवान् का दास बनकर अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है। स्वामी अपनी खोई हुई वस्तु वापस पा जाते हैं यह दृष्टांत ठीक नहीं बैठता क्योंकि मनुष्य ज्ञानमय है और भगवान् का दास बनने के अनुभव से उसके दुःख दूर हो जाते हैं। यद्यपि भक्त समर्पण भाव से अपने कर्मों के फलों को, त्याग देता है तो भी वह भगवान् की दासता पाकर सुखी है और साथ ही साथ ब्रह्मानुभूति के आनन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार उपासक (ज्ञान मार्गी) ब्रह्मज्ञान एवं भगवान् की दासता को पाते हैं और जो प्रपत्ति मार्ग को धारण करते हैं वे भी ब्रह्मज्ञान और भगवान् की दासता को पाते हैं। मुक्तावस्था की स्थिति में, भगवत् प्राप्ति के भिन्न मार्गों को अपनाने से कोई अन्तर नहीं आता।[2] पुनः आलवार मत के शास्त्रोक्त चार मार्गों, धर्म पालन, तात्त्विक ज्ञान, भगवत् भक्ति और गुरु भक्ति के अतिरिक्त पांचवां मार्ग 'प्रपत्ति' है। किन्तु आर्गीयस ऐसा सोचते हैं कि 'प्रपत्ति' के सिवाय दूसरा मार्ग भगवत्-प्राप्ति का है और वह भक्तियोग है। रामानुज और उनके अनुयायी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान और कर्म योग अतः शुद्धि ही करते हैं जो भक्ति योग की प्रारम्भिक भूमिका है। गुरु भक्ति को प्रपत्ति का एक प्रकार माना है, इस प्रकार भगवत्-प्राप्ति के दो ही प्रकार हुए, भक्तियोग और प्रपत्ति।[3]

आगे, श्री वैष्णवों में 'श्री' का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु श्री वैष्णव सम्प्रदाय में तीन ही तत्त्वों को माना है इसलिए प्रश्न यह उठता है कि चित्, अचित् और परमेश्वर में 'श्री' का क्या स्थान है। इस विषय पर पुराने सम्प्रदाय के प्रतिनिधि रम्य जामातृ मुनि के 'तत्त्वदीप' ग्रन्थ के आधार पर जीव को ही श्री कहा गया है इसलिए उसका स्वरूप अणु है।[4] अन्य लोगों का कहना है कि 'श्री' सर्वव्यापी विष्णु ही है। भगवान् के प्रति वात्सल्य भाव का अर्थ, पुराने मतवादियों ने यह लगाया है कि

---

[1] फलं मोक्षरूपं तद् भगवत एव न स्वार्थम् यथा प्रणष्ट-दृष्ट-द्रव्यलाभो द्रव्यवन् एव न द्रव्यस्य, तथा मोक्ष फलं च स्वामिन एव न मुक्तस्य, यद् वा फलं कैंकर्य तत् परार्थमेव न स्वार्थम्, परतंत्र दशाकृतं कैंकर्य स्वतंत्र-स्वाम्यर्थमेव।

—अष्टांग भेद निर्णय, पृ० 2।

[2] वही, पृ० 3।

[3] अतः प्रपत्ति-व्यतिरिक्तो भक्तियोग एक एवेति। —वही, पृ० 4।

[4] वही, दूसरे खण्ड में ऐसा कहा है कि कुछ लोगों के मतानुसार श्री नहीं किन्तु नारायण ही हमारे पाप दूर करते हैं, किन्तु दूसरे यह मानते हैं कि श्री द्वारा भी दूरस्थ रूप में पाप नष्ट किए जा सकते हैं या श्री ही विष्णु है, इसलिए ऐसा हो सकता है। पुष्प में सुगन्ध की तरह से श्री का विष्णु से संग होने से वह भी पाप दूर करने में सहायक है। —वही, पृ० 5।

लक्ष्म्या उपायत्वं भगवत इव साक्षात् अभ्युपगन्तव्यम्। वही।

प्रेमी-भक्त के दोष भी भगवान् को प्यारे हैं।[1] पिछले मतवादी वात्सल्य के अर्थ में भक्त के दोषों की ओर उदासीनता या उनकी ओर अंधा होना माना है। पुराने संप्रदाय वादियों ने भगवान् की दया को, भगवान् का दूसरों के दुःख देख स्वयं दुःखी होना कहा है। पिछले सम्प्रदायवादी इसका अर्थ भगवान की क्रियाशील सहानुभूति से करते हैं, अर्थात् भगवान् दूसरों के दुःख न देख सकने से उन्हें मिटाने की इच्छा करते हैं।[2]

प्रपति जिसे न्यास भी कहते हैं, पुराने सम्प्रदाय वालों ने भगवान् की उसे खोजने वालों के प्रति निश्चेष्टता संज्ञा दी है या उसका तात्पर्य चित्त की उस अवस्था से है जिसमें भक्त अपने को केवल जीव ही समझता है परन्तु इस ज्ञान में कोई भी अहंकार जैसी जटिल भावना जिससे व्यक्तिगत सत्ता उभरती है जागृत नहीं होती है। इसका अर्थ उस मानसिक अवस्था से भी हो सकता है जिसमें भक्त अपने को भगवान् जो हमारा अन्तिम ध्येय है उसका सहायक मानता है और शास्त्रोक्त कर्म के बन्धन का भार एक तरफ रखकर भगवान् पर ही अवलम्बन करता है।[3] या अपने परम हित में एक ध्यान हो जाता है और इस अनुभव से हर्ष पूर्ण होता है कि भगवान् ही उसके जीवन का एक अर्थ है। सहज ही ऐसा व्यक्ति बिना स्व विरोध के शास्त्रोक्त धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता जिस प्रकार एक अपराधी पत्नी अपने पति के पास वापस जाकर निश्चेष्ट हो अपने पति पर समर्पण कर देती है और अपने को उस पर छोड़ देती है, ठीक उसी प्रकार एक अधिकांक्षी भगवान् की तुलना में अपनी सही स्थिति जानते हुए भगवान् के प्रति समर्पण भाव में स्थित रहता है।[4] अन्य ऐसा सोचते हैं कि प्रपत्ति के पांच अंग है: (1) भगवान् ही केवल एक रक्षक है (2) वही हमारा ध्येय है

---

1 यथा कामुकः कामिन्या मालिन्यम् भोग्यतया स्वीकारोति तथा भगवान् आश्रित दोषं स्वीकारोति, इतरे तु वात्सल्यं नाम दोषादर्शित्वम्।

—अष्टांग भेद निर्णय, पृ० 6।

आगे यह भी कहा है कि अगर भक्त प्रपत्ति-मार्ग ग्रहण करता है तो उसे औरों की तरह अपने दोषों के लिए उतना दुःख नहीं उठाना पड़ता।

2 विकल्प का पहला अर्थ 'पर दुःख दुःखित्वम् दया' है। दूसरा अर्थ स्वार्थ निरपेक्ष-'पर दुःख-सहिष्णुता दया' है। 'सच ता न्निराकरणेच्छा'। पहले विकल्प के अनुसार दुःख पीड़ा करता है दूसरे में प्रतिकूलता से उत्तेजित होकर दया करने की इच्छा है जो भाव और संकल्प के बीच की अवस्था है। —वही, पृ० 6।

3 प्रपत्तिर्नाम अनिवारणमात्रम् अचिद्-व्यावृत्तिमात्रम् वा अविधेयं शेषत्व-ज्ञानमात्रम् वा पराशेषतैकरतिरूप परि शुद्ध या थात्म्यज्ञानमात्रम् वा। —वही, पृ० 6।

कुछ लोगों के अनुसार कोई उपरोक्त परिभाषा प्रपत्ति हो सकती है।

अतो प्रतिषेधा द्यन्य तमैव इति केचित् कथयन्ति। —वही।

4 अत्यंत पर तंत्रस्य विरोधत्वेन अनुष्ठानानुपपत्तेः, प्रत्युत अनुष्ठातुरानर्थ-क्यमुक्तम् श्री वचनभूषण, चिरम् अन्य परया भार्यया कदाचित् भर्तृ सकाशं आगत्य माम् अंगीकुरु इति वाक्यवत् चेतनकृतप्रपत्तिरिति। —वही, पृ० 6।

(3) हमारी इच्छाओं का वही श्रेष्ठ विषय है (4) हम अपने को उस पर समर्पण कर छोड़ दें[1] और (5) भगवान पर पूर्ण विश्वास सहित उच्च प्रार्थना-भावना।

कुछ लोग प्रपन्न उसे कहते हैं जिसने आलवार लिखित प्रबन्धों को पढ़ा है। (अधीत प्रबंधः प्रपन्नः) कुछ ऐसा भी सोचते हैं कि केवल प्रबन्ध पढ़ने से प्रपत्ति नहीं आती न उसे प्रपन्न कहा जा सकता है। वे ऐसा सोचते हैं कि प्रपन्न वही है जो कर्म, ज्ञान और भक्तियोग के लम्बे मार्गों को नहीं अपनाता इसलिए इन मार्गों को महत्त्व नहीं देता। पुनः पुराने सम्प्रदाय वाले ऐसा मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति का मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म और आश्रय धर्म को त्याग देना चाहिए क्योंकि गीता इस बात का समर्थन करती है। प्रपन्न को सब धर्मों का त्याग करके भगवान की ही शरण लेनी चाहिए। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि जिसने प्रपत्ति मार्ग ग्रहण किया है उसे शास्त्रोक्त धर्म पालना चाहिए। पुनः पुराने मतावलम्बी ऐसा सोचते हैं कि ज्ञान मार्ग प्रपत्ति का विरोधी है, क्योंकि प्रपत्ति में ज्ञान का निषेध है, प्रपत्ति में केवल भगवान में समर्पण भाव को माना है। धर्म और ज्ञान मार्ग में अहंकार होता है जो प्रपत्ति का विरोधी है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि भगवान में क्रियात्मक समर्पण के भाव में भी अहंकार की मात्रा है इसलिए यह सोचना गलत है कि अहंकार के होने से ज्ञान और धर्म मार्ग का प्रपत्ति से समन्वय हो सकता है। इस प्रकार तथाकथित अहंकार से हम केवल अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हैं, न कि अहंकार को जो एक विकार है।[2] पुनः कुछ ऐसा भी सोचते हैं कि जिन्होंने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उन्हें भी शास्त्रोक्त धर्म का पालन इसलिए करना चाहिए ताकि सामान्य एवं अपढ़ लोग शास्त्रोक्त कर्म की अवहेलना करने की आड़ न ले सकें अर्थात् प्रपत्ति मार्ग वालों को भी लोक–संग्रह के लिए शास्त्र धर्म का पालन करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि शास्त्र धर्म भगवान का आदेश होने के कारण भगवान को प्रसन्न रखने के लिए प्रपत्ति मार्ग को अपनाने वालों को भी मानने चाहिए (भगवत् प्रीत्यर्थम्) नहीं तो वे इसके लिए दोषी रहेंगे।

प्रपत्ति के सहायक तत्व इस प्रकार हैं (1) भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प (आनुकूल्यस्य संकल्पः) (2) भगवान की इच्छा के प्रतिकूल कुछ न करने का संकल्प

---

1 दूसरे विकल्प में इसे इस प्रकार बताया है "अनन्य-साध्ये स्वाभीष्टे महा विश्वास पूर्वकम् तद् एकोऽपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।" प्रपत्ति के ये पांच अंग हैं जो निक्षेप, त्याग, न्यास या शरणागति नाम से जाने गए हैं (अष्टांग भेद पृ० 6, 7) पहले और दूसरे विकल्प में भेद यह है कि पहले के अनुसार प्रपत्ति एक मानसिक अवस्था है जो भगवान् के साथ हमारे सम्बन्ध के ज्ञान तक सीमित है, और भगवान् की दृष्टि से भक्तों का भगवान की ओर इकट्ठा होने पर, भगवान का उन्हें निश्चेष्ट स्वीकारना मात्र है (अनिवारण मात्रम्)। दूसरे विकल्प में प्रपत्ति भक्त का भगवान में निश्चेष्ट समर्पण है और भगवान का उन्हें निरुपाधिक रक्षण करना है। इसलिए पहले मतानुसार जीवन स्वरूप के सच्चे ज्ञान की त्रिविध परिभाषा की है जिसमें से कोई भी एक प्रपत्ति कही जा सकती है। पहली परिभाषा में ज्ञान का अंश और दूसरी में ज्ञान के उपरान्त इच्छा के अंश का समावेश होता है।

2 वहीं, पृ० 8, 9।

(प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्) (3) पूर्ण विश्वास कि भगवान हमारी रक्षा करेंगे (क्षिष्यतीति विश्वासः) (4) रक्षक के रूप में उससे प्रार्थना (गोप्तृत्व वरणम्) (5) पूर्ण आत्म समर्पण (आत्म निक्षेप) (6) अपने प्रति दीन एवं असहाय भाव (कार्पण्यम्)। पुराने सम्प्रदाय वाले सोचते हैं कि जो प्रपत्ति मार्ग ग्रहण करता है उसे पूर्ति करने के लिए कोई इच्छा नहीं रहती, इसलिए वह ऊपर कहे सहायक तत्त्वों में अपनी रुचि के अनुसार किसी भी एक को ग्रहण कर सकता है। कोई ऐसा भी सोचते हैं कि जिसने प्रपत्ति-मार्ग अपना लिया है वह भी इच्छा से नितान्त मुक्त नहीं है क्योंकि वह भगवान का दास बनने की इच्छा तो रखता ही है। यद्यपि वह अन्य किसी प्रकार की इच्छा पूर्ति नहीं चाहता, किन्तु उपरोक्त छः सहायक तत्त्वों का पालन उसके लिए भी अनिवार्य है।

सम्प्रदाय के पुराने लोग सोचते हैं कि भगवान ही मुक्ति का एक कारण है, प्रपत्ति नहीं। बाद के सम्प्रदाय के लोग भी सोचते हैं प्रपत्ति मुक्ति का गौण कारण है क्योंकि प्रपत्ति द्वारा ही भगवान का कृपा कटाक्ष भक्तों को सुलभ होता है।[1] पुनः सम्प्रदाय के पुराने लोग कहते हैं कि प्रपत्ति मार्ग वालों के लिए प्रायश्चित आवश्यक नहीं है क्योंकि भगवान की कृपा समस्त पाप कर्म का निवारण कर देती है। बाद के लोगों का यह कहना है कि अगर प्रपत्ति मार्गी प्रायश्चित करने के लिए शारीरिक क्षमता रखता हो तो उसके लिए प्रायश्चित करना अनिवार्य है। पुराने मतवादियों के अनुसार यदि कोई म्लेच्छ भी आठ प्रकार की भक्ति से सम्पन्न है, वह एक ब्राह्मण से अच्छा है और उसका सम्मान करना चाहिए। परवर्तियों का यह मत है कि निम्न जाति के भक्त को योग्य ज्ञान देना चाहिए किन्तु वह ब्राह्मण की बराबरी नहीं कर सकता। अणु रूप जीव का भगवान् द्वारा व्याप्त होने के विषय में पुराने लोगों का यह विचार है कि भगवान अपनी शक्ति द्वारा जीव में प्रवेश कर सकते हैं। परवर्ती ऐसा कहते हैं कि इस प्रकार की व्याप्ति केवल बाह्य है। भगवान के लिए जीव में प्रवेश करना अशक्य है।[2] कैवल्य के विषय में पुराने लोग कहते हैं कि वह स्वस्वरूप का ज्ञान है जो इस कक्षा पर पहुँच जाता है उसे वहाँ नित्यता और अमरता की परमावस्था प्राप्त हो जाती है। परवर्ती कहते हैं जिसे स्वस्वरूप की पहचान है उसे इस साधन से अमरत्व नहीं मिलता क्योंकि स्वस्वरूप का अर्थ यह नहीं है कि उसे भगवान् के सम्बन्ध में अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसे यही अनुभव होगा कि वह उच्च लोक में गतिमान है तथा, अन्त में भगवान् के धाम वैकुण्ठ में पहुँच जाएगा वहाँ उसे भगवान का दास स्वीकार कर लिया जाएगा। इस स्थिति को नित्य माना जा सकता है।[3]

1 अष्टांग भेद निर्णय, पृ० 10।

2 अष्टांग भेद निर्णय, पृ० 12। इस मत का समर्थन वरदाचार्य की 'अधिकरण चिन्तामणि' ने किया है।

3 विवाद के 18 विषय जो यहाँ समझाए गए हैं उनका संग्रह पुराने लोगों के मतानुसार 'अष्टांग भेद निर्णय' में निम्न किया गया है।

भेदाः स्वामी कृपा, फलान्य गतिषु श्री व्याप्त्युपायत्वयोः
तद् वात्सल्य दया निरुक्ति वचसोर्न्यासे चतत् कर्त्तरि।
धर्म त्याग विरोधयोर स्वविहिते न्यासांग-हेतुत्वयोः
प्रायश्चित विधौ तदीय भजनेऽनुव्याप्ति-कैवल्ययोः ।। —वही, पृ० 1।

अध्याय 18

विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सर्वेक्षण

अर्गीयस्, नाथमुनि से लेकर रामानुज तक

ए० गोविन्दाचार्य ने अनेक पुरानी पुस्तकों के आधार पर 'अजह्लारों का पवित्र जीवन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है।[1] आलवारों की रचनाएँ सामान्यतः तीन रहस्यों में बाँटी जा सकती हैं जो तिरुमंत्र चुरुवकु, द्वय चुरूवकु और चरम श्लोक चुरुवकु है। इन तीनों रहस्यों पर उत्तरकाल में वेंकटनाथ, राघवाचार्य आदि विख्यात व्यक्तियों ने लिखा है। इन उत्तरकालीन लेखकों के अनुसार इन रहस्यों का संक्षिप्त वर्णन यथा स्थान दिया जाएगा क्योंकि इस ग्रन्थ की क्षेत्र-मर्यादा में आलवारों का जीवन विस्तृत रूप से देना अशक्य है। सन्त चरित लेखक, आलवार और अर्गीयसों में यह भेद करते हैं कि आलवार ईश्वर-प्रेरित थे और अर्गीयसों की ईश्वरीय प्रेरणा विद्वत्ता एवं पांडित्य से प्रभावित थी। अर्गीयसों के नाम नाथमुनि से प्रारम्भ होते हैं। इनका समय निश्चित करने में कुछ कठिनाई आती है। 'गुरु परम्परा', 'दिव्य सूरि चरित' और 'प्रपन्नामृत' का मत है कि नाथमुनि नाम्मालवार जो शठकोप या करिमारन कहलाते थे उनके या शायद उनके शिष्य मधुर का वियार्रवार के प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे। इस प्रकार 'प्रपन्नामृत' का कहना है कि नाथ मुनि का जन्म व चोल देश के वीर नारायण गांव में हुआ था। उनके पिता का नाम ईश्वर भट्ट था तथा उनके पुत्र ईश्वर मुनि थे।[2] वे लम्बी यात्रा पर गये जिसमें उन्होंने मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार और बंगाल और पुरी इत्यादि उत्तर देशों का तीर्थ किया। घर पर वापस आकर

---

1 (1) 'दिव्य सूरि चरित' (प्रपन्नामृत से पुराना ग्रन्थ जिसमें प्रपन्नामृत का उल्लेख है) गुरुड वाहन पंडित कृत, जो रामानुज के समकालीन एवं उनके शिष्य थे। (2) 'प्रपन्नामृत', अनन्त सूरी कृत जो शैल रंगेश गुरु के शिष्य थे। (3) 'प्रबंध सार' वेंकटनाथ कृत (4) 'उपदेश रत्नमालै' रम्यजामातृ' महामुनि कृत, जो वरवर मुनि या परिय जीयार वा मणवाल मामुनि नाम से भी जाने जाते थे। (5) 'गुरु परम्परा प्रभावम्' पिम्ब अर्रगीय पेरुमाल जीयार कृत और (6) पजहनडै विलक्कन्।

2 ऐसा कहा जाता है कि वे शठकोप या शठ मर्षण के कुल में हुए थे। उनका दूसरा नाम श्री रंगनाथ था।

—चतुश्लोकी का परिचय देखो—आनन्द प्रेस, मद्रास, पृ० 3।

उन्होंने यह पाया कि कुछ श्री वैष्णव, जो राजगोपाल मन्दिर में पश्चिम से आये थे वे कॉरिमार्रनक रचे 10 पद गाते थे। नाथमुनि ने उन्हें सुना और यह सोचा कि वे कोई बृहत् ग्रन्थ के अंश हैं इसलिए उन्होंने उनका संग्रह करने का विचार किया। वे कुम्भ को गए और भगवान की प्रेरणा से ताम्रपर्णी के तट पर कुरका की ओर बढ़ गए जहाँ नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवियार्रवार से भेंट हुई और उनसे पूछा कि नाम्मालवार रचित श्लोक उपलब्ध हैं या नहीं: मधुर कवियार्रवार ने उनसे कहा कि गीतों का एक बृहत् ग्रंथ लिखकर और उन्हें उसका पाठ कराके नाम्मालवार ने मुक्ति पाली। इसलिए यह ग्रन्थ लोगों के जानने में आया। आसपास के लोगों को यह गलतफहमी थी कि इस ग्रंथ का अभ्यास वेदधर्म-विरुद्ध है। इसलिए उन्होंने उसे ताम्रपर्णी में फेंक दिया। इस ग्रन्थ का एक ही पन्ना जिसमें दस श्लोक थे एक आदमी के हाथ लगा। उसने उसे सराह कर गाया। इस प्रकार केवल दस गीत ही बच पाए। नाममुनि ने नाम्मालवार की आराधना में मधुर कवि चार्रवार रचित एक पद का 12 हजार बार पाठ किया जिसके फलस्वरूप नाम्मालवार ने पूरे ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकट कर दिया। जब नाथमुनि सारे ग्रन्थ को जानना चाहते थे तब उन्हें एक कारीगर के पास जाने को कहा गया जो समस्त पदों को प्रकट करने के लिए नाम्मालवार से प्रेरित हुआ था। इस प्रकार नाथमुनि ने उस कारीगर से नाम्मालवार रचित पूरा ग्रन्थ पा लिया। उन्होंने फिर अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को दिया, पुण्रीकाक्ष ने उसे अपने शिष्य राम मिश्र को दिया, राम मिश्र ने यामुन को, यामुन ने गोष्ठीपूर्ण को, गोष्ठीपूर्ण ने अपनी पुत्री देविका श्री को दिया। नाथमुनि ने इन पदों का संग्रह किया और अपने दो भजीजे, मेलैयागत्तालवार और किलेयगत्तालवार की सहायता से, उसे वैदिक पद्धति से संगीत का रूप दिया। इसके बाद ये पद मन्दिरों में गाए जाने लगे और इन्हें तमिल वेद के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।[1] किन्तु प्राचीनतम गुरु परम्परा और 'दिव्य सूरि चरित' कहते हैं कि नाथमुनि ने नाम्मालवार का ग्रंथ उनसे साक्षात् पाया। उत्तरकालीन श्री वैष्णवों के मत में आलवारों की प्राचीनता के साथ इस कथन का मेल नहीं बैठता और उन्होंने यह माना कि मधुर कवियार्रवार नाम्मालवार के साक्षात् शिष्य नहीं थे और नाथमुनि 300 साल तक जीते रहे। किन्तु पहले हमने जैसा पाया है, यदि नाम्मालवार का समय नवमी शताब्दी रखा जाय तो उपरोक्त मान्यता की स्वीकृति आवश्यक नहीं हैं। गोपीनाथ राउ भी दसवीं शताब्दी के मध्य भाग के एक संस्कृत शिलालेख का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार उक्त पदों का रचयिता, श्रीनाथ का शिष्य था। अगर यह श्रीनाथ और नाथमुनि एक ही व्यक्ति हैं तो नाथमुनि का समय दसवीं शताब्दी में मानना सही है। उनके 11 शिष्य थे जिनमें पुण्डरीकाक्ष, करुकानाथ और श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे। उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे, न्याय तत्त्व, पुरुष निण्णय और योग-रहस्य।[2] नाथमुनि को एक

---

1 प्रपन्नामृत अध्याय 106 और 107।

2 वेंकटनाथ न्याय तत्त्व का न्याय परिशुद्धि में उल्लेख करते हैं (पृ० 13) जिसमें गौतम के न्याय सूत्रों की टीका और खंडन किया है। भगवान् नाथमुनिभिर्न्याय तत्त्व समाह्वया अवधीर्याक्षिपादादीन् न्यबंधि न्याय पद्धतिः।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० 12।

महान् योगी भी बताया है वे अष्टांग योग द्वारा योग साधना करते थे।[1] प्रपन्नामृत का कहना है कि उन्होंने आगंग नगर में (सम्भवत: गंगेरकोन्दुषोडपुरम्) में योग समाधि ली। गोपीनाथ का कहना है कि उनकी इस नगर में मृत्यु नहीं हो सकती क्योंकि राजेन्द्र चोल ने जो गंगेकोण्ड सौल भी कहलाते थे, इस नगर को 1024 के पहले नहीं बसाया था जो नाथमुनि के समय के बाद होना चाहिए। नाथमुनि सम्भवतः परान्तक चोल प्रथम के राज्य में रहे होंगे और सम्भवतः परान्तक चोल द्वितीय के राज्य के पहले, या उनके राज्य में उनकी मृत्यु हुई होगी अर्थात् वे मध्य दसवीं शताब्दी के 70 या 80 तक रहे होंगे। उन्होंने उत्तर भारत की लम्बी यात्रा की, मथुरा, वृन्दावन, द्वारका और पुरी के तीर्थ किए। नाथमुनि के शिष्य श्रीकृष्ण लक्ष्मीनाथ ने प्रपत्ति के सिद्धांत पर एक बृहत् ग्रंथ लिखा है। वे कृष्णमंगल नामक स्थान में जन्मे थे। वे वेद में निपुण और वेदान्त के विशेषज्ञ थे और वे अच्छे भक्त थे जो सतत विष्णु नाम का संकीर्त्तन करते रहते थे। (विष्णु नाम संकीर्त्तन रत:)। वे बहुधा नग्न रहते थे और अपने ऊपर फेंके हुए अन्न पर जीवित रहते थे। सन्त चरित लेखकों का कहना है कि वे मन्दिर की मूर्ति में प्रविष्ट हुए और भगवान् से एकाकार हो गए। पुण्डरीकाक्ष उय्य कोण्डार ने कुरुकानाथ के चरित्र पर महान् प्रभाव डाला जो ऐसा माना जाता है वे अन्त में योग समाधि लेकर मर गए। राम मिश्र सोगन्ध कुल्य नामक नगर में एक ब्राह्मण कुल में जन्मे थे और वे पुण्डरीकाक्ष के शिष्य थे। पुण्डरीकाक्ष की पत्नी का नाम आण्डाल था। पुण्डरीकाक्ष ने राम मिश्र से (मनवकल लम्वेज) उसे जो कुछ सिखाया गया था वह यामुन को सिखाने का आदेश दिया। किन्तु, यामुन पुण्डरीकाक्ष के समय में जन्मे नहीं थे। पुण्डरीकाक्ष ने नाथमुनि के विषय में पुरानी भविष्यवाणी के आधार पर उनके जन्म के बारे में भविष्यवाणी की थी। राम मिश्र के यामुन के अतिरिक्त चार शिष्य थे जिनमें लक्ष्मी प्रमुख थी।[2] वह श्रीरंगम् में रहते थे और वेदान्त का उपदेश देते थे।

यामुनाचार्य, जो आलवान्दार भी कहलाते थे वे ईश्वर मुनि के पुत्र और नाथमुनि के पौत्र थे और ई० सं० 918 में सम्भवत: जन्मे थे और ई० सं० 1080 में

---

1 अष्टांग योग की साधना नाथमुनि के लिए नई नहीं थी। तिरुमरि से पीरान का वर्णन करते, प्रपन्नामृत का कहना है कि वे पहले शिव भक्त थे और उन्होंने तामिल भाषा में शैव सिद्धान्त पर कई ग्रन्थ लिखे। किन्तु पश्चात् सन्त महार्ष ने उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा दी। तब उन्होंने वैष्णव धर्म पर कई ग्रन्थ रचे। भक्तिसार ने भी एक पांडिण्य पूर्ण ग्रंथ लिखा, जो तत्त्वार्थसार कहा जाता है, इसमें विरोधी मत का खंडन किया गया है। भक्तिसार भी अष्टांगयोग करते थे और अन्य भारतीय दर्शन में निपुण थे। भक्तिसार के कणिकृष्ण नाम का एक शिष्य था। उन्होंने विष्णु की आराधना में कई अतीव सुन्दर पद्य लिखे। कुलशेखर पेरुमाल ने भी अष्टांग योग का अभ्यास किया था ऐसा कहा जाता है।

2 (1) तैवत्तुक्क अरसु नम्बी (2) गोमथ त्तुत-तिरुबिन्नगरअप्पन् (3) सिरुप पुल्लुर-उदय पिल्लै (4) वंगी-पुरत्तच्छी।

—देखो गोविन्दाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० 14।

स्वर्गधाम पहुँचे ऐसा कहा जाता है। उन्होंने राम मिश्र से वेदाध्ययन किया, विवाद में उनकी बड़ी ख्याति थी।[1] राजा होने पर उनका विवाह किया गया और उनके दो पुत्र वररंग सौत्ट्ठुपूर्ण हुए उन्होंने लम्बे काल तक वैभवपूर्ण जीवन बिताया और राम मिश्र को भूल गए। किन्तु राम मिश्र बड़ी कठिनाई से उनके पास पहुँचे और उन्हें भगवत् गीता का अध्ययन कराने का मौका लिया जिससे उनमें विरक्ति उत्पन्न हुई। वे फिर राम मिश्र के साथ ही श्री रंगम् गए और सब कुछ त्याग कर एक महान् भक्त हो गए।[2] राम मिश्र का अन्तिम उपदेश उन्हें यह था कि वे कुरुकानाथ (कुरुगै क्कवल-अप्पन) के पास जाएँ और उनसे अष्टांग योग सीखें जो नाथमुनि ने यामुन के लिए उनके पास छोड़ा था। यामुन के अनेक शिष्य थे जिनमें 21 मुख्य माने गए हैं। उनमें से महापूर्ण भारद्वाज गोत्र के थे, और उनके पुण्डरीकाक्ष नाम का एक पुत्र और अत्तुतयी नाम की एक पुत्री थी। दूसरा शिष्य श्री शैलपूर्ण था जो ताताचार्य नाम से भी जाना जाता था।[3] एक अन्य शिष्य गोष्ठीपूर्ण पांडय देश में जन्मा था, यहाँ श्री मधुरा नामक नगर में यामुन के एक दूसरे शिष्य ने भी जन्म लिया जिसका नाम मालाधर था। पांडय देश के मरनेर नगर में शूद्र जाति का नरनेर नाम्बी हुआ था। दूसरा शूद्र जाति का शिष्य पुनमल्लि में जन्मा था। यामुन अपने शिष्यों को वैष्णव सम्प्रदाय के पांचों संस्कारों की दीक्षा देते थे। उन्होंने चोल देश के राजा एवं रानी को भी इस सम्प्रदाय की दीक्षा दी थी और उनका राज्य श्री रंगम् के रंगनाथ की सेवा

1 प्रपन्नामृत में यामुन के शास्त्रार्थ के बारे में जब वे 12 साल के थे, एक कहानी है। वहाँ के राजदरबार में एक पंडित अक्कै अलवन नाम के थे जिनका शास्त्रार्थ में नाम था। यामुन ने उन्हें खुले दरबार में चुनौती देकर परास्त किया। उन्हें आधा राज्य इनाम में दिया गया। वे युवाकाल में बड़े अभिमानी थे ऐसा पता प्रपन्नामृत के शब्दों से प्रतीत होता है। चुनौती के ये शब्द हैं—

आशैलादद्रि कन्या चरण किसलय न्यास धन्योपकंठाद्
आरक्षो नीत सीता मुख कमल समुल्लासहेतोश्च सेतोः ॥
आ च प्राच्य प्रतीच्य क्षितिधर युग तदर्क चंद्रावतंसान्
मीमांसाशास्त्रयुग्मश्रमविमल मनामृगयताम् मादृशोऽन्यः ॥

—अध्याय 3।

2 प्रपन्नामृत में एक कथा है कि जब यामुन राजा बन गए और किसी से नहीं मिलते थे तब राममिश्र को चिन्ता हुई कि वे किस प्रकार गुरु आदेश को पालकर यामुन को भक्ति मार्ग की दीक्षा दें। वे यामुन के रसोइए के पास गए और छः मास तक अलर्श शाक नाम की सब्जी यामुन को भेंट करते रहे जो उन्हें पसन्द आई। छः मास बाद जब राजा ने पूछा कि यह अनोखी तरकारी उसकी रसोई में कैसे आई तो राममिश्र चार दिन तक नहीं आए और रंगनाथ की स्तुति करते रहे और पूछते रहे कि वे यामुन के पास किस प्रकार जाएँ। इस दरम्यान यामुन को वह तरकारी नहीं मिली और उन्होंने रसोइए से, यामुन जब वह रसोई में आये तब उन्हें लाने को कहा। इस प्रकार राममिश्र यामुन के पास पहुँचे।

3 प्रपन्नामृत, अ० 112, पृ० 440।

में भेंट करा दिया था। श्री शैलपूर्ण या भूरि श्री शैलपूर्ण या महापूर्ण के दो पुत्र, दो पुत्री और दो बहनें थीं। ज्येष्ठ बहिन कान्तिमयी, केशव यज्वन को ब्याही थी जो रामानुज के पिता, आसुरि केशव भी कहलाते थे। दूसरी बहिन द्युतिमति, कम लाक्ष्य भट्ट को ब्याही थी, जिनके गोविन्द नाम का पुत्र हुआ। कुरेश, जिनका रामानुज से बड़ा सम्पर्क रहा, वे अनन्त भट्ट और महादेवी की सन्तान थे। यही कुरेश अनन्ताचार्य के पिता थे, जिन्होंने 'प्रपन्नामृत' ग्रंथ लिखा था।[1] दाशरथि, वाधुल गोत्रीय, अनन्त दीक्षित और लक्ष्मी के पुत्र थे। दाशरथि के कंडड़नाथ नाम का पुत्र जिसे रामानुजदास भी कहते हैं, वे सब रामानुज के साथी हैं जिनके 74 मुख्य शिष्य थे।

यामुन को नाम्मालवार के ग्रंथों से बहुत प्रेम था जिनके सिद्धान्त उन्होंने लोगों को समझाए। यामुन ने 6 ग्रन्थ रचे थे। (1) स्तोत्र रत्नम् वरदराज की स्तुति में (2) चतुश्लोकी (3) आगम प्रामाण्य (4) सिद्धि त्रय (5) गीतार्थ संग्रह (6) महापुरुष निर्णय।[2] इनमें से 'सिद्धित्रय' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रंथ का यामुन विषयक खण्ड लगभग पूरी तौर से सिद्धित्रय के आधार पर लिखा गया है। आगम प्रामाण्य में पंचरात्र साहित्य की प्राचीनता और निर्विवाद प्रामाणिकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो श्री वैष्णवों की संहिता है। स्तोत्र रत्नम् चतुश्लोकी और गीतार्थ संग्रह पर अनेक लोगों ने टीकायें लिखी हैं, जिनमें वेंकटनाथ की टीका बहुत महत्त्व की है।[3] स्तोत्र रत्नम् में 65 पद हैं जिनमें यामुन ने भगवान के सौन्दर्य का वर्णन किया है जैसाकि पुराणों में बताया है। वे भगवान के सामने अपने पाप और दोष, त्रुटियों और अवगुणों के महान् क्लेश को स्वीकारते हैं और उनके लिए क्षमा-याचना करते हैं। वे वर्णन करते हैं भगवान् अन्य देवताओं से उत्कृष्ट और लोकोत्तर हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ नियामक और विश्व के धारक हैं। सम्पूर्ण शरणागति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे उनकी कृपा पर ही पूर्णतः आश्रित हैं। अगर भगवान् की दया और कृपा इतनी महान् है तो उनके जैसा पापी और अभागा और कोई उनकी दया का पात्र नहीं हो सकता। अगर पापी नहीं तरता तो भगवान की कृपा निरर्थक है। भगवान को, अपने को दयावान अनुभव करने के लिए पापी की आवश्यकता है। यामुन आगे जाकर वर्णन करते हैं कि किस प्रकार, सर्वस्व छोड़कर उनका मन भगवान् के प्रति प्रगाढ़ रूप से आकर्षित होता है तथा वे अपनी नितान्त, निराश्रयता एवं पूर्ण आत्मसमर्पण का वर्णन करते हैं।[4] भक्त भगवान् के मिलन में विलम्ब सहन नहीं कर

---

1 प्रपन्नामृत अ० 150, पृ० 450। अनन्ताचार्य जो अनन्त सूरि भी कहलाते थे, वे शैलरंगेश गुरु के शिष्य थे। वे रम्य जामातृ महामुनि का आदर करते थे।

2 देखो—वेंकटनाथ कृत गीतार्थ संग्रह रक्षा।

3 वेंकटनाथ कृत चतुश्लोकी की टीका 'रहस्य रक्षा' कहलाती है और स्तोत्र की टीका का भी वही नाम है तथा 'गीतार्थ संग्रह' की टीका 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' नाम से जानी गई है।

4 'स्तोत्र रत्नम्' के दो पद नमूने के तौर पर यहाँ उद्धृत करते हैं—

सकता और उनसे मिलने को अधीर होता है। उसे यह असीम दुःख देता है कि भगवान् उस पर अनेकानेक सुख बरसा कर उसे अपने से दूर रखते हैं। श्लोकों का मूल स्वर प्रपत्ति की अभिव्यक्ति है, वेंकटनाथ ने इसे अपनी टीका में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया है। यह कहा जाता है कि इन्हीं श्लोकों को पढ़कर रामानुज यामुन के प्रति बहुत आकर्षित हुए थे। चतुश्लोकी में श्री या लक्ष्मी की स्तुति में केवल चार श्लोक ही हैं।[1]

गीत संग्रह में यामुन कहते हैं कि भक्ति ही जीवन के उच्च ध्येय को पाने का अन्तिम साधन है जो शास्त्रोक्त धर्म पालन एवं स्व-धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होती है।[2] यामुन के मतानुसार गीता में योग को भक्ति योग कहा है। इसलिए गीता का अन्तिम ध्येय, श्रेष्ठ साध्य रूप में भक्ति का महत्त्व प्रतिपादन करना है, जिसके लिए शास्त्रोक्त धर्म पालन करना तथा भगवान् सर्वथा आश्रित आत्मा की सही आध्यात्मिक प्रकृति का ज्ञान एक प्रारम्भिक भूमिका है।

प्रपन्नामृत में कहा है कि यामुन रामानुज की भेंट करने को उत्सुक थे किन्तु जब रामानुज उनसे मिलने आए वे उससे पहले ही मर गए। रामानुज उनके अन्त्येष्टि कर्म में ही शामिल हो सके।

न धर्म निष्ठोऽस्मि न चात्म वेदी न भक्ति मांस्वच्चरवारविन्दे।
अकिंचनो नान्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥ —श्लोक 22।
न निन्दितम् कर्म तदस्ति लोके,
सहस्त्रशो यन्ना मया व्यधायि
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्पत्यगतिस्तवाग्रे —श्लोक 23।

1 वेंकटनाथ चतुश्लोकी की टीका में वैष्णव धर्म के अनुसार लक्ष्मी की स्थिति पर विवेचना करते हैं। लक्ष्मी की नारायण से एक पृथक् सत्ता है किन्तु वह हमेशा उनकी सहगामिनी है। वे उन सब विचारों का खण्डन करते हैं जो लक्ष्मी को नारायण का एक अंश मानते हैं। लक्ष्मी और माया को भी तादात्म्य नहीं मानना चाहिए। लक्ष्मी, नारायण के निकटतम सम्पर्क में है ऐसा माना है और वह एक माता की तरह भक्त को भगवान की कृपा के वियोग में लाने में अपना प्रभाव डालती है। इस प्रकार लक्ष्मी का अपना पृथक् व्यक्तित्व माना है यद्यपि वह व्यक्तित्व नारायण के व्यक्तित्व से समरस है। उसके तथा नारायण के प्रयत्न भगवान के ही अनुरूप हैं (परस्परानुकूलतया सर्वत्र सामरस्यम्)। लक्ष्मी को जीव माना जाय, तो अणु रूप होने से वह सर्वव्यापी कैसे हो सकती है, और यह मत कि वह नारायण का अंश है, इस विवादग्रस्त विषय पर, वेंकटनाथ कहते हैं, कि लक्ष्मी न तो जीव है और न नारायण है, वह एक पृथक् व्यक्ति है जो भगवान पर पूर्णतः आश्रित है। उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध सूर्य का रश्मि और फूल का सुगंध के जैसा समझा जा सकता है।

2 स्वधर्म ज्ञान वैराग्य साध्य भक्त्येक-गोचरः।
नारायणः परं ब्रह्म गीता शास्त्रे समुदितः॥ —गीतार्थ संग्रह, पद 1।

रामानुज[1]

पहले कहा जा चुका है कि यामुन के शिष्य महापूर्ण (नम्बी) के दो बहि कान्तीमति और द्युतिमति थीं, पहली केशव यज्वन् या भूतापुरी के आसुरी केशव से ब्याही थी और दूसरी कमालाक्ष भट्ट से ब्याही थी। रामानुज (इलयपेरूमाल) केशव यज्वन् के पुत्र ई० सं० 1017 में जन्मे थे। उन्होंने अपनी माता की बहिन के पुत्र गोविन्द भट्ट के साथ, वेदान्त के निष्णात पंडित यादव प्रकाश से शिक्षा पाई थी। यादव प्रकाश के मत का विवरण परिचय हमें ज्ञात नहीं है किन्तु सम्भवतः वे एकतत्त्ववादी थे।[2] यादव प्रकाश के पास शिक्षा लेने के पहले ही 16 साल की आयु में उनके पिता ने रामानुज का ब्याह करा दिया था। विवाह कार्य के पश्चात् उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उनके गुरु यादव प्रकाश कांची में रहते थे। इसलिए रामानुज अपने कुटुम्ब के साथ भूतपुरी छोड़कर काँची आ गए। ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भिक काल में रामानुज से यादव प्रकाश रुष्ट हो गए थे क्योंकि रामानुज ने किसी राजा की पुत्री को भूत बाधा से मुक्त कर दिया जबकि यादव प्रकाश इस कार्य में असफल रहे। शीघ्र ही रामानुज और यादव प्रकाश के बीच, उपनिषद् के किसी पाठ के अर्थ बोध पर मत भेद हो गया जिसे यादव प्रकाश ने एकतत्त्ववाद सिद्धान्त से समझाया, किन्तु रामानुज ने उसे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार ही व्याख्या की। यादव प्रकाश रामानुज से बहुत रुष्ट हो गए, तथा उन्होंने रामानुज को अलाहाबाद की यात्रा के अवसर पर उन्हें गंगा में फेंक देने का षड्यन्त्र रचा। गोविन्द ने रामानुज को यह षड्यन्त्र बता दिया। रामानुज अनेक कष्ट सहन करते, अपने साथियों से बिछुड़ कर काँची चले गए। काँची में वे शूद्र जाति के काँचीपूर्ण नामक एक परम भक्त के सम्पर्क में आए। कुछ समय बाद रामानुज का अपने गुरु से समझौता हो गया और उन्होंने उनसे विद्या पढ़ी। जब यामुन एक बार काँची आये थे तब उन्होंने दूर से रामानुज को विद्यार्थियों के साथ जाते देखा था किन्तु इससे अन्य कोई सम्पर्क न हुआ। उसी समय वे रामानुज को अपना बनाने को बहुत उत्सुक थे। रामानुज एक बार फिर अपने गुरु से कप्यासम पुण्डरीकम् (छा० उ० पृ० 167) पाठ के अर्थ बोध पर अलग हो गए। लड़ाई के परिणामस्वरूप यादव ने उन्हें निकाल दिया। तब से वे काँची में हस्ति शैल के नारायण की भक्ति में लग गए। यहाँ उन्होंने, महापूर्ण से यामुन का स्तोत्र रत्नम् पहली बार सुना, जो उनके मामा थे और यामुन के शिष्य थे।

---

1 रामानुज के जीवन के बहुत से प्रसंग अनंताचार्य के प्रपन्नामृत से जो उनके कनिष्ठ समकालीन थे, संगृहीत किए गए हैं।

2 यादव मानते थे कि ब्रह्मन् अनन्त गुण सम्पन्न होते हुए भी सर्व प्रकार के जीव और सर्व प्रकार की जड़ वस्तु में परिणत होता है। उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान तब ही होता है जब हम यह समझ जाएँ कि वह विभिन्न जड़ और चेतन वस्तु में परिणत होते हुए भी एक है। अन्ये पुनरैक्यावबोधे याथात्म्यं वर्णयन्तः स्वाभाविक-निरतिशय-परिमितोदार-गुण सागरं ब्रह्मैव सुरनर तिर्यक् स्थावर नारकी स्वर्ग्यपवर्गी चैतन्यैक स्वभावं स्वभावतो विलक्षणमविलक्षणं च वियदादि नाना विद्यामलरूपापरिणामा स्पंद चेति प्रत्यवतिष्ठन्ते।

—रामानुज वेदार्थ संग्रह, पृ० 15, मेडिक हाल प्रेस, 1894।

महापूर्ण से रामानुज ने यामुन के विषय में बहुत कुछ सीखा और उनके साथ श्री रंग की ओर गए। किन्तु वे श्री रंगम् पहुँचे उससे पहले यामुन शान्त हो गए। ऐसा कहा जाता है कि यामुन की मृत्यु के बाद उनकी तीन अंगुलियाँ टेढ़ी हुई पाई गईं। रामानुज ने यह सोचा कि यामुन की इच्छाएँ अपूर्ण रहीं, वे (1) लोगों को वैष्णव के प्रपत्ति सिद्धान्त में परिवर्तन करना और उन्हें आलवारों के ग्रंथों से पूर्ण परिचित कराना, (2) ब्रह्म सूत्र की श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार टीका लिखना (3) और श्री वैष्णव सम्प्रदाय पर बहुत से ग्रन्थ लिखना थीं। इसलिए रामानुज ने इन तीन इच्छाओं को पूर्ण करने की ठान ली।[1] वे काँची वापस आए और यामुन के शिष्य काँचीपूर्ण के शिष्य हो गए। इसके बाद वे श्री रंगम् की ओर गए और रास्ते में महापूर्ण से उनकी भेंट हुई जो काँची जाकर उन्हें श्री रंगम् लाना चाहते थे। तब महापूर्ण ने उन्हें वैष्णव पंच संस्कार की दीक्षा दी। रामानुज (आचार्य) अपनी पत्नी का महापूर्ण की पत्नी के प्रति तथा याचकों के प्रति अशिष्ट व्यवहार के कारण रुष्ट हो गए, और उसे कपट से उनके पिता के घर भेज दिया। इस प्रकार उन्होंने 30, 32 साल में ही संन्यास ले लिया। संन्यासी बनने के बाद, अपनी बहिन के पुत्र दाशरथि[2] को और अनन्त भट्ट के पुत्र कुरनाथ को शास्त्र का उपदेश देना प्रारम्भ किया। यादव प्रकाश भी रामानुज के शिष्य हो गए।[3] अन्त में रामानुज श्री रंगम् के लिए चल दिए और रंगेश की भक्ति में अपना जीवन दे दिया। उन्होंने गोष्ठीपूर्ण से कुछ तंत्र मंत्र सीखा जो गोष्ठीपूर्ण ने अपने गुरु से सीखा था। तत्पश्चात् रामानुज ने एक संस्कृत विशेषज्ञ यज्ञमूर्ति को वाद में हराया। यज्ञमूर्ति उनके शिष्य बन गए और उन्होंने तामिल में ज्ञानसार और प्रमेयसार नामक दो ग्रन्थ रचे।[4] अब रामानुज के कई विख्यात शिष्य हो गए, जैसे कि भक्त ग्राम पूर्ण मरुधग्रामपूर्ण, अनन्ताचर्य वरदाचार्य

---

1 प्रपन्नामृत 9, पृ० 26। गोविन्दाचार्य और घोष ने इस पाठ का गलत अर्थ किया है, क्योंकि यहाँ शठकोष का नाम तक नहीं सूचित है। कुरेश या श्रीवत्सांक मिश्र के दो पुत्र थे, एक को रामानुज ने दीक्षा दी और पराशर भट्टार्य नाम दिया और दूसरे को रामदेशिक नाम दिया। रामानुज के मातृपक्ष के भाई गोविन्द के एक छोटा भाई था जिसका नाम वाल गोविन्द था उनके पुत्र को परांकुश पूर्णार्य नाम से दीक्षा दी।

2 दाशरथि के पिता का नाम अनन्त दीक्षित है।

3 उनका दीक्षित नाम गोविन्ददास था। परिवर्तन के बाद उन्होंने 'यति धर्म समुच्चय' नाम की पुस्तक लिखी। गोविन्ददास को गोविन्द से पृथक् समझना चाहिए जो रामानुज की काकी के पुत्र थे और जो यादव प्रकाश द्वारा शैव पंथ में परिवर्तित किए गए थे और उनके मामा जो यामुन के शिष्य थे, श्री शैलपूर्ण ने उन्हें श्री वैष्णव पंथ में वापस लिया। गोविन्द विवाहित थे किन्तु रामानुज से इतनी प्रीति हो गई कि उन्होंने संन्यास ले लिया। श्री शैलपूर्ण ने सहस्त्र गीति पर एक टीका लिखी। रामानुज के एक दूसरे शिष्य पुण्डरीकाक्ष थे जो महापूर्ण के पुत्र थे।

4 इनका दीक्षान्त नाम देवराट् और देवमन्नाथ था।

और यज्ञेश। रामानुज ने सर्व-प्रथम गद्यत्रय लिखा। फिर वे कुरेश के साथ शारदा मठ गए, कुरेश को श्री वत्सांक मिश्र या कुरुसालवन के नाम से भी जाना गया है। वहाँ उन्होंने 'बोधायन वृत्ति' की हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त की और श्री रंगम् की ओर चल दिए। मन्दिर में पुजारी को पुस्तक का गुम होने का पता चला तब वह उनकी ओर खोज में भागा और वह प्रति उनसे वापस ले ली। सद्भाग्य से कुरेश ने रास्ते में जाते समय कई रातें उक्त पुस्तक के अध्ययन में बिताई थी और उसके सन्दर्भ से परिचय प्राप्त कर लिया था इसलिए वे उसका पाठ कर सकते थे। इस प्रकार रामानुज ने श्री भाष्य की टीका कुरेश को लिखाई।[1] उन्होंने वेदान्त दीप, वेदान्त सार और वेदार्थ संग्रह भी लिखा। सम्भवत: श्री भाष्य, रामानुज की, तिरुक्को बलुर, तिरुपति तिरुपुत्र कुली, कुम्भ कोनम्, अलगार कोइल, तिरुपुल्लनी, आर्रवार, तिरु नगरी, तिरुकुरुन्तन्गुडी, तिरुवण परिशारम्, तिरुवत्तर, तिरुवनदपुरम्, तिरु वल्लकेणी, तिरु निर्मले मधुरन्तकम और तिरु वैगुण्डी पुरम की बृहत् यात्रा के बाद लिखा गया हो।[2] तत्पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत में अजमेर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी की यात्रा की और बहुत से विपंथियों को परास्त किया। ये बनारस और पुरी भी गए और पुरी में एक मठ भी स्थापित किया। उन्होंने बलात् जगन्नाथपुरी में पंचरात्र कर्म-कांड का प्रचार करने की कोशिश की, किन्तु वे असफल रहे। 'रामानुजाचार्य दिव्य चरितम्' के आधार पर श्री भाष्य 1017 शक अर्थात् ई० सं० 1155 में समाप्त हुआ यद्यपि इसका दो तृतीयांश भाग चोलों के उपद्रव के पहले ही समाप्त हो गया था। किन्तु यह समय गलत होना चाहिए क्योंकि रामानुज शक 1059 अर्थात् ई० सं० 1137 में मर गए थे।[3] महापूर्ण (पेरियल नाम्बी) और कुरेश की आँखें सम्भवत: चोल राजा कोलुत्तुंग प्रथम ने सन् 1078-79 में फोड़ दी थीं और इस काल में रामानुज को होयशाल देश में आश्रय लेने को बाध्य होना पड़ा था। सन् 1117 में, कोलुत्तुंग प्रथम की मृत्यु के पश्चात् रामानुज श्री रंगम् वापस आए, जहाँ वे कुरेश से मिले और श्री भाष्य समाप्त किया।[4] चलारिस्मृति नामक मध्व ग्रंथ में ऐसा कहा है कि सन् 1127 में अर्थात् शक 1049 में श्री भाष्य प्रतिष्ठा पा चुका था।[5] इसलिए यह अधिक सम्भव है कि श्रीभाष्य सन् 1117 और 1127 के बीच सम्पन्न हुआ। गोपीनाथ राउ मानते हैं कि वह 1125 में लिखा गया था।

---

[1] रामानुज ने कुरेश से यह कह दिया कि जहाँ बोधायन वृत्ति को ठीक न समझ पाएँ वहाँ उन्हें रोक दें। कम से कम एक जगह उनके बीच विवाद हो गया और रामानुज गलत ठहरे।

[2] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान, पृ० 34 फुट नोट।

[3] देखो, गोपीनाथ राउ के व्याख्यान।

[4] रामानुजार्य दिव्य चरितै (तामिल ग्रंथ) पृ० 243, गोपीनाथ राउ द्वारा उद्धृत।

[5] कलौ प्रवृत्त बौद्धा दि मतम् रामानुजम् तथा। शके ह्येको न पंचाशदधिकाब्दे सहस्रके। निराकर्तुम् मुख्य वायु: सन्मत स्थापनाय च एकादश-शते शाके विशत्यष्ठ युगे गते, अवतीर्णं मध्वगुरुं सदा वन्दे महागुणम्।

—चलारि स्मृति, गोपीनाथ द्वारा उद्धृत, 35।

रामानुज सामान्य गृहस्थी वेष में श्री रंगम् से ताण्डागुर, कालुत्तुंग प्रथम या राजेन्द्र चोल के आतंक से भागे जो कृमिकंठ, एक शैव राजा भी कहलाता था। वे (रामानुज) हायशाल देश के जैन राजा विद्दिदेव को विष्णुवर्धनदेव नाम देकर वैष्णव पंथ में परिवर्तन करने में सफल हुए। राऊ का कहना है कि यह परिवर्तन सन् 1099 के कुछ पहले हुआ होगा।[1] इस राजा की सहायता से उन्होंने मेलुकोट (यादवाद्रि) में तिरु नारायण पेरुमाल का मन्दिर बनवाया, जहाँ रामानुज 12 वर्ष तक रहे।[2] 'रामानुजार्य दिव्य चरितै' के आधार पर, रामानुज श्रीरंगम् से वापस आने के बाद 11 वर्ष तक जीवित रहे, कोलुत्तुंग प्रथम की मृत्यु 1118 के कुछ समय के बाद) और वे सन् 1137 में स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार वे 120 वर्ष लम्बे समय तक जिए, जो कि कोलुत्तुंग प्रथम (सन् 1070–1118), विक्रम चोल (सन् 1118–1135) और कोलुतुंग द्वितीय (1123–1146) नाम के तीन चोल राजाओं के राज्यकाल ने फैलाया। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई मन्दिर और मठ बनवाए और श्रीरंगम् के मन्दिराध्यक्ष का धर्म-परिवर्तन कर सारे मन्दिर पर अधिकार किया।

रामानुज के उत्तराधिकारी पराशर भट्टार्य थे जो कुरेश के पुत्र थे और जिन्होंने 'सहस्त्र गीति' पर टीका लिखी थी।[3] रामानुज अनेक निष्ठावान् पंडितों को अपना शिष्य बनाने में सफल रहे—जिन्होंने रामानुज के तत्त्व दर्शन और उनकी पूजा पद्धति को शताब्दियों तक आगे बढ़ाया। उनका धर्म सार्वलौकिक था, यद्यपि वे पूजा और दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ अनुष्ठानों को आवश्यक मानते थे, तो भी उन्होंने अपने सम्प्रदाय में जैन, बौद्ध, शूद्र और अन्त्यजों को भी अपनाया। वे स्वयं एक शूद्र के शिष्य थे और स्नान के बाद एक अछूत मित्र की झोंपड़ी में समय बिताते थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने 74 धर्म सिंहासनों पर राज्य किया और उनके अनुयायियों में 700 संन्यासी, 12000 साधु और 300 साध्वियां (केट्टी अमैस) थीं। बहुत से राजा और धनिक उनके शिष्य बने। कुरेश दाशरथि, नाड़ाडुर, आर्रवान और भट्टार प्रवीण पंडित थे। यज्ञमूर्ति पुरोहित थे, एक शिष्य रसोई की देखभाल करता था, वाटपूर्ण या अंध्रपूर्ण और गोमठम् सिटी यार्रवान को अनेक प्रकार की परिचर्या सौंपी गई थी, धनुदास कोषाध्यक्ष थे, अमंगी गरम दूध के अध्यक्ष, उक्कल आर्वान् परोसने में, उक्कलम्मल पंखा झलने में नियुक्त थे।[4] रामानुज ने कितने ही शैवों को वैष्णव बनाया और शैव और वैष्णव के बीच संघर्ष में चोल देश के शैव राजा, कृमिकंठ के हाथ बहुत दुःख उठाया, किन्तु

---

1 किन्तु राइस साहब मैसूर गजेटियर अंक 1 में यह कहते हैं कि यह परिवर्तन सन् 1117 या शक 1039 में हुआ। किन्तु राऊ यह कहते हैं कि एपिग्राफिका कर्नाटिका विद्दिदेव का एक शिलालेख है जो शक 1023 का है (न 34 अर्सिकेर) जिसमें उन्हें विष्णु वर्धन कहा है।

2 साधारण मान्यता यह है कि रामानुज श्री रंगम् से कुल मिलाकर केवल 12 वर्ष ही बाहर रहे किन्तु राऊ का मानना यह है कि काल लगभग 20 साल का होगा, जिसमें से 12 वर्ष यादवाद्रि में बीते।

3 देखो—एस० के० आयंगर, एम० ए० कृत रामानुजाचार्य नटेसन क० मद्रास।

4 गोविन्दाचार्य कृत रामानुज की जीवनी, पृ० 218।

कृमिकंठ का उत्तराधिकारी उनका शिष्य हुआ और वैष्णव वन गया। इससे श्री वैष्णव धर्म के फैलने में बहुत सहायता मिली।

रामानुज के जीवन का विशद वृतान्त जिन स्रोतों से संग्रह किया गया है वे ये हैं : (1) 'दिव्य सूरी चरितै' जो रामानुज के समकालीन गरुडवाह ने लिखा है। (2) 'गुरु परम्परा प्रबंधम्', पिम्बरंजीय पेरुमाल जीयार ने मणि प्रवाल भाषा में 14वीं शताब्दी के पहले भाग में लिखा है (3) पिल्ले लोकम् जीयार का 'रामानुजार्य चरितै नामक तामिल ग्रन्थ (4) आम्बि लै कण्डा डैयप्पन् का आलवारों और अरंगीयसों का संक्षिप्त परिचयात्मक तामिल ग्रन्थ, जो 'पैरिय तिरु मुड्डियैव्य' नाम से जाना गया है (5) 'प्रपन्नामृत अनन्ताचार्य कृत, जो शैल रंगेश के गुरु के शिष्य और अंध्रपूर्ण के अनुवंशज थे। (6) 'तिरुवायमोर्री' की टीकाएँ जिनमें अरंगीयसों की व्यक्तिगत स्वगत स्मृतियों का उल्लेख है तथा (7) अन्य शिलालेख आदि।

विशिष्टाद्वैत मत के पूर्वगामी और रामानुज के समकालीन एवं शिष्य

ब्रह्मसूत्र का भेदाभेद वादात्मक अर्थ सम्भवतः शंकर के अद्वैतवाद से पहले प्रचलित रहा होगा, भगवत् गीता, जो उपनिषद् का सार है, प्राचीन पुराण और पंचरात्र जो इस ग्रन्थ में उल्लिखित हुए हैं, लगभग भेदाभेदवाद सिद्धान्त पर चलते हैं। वास्तव में इस वाद का उद्गम पुरुष सूक्त में देखा जा सकता है। इसके उपरान्त द्रमिड़ाचार्य ने जैसाकि यामुन ने सिद्धित्रय में कहा है, ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की और आगे श्री वत्सांक मिश्र ने उस पर टीका की। बोधायन की जिन्हें रामानुज ने वृत्तिकार और शंकर ने उपवर्ष कहा है ब्रह्म सूत्र पर एक बृहत् वृत्ति है, जो रामानुज के भाष्य का आधार रही है।[1] आनन्दगिरि भी द्राविड़ भाष्य का उल्लेख करते हैं, जो छांदोग्योपनिषद् की टीका है जो शंकर के पहले एक सरल व्याख्या (ऋजु विवरण) थी। संक्षेप शारीरक में (3-227-27) आत्रेय और वाक्यकार नाम के लेखक का उल्लेख है जिसे टीकाकार रामातीर्थ ने ब्रह्मनन्दिन् कहा है। रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में वाक्यकार का एक पाठ और द्रामिड़ाचार्य की उस पर टीका, को उद्धृत किया है।[2] वाक्यकार और द्रामिड़ाचार्य,

---

[1] वेंकटनाथ अपनी 'तत्त्व टीका' में कहते हैं, 'वृत्ति कारस्थ बोधायनस्यैव हि उपवर्ष इतिस्यान् नाम।' अपनी 'सेश्वर मीमांसा' में, किन्तु, वे उपवर्ष के मत का खण्डन करते हैं क्योंकि वैजयन्ती कोष में कृतकोटि और हलभूति, उपवर्ष के ही नाम हैं, ऐसा बताया है। —प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा खंड भी देखो, पृ० 43।

[2] वेदार्थ संग्रह पृ० 128 वाक्यकार का पाठ यह है, युक्तं तद् गुणोपासनाद्' और द्रामिड़ाचार्य की उस पर यह टीका है, 'यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्न दैबतं गुणगणं मनसानुधावेत् तथापि अन्तर्गुणमेव देवताम् भजत इति तत्रापि सगुणैव देवता प्राप्यत इति।' इन पाठों का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर के निर्गुण रूप में भक्ति की जाए तो भी पूर्ण मुक्ति सगुण रूप के अनुभव से ही होती है।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए० द्रामिड़ाचार्य को तिरुमंरिस पीरान मानते हैं जो सम्भवतः 8वीं शताब्दी में रहे किन्तु उनकी पुष्टि जो तीसरी ओरिएन्टल कांग्रेस मद्रास 1924 के लेखों पृ० 468-473 पर की गई है विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती।

जिनका उल्लेख रामानुज करते हैं, मानते थे कि ब्रह्मन् सगुण है, द्रमिड़ाचार्य जिसने ब्रह्मनन्दिन के ग्रन्थ पर टीका लिखी थी एकतत्त्ववादी थे। सम्भवतः वे वही व्यक्ति थे जिन्हें आनन्दगिरि ने छांदोग्य उपनिषद् पर शंकर के भाष्योपोद्घात् नामक ग्रंथ पर अपनी टीका में, द्रविड़ाचार्य नाम से पहचाना है। किन्तु यह प्रश्न इतनी सरलता से नहीं निपटता। सर्वज्ञात मुनि ने अपने 'संक्षेप शारीरक' में वाक्यकार को एकतत्त्ववादी माना है किन्तु उनके संकेत से यह स्पष्ट होता है कि वाक्यकार ने टीका का अधिकतर भाग परिणामवाद की पुष्टि में लगाया है (भास्कर के समान) और ब्रह्मन् और जगत् के सम्बन्ध को समझने के लिए सागर और तरंग की विख्यात उपमा दी, और केवल छांदोग्य के छठे प्रपाठक की टीका करते एक तत्त्ववाद का प्रतिपादन यह कहकर किया कि जगत् सत् और असत् दोनों नहीं है। आश्चर्य है कि रामानुज ने उसी पाठ को जो सर्वज्ञात्म मुनि से सम्बद्ध है और जो आत्रेय वाक्यकार और टीकाकार द्रमिड़ाचार्य के एकतत्त्ववाद को सिद्ध करता है, उसे अपने 'वेदार्थ संग्रह' में अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। किन्तु उन्हें ब्रह्मनन्दिन् न कहकर वाक्यकार कहा है। वाक्यकार को रामानुज ने द्रमिड़ाचार्य से भी लक्ष्य किया है। यद्यपि सर्वज्ञात्म मुनि उन्हें वाक्यकार ही कहते हैं, किन्तु उनके टीकाकार रामतीर्थ उन्हें ब्रह्मनन्दिन् कहते हैं, किन्तु उनके टीकाकार को द्रामिड़ाचार्य कहते हैं और वाक्यकार का अर्थ केवल रचनाकार (लेखक) है, ऐसा मानते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मनन्दिन् को नाम से कभी भी लक्ष्य नहीं किया है। क्योंकि 'संक्षेप शारीरिक' में सर्वज्ञात्म मुनि द्वारा उद्धृत पाठ रामानुज ने जो 'वेदार्थ संग्रह' में दिया है, उससे मेल खाता है इससे यह निश्चित होता है कि रामानुज और सर्वज्ञात्म मुनि और आनन्दमुनि द्वारा लक्षित वाक्यकार एक ही व्यक्ति है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्यकार और टीकाकार द्रमिड़ाचार्य की लेखन शैली ऐसी थी कि एकतत्त्ववादी यों समझते थे कि वे उनकी पुष्टि करते हैं और श्री वैष्णव ऐसा सोचते थे कि वे उनके अनुषंगी हैं। सर्वज्ञात्म मुनि के कथन से हम जानते हैं कि वे वाक्यकार को आत्रेय भी कहते थे और उन्होंने अपने ग्रंथ के अधिकांश भाग में भेदाभेदवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। शंकर ने भी उपवर्ष को ब्रह्मसूत्र और मीमांसा दर्शन के एक विख्यात प्रतिपादक के नाम से लक्ष्य किया है तथा मीमांसा के एक तन्त्र और ब्रह्मसूत्र का रचयिता भी माना है।[1] इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही

---

1 अत एव च भगवतोऽपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरिके वक्ष्याम इति उद्धारः कृतः। —शंकर का ब्रह्मसूत्र भाष्य 3–3–53।

गोविन्द अपनी रत्नप्रभा में उपवर्ष को वृत्तिकार मानते हैं। आनन्दगिरि इससे सहमत हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य 1–1–19 और 1–2–23 में शंकर वृत्तिकारों के मतों का खंडन करते हैं। पिछले दो अनुच्छेदों में दिए वृत्तिकार के मत जो टीकाकार गोविन्दानन्द मानते हैं कि वे वृत्तिकार को ही लक्ष्य करते हैं, उनका इंगित है कि जगत् भगवान का परिणाम है। किन्तु हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि शंकर द्वारा खंडन किए गए ये मत सचमुच के ही थे क्योंकि हमारे पास गोविन्दानन्द के सिवाय अन्य कोई प्रमाण नहीं है, जिनका जीवनकाल 13वीं या 14वीं शताब्दी रहा।

वाक्यकार था जिसने छांदोग्य उपनिषद् की टीका लिखी और उसी के टीकाकार द्रमिड़ाचार्य थे जिनकी शैली स्पष्ट और ऋजु थी यद्यपि उन्होंने यह तामिल में न लिख कर संस्कृत में लिखी। अगर हम रामतीर्थ से एकरूपता को मानते हैं तो हम यह मान लें कि उनका नाम ब्रह्मनन्दिन् था। किन्तु वह कोई भी हो वह पुराने मण्डल के बड़े आदरणीय पुरुष होंगे क्योंकि उन्हें सर्वज्ञात्म मुनि ने भगवान कहा है।

उपवर्ष भी आदरणीय पुरुष थे क्योंकि शंकर ने उन्हें भगवत्नाम से सम्बोधित किया है और उन्हें समर्थकों में से पुरुष माना है वे शबर मुनि से कहीं पहले रहे होंगे जो मीमांसा के टीकाकार जाने जाते हैं।[1] आनन्दगिरि और वेंकटनाथ (14वीं शताब्दी) उपवर्ष को वृत्तिकार कहते हैं और वेंकटनाथ और आगे उन्हें कल्पनावश बोधायन भी मानते हैं। यदि उपवर्ष वृत्तिकार भी रहे हों तो भी यह शंकास्पद है कि वे बोधायन हों। इस विषय में हमारे पास वेंकटनाथ का अनुमान ही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। शंकर ब्रह्मसूत्र 1–3–28 की टीका करते हुए वे स्फोटवाद के खंडन में उपवर्ष का प्रमाण देते हैं।[2] किन्तु यह विषय भी अनिर्णीत है क्योंकि शंकर तथा श्रीनिवास दोनों ही स्फोटवाद नहीं मानते। यहाँ पर कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि उपवर्ष वृत्तिकार हैं या बोधायन।[3] यदि प्रपन्नामृत को प्रमाण माना जाए तो बोधायन की ब्रह्मसूत्र की वृत्ति एक बृहद् ग्रन्थ होना चाहिए और द्रमिड़ाचार्य का ब्रह्मसूत्र पर ग्रन्थ बहुत छोटा होना चाहिए। इसी कारण से रामानुज ने एक टीका लिखने का प्रयत्न किया जो न ज्यादा लम्बी और न ज्यादा छोटी हो।

अब हमारे पास शठकोप की लिखी एक छोटी हस्तलिखित पुस्तक 'ब्रह्म सूत्रार्थ संग्रह' है यह हम नहीं जानते कि प्रपन्नामृत में उल्लिखित द्रमिड़ टीका यही है। यामुन, 'सिद्धित्रय' में एक भाष्यकार का उल्लेख करते हैं उकके लिए 'परिमित-गम्भीर-भाषिणा' ऐसे गुणवाचक शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे यह अर्थ होता है कि वह एक संक्षिप्त और गम्भीर अर्थपूर्ण ग्रन्थ था। वे आगे और कहते हैं कि इस भाष्य को श्री वत्सांक मिश्र ने विस्तार दिया। सम्भवतः इन दोनों लेखकों के विचार श्री वैष्णव सम्प्रदाय से मिलते थे। किन्तु यामुन, टंक भर्तृ-प्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, शंकर और भास्कर के नामों का उल्लेख करते हैं। भर्तृप्रपंच द्वारा ब्रह्मसूत्र के निरूपण का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में दिया है। टंक, भर्तृमित्र, भर्तृहरि और ब्रह्मदत्त के निरूपण के विषय में कुछ भी निश्चित जानकारी नहीं है केवल हम इतना ही जानते हैं कि वे श्री वैष्णव मत के विरुद्ध थे।

---

1 शबर मीमांसा सूत्र 1–1–5 में भाष्य में उपवर्ष को स्फोट के विषय पर चर्चा करते हुए भगवान कहते हैं।

2 वर्णा एव तु शब्दाः इति भगवान् उपवर्षः। —ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 1–3–28। डौयसन का कहना है कि स्फोटवाद की चर्चा उपवर्ष से हुई है यह अप्रमाण है।

3 मीमांसा सूत्र 1–1–5 के भाष्य में शबर मुनि एक वृत्तिकार का उल्लेख करते हैं जो शबर के पूर्व हुए थे। शबर उसी सूत्र के भाष्य का उल्लेख करते हुए भगवान् उपवर्ष का नाम लेते हैं इससे यह माना जा सकता है कि वृत्तिकार और उपवर्ष दोनों एक ही व्यक्ति न थे।

रामानुज ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में कहते हैं कि बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर बृहत् ग्रन्थ लिखा था जिसे पूर्वाचार्यों ने अति संक्षिप्त रूप दिया। वे आगे ऐसा भी कहते हैं कि उन्होंने अपने भाष्य को लिखने में बोधायन द्वारा किए सूत्र विवरण को निकटता से अनुसरण किया है।[1] रामानुज, यामुन के 'सिद्धि त्रय' का आभार मानते हैं, यद्यपि उन्होंने इसका उल्लेख उनके भाष्य में नहीं किया है। यह कहा जाता है कि यामुन के अनेक शिष्य थे। उनमें से महापूर्ण, गोष्ठीपूर्ण, मालाधर, कांचीपूर्ण, श्री शैलपूर्ण अथवा ताताचार्य (रामानुज के मामा) तथा श्री रंगनाथगायक प्रमुख थे। श्री शैलपूर्ण का पुत्र गोविंद जो रामानुज का भतीजा तथा यादव प्रकाश के साथ अध्ययन काल में उनका सहपाठी था, बाद में जाकर उनका शिष्य बन गया।[2] श्री रामानुज के 74 प्रसिद्ध शिष्यों में आत्रेय गोत्री प्रणतार्तिहर, कुरेश अथवा श्री वत्सांक मिश्र, दाशरथि, अन्ध्रपूर्णया वातपूर्ण, वरदविष्णु यतिशेखर भारत, यादवप्रकाश अथवा गोविंद तथा यज्ञमूर्ति अत्यन्त प्रमुख हैं।[3] इनमें से वाधूलगोत्री दाशरथि और वरदविष्णु अथवा वरदविष्णु मिश्र श्री रामानुज की बहिन के पुत्र थे। वरदविष्णु वात्स्य वरदगुरु नाम से विशेष प्रसिद्ध थे। कुरेश या श्रीवत्सांग मिश्र का एक पुत्र आंडाल से था जिसका नाम पराशेर भट्टार्य था, जिसने वेदान्ती माधवदास को हराया था। श्री कुरेश बाद में जाकर रामानुज का उत्तराधिकारी हुआ।[4] पराशर भट्टार्य के एक पुत्र मध्य प्रतोलि भट्टार्य या मध्य वीथिभट्टार्य था। कुरेश का एक और पुत्र पद्मनेत्र नाम का था, पद्मनेत्र का पुत्र कुरुकेश्वर कहलाता था।[5] कुरुकेश्वर का पुत्र पुण्डरीकाक्ष था और उसका पुत्र श्रीनिवास था। श्रीनिवास का पुत्र नृसिंहार्य था। सम्भवतः नाम से पता चलता है कि भूरि श्री शैलपूर्ण जो कुरेश के पिता थे, शैल वंश के थे। नृसिंहार्य का पुत्र रामानुज कहलाता था। रामानुज के दो पुत्र थे, नृसिंहार्य और रंगाचार्य, जो सम्भवतः 15वीं शताब्दी में विद्यमान थे। रामानुज के शिष्य यज्ञमूर्ति बड़े विद्वान् व्यक्ति थे। जब रामानुज ने उन्हें शिष्य बनाया तो उन्होंने उनका नाम देवव्रत या देवमन्नाथ या देवराज रख दिया और उसके लिए श्रीरगम् में एक पृथक् मठ स्थापित किया। यज्ञमूर्ति ने तामिल में, 'ज्ञानसार' और 'प्रमेयसार' नाम के दो बड़े विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। रामानुज के भक्तग्राम पूर्ण,

---

1 सुदर्शन सूरि ने भाष्य की अपनी टीका में जो 'श्रुति प्रकाशिका' कही गई है रामानुज भाष्य में प्रयुक्त पूर्वाचार्य शब्द की व्याख्या 'द्रमिड़ भाष्यकारादयः' की है। बोधायन मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते, इस वाक्य पर यह कहते हैं, 'न तु स्वोत्प्रेक्षित मतान्तरेण सूत्राक्षराणि सूत्र पदानाम् प्रकृति-प्रत्यय-विभागानुगुणं वदामः न तु स्वोत्प्रेक्षितार्थेषु सूत्राणि यथा कथं चित् द्योतयितव्यानि।'

3 यह अत्यन्त रोचक विषय है कि यामुन के पुत्र वररंग ने बाद में रामानुज को पढ़ाया और अपने कनिष्ठ भाई सोत्तनम्बी को दीक्षा दिलवाई। वररंग को कोई पुत्र न था। उन्होंने सहस्र गीति को संगीत बद्ध किया। —प्रपन्नामृत, 23, 45।

3 राज गोपाल चारीयर भी तिरु कुरुगैपन पीरान पिल्लै को रामानुज के मुख्य शिष्य बतलाते हैं। उन्होंने नाम्मालवार रचित तिरुवाय मोर्री पर टीका लिखी थी।

4 कुरेशी के एक और पुत्र था जिसे श्रीराम पिल्लै या व्यास भट्टार कहते थे।

5 दक्षिण भारत में पुत्र को पितामह का नाम देना सामान्य है।

मरुधग्राम पूर्ण, अनंतार्य और यज्ञेश ये चार शिष्य थे, इन्होंने यज्ञमूर्ति से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली ।[1] रामानुज के एक दूसरे शिष्य तिरुकुरुजै पीरान पिल्ले ने नाम्मालवार की तिरुवाय मोरीं की टीका लिखी । आत्रेयगोत्र के प्रणतार्तिहर पिल्लान, नामक रामानुज के अन्य शिष्य का एक पुत्र रामानुज नाम का था जो वत्स्यवरद वंश के नडाडुर अम्माल का शिष्य था ।[2] इस रामानुज उपनाम पद्मनाभ को रामानुज पिल्लम् नाम का पुत्र था जो किदम्बी रामानुज पिल्लन का शिष्य था । इस पद्मनाभ के एक पुत्र रामानुज पिल्लन् और पुत्री तोतारम्बा थी जो वेंकटनाथ के पिता अनंत सूरी से ब्याही थी । रामानुज के एक दूसरे शिष्य और भतीजे, वधुल गोत्र उत्पन्न, दाशरथि के भी एक पुत्र रामानुज नाम का था; जिसका पुत्र तोडप्पा था वारणाद्रीश या लोकार्य कहलाता था । पराशर भट्टार्य के बाद वेदान्ती माधवदास जो नजीआर भी कहे जाते थे, उत्तराधिकारी हुए । माधवदास के उत्तराधिकारी नम्बिल्ला या नम्बूरि वरदार्य या लोकाचार्य हुए । उनके दो पत्नियाँ आण्डल और श्रीरंग नायकी थी और एक पुत्र रामानुज नाम का था ।[3] नम्बिल्ल का दूसरा नाम कलजित् या कलिवैरी था । वारणाद्रीश नम्बिल या ज्येष्ठ लोकाचार्य के शिष्य बने । वारणाद्रीश पिल्ले लोकाचार्य के नाम से भी जाने जाते थे । नम्बूरिवरद के माधव नाम का शिष्य था । वरद के पद्मनाभ नामक एक पुत्र था, जिसका रामानुजदास नाम का एक शिष्य था । रामानुजदास का एक पुत्र देवराज था, जिसका एक पुत्र श्री शैलनाथ था और श्री शैलनाथ का शिष्य सौम्य जामातृ या रम्म जामातृ मुनि थे जिन्हें वरवर मुनि या यतींद्रप्रवण या मनवल महामुनि या पेरिय जियार भी कहते थे । ऐसा कहा जाता है कि वे कत्तुर अरंगीय वनवल पिल्ले के पौत्र थे । ये सब कुरेश की 'सहस्त्र गीति व्याख्या' से प्रभावित थे । नम्बूरि वरदार्य या कलजित् के दो और शिष्य उदक प्रतोलि कृष्ण और कृष्ण समाह्मय या कृष्णपाद थे । कृष्णपाद के पुत्र लोकाचार्य कलजित् और कृष्णपाद स्वयं के शिष्य थे। कृष्णपाद का दूसरा पुत्र अभिराम वराधीश था ।

रामानुज के साले वत्स्य गोत्रोत्पन्न देवराज को एक पुत्र वरद विष्णु मिश्र या वात्स्य वरद था जो विष्णु चित्त का शिष्य था, वे स्वयं कुरेश के शिष्य थे । यह वत्स्य वरद वेदान्त के महान् लेखक थे । कुरेश का एक पुत्र श्रीराम पिलै या वेद व्यास भट्ट था, जिनको एक पुत्र वादि विजय था, जिसने 'क्षमा षोडशी स्तव' नामक पुस्तक लिखी । वादिविजय के एक पुत्र सुदर्शन भट्ट था जो विरद विष्णु के समकालीन वत्स्यवरद का शिष्य था । सुदर्शन भट्ट 'श्रुत प्रकाशिका' के विख्यात लेखक थे । सुविख्यात अण्णयाचार्य भी कलजित के शिष्य पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे, श्री शैल, श्रीनिवास या श्री शैलनाथ, अण्णयाचार्य के पुत्र थे । रम्यजामातृ मुनि के अनेक शिष्य थे जैसे कि रामानुज, परवस्तु प्रतिवादी भयंकर अण्णयाचार्य बनमालै जीयार, पेरिय जीयार, कोपिल्य

---

1 प्रपन्नामृत देखो अ 26 ।

2 गोविन्दाचार्य की रामानुज की जीवनी देखो ।

3 उसने दो ग्रन्थ लिखे और जो सारार्थ संग्रह और रहस्यत्रय हैं ।

—प्रपन्नामृत 119, 3 ।

कंडाडैण्णन् इत्यादि ।[1] वेंकटनाथ के शिष्यों में से दो मुख्य हैं—एक उनका पुत्र नैनाराचार्य या कुमार वेदांत देशिक, वरदनाथ या वरदगुरु जिसने वेदान्त के बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं और दूसरा ब्रह्म मंत्र जीयार था। परकालदास और श्री रंगाचार्य सम्भवत: कृष्णपाद या कृष्णसूरि के शिष्य थे जो कलजित् या नम्बूरि वरदार्य के शिष्य थे। अभिराम वाराधीश सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र रामानुज के शिष्य थे। श्री वैष्णव सम्प्रदाय का धार्मिक आधिपत्य भिन्न-भिन्न मठों और मन्दिरों में उत्तरोत्तर सुविख्यात व्यक्तियों के हाथों में रहा, जिसमें वेदान्त के महान् प्रचारक और आचार्य हुए। कुछ लोगों ने महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की और कुछ ने मौखिक उपदेश देकर सन्तोष लिया। इनमें कुछ लोगों के ग्रन्थ प्राप्त हैं और कुछ के विलुप्त हो चुके हैं। ऐसा लगता है कि विशिष्टाद्वैत वाद नवीन विचार धाराओं को जन्म देने में स्थायी प्रेरणा नहीं दे सकता तथा इस अर्थ में इस सम्प्रदाय के तार्किक एवं वाद प्रवीण विचारक शंकर और मध्व मत के विचारकों से निम्न कोटि के रहे। रामानुज सम्प्रदाय के विकास के सारे इतिहास में एक भी ऐसा विचारक नहीं मिलता जिसे श्री हर्ष या चित्सुख तथा जयतीर्थ व्यासतीर्थ की तर्कसंगत कुशाग्रता से तुलना की जा सके। वेंकटनाथ मेघनादारि या रामानुजाचार्य जो वदि हंस भी कहलाते थे, इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक थे। ये इस सम्प्रदाय के मुख्य लेखक रहे हैं किन्तु इनमें तत्त्व मीमांसा उच्च कोटि की नहीं पाई जाती। चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में, शंकर और मध्व सम्प्रदायवादियों में मिथिला और बंगाल के नव्य न्याय दर्शन के प्रत्ययों को स्वीकारने तथा तीव्र तार्किक विश्लेषण और समीक्षण करने की सामान्य रुढ़ि प्रचलित थी। किन्तु श्री वैष्णव सम्प्रदाय में किसी कारणवश विस्तृत रूप से इस पद्धति को नहीं अपनाया गया किन्तु फिर भी उत्तरकालीन तात्त्विक विचारों के विकास का यही मुख्य मार्ग था।

रामानुज सम्प्रदाय के आचार्यों की गणना करते हुए गुरु परम्परा में 'परवादि भयंकर' का नाम दिया है ये वात्स्य गोत्र के थे और रम्यजामातृ मुनि के शिष्य थे। प्रतिवादि भयकर, शठकोप यति के गुरु थे। यह ग्रन्थ एक-दूसरे रम्यजामातृ मुनि का भी उल्लेख करता है जो अनन्तार्य के पुत्र और प्रतिवादी भयंकर के पौत्र और श्री वेंकटेश के शिष्य थे। इसमें वत्स्य गोत्रज वेदान्त गुरु रम्यजामातृ मुनि और वरदार्य के शिष्य वात्स्यगोत्री वेदान्त गुरु तथा वात्स्गोत्रोत्पन्न प्रतिवादि भयंकर के पुत्र सुन्दर देशिक तथा श्री वेंकट गुरु के पुत्र और प्रतिवादि भयंकर के पौत्र अपर्यात्मामृताचार्य का भी उल्लेख है। इन वेंकटाचार्य के प्रतिवादि भयंकर नाम का पुत्र था। रम्यजामातृ मुनि के श्री कृष्ण देशिक नाम का पुत्र था। वात्स्य गोत्र के पुरुषोत्तमार्य श्री वेंकटाचार्य के शिष्य थे। श्री कृष्ण देशिक के रम्य जामातृमुनि नाम का एक पुत्र था, जिनका एक पुत्र कृष्ण सूरि था। अनन्त गुए को एक पुत्र था जो वेंकट देशिक कहलाता था। श्रीनिवास गुरु, वेंकटार्य और वात्स्य श्रीनिवास के शिष्य थे, जिनके अनंतार्य नाम का पुत्र था। हमें इस सूची को आगे प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह श्री वैष्णव सम्प्रदाय के तत्त्व दर्शन और साहित्य के विकास की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं।

---

[1] कुछ शिष्यों के तामिल नाम गोविंदाचार्य कृत रामानुज की जीवनी से संगृहीत किए हैं।

पूर्व आचार्यों के नाम सम्मान की दृष्टि से इनका स्थान लेने वाले परवर्ती आचार्यों को दिए जाने के कारण उनका एक-दूसरे से पृथक्करण कठिन हो जाता है। किन्तु सम्प्रदाय का इतिहास 16वीं शताब्दी या पूर्व 17वीं शताब्दी के बाद महत्त्वपूर्ण न रहा, क्योंकि इसके बाद एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में इसका प्रभाव बहुत कुछ घट गया। आलवारों के समय में श्री वैष्णव पंथ मुख्यतः भगवान् के गूढ़, उन्मत्त प्रेम और आत्म समर्पण का धार्मिक आन्दोलन था। रामानुज के समय में इसने कुछ समय के लिए बौद्धिक रूप धारण कर लिया, किन्तु फिर धीरे-धीरे अपनी धार्मिक अवस्था के रूप में उतार पर आ गया। इस सम्प्रदाय ने शंकर की तरह, किन्तु मध्व से विपरीत, वैदिक ग्रन्थों के विवरण पर अधिक महत्त्व दिया और बुद्धिवाद को उपनिषद् के पाठ एवं उनके विवरण के आधीन रखा। रामानुज सम्प्रदाय के मुख्य विरोधी शंकर-मतानुयायी थे, और हम अनेक ग्रन्थ पढ़ सकते हैं जिनमें शंकर मतवादियों ने रामानुज भाष्य के मुख्य विषयों को तार्किक दृष्टि से, एवं उपनिषदों के पाठों के विवरण की दृष्टि से खण्डन किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उत्तरकाल के कुछ ग्रन्थों के अतिरिक्त, जो विशेष महत्त्व नहीं रखते, एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें शंकर मतवादियों ने विद्वत्तापूर्ण ढंग से रामानुज के मतों का खण्डन किया हो, रामानुज के अनुयायियों ने भी, भास्कर, जादव प्रकाश, मध्व और शैव सिद्धान्तों का खण्डन किया है। किन्तु उनके प्रयत्न विशेषतः शंकर मतवादियों के विरुद्ध ही थे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि रामानुज ने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'वेदार्थ संग्रह', 'वेदान्त सार' और 'वेदान्त दीप', 'भगवद् गीता की टीका' 'गद्यत्रय' और 'भगवद् आराधना क्रम' लिखे।[1] परम्परागत गणना से रामानुज ई० सं० 1017 में जन्मे और 1137 में परलोक सिधार गए। उनके जीवन के मुख्य प्रसंगों का तिथिक्रम लगभग इस प्रकार है, यादव प्रकाश के साथ अध्ययन 1033, यामुन से भेंट करने श्रीरंगम् की प्रथम यात्रा 1043, दीक्षा 1049, चौल राज के उपद्रव के भय से मैसूर भाग जाना 1096, मैसूर होयसल देश के जैन राजा वित्तिदेव का धर्म-परिवर्तन 1098, मेलूकोट में मूर्ति प्रतिष्ठा 1100, मेलूकोट में 1116 तक वास, श्रीरंगम् वापस आना 1118, मृत्यु 1137।[2] उनका शिष्य और भतीजा दाशरथि और उनका शिष्य कुरेश उनसे 15

---

[1] विष्णवार्चा कृतम् अवनोत्सुकोज्ञानम् श्री गीता-विवरण भाष्य-दीप-सारान् तद् गद्य-त्रयम् अकृत प्रपन्न-नित्यानुष्ठान-क्रमम् अपि योगिराट् प्रवंधान्।

—दिव्यसूरि चरितै।

रामानुज के वेदार्थ संग्रह का भी उल्लेख इसी ग्रन्थ में मिलता है।

इत्युक्त्वा निगम-शिखार्थ-संग्रहाख्यम्।
भिन्नस्तां कृतिमुररीक्रियार्थम् अस्य।।

[2] गोविन्दाचार्यर कृत रामानुज की जीवनी। उपरोक्त मतानुसार यामुन 1042 में, रामानुज के श्रीरंगम् में सर्वप्रथम आने के अनुसंधान में स्वर्गवासी हुए होंगे। गोपीनाथ राउ सोचते हैं कि यह प्रसंग 1038 में हुआ। चोल उपद्रव का काल गोपीनाथ राउ के मत में 1078–79 में हुआ, जो रामानुज के मैसूर भगने के साथ मेल खाता है और उनका श्रीरंगम् आना 1117 के बाद हुआ होगा, जो चोल राजा

या 16 वर्ष छोटा था ।[3] रामानुज का भाष्य जो 'श्री भाष्य' कहलाता है उस पर सुदर्शन सूरि ने टीका लिखी । इस ग्रन्थ को 'श्रुति प्रकाशिका' कहा है और इसे श्री भाष्य की महत्त्वपूर्ण टीका माना जाता है ।

रामानुज साहित्य

जैसा अभी कहा गया है, रामानुज के भाष्य की मुख्य टीका सुदर्शन सूरि रचित 'श्रुत प्रकाशिका' है । श्रुत प्रकाशिका लिखी जाने से पहले एक दूसरी टीका जो "श्री भाष्यवृत्ति' कहलाती थी, वह रामानुज के शिष्य राममिश्र देशिक ने उनके आदेशानुसार लिखी थी । यह ग्रन्थ छः अध्याय में लिखा गया था । वह एक साधारण टीका न थी किन्तु रामानुज के भाष्य के मुख्य विषयों का अध्ययन था । यह राममिश्र, यामुन के गुरु राम मिश्र से भिन्न है । श्रुत प्रकाशिका का एक और अध्ययन था जो वीर राघवदास कृत 'भाव प्रकाशिका' है । इस ग्रन्थ की समालोचनाओं का शोठकोपाचार्य कृत 'भाव्य प्रकाशिका-दूषणोद्धार' नामक ग्रन्थ में उत्तर दिया गया था, जिनका जीवन काल 16वीं शताब्दी था । श्रुत प्रकाशिका की एक और टीका वाधुल श्रीनिवास कृत 'तूलिका' थी, जिनका काल 15वीं शताब्दी था । श्रुत प्रकाशिका के विषय 'श्रुत प्रकाशिका सार संग्रह' नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त किए गए थे । रामानुज के भाष्य पर फिर एक टीका रामानुज के भतीजे, वात्स्य वरद द्वारा 'तत्त्वसार' नाम से हुई । टीकाकार के पिता का नाम देवराज और उनकी माता का नाम कमला था जो रामानुज की बहिन थी । वे कुरेश के शिष्य, विष्णु चित्त के शिष्य थे । तत्त्वसार की फिर आलोचना हुई जो 'रत्नसरिणी' कहलाई, जो वाधुल नृसिंह गुरु के पुत्र, वीर राघवदास ने लिखी, वे वाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र वाधुल वरदगुरु के शिष्य थे, उन्होंने भी श्रीभाष्य पर एक टीका 'तात्पर्य दीपिका' नाम की लिखी । वीर राघवदास, सम्भवत: अर्ध 14वीं या 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे । अप्पय्योदीक्षित ने 'न्याय मुख मालिका' नामक ग्रन्थ में रामानुज के सिद्धान्त का विद्वत्तापूर्ण (शास्त्रीय) संग्रह किया । वे मध्य 16वीं शताब्दी में जन्मे थे । विख्यात वेंकटनाथ ने भी अपनी 'तत्त्व टीका' में रामानुज भाष्य का निरूपण किया है । श्री भाष्य की एक और 'नयप्रकाशिका' नाम की टीका थी जो मेघनादारि द्वारा लिखी गई थी, वे 14वीं शताब्दी के वेंकटनाथ के समकालीन थे ।[2] एक दूसरी टीका 'मित प्रकाशिका' नाम की परकाल यति द्वारा लिखी गई है जो सम्भवत: 15वीं

कोलुत्तुंग की मृत्यु का समय है । इस प्रकार गोविन्दाचार्यर और गोपीनाथ राउ के मत में रामानुज के श्रीरंगम् में प्रथम आगमन और मैसूर भगने के समय में मतभेद है । गोपीनाथ राउ का मत अधिक प्रामाणिक दीखता है ।

3 सहस्र गीति भाष्य के उपरान्त कुरेश ने कुरेश विजय भी लिखा ।

2 मेघनादारि का नयद्युमणि नामक विख्यात ग्रन्थ का विस्तार अगले खण्ड में दिया है । वे आत्रेयनाथ के पुत्र थे । उनकी माता का नाम अध्वर नायिका था । उनके तीन भाई हस्त्यद्रिनाथ या वारणाद्रीश, वरदराट् और राम मिश्र थे । इन वारणाद्रीश को दाशरथि के पौत्र जो वाधुल गौत्र के थे, इनसे पृथक् जानना चाहिए । मेघनादारि का दूसरे ग्रन्थ 'भाव प्रबोध' और 'मुमुक्षूपाय' संग्रह थे ।

शताब्दी की है। प्रकाश यति के एक शिष्य रंग रामानुज नाम के थे, जिन्होंने 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक 'श्रीभाष्य' पर अध्ययन लिखा। श्री निवासाचार्य ने भी श्री भाष्य की आलोचना 'बृहत् विद्या कौमुदी' नामक ग्रन्थ में की इस ग्रन्थ के रचयिता कौन से श्रीनिवास थे यह कहना कठिन है क्योंकि रामानुज सम्प्रदाय में कई श्रीनिवास हो गये हैं। वेंकटनाथ के शिष्य चम्पकेश ने भी श्रीभाष्य का निरूपण किया है। शुद्धसत्व लक्ष्मणाचार्य ने भी चम्पकेश के 'गुरु तत्त्व प्रकाशिका' के आधार पर, श्रीभाष्य पर, 'गुरुभाव प्रकाशिका' नामक ग्रन्थ रचा। यह ग्रंथ वास्तव में श्रुत प्रकाशिका की टीका है। इनके लेखक शुद्ध सत्व योगीन्द्र के शिष्य थे। वे रामानुज की मौसी के वंश के हैं, जिस वंश में वेदान्त के 18 आचार्य हुए। वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे और सम्भवतः 16वीं शताब्दी के उत्तरकाल में हुए थे। उक्त 'गुरु भाव प्रकाशिका' को 'गुरु-भाव प्रकाशिक व्याख्या' नामक ग्रंथ में टीका की गई है। सुदर्शन सूरि ने भी श्री भाष्य की टीका 'श्रुदीपिका' में की हो ऐसा लगता है। श्रीशैल वंशज, ताताचार्य और लक्ष्मी-देवी के पुत्र और अण्णयार्य और कोन्डिन श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य श्रीनिवास ने 'तत्त्वमार्तण्ड' नामक श्री भाष्य का संक्षिप्त ग्रंथ लिखा। उनका जीवन काल सम्भवतः 15वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या 16वीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा। उनके पितामह का नाम अण्ण गुरु था। उन्होंने 'णत्व दर्पण' और भेद दर्पण', 'सिद्धान्त चिन्तामणि' 'सार दर्पण' और 'विरोध निरोध' नामक ग्रन्थ लिखे।[1] उन्हें श्री शैल निवास नाम से भी जाना गया है और उन्होंने और भी ग्रंथ लिखे जैसे कि 'जिज्ञासा दर्पण', 'नयद्युमणि दीपिका' और 'नयद्युमणि संग्रह'। नयद्युमणि दीपिका के 'नयद्युमणि' को मेघनादारि लिखित नयद्युमणि से संकीर्ण नहीं करना चाहिए क्योंकि यह रामानुज भाष्य का पद्यों में रचित संक्षेप है जिस पर पद्य में एक टीका है। 'नयद्युमणि संग्रह' रामानुज भाष्य का गद्य ग्रन्थ है जिसके पहले चार सूत्रों में प्रतिवादियों की आलोचनाओं का खण्डन है। नयद्युमणि संग्रह, नयद्युमणि से बहुत छोटा ग्रन्थ है जिसका उपयोग लेखक विस्तृत व्याख्या के लिए करते हैं। इस ग्रंथ में आलोचक का नाम दिए बिना रामानुज के विरुद्ध

---

[1] वे अपने विरोध निरोध ग्रन्थ में 'मुक्ति दर्पण' (हस्तलिखित पृ० 82) और 'ज्ञान-रत्न दर्पण' (हस्तलिखित पृ० 87) का उल्लेख करते हैं और 'भेद दर्पण' में (हस्त-लिखित पृ० 96) 'गुण दर्पण' का उल्लेख करते हैं। इसी ग्रन्थ में आगे दूसरे ग्रन्थों का—'यद्वैत वन कुठार', 'भेद मणि' (हस्तलिखित पृ० 37), 'भेद दर्पण' (हस्त-लिखित पृ० 68), 'सार दर्पण' (हस्तलिखित पृ० 66) और 'तत्त्व मार्तण्ड' (हस्त-लिखित पृ० 87) का उल्लेख करते हैं। 'सार दर्पण' में रामानुज सिद्धान्त के मुख्य विषय दिए हैं। 'विरोध निरोध' (हस्तलिखित पृ० 37) में, अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्णयार्य कृत 'विरोध भंजन' और स्वयं रचित 'सिद्धान्त चिन्तामणि' (हस्तलिखित पृ० 12) का उल्लेख करते हैं। अपने भाई का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि उनका 'विरोध निरोध', 'विरोध भंजन' को दी गई युक्तियों का केवल हेर-फेर ही है, कुछ युक्तियों का विस्तार किया और दूसरों का संक्षेप कर पुनर्व्यवस्था की है। लेखक यह स्वीकारते हैं कि 'विरोध निरोध' अपने ज्येष्ठ भ्राता अण्णयार्य लिखित 'विरोध भंजन' पर ही आधारित है।

आलोचनाओं का सतत उल्लेख है। नयद्युमणि के लेखक ने विस्तार से विवेचन किया है जिसका इस ग्रन्थ में संक्षेप से वर्णन है।[2] इस प्रकार श्रीनिवास ने तीन ग्रंथ लिखे, 'नयद्युमणि', 'नयद्युमणि संग्रह' और 'नयद्युमणि दीपिका'। वे अपने 'सिद्धान्त चिंतामणि' नामक ग्रंथ में मुख्यतः इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म, जड़ और चेतन जगत् का एक कारण है। इस ग्रन्थ में वे हर जगह शंकर के ब्रह्म कारणवाद का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं।

देशिकाचार्य ने पुनः 'प्रयोग रत्नमाला' नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका' लिखी और पुरुषोत्तम ने श्रीभाष्य पर 'सुबोधिनी' नामक टीका लिखी। ये लेखक 17वीं शताब्दी के आसपास सम्भवतः रहे होंगे। वीर राघवदास ने भी श्री भाष्य की 'तात्पर्य दीपिका' में समालोचना की। वात्स्य वरद के 'तत्त्वसार' पर 'रत्नसारिणी' नामक अपने अध्ययन में उनका उल्लेख किया गया है। श्रीनिवास ताताचार्य ने 'लघु प्रकाशिका' लिखी, श्री वात्सांक श्रीनिवास ने 'श्रीभाष्य सारार्थ संग्रह' लिखा और शठकोप ने, 'ब्रह्मसूत्रार्थ संग्रह' नाम से श्री भाष्य की टीका लिखी। ये सब लेखक 16वीं शताब्दी के उत्तरकाल में हुए होंगे ऐसा प्रतीत होता है। श्री वत्सांक श्रीनिवास के ग्रन्थ को रंगाचार्य ने 'श्री वत्स सिद्धान्त सार' नामक ग्रंथ में संक्षिप्त किया। अप्पय दीक्षित ने मध्य 17वीं शताब्दी में रामानुज के विचारों के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर 'नयमुख मालिका' नामक टीका लिखी।[2] रंग रामानुज ने भी एक 'शारीरिक शास्त्रार्थ दीपिका' नामक टीका रामानुज मतानुसार लिखी। उनकी 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक श्री भाष्य पर टीका इसी खण्ड में उल्लेख की जा चुकी है। उन्होंने वेंकटनाथ कृत 'न्याय सिद्धांजन' नामक ग्रंथ पर 'न्याय सिद्धांजन व्याख्या' टीका लिखी। वे परकाल यति के शिष्य थे और सम्भवतः 16वीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने तीन और ग्रन्थ लिखे, जो 'विषय वाक्य दीपिका', छांदोग्योपनिषद् भाष्य' और 'रामानुज सिद्धान्त सार' थे। रामानुजदास जो महाचार्य भी कहलाते थे, सम्भवतः 15वीं शताब्दी में थे। वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे। 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' के रचयिता ये वाधुल श्रीनिवास 'यतीन्द्र मत दीपिका' के रचयिता तथा महाचार्य के शिष्य श्रीनिवासदास से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती रहे होंगे। महाचार्य ने 'पराशरार्य विजय' नामक एक ग्रन्थ लिखा जो रामानुज वेदान्त के सामान्य सिद्धान्त का निरूपक था। उन्होंने श्री भाष्य पर एक और ग्रन्थ लिखा जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्योपन्यास' था। महाचार्य के अन्य ग्रन्थ 'ब्रह्म विद्या विजय', 'वेदान्त विजय', 'रहस्य त्रय मीमांसा', 'रामानुज चरित्र चुलुक', 'अष्ठादस रहस्यार्थ निर्णय' और चण्ड मारुत' जो वेंकटनाथ की 'शत दूषणी' पर टीका है। इन्हें वेंकटनाथ के काका जो रामानुजाचार्य या वादिहंसाम्बुवाह से पृथक् जानना चाहिए।

---

1 भाष्यार्णवमवतीर्णो विस्तीर्णं यदवदम् नयद्युमणौ संक्षिप्य तत् परोक्तिर्विक्षिप्य करोमि तोषणम् विदुषाम्। —नयद्युमणि संग्रह, हस्तलिखित।

2 लक्ष्मणार्यहृदयानुसारिणी लिख्यते नयमालिका, 'नयमुख मालिका' कुम्भकोनम से प्रकाशित। —1915, पृ० 3।

'श्री भाष्य वार्तिक' नामक एक ग्रन्थ है जो और ग्रन्थों के असमान, अभी ही प्रकाशित हुआ है, यह ग्रन्थ पद्य में लिखा गया है किन्तु लेखक इस ग्रन्थ में अपना नाम नहीं देता। सेनानय या भगवत् सेनापति मिश्र ने जो उत्तरकाल के लेखक हैं- 'शारीरक न्याय कलाप' ग्रन्थ लिखा। विजयीन्द्र भिक्षु 'शारीरक मीमांसा वृत्ति' के लेखक थे और रघुनाथार्य 'शरीर शास्त्र संगति सार' के लेखक थे। 16वीं शताब्दी के लेखक सुन्दरराज देशिक ने श्री भाष्य पर 'ब्रह्म सूत्र भाष्य व्याख्या' नामक, श्री भाष्य पर एक सरल टीका लिखी। वेंकटाचार्य ने, जो सम्भवत: 16वीं शताब्दी के लेखक हैं, 'ब्रह्म सूत्र भाष्य पूर्व पक्ष संग्रह' कारिका नामक पद्य में एक ग्रन्थ लिखा। ये वेंकटाचार्य प्रतीवादीभ केसरी नाम से विख्यात थे। इन्होंने 'आचार्य पंचाशत्' भी लिखा। चम्पकेश में जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, 'श्री भाष्य व्याख्या' नामक, श्री भाष्य पर एक टीका लिखी। वेंकटाचार्य ने 'श्री भाष्य सार' नामक ग्रन्थ लिखा। श्री वत्सांक श्रीनिबासाचार्य 'श्री भाष्य सारार्थ संग्रह' के लेखक थे। श्री रंगाचार्य ने 'श्री भाष्य सिद्धान्त सार' और श्री निवासाचार्य ने 'श्री भाष्योपन्यास' लिखा। दो और टीकाएँ हैं, जो 'ब्रह्म सूत्र भाष्य संग्रह विवरण' और 'ब्रह्म सूत्र भाष्यारम्भ प्रयोजन समर्थन' हैं, किन्तु पाण्डुलिपि में लेखक के नाम अविद्यमान हैं। 12वीं शताब्दी के वेंकटनाथ ने 'अधिकरण सारावी' और मंगाचार्य श्रीनिवास ने 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' लिखी। वरदाचार्य या वरदनाथ के जो वेंकटनाथ के पुत्र थे, 'अधिकरण चिन्तामणि' नामक 'अधिकरण सारावाली' पर टीका लिखी। इस विषय पर एक दूसरा भी ग्रन्थ है, जो 'अधिकरण युक्ति विलास' है, किन्तु लेखक श्रीनिवास की स्तुति करते हैं, अपना नाम नहीं देते इसलिए यह जानना कठिन है कि ये कौन से श्रीनिवास थे। जगन्नाथ यति ने ब्रह्म सूत्र पर रामानुज जैसी एक टीका लिखी और यह 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' थी। इससे स्पष्ट होता है कि रामानुज के भाष्य ने अनेक पण्डितों और विद्वानों को प्रेरणा दी और इस तरह एक विशाल साहित्य उत्पन्न हुआ। किन्तु दुःख के साथ यह कहना ही पड़ेगा कि इतना बड़ा आलोचनात्मक साहित्य सामान्य तात्त्विक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखता। रामानुज की 'वेदार्थ संग्रह' की टीका 14वीं शताब्दी के सुदर्शन सूरि द्वारा 'तात्पर्य दीप' में की गई थी। वे वाग्विजय या विश्वजय के पुत्र थे और वात्स्य वरद के शिष्य थे। रामानुज के भाष्य के अध्ययन के उपरान्त, जिसका अभी ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्होंने 'संध्या वंदन भाष्य' लिखा। रामानुज की 'वेदान्त दीप' (ब्रह्म सूत्र की संक्षिप्त टीका) पर 16वीं शताब्दी के अहोबिल रगनाथ यति ने निरूपण किया था। वेकटनाथ ने रामानुज गद्यत्रय पर आलोचना की और सुदर्शनाचार्य ने उस पर टीका लिखी, कृष्णपाद ने भी जो उत्तरकाल के लेखक हैं एक टीका लिखी। रामानुज की गीता की टीका पर वेंकटनाथ ने टीका की। 'वेदान्त सार' में रामानुज ने स्वयं श्री भाष्य के आधार पर ब्रह्म सूत्र की संक्षिप्त टीका दी है।

पद्मनाभ के पुत्र और वेंकटनाथ के मामा, आत्रेय गोत्र रामानुजाचार्य जो वादिहंसाम्बुहाचार्य भी कहे जाते हैं, 13वीं या 14वीं शताब्दी में विद्यमान थे, उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नय कुलिश' या 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसे हम पहले बता चुके हैं। उन्होंने 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका', 'सर्व दर्शन शिरोमणि' और 'मोक्ष सिद्धि' ग्रन्थ

लिखे, जिसका उल्लेख वे स्वयं 'न्याय कुलिश' में करते हैं।[1] ऐसा लगता है कि 'नय कुलिश' विशिष्टाद्वैत मत का पूर्व ग्रन्थों में से एक तार्किक या सत्ता मीमांसा विषयक ग्रन्थ है किन्तु इस प्रकार के और भी ग्रन्थ हैं जो रामानुज के पहले या उनके समय में लिखे गए थे। इस प्रकार नाथमुनि ने न्याय सिद्धान्तों का खण्डन किया है और न्याय दर्शन का एक नया मत स्थापित किया है। विष्णु चित्त ने जो रामानुज के कनिष्ठ समकालीन थे, दो ग्रन्थ 'प्रमेय संग्रह' और 'संगति माल' लिखे हैं। वरद विष्णु मिश्र का समय सम्भवत: 12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या 13वीं शताब्दी के पूर्वार्ध होगा। उन्होंने 'मानयाथात्म्य निर्णय' लिखा है। वरदनारायण भट्टारक ने भी जो वेंकटनाथ के पहले हुए 'प्रज्ञापरित्राण' लिखा।[2] पराशर भट्टारक ने जो सम्भवत: 13वीं शताब्दी में हुए, 'तत्त्वरत्नाकर' लिखा।[3] वेंकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' में इन सबों का जिक्र किया है किन्तु इनकी पाण्डुलिपियाँ हमें नहीं मिली हैं। वात्स्य वरद के ग्रन्थ पृथक् खण्ड में दिए गए हैं।

वेंकटनाथ जो वेदान्त देशिक वेदान्ताचार्य और कवि तार्किकसिंह भी कहलाते थे, विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के महान् विख्यात व्यक्ति हुए। वे ई० सं० 1268 में कांजीवरम् के टुप्पल नगर में जन्मे थे। उनके पिता अनन्त सूरि थे, उनके पितामह पुण्डरीकाक्ष थे, वे विश्वामित्र गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनकी माता आत्रेय रामानुज की, जो वादीकल हंसाम्बुवाहाचार्य भी कहे जाते थे, बहिन तोतारम्बा थी। वे अपने मामा आत्रेय रामानुज के साथ पढ़े और ऐसा कहा जाता है कि वे, पांच वर्ष की उम्र में, उनके साथ वात्स्य वरदाचार्य के घर गए। लोक कथा ऐसी है कि इस छोटी वय में भी उन्होंने ऐसी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की कि वात्स्य वरद ने यह भविष्यवाणी की कि वे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के शक्ति-स्तम्भ बनेंगे और समस्त मिथ्या वादों का खण्डन करेंगे।[4] ऐसा प्रतीत होता है उन्होंने भी वरदाचार्य स्वयं के साथ शिक्षा पाई।[5] ऐसा

---

[1] मैं मोक्ष सिद्धि की पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं कर सका। सम्भवत: यह ग्रन्थ खो गया है।

[2] उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ न्याय सुदर्शन लिखा ऐसा माना जाता है, जिसका उल्लेख 'तत्त्व मुक्ता कलाप' (मैसूर 1933) की प्रस्तावना में है।

[3] उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ 'भगवत् गुण दर्पण' लिखा।

[4] उत्प्रेक्ष्यते बुधजनै रूप पत्ति भू म्न्य।
घंटा हटे: समजनिष्ट जडात्मीनिति ।।
प्रतिष्ठापित वेदान्त: प्रतिक्षिप्त-बहिर्मत:।
भूयास्त्वैविद्यमान्यस्त्वं भूरि कल्याण भाजनम् ।।
ऐसा कहा जाता है कि उपरोक्त पद्य में उन्हें वरदाचार्य से आशीर्वाद मिला था, यहां वेंकटनाथ को भगवान् के घर का अवतार कहा है। भारत के वैष्णव सुधारक, राजगोपालाचार्य र कृत।

[5] श्रुत्वा रामानुजार्यात् सदसदपि ततस्तत्वमुक्ताकलापं।
व्यातानीद् वेंकटेशो वरदगुरु कृपा लम्भितोद्दाम-भूमा।
—तत्त्वमुक्ता कलाप श्लोक 2।

कहा जाता है कि वे उञ्छवृत्ति पतेपे से गलियों में भिक्षा मांग कर निर्वाह करते थे और उन्होंने सारा जीवन तात्त्विक एवं धार्मिक ग्रन्थों के लेखन में ही व्यतीत किया। 'संकल्प सूर्योदय' में वे लिखते हैं कि जब वे इस ग्रन्थ को लिख रहे थे तब तक उन्होंने श्रीभाष्य को तीस बार पढ़ लिया था। जब वे कांची और श्रीरंगम् में रहते थे तब उन्हें प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायों के बीच कार्य करना पड़ता था। पिल्लै लोकाचार्य ने, जो उनसे वय में बड़े थे और जो तेलगाई सम्प्रदाय के आधार थे और जिनके विरुद्ध वेंकटनाथ लड़े थे, उनकी प्रशंसा में एक पद्य लिखा था। विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि वेंकटनाथ 1369 में परलोकवासी हुए। कुछ लोगों का यह भी मत है कि वे 1351 में मरे। वे लम्बी आयु तक जीवित रहे और जीवन का अधिकांश समय उत्तर भारत की यात्रा में बिताया, वे विजयनगर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी गए थे। विद्यारण्य की वेंकटनाथ से मैत्री की बात सच या झूठ हो, किन्तु हम यह जानते हैं कि विद्यारण्य 'तत्त्व मुक्ता कलाप' से परिचित थे। वे 'सर्वदर्शन संग्रह' में विशिष्टाद्वैत के वर्णन के लिए इसी ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं। जब वेंकटनाथ अधेड़ अवस्था के थे तब 'श्रुत प्रकाशिका' के लेखक सुदर्शन सूरि वृद्ध हो चुके थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने वेंकटनाथ को श्रीरंगम् बुलाया और उन्हें श्री भाष्य की अपनी टीका सौंप दी जिससे उसे अधिक प्रचार मिले। स्वयं वेंकटनाथ ने श्री भाष्य पर टीका लिखी, जो 'तत्त्व टीका' है यद्यपि वे बड़े दयालु और आदर्श व्यक्ति थे तो भी उनके अनेक दुश्मन थे जिन्होने उन्हें अनेक प्रकार से पीड़ा देने और अपमानित करने की कोशिश की। इसी समय में प्रपत्ति या ईश्वर शरणागति के अर्थ-बोध के विषय पर श्री वैष्णव विद्वानों में बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो गया। मुख्य विषय प्रपत्ति के स्वरूप के भिन्न अर्थ-बोध पर तथा अन्य छोटे भेद कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में जैसे कि तिलक इत्यादि प्रश्न पर दो स्पष्ट पंथ बन गए। इन दोनों पंथों में से वाडकलै पंथ के नेता वेंकटनाथ और तेंगलाई पंथ के नेता पिल्लै लोकाचार्य थे। पीछे से सौम्य जामातृ तेंगलाई पंथ के अग्रज माने गए। यद्यपि नेताओं में आपस में सहानुभूति बहुत थी किन्तु उनके अनुयायियों ने छोटे-मोटे मत-भेदों को लेकर तिल का ताड़ बनाते रहे और हर समय आपस में लड़ते रहते थे। यह तो सुविख्यात तथ्य है कि इन पंथों का विग्रह अभी तक चालू है।

वेंकटनाथ के समय में अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर 1310 में आक्रमण किया। उसने वारंगल और द्वार समुद्र को सरलता से जीत लिया और दक्षिण सीमान्त तक बढ़ गया और लूटमार तथा तबाही फैला दी। 1326 में मुसलमानों ने श्रीरंगम् पर आक्रमण किया और शहर तथा मन्दिर को लूटा। लगभग 1351 में हिन्दू राजा बुक्का प्रथम ने विजयनगर राज्य बसाया। जब मुसलमानों ने श्रीरंगम् मंदिर को लूटा तो मंदिर के पुजारी रंगनाथ की मूर्ति को लेकर मदुरा भाग गए। मूर्ति की प्रतिष्ठा तिरुपति में की गई और वहां उसकी पूजा होने लगी। बुक्का के पुत्र कम्पन ने सेनाध्यक्ष गोप्पन, रंगनाथ को श्रीरंगम् में वापस लाने में सफल हुए। यह प्रसंग वेंकटनाथ द्वारा एक पद्य में अमर किया गया है जो श्रीरंगम् के मंदिर की दीवार पर अब भी अंकित है। कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यह पद्य उन्होंने नहीं लिखा था किन्तु उनको आरोपित किया गया है। यह वार्ता तामिल ग्रन्थ 'कवि लोलोगु' में कही गई है और 15वीं शताब्दी की वाडकलाई गुरु परम्परा में भी उल्लिखित है। श्रीरंगम्

के आम मारकाट के समय वेंकटनाथ मुर्दों में छिप गए और अन्त में मैसूर भाग गए। कुछ वर्ष वहां रहने के बाद वे कोइम्बतूर चले गए और वहां उन्होंने 'अभीति स्तव' लिखा जिसमें उन्होंने मुसलमानों के आक्रमण और श्रीरंगम् की दयाजनक स्थिति का वर्णन किया है। जब उन्होंने सुना कि गोप्पन के प्रयत्न से रंगनाथ श्रीरंगम् में वापस आ गए तो उन्होंने उनके प्रयत्न की बहुत प्रशंसा करते हुए एक पद्य की रचना की।[1]

वेंकटनाथ अनेकों विषयों के प्रचुर लेखक थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। काव्य के क्षेत्र में उनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'यादवाभ्युदय', 'हंस संदेश', 'सुभाषित नीवि', और 'संकल्प सूर्योदय' हैं। अन्तिम ग्रन्थ दस अंकों का प्रतीकात्मक नाटक है। 'यादवाभ्युदय' कृष्ण के जीवन के सम्बन्धित ग्रंथ हैं जिस पर अप्पय दीक्षित जैसे व्यक्ति ने टीका की थी। 'सुभाषित नीवि' एक नैतिक काव्य है जिसकी श्रीनिवास सूरि ने टीका की, जो श्री शैल वंशज थे और वेंकटनाथ के पुत्र थे। सम्भवत: वे 15वीं शताब्दी में हुए। वेंकटनाथ का दूसरा काव्य 'हंस संदेश' है। 'संकल्प सूर्योदय' में वे नाटकीय ढंग से प्रबोध चन्द्रोदय की तरह, जीव की अन्तिम पूर्णावस्था प्राप्त करने में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन करते हैं। उन्होंने लगभग 32 स्तोत्र लिखे जैसे कि 'हय ग्रीव स्तोत्र' और 'देवनायक पंचाशत्' और 'पादुका सहस्त्र नाम'। उन्होंने कर्मकाण्डी और भक्तिपूर्ण छन्द भी रचे जैसे कि 'यज्ञोपवीत प्रतिष्ठा', 'आराधना क्रम', 'हरिदीन तिलक', 'वैश्वदेव कारिका', 'श्री पंचरात्र रक्षा', 'सच्चरित्र रक्षा' और 'निक्षेप रक्षा'। उन्होंने अनेकों स्रोतों से प्रपत्ति विषयक पद्यों का भी संकलन किया और 'न्याय विंशति' लिखा और उसी आधार पर एक दूसरा ग्रन्थ लिखा जो 'न्याय तिलक' है, जिस पर उनके पुत्र कुमार वेदान्त देशिक ने टीका लिखी। यह न्यास तिलक की व्याख्या है। 'पंचरात्र रक्षा' ग्रन्थ का उल्लेख इस पुस्तक के पंचरात्र खण्ड में किया गया है। उन्होंने एक और ग्रन्थ 'शिल्पार्थ सार' नामक लिखा, दो ग्रन्थ, 'रस भौमामृत' और 'वृक्ष भौमामृत' नामक

---

[1] आनीयानीलश्रृंगद्युतिरचित-जगद्-रंजनादंजनाद्रे:।
चेंच्याम् आराध्य कंचित् समयमथ निहत्योद्धनुष्कांश्चतुष्कान् ।।
लक्ष्मी-भूम्यावुभाभ्याम् सह निज नगरे स्थापयन् रंगनाथम्।
सम्यग् वर्यां सपर्यां पुनराकृत यशो-दर्पणं गोप्पणार्य: ।।

—यह पद Epigraphica Indica में पृ० 6, पृ०330 पर है।

यह प्रसंग दोड्डाचार्य के वेदान्त देशिक, वैभव प्रकाशिका और यतींद्र प्रवण में इन श्लोकों में कहा है।

जीत्वा तुलष्कान् भुवि गोप्पनेंद्रो,
रंगाधिपम् स्थापितवान् स्वदेशे,
इत्येवमाकर्ण्य गुरु कवीन्द्रो
धृष्टवद् यस्तम् अहम् प्रपद्ये ।।

उपरोक्त 'वैभव प्रकाशिका' टीका के आधार पर वेंकटनाथ 1269 में जन्मे और 1369 में स्वर्गलोक सिधार गए ऐसा साबित होता है। गोप्पणार्य द्वारा रंगनाथ की पुन: स्थापना 1371 में हुई।

आयुर्वेद पर लिखे। एक पौराणिक भूगोल पर, 'भूगोल निर्णय' लिखा और तात्त्विक ग्रन्थ 'तत्त्व मुक्ता कलाप' गद्य में अपनी टीका सहित लिखा, 'टीका सर्वार्थ सिद्धि' कहलाई। इन सबका विस्तार सहित उल्लेख वेंकटनाथ के विशेष खण्ड में किया है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ 'आनंददायिनी या आनन्द वल्लरी' (हस्तलिखित) या 'नृसिह राजीय या भाव प्रकाश' हैं जिसमें अन्तिम ग्रन्थ व्याख्या रूप में है। आनन्ददायिनी टीका, नृसिह सूरि और तातारम्बा और देवराज सूरि के पुत्र वात्स्य नृसिहदेव ने लिखी। नृसिहदेव के नाना कौशिक श्रीभाष्य श्रीनिवास थे। वे उनके गुरु भी थे। उनके एक और गुरु अप्पयाचार्य थे। यह देवराज सूरि सम्भवत: 'विम्ब तत्त्व प्रकाशिका' और 'चरमोपाय तात्पर्य' के लेखक थे। नृसिहदेव के अन्य ग्रन्थ, पर 'तत्त्वदीपिका', 'भेद-धिक्कार न्यक्कार', 'मणि सारधिक्कार', 'सिद्धान्त निर्णय', वेंकटनाथ की निक्षेप रक्षा पर नृसिह राजीय नामक टीका और शतदूषणी पर टीका है। यह नृसिहदेव 16वीं शताब्दी में हुए। 'भावप्रकाश' नामक टीका नव्य रंगेश ने लिखी। वह उन्हें कलजित् के शिष्य बताते हैं। किन्तु यह कलजित् प्रसिद्ध लोकाचार्य से कोई और ही होंगे। क्योंकि 'भाव प्रकाश टीका' आनन्ददायिनी के विषय का उल्लेख करती है अत: उत्तरकाल का ग्रन्थ है। यह 16वीं शताब्दी के उत्तरकाल में या 17वीं शती के प्रारम्भ में लिखा गया होगा।

वेंकटनाथ के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का व्यापक नैयायिक ग्रन्थ, 'न्याय परिशुद्धि' लिखा। इस पर देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य, श्रीनिवासदास द्वारा आलोचना की गई है। वह नृसिहदेव के काका और गुरु होंगे जो आनन्ददायिनी के लेखक थे। इनकी टीका 'न्याय सार' कहलायी। 'न्याय परिशुद्धि' की दो और भी टीकाएँ थीं' 'निकाश' शठकोप यति द्वारा, जो अहोविल के शिष्य थे, और कृष्णताताचार्य कृत 'न्याय परिशुद्धि व्याख्या' हैं।

वेंकटनाथ ने 'न्याय परिशुद्धि' के परिशिष्ट में 'न्याय सिद्धांजन' लिखा जिसकी विषय-वस्तु वेंकटनाथ सम्बन्धी पृथक् खंड में दी गई है। उन्होंने एक और 'परमत भंग' नामक ग्रन्थ लिखा और 'खण्डन-मण्डनात्मक शतदूषणी' ग्रन्थ लिखा। ग्रंथ के नाम से पता चलता है कि इसमें 100 विषयों के खंडन हैं किन्तु जो पुस्तक मेरे हाथ लगी है उसमें केवल 40 ही खंडन हैं। सुविख्यात टीका जो प्राप्त है वह वाधुल श्रीनिवास के शिष्य, रामानुजदास लिखित 'चण्डमारुत' है। समस्त महत्त्वपूर्ण विवाद जो शत दूषणी में हैं वे शंकर-मत की ओर निर्देश करते हैं। उनका वृत्तान्त पृथक् खंड में दिया है। उसकी एक और टीका नृसिहराज द्वारा है। वह भी 'खण्ड मारुत' कहलाती है और एक 'सहस्र किरणी' है जो श्रीनिवासाचार्य ने लिखी है।

वेंकटनाथ ने श्रीभाष्य की 'तत्त्व टीका' के उपरान्त, श्रीभाष्य के अन्तर्गत विवाद के सामान्य विषय का संक्षेप लिखा जो 'अधिकरण सारावली' है। उनके पुत्र कुमार वेदान्ताचार्य या वरदनाथ ने इस पर टीका लिखी जो 'अधिकरण सारावली व्याख्या' या 'अधिकरण चिंतामणि' है। उन्होंने दो छोटे प्रबंध भी लिखे जो 'चकार समर्थन' और 'अधिकरण दर्पण' हैं। ईशोपनिषद् पर टीका, एक यामुन के 'गीतार्थ संग्रह' पर 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' नामक टीका, रामानुज के 'गीता रहस्य' पर टीका 'तात्पर्य चंद्रिका' और यामुन की चतुश्लोकी और स्तोत्र रत्नाकर पर टीका 'रहस्य रक्षा' भी उन्हीं की कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने मणि प्रवाल शैली में 32 ग्रंथ रचे

जिनमें से कुछ संस्कृत में अनूदित हुए। ये ग्रन्थ 'सम्प्रदाय परिशुद्धि,' 'तत्त्वपदवी,' 'रहस्य पदवी,' 'तत्वनवनीतम्,' 'रहस्य नवनीतम्,' 'तत्वमातृका,' 'रहस्य मातृका,' 'तत्व संदेश,' 'रहस्य संदेश,' 'रहस्य संदेश विवरण,' 'तत्व रत्नावली,' 'तत्व रत्नावली संग्रह,' 'रहस्य रत्नावली,' 'रहस्य रत्नावली हृदय,' 'तत्व त्रय चुलुक,' 'रहस्य त्रय चुलुक,' 'सारदीप,' 'रहस्य त्रय सार,' सार सार, अभय प्रदान सार, तत्त्व शिखामणि, रहस्य शिखामणि, अंजलि वैभव, प्रधान शतक, उपकार संग्रह, सारसंग्रह, विरोध परिहार, मुनि वाहन भोग मधुर कवि हृदय, परमपाद सोपान, परमत भंग, हस्ति गिरि महात्म्य, द्रविडोपनिषत् सार, द्रविड़ोपनिषद् तात्पर्यावली, और निगम परिमल हैं। अंतिम तीन ग्रन्थों में आलवारों के उपदेशों का संक्षेपीकरण है। वे तामिल भाषा में 24 कविताओं के रचयिता भी थे।[1]

वेंकटनाथ का एक छोटा निबंध भी मिला है जो 'वादित्रय खंडन' है। इसमें शंकर, यादव प्रकाश और भास्कर का खण्डन है। अधिकांश युक्तियाँ शंकर के विरुद्ध हैं, यादव प्रकाश और भास्कर के सिद्धान्तों का तो स्पर्शमात्र किया है। उन्होंने मीमांसा पर दो ग्रन्थ लिखे, जो 'मीमांसा पादुका' और 'सेश्वर मीमांसा' हैं। अन्तिम ग्रन्थ में वेंकटनाथ जैमिनि के मीमांसा-सूत्र की व्याख्या शबर से भिन्न करते हैं। उनका मुख्य हेतु मीमांसा-सूत्र का इस तरह अर्थ बोध करना था कि वह ब्रह्म सूत्र के विरुद्ध न जाय किन्तु वह ब्रह्म सूत्र का परिपूरक सहायक रहे। इस प्रकार जैमिनि के पहले सूत्र की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि वेदाध्ययन की विधि, वेदों के केवल पढ़ने से पूरी हो जाती है। विधि का अर्थ यह नहीं कि पाठों के अर्थों के प्रति जिज्ञासा की जाय और मीमांसा भी पढ़ी जाय क्योंकि पाठों के अर्थ जानने की इच्छा तथा उनके प्रयोग से यह सहज ही उत्पन्न होती है। मीमांसा का अध्ययन ब्रह्मचारी के अन्तिम स्नान के बाद भी हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी के रूप में गुरु गृह में अपनी अनिवार्य शिक्षा सम्पन्न करने के पश्चात्, वहीं पर मीमांसा का अध्ययन करने के लिए रह सकता है, किन्तु मीमांसा की शिक्षा आवश्यक कर्मों का अंग नहीं है। पुनः धर्म की व्याख्या करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि धर्म हमें श्रेय तक पहुंचाता है और साथ ही साथ उसका विधि अनुसार होना भी आवश्यक है।[2] यद्यपि कुछ लोग धर्म शब्द अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त करें तो भी उपरोक्त व्याख्यायित धर्म का अर्थ अपरिवर्तनीय रहता है। स्मृति, पुराण, पंचरात्र ब्रह्म सूत्र इत्यादि का आदेश धर्म माना जाना चाहिए क्योंकि वे वेद पर आधारित हैं जो कि उन सबों का मूल स्रोत है। श्रुति के अलावा किसी अन्य प्रमाण से धर्म की प्रमाणता नहीं साबित की जा सकती। सन्देह या विवाद उपस्थित होने पर 'मीमांसा सूत्र' की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उसका बादरायण के मत से कोई विरोध न हो, क्योंकि वे जैमिनि के गुरु थे।

वेंकटनाथ का पुत्र भी वेदान्त का एक महान् लेखक था। वह कुमार वेदान्ताचार्य, वरदार्य, या वरदनाथ या वरद देशिकाचार्य या वरदराज सूरि या वरद नायक सूरि या

1 इन तामिल ग्रन्थों की सूची हमें नहीं मिल पाई, यह हमने मैसूर से प्रकाशित 'तत्त्व मुक्ता कलाप' की प्रस्तावना से संगृहीत किया है।

2 चोदना लक्षणत्व-विशेषितमेवार्थे साधनत्वं धर्म लक्षणम्। —ईश्वर मीमांसा, पृ० 18।

वरद गुरु कहलाता था। उन्होंने संस्कृत गद्य में 'तत्त्व त्रय चुलुक संग्रह' नाम का ग्रन्थ रचा जिसमें वे वेंकटनाथ के तामिल ग्रन्थ "तत्त्व त्रय चुलुक' का संक्षेपीकरण करते हैं जिसमें जीव, जड़ और ईश्वर के बारे में श्रीनिवास सिद्धान्त का वर्णन है।[1] उनकी अन्य रचनाएँ 'व्यवहारैक सत्यत्व खण्डन,' 'प्रपत्ति कारिका,' 'रहस्य त्रय चुलुक,' 'चरम गुरु निर्णय,' 'फलभेद खण्डन,' 'आराधना संग्रह,' 'अधिग्रहण चिन्तामणि,' 'न्यास तिलक व्याख्या,' 'रहस्य त्रय सारार्थ संग्रह' हैं। अन्तिम तीन रचनाएँ वेंकटनाथ की अधिकरण सारावली, न्यास तिलक, और रहस्य त्रय सार पर टीकाएँ हैं। वरदार्य चौदहवीं शताब्दी के अन्त या पंद्रहवीं के प्रथम भाग तक रहे होंगे।

मेघनादारि सम्भवत: 12वीं या 13वीं शताब्दी के पूर्व काल में विद्यमान थे। उनका सम्पर्क, अपने ज्येष्ठ भ्राता राममिश्र से जो रामानुज के शिष्य थे, निकट का रहा। उन्होंने श्रीभाष्य पर 'न्याय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी तथा 'भाव प्रबोध,' 'मुमुक्षूपाय संग्रह' और 'नयद्युमणि' ग्रन्थ भी लिखे। अन्तिम ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर महान् ग्रन्थ है जिसका मुख्य वर्ण्य विषय पृथक् खण्ड में दिया गया है। वे आत्रेय-नाथ और अध्वर नायिका के पुत्र थे। उनके तीन भाई, हस्त्यद्रिनाथ, वरदराट् और राममिश्र थे।

रामानुजदास या महाचार्य ने श्रीभाष्य पर 'ब्रह्मसूत्र भाष्योपन्यास' नाम की टीका लिखी। उन्होंने एक 'पाराशर्य' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें उन्होंने यह बताने की कोशिश की कि शंकर मध्व तथा अन्य आचार्यों की टीकाएँ, बादरायण के सूत्र से मेल नहीं खातीं। इसका थोड़ा वर्णन इस पुस्तक के चतुर्थ भाग में मिलेगा। उन्होंने 'रामानुज चरित चुलुक,' 'रहस्यत्रय मीमांसा भाष्य,' और 'खण्ड मारुत' लिखा जो वेंकटनाथ की शतदूषणी की विद्वत्तापूर्ण टीका है। सुदर्शन गुरु ने उनके 'वेदान्त विजय' पर 'मंगल दीपिका' नामक टीका लिखी। उन्होंने एक बृहत् ग्रंथ 'वेदान्त विजय' नामक लिखा जो अनेक स्वतंत्र खण्डों का होते हुए भी आपस में सम्बद्ध है। पहला भाग 'गुरु पसत्ति विजय' है जिसमें गुरु के पास उपसन्न करने की पद्धति की विवेचना है। यह हस्तलिखित ग्रंथ बड़ा मोटा 273 पृष्ठों का है। विवेचना का प्रकार उपनिषदों जैसा है। दूसरा भाग 'ब्रह्म विद्या विजय' (हस्तलिखित 221 पृ० वाला) जिसमें वे उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ब्रह्मन् का अर्थ नारायण ही है अन्य कोई देव नहीं है। तीसरा भाग 'सद् विद्या विजय' 7 अध्यायों वाला है जो तात्त्विक और विवादपूर्ण है। मैंने उत्तरखण्ड में इसके विषय का वर्णन किया है। अंतिम खंड विजयोल्लास है (हस्तलिखित 158 पृ०) जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास है कि उपनिषद् नारायण को ही निर्दिष्ट करते हैं। मुझे इस पुस्तक का चतुर्थ भाग प्राप्त नहीं हो सका। सुदर्शन गुरु ने इस वेदान्त विजय पर एक टीका लिखी। यह सुदर्शनाचार्य से भिन्न व्यक्ति है। इन्होंने 'अद्वैत विद्या विजय' नामक, एक ग्रंथ तीन अध्यायों वाला लिखा जो उपनिषद् के पाठों पर आधारित है। इसके तीन अध्याय, 'प्रपंच मिथ्यात्व भंग,' 'जीवेश्वरैक्य भंग' और 'अनरण्डार्थत्व भंग' हैं। इन्होंने एक ग्रंथ 'उपनिषद् मंगल दीपिका' नामक लिखा जो हमें मिल नहीं सका। वे अपने को कभी वाधुल श्री निवास या कभी उनके

1 वह चिदचिदेश्वर तत्व निरूपण या तत्वत्रय नाम से भी जाना जाता है।

पुत्र प्रज्ञानिधि के शिष्य बताते हैं। उनका काल सम्भवतः 15वीं शताब्दी रहा होगा। वे वाधुल श्रीनिवास के शिष्य थे। जिन्होंने 'श्रुत पंचाशिका' पर 'तूलिका' नामक टीका लिखी।

रंग रामानुज मुनि का जीवन काल सम्भवतः 15वीं शताब्दी रहा। वे वात्स्य अनंतार्य, ताताचार्य और परकाल यति अथवा कुम्भकोन ताताचार्य के शिष्य थे। उन्होंने श्री भाष्य पर 'मूल भाव प्रकाशिका' नामक टीका लिखी और न्याय सिद्धांजन पर, 'न्याय सिद्धांजन व्याख्या' नामक टीका लिखी। उन्होंने द्रमिड़ोपनिषद् भाष्य, विषय व्यख्या दीपिका, रामानुज सिद्धान्त सार और छांदोग्योपनिषद् प्रकाशिका नामक छांदोग्योपनिषद् पर टीका लिखी, तथा एक बृहदारण्यकोपनिषद् प्रकाशिका टीका लिखी। उन्होंने शारीरक शास्त्रार्थ दीपिका नामक एक ब्रह्म सूत्र पर एक स्वतंत्र टीका लिखी। आउफ्रेच्ट अपने 'केटेलोगुस केटेलोगोरूम' में लिखते हैं कि उन्होंने ये निम्न ग्रन्थ लिखे: (हमें प्राप्त नहीं हो सके) 'उपनिषद् व्याख्या विवरण,' 'उपनिषद् प्रकाशिका,' 'उपनिषद् भाष्य,' 'द्रविडोपनिषत्-सार-रत्नावली-व्याख्या,' 'कठवल्ली उपनिषद् प्रकाशिका,' 'कौशीतकोपनिषत् प्रकाशिका,' 'तैत्तिरीयोपनिषद् प्रकाशिका,' 'प्रश्नोपनिषत् प्रकाशिका,' 'माण्डूक्योपनिषत् प्रकाशिका,' 'मुण्डकोपनिषत् प्रकाशिका,' 'श्वेताश्वतरोपनिषत् प्रकाशिका,' 'श्रुत भाव प्रकाशिका' और 'गुरु भाव प्रकाशिका'।[1]

रंगरामानुज के गुरु परकाल यति ने जो कुम्भकोनम् ताताचार्य भी कहलाते थे निम्न ग्रन्थ लिखे: 'द्रविडश्रुति तत्त्वार्थ प्रकाशिका,' 'तिरुप्पलाण्डु व्याख्यान,' 'तिरुप्पलवै व्याख्यान,' 'कण्णिणुम-शिर ताम्बु-व्याख्यान' और 'अधिकार संग्रह व्याख्या'। उन्होंने विजयीन्द्र की 'परतत्व प्रकाशिका' का खंडन करते हुए 'विजयीन्द्र पराजय' लिखा।

माधव कुलोत्पन्न श्रीनिवासदास ने जो देवराजाचार्य के पुत्र और वेंकटनाथ के शिष्य थे, न्याय परिशुद्धि पर 'न्याय सार' नाम की टीका लिखी तथा एक टीका और लिखी जो 'शतदूषण व्याख्या सहस्त्रकिरणी' है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि जिस श्रीनिवासदास ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त,' 'कैवल्यशतदूषणी,' 'दुरुपदेशधिक्कार,' 'न्यास विद्या विजय,' 'मुक्ति शब्द विचार,' 'सिद्धयुपाय सुदर्शन,' 'सार निष्कर्ष टिप्पणी' और 'वादाद्रि कुलिश' लिखे, वही 'न्याय सार' के भी लेखक थे। उनका जीवन 14वीं शताब्दी का अन्त और 15वीं शताब्दी रहा। इन श्रीनिवास को श्रीशैल निवास से पृथक् रखना चाहिए, जिनके ग्रन्थों का उल्लेख पृथक् खंड में किया गया है। श्रीशैल निवास भी 15वीं शताब्दी में हुए, ऐसा मानना संभव है।

हम एक और श्रीनिवास को जानते हैं जिन्होंने 'अधिकरण सारार्थ दीपिका' लिखी। उक्त ग्रन्थ की पुष्पिका की एक व्याख्या के अनुसार पर वे वाधुल श्रीनिवास कहे जा सकते हैं तो फिर उन्हें महाचार्य गुरु होना चाहिए।[2]

एक और श्रीनिवास हुए, जो महाचार्य या रामानुजदास के शिष्य थे और

1 देखो आउफ्रेच्ट कृत केटेलोगस केरेलोगोरुम, पृ० 488-89।

2 दूसरे अर्थ से वाधुल कुल तिलक यह विशेषण समरपुंगवाचार्य को ही दिया जा सकता है। इस श्रीनिवास को मंगाचार्य श्रीनिवास नाम से भी जाना गया है।

गोविन्दार्य के पुत्र थे। उन्होंने 'श्रुतप्रकाशिका' पर टीका लिखी और 'यतींद्रमत दीपिका' या 'यतिपतिमत दीपिका' लिखी। लेखक ऐसा कहते हैं कि श्री वैष्णव मत तथा सिद्धान्त पर इस प्रवेशिका को लिखने के लिए उन्होंने कई प्राचीन ग्रन्थों से सामग्री का संग्रह किया।[1]

यतीन्द्रमत दीपिका के 10 अध्याय हैं। पहले अध्याय में विभिन्न तत्त्वों का वर्णन है, प्रत्यक्ष की परिभाषा दी गई है और यह बताया है कि अन्य प्रकार के प्रमाण यथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अनुपलब्धि प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किए जा सकते हैं। तत्पश्चात् दूसरे मतों का खण्डन और सतख्याति का निरूपण किया गया है। इसमें शब्द प्रमाण के इस दावे कि प्रत्यक्ष उसी का एक प्रसार है खण्डन करता है मध्यवर्ती संज्ञान की परिभाषा नहीं मानता और ईश्वर अनुमेय है इस तर्क को स्वीकार नहीं करता।

दूसरे अध्याय में अनुमान की परिभाषा दी गई है और उसका वर्गीकरण करके उसकी प्रामाण्य के नियम दिए हैं और इन नियमों के उल्लंघन से होने वाले दोषें की तालिका भी दी है। उन्होंने उपमिति और अर्थापत्ति को अनुमान की परिभाषा में समाविष्ट किया है और वाद के भिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है।

तीसरे अध्याय में शब्द की परिभाषा मिलती है। वेद की प्रमाणता स्थापित की गई है और यह प्रयास किया है कि समस्त शब्द नारायण का ही अर्थ बोध कराते हैं।

चतुर्थ अध्याय सब अध्यायों से लम्बा है। यहाँ न्याय दर्शन के पदार्थों का खंडन किया है जैसे कि सामान्य, समवाय और परमाणु का कारणत्व और पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में अपना मत दिया है, वे हैं चित्त, शरीर, इन्द्रिय और पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल एवं आकाश आदि पंचभूत।

पाँचवाँ अध्याय काल के स्वरूप का निरूपण करता है और उसकी सर्व व्यापकता और अनादित्व को बताता है। छठा अध्याय शुद्ध सत्व के नित्य एवं लोकोत्तर गुणों का वर्णन करता है जो ईश्वर और जीव के गुण हैं।

सातवाँ अध्याय अधिक दार्शनिक है। यहाँ विवाद द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान किस प्रकार गुण और द्रव्य दोनों ही है जिससे वह आत्मा का गुण और स्वरूप भी हो सकता है। यहाँ यह भी प्रयास किया गया है कि चित्त की समस्त अवस्थाएँ और भाव भी ज्ञान रूप हैं। भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन हुआ है और कर्म ज्ञान और

---

1 एवं 'द्रविड़भाष्य'–'न्याय तत्त्व'–सिद्धित्रय–श्रीभाष्य-दीपसार–वेदार्थ संग्रह-भाष्य विवरण-संगीत माला-सदर्थ संक्षेप-श्रुत प्रकाशिका–तत्वरत्नाकर-प्रज्ञा परित्राण-प्रमेय संग्रह-न्याय कुलिश-न्यायसुदर्शन–मानयाथात्म्य निर्णय–न्याय सार–तत्व दीपन-तत्व निर्णय-सर्वार्थ सिद्धि-न्याय परिशुद्धि–न्याय सिद्धांजन–परमत भंग–तत्वत्रय चुलुक तत्व त्रय निरूपण–तत्वत्रय प्रचंड मारुत–वेदान्त विजय-पाराशर्य विजयादिपूर्वाचार्य प्रबंधानुसारेण ज्ञातव्यार्थान् संग्रह्य बाल बोधार्थं यतीन्द्रमत दीपिकाख्या शारीरक-परिभाषायां ते प्रतिपादिताः।
—यतींद्रमतदीपिका, पृ० सं० 101।

भक्ति पर विस्तृत उल्लेख किया गया है। लेखक ने यह भी बताने की कोशिश की है कि अन्य दर्शन द्वारा कहे गए मोक्ष साधन निरर्थक हैं।

आठवें अध्याय में ईश्वर और जीव के सामान्य गुणों का वर्णन है, और जीव के सच्चे स्वरूप पर लम्बी विवेचना की गई है, तथा इस सम्बन्ध में बौद्धवाद का खंडन किया है। वे भक्त और उनके दो वर्गों का भी वर्णन करते हैं और मुक्त जीव के गुणों का वर्णन करते हैं।

नवमें अध्याय में ईश्वर की परिभाषा दी है और वह जगत् का उपादान सहकारी और निमित्त कारण है ऐसा सिद्ध किया है। वे अद्वैतवाद के मायावाद का खडन करते हैं और भगवान् के पाँच अंगों की विवेचना करते हैं जो विभव, अवतार इत्यादि हैं। दसवें अध्याय में द्रव्य के सिवाय 10 तत्त्वों की गणना और परिभाषा दी है जैसे कि सत्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श इत्यादि।

एक और श्रीनिवासदास, आण्डान कुल के थे जो 'णत्व तत्त्व परित्राण' के लेखक थे। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि नारायण शब्द एक साधारण समस्त पद नहीं है किन्तु यह स्वयं आश्रित विशिष्ट शब्द होता हुआ नारायण को निर्दिष्ट करता है। एक और श्री निवास थे जो श्रीनिवास राघवदास और 'चण्ड मार्तण्ड' कहलाते थे जिन्होंने 'रामानुज सिद्धान्त संग्रह' लिखा।

इन श्रीनिवास को शठमर्षण कुल के दूसरे श्रीनिवास से भिन्न जानना चाहिए, जिन्होंने एक ग्रन्थ लिखा जिसका इस ग्रन्थ के लेखक को परिचय है। यह ग्रंथ 'आनन्द तारतम्य खंडन' है। इस छोटी पुस्तक में शास्त्र के आधार पर इस मत का खंडन किया है कि मुक्तावस्था में भेद है।

कुछ और श्रीनिवास तथा उनके ग्रंथों का लेखक को परिचय है। हो सकता है ये 15वीं या 16वीं शताब्दी में रहे हों। ये श्री वत्सांक मिश्र हैं जिन्होंने एक 'श्रीभाष्य सारार्थ संग्रह' नाम का छोटा ग्रंथ लिखा, श्रीनिवास तातार्य ने 'लघु भाव प्रकाशिका' लिखी, श्री शैल योगेन्द्र ने 'त्याग शब्दार्थ टिप्पणी' लिखी, वेंकटनाथ के पौत्र श्री शैल राघवाचार्य ने 'वेदान्त कौस्तुभ' तथा रंगनाथ के पुत्र श्री सलिलदास ने 'सिद्धान्त संग्रह' लिखा और सुन्दरराज देशिक ब्रह्मसूत्र भाष्य व्याख्या (प्रारम्भिक टीकाः) के लेखक थे। ये सब छोटे लेखक सम्भवतः 16वीं, 17वीं और 18 शताब्दा में हुए।

श्री शैल श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र श्रीनिवास दीक्षित ने 'विरोध विरुथिनी प्रमाथिनी' लिखी, ये अण्णयार्य के पौत्र थे और आचार्य दीक्षित के शिष्य थे। इस ग्रंथ को रंगाचार्य लिखित 'विरोध विरुथनी प्रमाथिनी' से अलग करना चाहिए जिसका उल्लेख भिन्न खण्ड में किया गया है। श्रीनिवास सुधी ने भी 'ब्रह्म ज्ञान निरास' लिखा, इसमें लेखक का शंकर मतवादी त्र्यम्बक पंडित से हुए शास्त्रार्थ का वर्णन है। इस पुस्तक में अद्वैतवाद का खंडन 'शतदूषणी' के अनुसार किया गया है। यह कहना कठिन है 'नयमणि कलिका', 'लक्ष्मणार्थ सिद्धान्त संग्रह' और 'हरिगुण मणिमाला' के लेखक इन्हें माना जाए या विरोध निरोध के लेखक श्रीनिवास को माना जाए।

सुदर्शन सूरि, जो 13वीं और 14वीं शताब्दी में विद्यमान थे, हारीत गोत्रज थे। वे वाग्विजय के पुत्र तथा वात्स्य वरद के शिष्य थे, इनका पहले उल्लेख हो चुका है।

उन्होंने रामानुज भाष्य पर ग्रंथ लिखा और इसी ग्रंथ से परवर्ती अनुगामियों ने प्रेरणा ली। टीका का नाम 'श्रुत प्रकाशिका' है जिसमें वात्स्यवरद से सुने हुए उपदेश को शब्दश: लिखा गया है।[1] उन्होंने 'संध्यावंदन भाष्य', 'वेदान्त संग्रह तात्पर्य दीपिका,' जो रामानुज के वेदार्थ संग्रह की टीका है, लिखी और दूसरा ग्रन्थ 'श्रुत प्रदीपिका' लिखा। वे वेद व्यास भट्टार्य भी कहलाते थे। इन सुदर्शन को सुदर्शन गुरु जिन्होंने भट्टाचार्य के 'वेदान्त विजय' की टीका लिखी, इनसे पृथक् जानना चाहिए। शठकोप मुनि, जो शठारि सूरि के शिष्य थे, बहुधा शठकोप यति नाम से भी जाने जाते थे, 16वीं शताब्दी के अन्त में हुए। उन्होंने निम्न ग्रन्थ रचे: 'ब्रह्म लक्षण वाक्यार्थ संग्रह', 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार', 'वाक्यार्थ संग्रह', 'ब्रह्म सूत्रार्थ संग्रह,' 'ब्रह्म लक्षण वाक्यार्थ', 'दिव्य प्रबंध' और 'भाव प्रकाशिका दूषणों द्वार'। अन्तिम ग्रंथ, वरद विष्णु सूरि की श्रुत प्रकाशिका पर, भाव प्रकाशिका नामक टीका की आलोचना का खंडन है।

अहोबिल रंगनाथ यति ने जो 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए 'न्याय विवृत्ति' लिखी। इसमें वेंकटनाथ के 'न्यास तिलक' में तिरुपति न्यास विषय पर विबेचना है। आदिबराह वेदान्ताचार्य ने 'न्याय रत्नावली' लिखी। कृष्ण ताताचार्य ने जो श्री शैल वंश के थे और 15वीं शताब्दी में हुए, 'न्याय परिशुद्धि' पर टीका लिखी, यह 'न्याय परिशुद्धि व्याख्या' है और कुछ छोटे ग्रंथ 'दूरार्थ दूरीकरण', 'ब्रह्म शब्दार्थ विचार' और णत्व चंद्रिका लिखी। कृष्णपाद लोक गुरु ने जो उसी शताब्दी में हुए, 'रहस्यत्रय मीमांसा भाष्य', दिव्य प्रबंध व्याख्या', 'चतुश्लोकी व्याख्या' और अनेक तामिल ग्रन्थ लिखे। 15वीं शताब्दी के चम्पकेश ने 'गुरु तत्त्व प्रकाशिका' और 'वेदान्त कंटकोद्धार' लिखा। अन्तिम ग्रन्थ में श्री भाष्य की आलोचनाओं का खंडन किया गया है।[2] वे वेंकटनाथ के शिष्य थे। एक दूसरे ताताचार्य ने जो वेंकटाध्वरी के पितामह थे (विश्वगुण आदर्श के लेखक) 'ताताचार्य दिन चर्या' लिखी। वे अप्पय्य दीक्षित के मामा थे। पुन: देशिकाचार्य ने श्री भाष्य पर 'प्रयोग रत्नमाला' नाम की टीका लिखी, इन्होंने वेंकटनाथ के तैत्तरीयोपनिषद् की पञ्चिका टीका पर एक पुस्तक लिखी, जो 'अस्ति ब्रह्मेति श्रुत्यर्थ विचार' कहलाई। दोड्डयाचार्य ने जो 15वीं शताब्दी में हुए 'परिकार विजय' लिखा जिसका उल्लेख महाचार्य के ग्रन्थों में मिलता है। इन्होंने वेदान्त देशिक वैभव प्रकाशिका' नाम की रामानुज की जीवनी लिखी। नारायण मुनि ने 'भाव प्रदीपिका', 'गीतार्थ

---

[1] गुरुभ्योर्थ: श्रुत: शब्दैस्तत प्रयुक्तैश्च योजित:।
सौकर्यय बुभुत्सुनाम् संकलययो प्रकाश्यते।

—श्रुत प्रकाशिका की प्रस्तावना के श्लोक।

[2] शुद्ध सत्व लक्षणार्य ने 'श्रुत प्रकाशिका' की, 'गुरु भाव प्रकाशिका' टीका लिखी, जो चम्पकेश की गुरु तत्त्व प्रकाशिका' पर आधारित है। वे शुद्ध सत्वाचार्य के शिष्य और सौम्य जामातृ मुनि के पुत्र थे। वे अपनी टीका में वाधुल श्रीनिवास की 'तूलिका टीका' का उल्लेख करते हैं। वे सम्भवत: 16वीं शताब्दी में रहे होंगे और महाचार्य के समकालीन होंगे।

संग्रह', गीता सार रक्षा', गीता संग्रह विभाग', 'रहस्त्रय जीवातु' लिखे। वे श्री शैल ताताचार्य के पुत्र थे, अनंताचार्य के पौत्र तथा रामानुजाचार्य या महाचार्य के शिष्य थे। शायद वे 15वीं शताब्दी में हुए होंगे। नृसिंहराज, जिन्होंने 'शतदूषणी व्याख्या' नाम की शतदूषणी पर टीका लिखी, सम्भवतः वही व्यक्ति थे जिन्होंने 'तत्त्व मुक्ता कलाप' पर आनन्ददायिनी टीका लिखी। नृसिंह सूरि अधिक उत्तरकाल के लेखक ने 'शरीर भावाधिकरण विचार' और 'तत्क्रतु न्याय विचार' लिखा। पर वस्तु वेदान्ताचार्य जो आदि वराहाचार्य के पुत्र थे, उन्होंने 'वेदान्त कौस्तुभ' लिखा। पुरुषोत्तम ने 'सुबोधिनी' नामक श्री भाष्य पर टीका लिखी, भगवत सेनापति मिश्र ने 'शारीरिक न्याय कला' लिखी।

पेलपुर देशिक ने 'तत्त्वभास्कर' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह दो भाग में लिखा गया है, पहले में माया का अर्थ समझाने का प्रयत्न किया है और द्रविड़ तथा संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप का निर्णय किया है, दूसरा भाग कर्मकांड के प्रकार का है। रंगराज जो सम्भवतः 16वीं शताब्दी में हुए होंगे, 'अद्वैत बहिष्कार' के लेखक थे। रंगनाथाचार्य ने अष्टादश भेद विचार', 'पुरुषार्थ रत्नाकर', 'विवादार्थ संग्रह', 'कार्याधिकरण भेद' और 'कार्याधिकरण तत्त्व' लिखे। अन्तिम दो ग्रंथों के वर्ण्य विषय अन्य स्थान पर दिए गए हैं। वे सम्भवतः 16वीं शताब्दी में रहे होंगे और वे सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे। एक रामानुज ने जो वेदान्त रामानुज कहलाते थे 'दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका' और 'सर्त दर्शन शिरोमणि' ग्रन्थ लिखे। रामानुजदास भिक्षु ने 'सौरिराज चरणारविंद-शरणागति-सार' लिखा और सुब्रह्मण्य शास्त्री ने 'विष्णु तत्त्व रहस्य' लिखा। ये दोनों लेखक सम्भवतः 16वीं शती के अन्तिम भाग या 17वीं के प्रारम्भ में हुए होंगे।

आत्रेय वरद ने 'रहस्यत्रय सार व्याख्या' लिखी। यह वेंकटनाथ के 'रहस्यत्रय सार' पर टीका है। वरददास ने 'न्यायविद्या भूषण' और वादी केसरी मिश्र ने निम्न ग्रन्थ रचे— अध्यात्म चिन्ता', 'तत्त्वदीप संग्रह कारिका', 'तत्त्वदीप' और 'रहस्यत्रय कारिका'। ये लघु ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। केवल 'तत्त्वदीप में ही दार्शनिक सामग्री है जो सुदर्शन की श्रुत प्रकाशिका के विषयों से प्रेरित है। वाधुल नृसिंह के पुत्र और वाधुल वरद गुरु के शिष्य, वीर राघवदास ने 'तात्पर्यदीपिका' नामक श्रीभाष्य पर टीका रची और एक वात्स्य वरद के तत्त्वसार पर तत्त्वसारिणी नाम की टीका लिखी। वेंकटसुधी ने एक चार खण्ड का बृहत् ग्रंथ लिखा जो 'सिद्धान्त रत्नावली' नाम का था। इसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शिव नहीं किन्तु नारायण ही महान् देव हैं और जगत् पति हैं, इसमें अन्य सम्प्रदाय के मतों का निरूपण भी है जो तात्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे वेंकटनाथ के शिष्य थे और शठमर्षण वंश के ताताचार्य के पुत्र थे। पंचरात्र खण्ड में इस पुस्तक का कुछ उल्लेख किया जाएगा। वेंकटदास ने जो वुच्चि वेंकटाचार्य भी कहलाते थे, और जो शठमर्षण वंशज अण्णचार्य के तीसरे पुत्र थे, 'वेदान्त कारिकावली' लिखी। वेंकटाध्वरि ने 'यति प्रतिवन्दन खण्डन' लिखा। अय्यण्ण ने 'व्यास तात्पर्य निर्णय' और अण्णवाय्यंगाचार्य ने 'तृशप्रश्नोत्तर', 'केसर भूषण' और 'श्री तत्त्वदर्पण' लिखे। गोपालतात ने 'शतकोटि दूषण परिहार' गोविन्दाचार्य ने 'प्रमाणसार' और जगन्नाथ यति ने 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' लिखी। देवनाथ ने तत्त्व निर्णय

धर्म कुरेश ने 'रामानुज नवराल मालिका' नील मेघ ताताचार्य ने 'न्यास विद्यार्थ विचार', रंगाचार्य ने 'श्री वत्स सिद्धान्त सार' रघुनाथाचार्य ने 'बाल सरस्वती' और संगीत सार' रचे। राघवाचार्य ने 'रहस्य त्रय सार संग्रह' रामनाथ योगी ने 'सदाचार बोध', रामानुज ने 'गायत्री शत दूषणी' और तिरुमालाचार्य ने, जो भारद्वाज गोत्रज थे, णत्वोपपत्ति भंग' लिखा।

श्री शैलनिवास के भाई, अण्णयार्य ने 'सप्तति रत्न मालिका व्यवहारिकत्व खण्डन सार,' 'मिथ्यात्व खंडन', 'आचार्य विशंति' 'आनन्द तारतम्य खण्डन' लिखे। 16वीं शताब्दी के अप्पय्य दीक्षित ने रामानुज मतानुसार ब्रह्मसूत्र की टीका की, यह ग्रन्थ 'न्यायमुख मालिका' है। 19वीं शताब्दी के अनतार्य ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें निम्न प्रकाशित हुए हैं-—'णत्वतत्त्व विभूषण', 'शतकोटि खण्डन', न्याय भास्कर', 'आचार लोचन' (पुनर्विवाह का खण्डन), 'शास्त्रारम्भ समर्थन', 'समासवाद', 'विषयतावाद', 'ब्रह्म शक्तिवाद', 'शास्त्रैक्यवाद', 'मोक्ष कारणतावाद', 'निर्विशेष प्रमाण व्युदास', 'संविन् नानात्व समर्थन', 'ज्ञानायथर्थ्यिवाद', 'ब्रह्म लक्षणवाद', 'ईक्षत्यधिकरण विचार', 'प्रतिज्ञावाद', 'आकाशाधिकरण विचार', 'श्रीभाष्य भावांकुर', 'लघुसामानाधिकरण्यवाद', 'गुरु सामानाधिकरण्यवाद', 'शरीरवाद', 'सिद्धान्त सिद्धांजन','विधि सुधाकर','सुदर्शनसार द्रुम', 'भेदभाव', 'तत्क्रतु न्याय विचार', 'दृष्टव्यानुभाननिरास'। ये सब छोटे ग्रन्थ हैं, कुछ बड़े भी हैं। न्याय भास्कर अद्वैतसिद्धि पर लिखी 'गौड़ ब्रह्मानन्दी टीका' का खण्डन है, जो स्वयं 'न्यायामृत तरंगिनी' का खण्डन था। इसमें बारह विषय हैं। खण्डन बंगाल के नव्य न्यायदर्शन की शैली में शास्त्रीय ढंग से किया गया है। जिसने कि विरोधकों की परिभाषा में दोष पाया था। इस लेखक के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

आलवारों का रामानुज के अनुयायियों पर प्रभाव

हमने दिव्य प्रबन्धों का उल्लेख किया है जो आलवारों ने तामिल में लिखे थे और जिसका श्री वैष्णवों के आचार्यों पर गहरा प्रभाव हुआ है।[1] कुरैश (तिरुक्कुरुकै

1 ये दिव्य प्रबंध संख्या में 4000 हैं। पोयगैयालवार ने मुडलतिरुवंताडी नाम का शत श्लोकी ग्रन्थ लिखा, भूत्तातालवार ने 100 पद्य का दूरन्डम् तिरुवन्ताडी, पेरियालवार ने मुनर्राम तिरुवन्ताडी शत श्लोकी ग्रन्थ, तिरुर्मरिसैपीरान ने नाममुखम् तिरुवेताडी और तिरुवचण्डवृत्तम् 96 और 120 पद्य का मधुर कवि चालवार ने कण्णिनुण शिरुत्ताम्बी 11 श्लोक का, नाम्मालवार ने तिरुवृत्तम् 100 श्लोक का, तिरुवाशीर्यम् पेरीयमाल ने पेरुमाल तिरुमोली 105 पद्य का, पेरीयालवार तिरुपल्लांडु और पेरियालवार तिरुमोर्री ने 12 और 461 श्लोक का आण्डाल ने तिरुप्पावै और नाच्छीयार तिरुमोली 30 और 143 श्लोक का, तोण्डाराडि पोडियालवार ने तिरुपोलिलयै ऐर्ग ची और तिरु मालै 10 और 45 श्लोक का, तिरुपाणालवार ने अमलनादी पीरनि 10 श्लोक का तिरुभंगेयालवार ने पेरियतिरु मोली 1085 श्लोक का, तिरुक्कुरुन्डाण्डकम् 20 श्लोक का, तिरु नेडुन्डण्डकम् 30 श्लोक का, तिरुवेतुलु कुर्तिरुक्कै 1 श्लोक का, शिरिय तिरुमण्डल 77 श्लोक का पैरिय तिरुमंडल 148 श्लोक का लिखा। इस प्रकार 4000 श्लोक होते हैं। इनका उल्लेख सौम्य जामातृ

थिरन पिल्लै) ने 6000 श्लोकों की, नाम्मालवार के चुने हुए 1000 पदों की सहस्र गीति पर टीका लिखी। पराशर भट्टार्य ने 9000 पदों की टीका लिखी। कलिजित् (लोकाचार्य) के निर्देश से अभयप्रद राज ने 24,000 पद्यों की टीका लिखी। कलिजित् के शिष्य कृष्णपाद ने एक दूसरी 3600 पदों की टीका लिखी। सौम्य जामातृमुनि ने नाम्मालवार के मत की व्याख्या करते हुए 12000 पद लिखे। अभयपदराज की दिव्य प्रबंधों की टीका ने पीछे आने वाले आचार्यों को उत्तरकाल के रहस्यमय सिद्धान्तों को समझने में सहायता दी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचार्य के छोटे भाई द्वारा लिखी गई दिव्य प्रबंधों पर टीका अभिरामवराचार्य के समय में ही दुष्प्राय हो गई थी। अभिरामवराचार्य 'उपदेश रत्नमाला' के अनुवादक और सौम्य जामातृ मुनि के पौत्र थे।

इस तरह देखा जाता है कि रामानुज के बाद धर्म गुरु की पदवी पर आने वालों में पराशर भट्टार्य और उनके उत्तराधिकारी वेदान्तीमाधव, जो नजियार भी कहलाते थे, तथा उनके उत्तराधिकारी नम्बूरि-वरदराज, जो कलिजित् लोकाचार्य प्रथम कहलाते थे और उनके उत्तराधिकारी पिल्लै लोकाचार्य, इन सबों ने रामानुज सिद्धान्तों को समझाने के लिए जितने ग्रन्थ नहीं लिखे, उतने सहस्र गीति और दिव्य प्रबंधों की भक्ति के अर्थ को समझाने के लिए लिखे। ये सब ग्रंथ तामिल में हैं, कुछ ही संस्कृत में अनूदित हैं। यहाँ इस ग्रंथ में केवल उन संस्कृत ग्रन्थों को (अधिकांश हस्तलिखित) ही ध्यान में रखा गया है जो वर्तमान लेखक को सुलभ थे। पिल्लैलोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि को उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि से पृथक् जानना चाहिए। उत्तरकालीन सौम्य जामातृ मुनि अधिक सुविख्यात थे और यतींद्र प्रवणाचार्य भी कहलाते थे। पराशर भट्टार्य सम्भवतः ई० सं० 1078 के पहले हुए होंगे और 1165 में परलोक सिधार गए होंगे। उनके बाद वेदान्ती माधव या नजियार आए, और इनके बाद नम्बूरिवरदराज या लोकाचार्य प्रथम उत्तराधिकारी बने। इनके बाद पिल्लै लोकाचार्य उत्तराधिकारी हुए जो वेंकटनाथ, और श्रुत प्रकाशिकाचार्य या सुदर्शन सूरि के समकालीन थे। इन्हीं के समय में मुसलमानों ने श्रीरंगम् पर आक्रमण किया जो हमने वेंकटनाथ के विषय में लिखते हुए कहा है। गोप्पणाचार्य ने मुसलमानों को भगा दिया और रंगनाथ की मूर्ति की पुनः स्थापना 1293 में की गई। इसी समय सुविख्यात सौम्यजामातृ मुनि(कनिष्ठ) का जन्म हुआ। पिल्लै लोकाचार्य के छोटे भाई सौम्य जामातृ मुनि ने (ज्येष्ठ) जो वादी केसरी भी कहलाते थे, 'दिव्य प्रबंध' पर कुछ टीकाएँ लिखीं तथा 'दीप प्रकाश' और 'पियरुलि चेयलरे रहस्य' लिखे। सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) जो वरवर मुनि भी कहलाते थे, अपने 'उपदेश रत्नमाला', 'तत्त्वत्रय भाष्य' और 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' नामक ग्रन्थों में इनका उल्लेख करते हैं। हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि 'अध्यात्म चिन्तामणि' जिसमें वाधुल श्रीनिवास की गुरु रूप में स्तुति की गई है, वह सौम्य जामातृ मुनि द्वारा लिखा गया था। महाचार्य भी उन्हें वाधुल श्रीनिवास के शिष्य बताते हैं। अगर इस प्रकार, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) और महाचार्य, एक ही गुरु के शिष्य थे तो महाचार्य 14वीं शताब्दी में हुए होंगे। अगर सौम्य

मनि (कनिष्ठ) की उपदेश रत्नमाला में किया गया है तथा प्रस्तावनाएँ एम० टी० नरसिंह आयंगर ने दी है।

जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने यह पुस्तक लिखी है तो महाचार्य का समय पीछे रखा जाएगा।

हम पिल्लै लोकाचार्य के केवल तीन ही ग्रन्थ खोज पाए हैं, जो 'तत्त्व त्रय', 'तत्त्व शेखर' और 'श्रीवचन भूषण' हैं।[1] 'तत्त्व त्रय' श्रीनिवास मत का उपयोगी संग्रह ग्रन्थ है जिसमें अचित्, चित् और ईश्वर का स्वरूप और उनके आपस के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। इस पर वरवर मुनि की सुन्दर टीका है। 'तत्व शेखर' चार अध्याय का ग्रन्थ है। पहले अध्याय में नारायण ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं और परम कारण हैं, इस मत के समर्थन में शास्त्र के उद्धरण दिए गए हैं, दूसमें में, जीव के स्वरूप का वर्णन शास्त्रों के आधार पर किया गया है। तीसरे में इसी विषय का विवरण है। चतुर्थ अध्याय में, भगवान् की शरणागति ही समस्त जीवों का अन्तिम ध्येय है, इस विषय का विवेचन है। वे कहते हैं कि अंतिम पुरुषार्थ भगवान् में प्रीति-जनित कैंकर्य भाव से अपने एवं भगवान् के स्वरूप और उनके दिव्य सौंदर्य, प्रभुत्व शक्ति और सर्वश्रेष्ठता को जानने में होता है। समस्त प्रकार की कैंकर्य वांछनीय नहीं है। यह हम अपने दैनिक अनुभव से जानते हैं कि प्रेम की दासता सुखमय है। मुक्ति के सामान्य विचार में मनुष्य अपने अहंकार और अपने अंतिम ध्येय को ही आगे रखता है। इसलिए यह पुरुषार्थ से निम्न है क्योंकि पुरुषार्थ में भक्त अपने को भूलकर भगवान् की दासता को ही अंतिम ध्येय समझता है। लोकाचार्य फिर अन्य मतों के अंतिम ध्येय का खण्डन करते हैं। वे उस मत का भी खण्डन करते है जिसमें भगवान् में पूर्णतः अधीनता द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान होना माना है (परतंत्रत्वेन स्वानुभवमात्रम् न पुरुषार्थः) इसे श्रीनिवास मत में कैवल्य भी कहा है। हमारा अंतिम ध्येय दुःख की निवृत्ति नहीं है किन्तु आनंदानुभव है। असंदिग्ध आनंद ही हमारा ध्येय है। ऊपर वर्णन की हुई मुक्तावस्था में जीव, भगवान् से सान्निध्य पाता है और इससे परमानन्द पाता है किन्तु वह भगवान् की बराबरी नहीं कर पाता। बंध सत्य है और उसका निवारण भी सत्य है। प्रपत्ति बंधन-निवारण का एक साधन है। यह प्रपत्ति व्यवहित एवं अव्यवहित होती है, पहली में, शरणागति सम्पूर्ण और आत्यंतिक है और एक बार ही होती है।[2] अव्यवहित प्रपत्ति भगवान्

---

[1] उनके कुछ और ग्रन्थ ये हैं, 'मुमुक्षुप्पदि', 'प्रमेय शेखर', नवरत्नमाला', 'तनिप्रणव', 'प्रपन्न परित्राण,' याहच्छिकप्पदि', 'द्वयम्', 'अर्थ पंचक', 'सार संग्रह', 'परनन्पदि', 'संसार साम्राज्यम्', 'श्रियः पतिप्पदि', 'चरमम्', 'अर्चिरादि', 'नव विध सम्बन्ध' —देखो तत्त्व शेखर की फुटनोट, पृ० 70।

[2] प्रपत्ति की इस प्रकार व्यवस्था की गई है। भगवदा ज्ञातिवर्तन-निवृत्ति भगवदानुकूल्य-सर्वशक्तित्वानुसंधानप्रेमृति सहितः यांचागर्मो विजृम्भ रूप ज्ञान विशेषः तत्र त्रेयाकारेश्वरस्य निरपेक्ष-साधनत्वं ज्ञानाकारो व्यवसायात्माकत्वम् एत्तच्य शास्त्रार्थत्वात् सकृत् कर्त्तव्यम्। —तत्त्व शेखर, पृ० 64।

जिस प्रकार शंकर मतवादी मानते हैं कि एक ऐसे वाक्यों से जीव और ब्रह्म का एकता-ज्ञान जब हो गया तब और कुछ करने को बाकी नहीं रहता। वहाँ पर भी भगवान् में पूर्ण शरणागति होने पर जीव ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। एक बार यह होने पर फिर कुछ नहीं करना पड़ता। फिर ईश्वर को ही भक्त को अपना बनना पड़ता है।

का प्रेम से सतत ध्यान करना तथा साथ ही साथ शास्त्रोक्त कर्म करना तथा वर्जित कर्म न करना है। यह निम्न कोटि की है, योग्य व्यक्ति पहला मार्ग ही अपनाते हैं।

पिल्लै लोकाचार्य 'श्रीवचन भूषण' के मुख्य विषय पृथक् खंड में दिए जाएँगे जब हम सौम्य जामातृ (कनिष्ठ) और रघुतम की इस टीका और वृत्ति का वर्णन करेंगे। श्रीवचन भाष्य 484 छोटे वाक्यों का ग्रन्थ है जो सूत्रों से कुछ लम्बे हैं। किन्तु कुछ दार्शनिक वाक्यों से छोटे हैं। लोकाचार्य ने इस शैली को दूसरे ग्रन्थों में भी जैसे 'तत्व त्रय' और 'तत्व शेखर' में अपनाया है।

रम्य जामातृ मुनि या सौम्य जामातृ मुनि जो मणवालम मुनि या पेरिय जीयार भी कहलाते थे, तिकलक्की अण्डान तिरुना विरुदैयापीरान तातर अण्णार के पुत्र और कोल्लिकवलदसर के पौत्र थे, कोल्लिकवलदसर पिल्लै लोकाचार्य के शिष्य थे। वे तिन्नैवल्लि जिले में 1370 ई० में जन्मे थे और 73 वर्ष तक अर्थात् 1443 तक जीवित रहे। पहले उन्होंने श्री शैलश से शिक्षा पाई जिन्हें तिरुवायमोर्री में तिरुमरैं आलवार भी कहते हैं। उनकी युवावस्था की प्रथम कविता 'यतिराज विंशति' रामानुज के सम्मान में लिखी गई थी। यह वरवर मुनि की 'दिनचर्या' में संगृहीत हो प्रकाशित हुई। रामानुज के प्रति असीम भक्ति होने के कारण ये यतींद्र प्रवण के नाम से जाने जाते थे, उन्होंने तिरुवरगत्तमुदनार की 'प्रपन्न सावित्री' या 'रामानुज नुरण्दादी' नामक रामानुज की संक्षिप्त जीवनी पर एक टीका भी लिखी है। श्री शैलेश से शिक्षा लेने के बाद वे श्री रंगम् में रहे और वहाँ उन्होंने दिव्य प्रबंधों पर टीका एवं 'श्रीवचन भूषण' और 'द्रविड़ वेदान्त' का अध्ययन किया। दिव्य प्रबंध और गीता रहस्य के अध्ययन में उन्हें अपने पिता ततर अण्णार से मदद मिली। उन्होंने किदम्बी तिरुमलै नयिनार जो कृष्णदेशिक भी कहलाते थे, के साथ 'श्रीभाष्य' और 'श्रुत प्रकाशिका' ग्रन्थ पढ़े। उन्होंने यादवगिरि के देवराज गुरु अर्थात् अण्णचार्य से 'आचार्य हृदय' पढ़ा। वे संसार त्यागकर संन्यासी बन गए और श्रीरंगम् के पल्लव मठ में बस गए। वहाँ उन्होने व्याख्यान मण्डप बनाया जहाँ से धर्मोपदेश किया करते थे। वे द्रविड़ वेदान्त में निपुण थे, उन्होंने मणि प्रवाल शैली संस्कृत तमिल का मिश्रण में अनेक ग्रन्थ रचे और उनके बहुत से अनुयायी थे। उनका एक पुत्र रामानुजाचार्य था और पौत्र विष्णु चित्त था। उनके शिष्यों में से आठ बहुत विख्यात थे, भट्टनाथ, श्रीनिवास, यति, देवराज, गुरु वाधुल वरद नारायण गुरु प्रतिवादी भयंकर रामानुज गुरु, सुताख्य और श्रीवानाचल योगींद्र। ये शिष्य वेदान्त के महान् आचार्य थे।[1] उन्होंने रंगराज को भाष्य पढ़ाया। दक्षिण के बहुत से राजा उनके शिष्य थे। उनके ग्रन्थों में से निम्न जानने लायक हैं: 'यतिराज विंशति,' 'गीता तात्पर्यदीप', (गीता पर संस्कृत टीका) 'श्रीभाष्यार्थ', 'तैत्तरीयोपनिषद् भाष्य', 'परतत्त्व निर्णय' उन्होंने पिल्लै लोकाचार्य के 'रहस्यत्रय', 'तत्वत्रय' और श्रीवचन भूषण पर भी टीका लिखी। तथा वादि केसर नाम से विख्यात, सौम्य जामातृ मुनि (ज्येष्ठ) के 'आचार्य हृदय' पर भी टीका लिखी। सौम्य जामातृ पिल्लै लोकाचार्य के भाई थे। उन्होंने

---

1 प्रपन्नामृत देखो, अ० 122।

'पेरियालवार तिरुमोर्री', ज्ञान सार' और देवराज के 'प्रमेय सार' पर भी टीकायें लिखी। विर्रलिसोलैप्पिलै की सप्तगाथा की भी टीका थी तथा उन्होंने 'तत्वत्रय' 'श्री वचन भूषण' और 'दिव्य प्रबंध' (इदू) की टीकायें लिखीं तथा 'तिरुवायमोर्कीनुरुण्डाडि', 'आरती प्रबंध', तिरुवायराधन क्रम' आदि तामिल पद्य रचे और अनेक संस्कृत पद्य भी लिखे। उन्होंने रामानुज जैसा स्थान प्राप्त किया। उनकी मूर्ति दक्षिण के मन्दिरों में पूजी जाती है। उनके बारे में भी अनेक ग्रन्थ रचे गए हैं। जैसेकि 'वरवर मुनि दिनचर्या', 'वरवर मुनि शतक', 'वरवर मुनि काव्य,' 'वरवरमुनि चम्मू', 'यतींद्र प्रवण प्रभाव' 'यतींद्र प्रवण भद्र चम्पू', इत्यादि। उनकी 'उपदेश रत्न-माला' का पाठ दिव्य प्रबंध के पाठ के बाद श्रीनिवास करते हैं। उपदेश रत्नमाला में वे पूर्ववर्ती आलवार और अर्गीयस का वर्णन करते हैं। उनके पौत्र अभिराम वराचार्य ने इसका संस्कृत अनुवाद किया। अभिराम वराचार्य के 'अष्टादश भेद निर्णय' का उल्लेख हम इस ग्रंथ में कर चुके हैं। उन्होंने शठकोप की प्रशंसा में एक दूसरा ग्रन्थ 'नक्षत्र मालिका' लिखा।[1]

यद्यपि नृसिहायंगर कहते हैं कि सौम्य जामातृ मुनि (कनिष्ठ) ने श्रीवचन भूषण पर मणि प्रवाल शैली में टीका लिखी है किन्तु इस टीका की पाण्डुलिपि, जिस पर रघूत्तम की एक उप टीका है, वर्तमान लेखक को प्राप्त हुई है। वह एक पूरा संस्कृत का बृहत् ग्रन्थ 750 पृष्ठ वाला है, इस ग्रन्थ के मुख्य वर्ण्य विषय अन्य स्थानों पर दिए जाएँगे।

---

1 हम सौम्य जामातृ मुनि के ग्रन्थों के विषय में कुछ जानकारी एम०टी० नरसिंहायंगर की उपदेश रत्नमाला के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना से जान पाए हैं, अतः हम उनके उपकृत हैं।

अध्याय 19

यामुनाचार्य का दर्शन

यद्यपि पिछले समय में बोधायन वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक माने गए हैं किन्तु ब्रह्म सूत्र पर उनकी टीका अब प्राप्त नहीं है, इसलिए हम यामुन को उत्तरकाल के वैष्णव दार्शनिकों में सर्व प्रथम मान सकते हैं। ऐसा सुनने में आता है कि टंक, द्रमिड़ और मरुचि इत्यादि अन्य लोगों ने बोधायन की टीका के उपदेशों के आधार पर ग्रन्थ लिखे, जिनमें अन्य सम्प्रदायों के मतों का खण्डन किया गया था। द्रमिड़ ने भाष्य लिखा जिसे श्री वत्सांक मिश्र ने विस्तृत किया, इसका उल्लेख यामुन अनेक बार करते हैं। महात्मा बकुलाभरण ने, जो शठकोपाचार्य भी कहलाते थे, तामिल भाषा में भक्ति-पंथ पर एक विशद ग्रन्थ लिखा। किन्तु यह आजकल दुष्प्राप्य है। इस प्रकार आधुनिक वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास, व्यावहारिक दृष्टि से यामुनाचार्य से ही प्रारम्भ होता है, जो 10वीं शताब्दी के उत्तरकाल एवं 11वीं के प्रारम्भ में हुए। यामुन महापूर्ण के आचार्य थे ऐसा माना जाता है जिनसे महान् रामानुज ने दीक्षा ली। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यामुन ने चार ग्रन्थ लिखे हैं जो 'सिद्धित्रय,' 'आगम प्रामाण्य' 'पुरुष निण्णय' और 'काश्मीरागम' हैं। इनमें से केवल पहले दो ही प्रकाशित हैं।

अन्य मतों की तुलना में यामुन का आत्म-सम्बन्धी सिद्धान्त

हम देख चुके हैं कि चार्वाक से लेकर वेदान्तियों मत तक अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय हुए और उनमें से प्रत्येक ने आत्म-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त प्रतिपादन किए। हमने चार्वाक के सम्बन्ध में पहले ग्रन्थ में थोड़ा ही विवेचन किया है और अन्य दर्शनों ने जो चार्वाक विरोधी आक्षेप किए हैं उन्हें भी छोड़ दिया गया है। चार्वाकों का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि शरीर के सिवाय और कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है। उनमें से कुछ इन्द्रियों को आत्मा मानते थे और कुछ मनस् को। वे चार भूतों को मानते थे जिनसे जीवन और चेतना का उद्भव हुआ। हम भी देह के सम्बन्ध में ही आत्मा का व्यवहार करते हैं, देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है। चार्वाक साहित्य भारत से विलुप्त हो गया है। हम अन्य ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से ही जान पाते हैं कि उनका मौलिक साहित्य भी सूत्र रूप में था।[1]

यामुन का दर्शन चार्वाक मत से स्पष्ट रूप में विरुद्ध था। इसलिए यही ठीक

1 बृहस्पति का पहला सूत्र 'अथ तत्वम् व्याख्यास्यामः' और दूसरा, 'पृथ्वी-अप्-तेज वायुः इति तत्वानि,' और तीसरा, 'तेभ्यश् चैतन्यम् किण्वादिभ्यो मद-शक्तिवत्'।

होगा कि हम चार्वाकों के मिथ्या मत के सम्बन्ध में यामुन के आत्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करें। यामुन स्वचैतन्य को स्वीकारते हैं उनके अनुसार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान–'मैं जानता हूँ' स्पष्ट रूप से 'यह मेरा शरीर है' इस ज्ञान से विलक्षण है और ज्ञाता रूप से आत्मा का ही निर्देश करता है। 'यह मेरा शरीर है' 'यह ज्ञान' 'यह घड़ा है,' 'यह कपड़ा है' इस विषय रूप ज्ञान जैसा ही है। जब मैं बाह्य विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींचता हूँ और अपने आप में ध्यान केन्द्रित करता हूँ तब भी मुझे 'मैं' का ज्ञान रहता है जो मेरे हाथ पांव तथा अन्य अंगों के किंचित् सम्बन्ध बिना मुझमें उदित है। अपना सारा शरीर प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता, जब शरीर का कोई भी अंग उसमें प्रकाशित या प्रकट नहीं होता। जब कभी भी मैं यह कहता हूँ कि 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' 'मैं' यह प्रत्यय बाह्य मोटे या पतले शरीर का निर्देश नहीं करता, किन्तु वह कोई मुझ में ही एक रहस्यमय अज्ञात तत्व की ओर ही निर्देश करता है जो शरीर से गलती से सम्बद्ध हो गया है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हम 'यह मेरा देह है' ठीक उसी प्रकार कहते हैं जैसे 'यह मेरा घर है' जहाँ कि देह अन्य बाह्य पदार्थ की तरह आत्मा से भिन्न है। किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि हम 'मेरी आत्मा' (ममात्मा) ऐसा भी कह सकते हैं, किन्तु यह तो एक भाषा का प्रयोग है जिसके द्वारा वह भेद व्यक्त होता है, जबकि वास्तव में ज्ञान का विषय एक ही है। 'मैं' यह प्रत्यय शरीर को निर्देश करता है यह असंदिग्धता या भ्रम इसलिए है कि आत्मा का कोई दृश्य रूप नहीं है जैसाकि अन्य पदार्थों का होता है (जैसे घड़ा, कपड़ा) जिससे कि वे एक दूसरे में विभक्त किए जा सकें। जिसमें पूर्ण विवेक जाग्रत नहीं है उसे अरूप आत्मा से सन्तोष नहीं होता, इसलिए वे शरीर को आत्मा मानने के भ्रम में रहते हैं, विशेषतः इसलिए कि जीव की प्रत्येक इच्छा के अनुरूप देह में भी परिवर्तन होता है। वे ऐसा सोचते हैं कि चित्त के परिवर्तन के साथ जैसे कि नये भाव का आना, नये विचार या इच्छा का आना, इनके अनुरूप देह में, स्नायविक तथा भौतिक परिवर्तन होते हैं, इसलिए शरीर के सिवाय अन्य कोई आत्मा नहीं है। किन्तु अगर हम 'मैं क्या हूँ' इसे जानने का गहन आत्म-निरीक्षण करें तो पता चलता है कि जिसे 'मैं' कहते हैं वह तत्व ज्ञाता है और अन्य पदार्थ जो आत्मा से भिन्न हैं और जिन्हें यह या वह द्वारा निर्देश कर सकते हैं उससे विलक्षण हैं। अगर 'मैं' प्रत्यय शरीर को भी निर्देश करता तो शरीर का कोई भी अंग इस प्रत्यय से प्रकट होता, जैसे कि बाह्य वस्तु उनके अनुरूप प्रत्यय से यह और वह के रूप में प्रकट होती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। बल्कि अंतर्निरीक्षण से यह पता चलता है कि आत्मतत्त्व स्वरूप से स्वाधीन है। संसार की समस्त वस्तु मेरे (आत्मा के) लिए है। मैं भोक्ता हूँ जब अन्य पदार्थ मेरे भोग्य हैं। मैं किसी अन्य के लिए नहीं हूँ। मैं अपना साध्य व प्रयोजन स्वयं हूँ, किसी का साधन (अपरार्थ) कभी बनता। संघात एक दूसरे के लिए होते हैं जिसका वे स्वार्थ साधन करते हैं, संघात रूप नहीं है और न वह किसी अन्य के स्वार्थ के लिए अस्तित्व रखता है।

इसके अतिरिक्त, चेतना देह का कार्य नहीं माना जा सकता। चेतना एक मादक द्रव्य जैसा, चार तत्वों का कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि चार तत्त्वों का मिश्रण हर कोई शक्ति नहीं पैदा कर सकता। कारण की शक्ति की भी मर्यादा होती है, वह

एक सीमा में ही कार्य उत्पन्न कर सकता है; मादक गुण उत्पन्न करने के लिए परमाणु में तदनुरूप गुण उपस्थित हैं, मादकता की चैतन्य से तुलना नहीं की जा सकती, तथा इसका किसी अन्य भौतिक कार्य से साम्य भी नहीं है। ऐसा भी सोचा नहीं जा सकता कि कोई परमाणु ऐसे हों जिनमें चेतना उत्पन्न होती है। अगर चैतन्य कोई रासायनिक मिश्रण का कार्य होता, जैसाकि चूना और कत्थे के मिश्रण से लाल रंग, तो चैतन्य के अणु भी पैदा हो सकते हैं, इस प्रकार हमारी चेतना उन चेतन परमाणुओं का संहात होती जैसाकि रासायनिक मिश्रण में होता है। कत्थे और चूने के मिश्रण से उत्पन्न लाल रंग, उस पदार्थ में अस्तित्व रखता है जिसका प्रत्येक अणु लाल है। इस प्रकार अगर चेतना इस देह के द्रव्य का रासायनिक कार्य है, तो उसमें कुछ चेतना के अणु उत्पन्न होते और हमें प्रत्येक परमाणु में अनेक आत्माओं का अनुभव होता और चेतना और अनुभव की एकता का अनुभव नहीं होता। इस तरह यह मानना पड़ेगा कि चेतना आत्मतत्त्व में अस्तित्व रखती है और वह देह से भिन्न है।

चैतन्य इन्द्रियों में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अगर वह प्रत्येक इन्द्रियों में है तो फिर जो एक इन्द्रिय (आँख) से प्रत्यक्ष होता है वह दूसरी इन्द्रिय (स्पर्श) से नहीं होगा, इस प्रकार ऐसा ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे 'मैं उसे स्पर्श करता हूँ जिसे पहले देखा था'। अगर समस्त इन्द्रियाँ मिलकर चेतना उत्पन्न करती हैं तो हम एक इन्द्रिय (जैसे आँख) से किसी को नहीं जान सकते और न हमें चेतना ही होगी या किसी इन्द्रिय के नाश होने पर उस इन्द्रिय के अनुभव की स्मृति भी नहीं होगी, आदमी अंधा होने पर, चेतनाहीन हो जाएगा और आँख से देखी हुई वस्तुओं को याद भी नहीं कर सकेगा।

मन को भी आत्मा नहीं कह सकते, क्योंकि मनस् के ही कारण ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रम से होता है। अगर यह माना जाय कि मनस् एक पृथक् साधन है जिसके द्वारा हम क्रम बद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं तो फिर हम आत्मा के अस्तित्व को ही मान लेते हैं, भेद इतना ही रहता है कि जिसे यामुन और उसके अनुयायी आत्मा कहते हैं उसे चार्वाक मनस् कहते हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते हैं कि ज्ञान स्वयं प्रकाश्य होता हुआ विषय को भी प्रकट करता है, इस ज्ञान को भी आत्म कहना चाहिए। इन बौद्धों के विरोध में यामुन का यह कहना है कि अगर ज्ञान का कोई नित्य स्थान नहीं माना जाता है तो, व्यक्ति में एकत्व का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा, क्षणिक स्व-प्रकाश्य ज्ञान से नहीं समझाई जा सकती है। अगर हर ज्ञान क्षण में आकर चला जाता है और वहाँ कोई व्यक्ति है ही नहीं केवल ज्ञान-क्षणों का प्रवाह ही है तो कोई वर्तमान काल के अनुभव का भूतकाल के अनुभव के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है? क्योंकि स्थायी तत्त्व कोई न होने से, ऐसा नहीं माना जा सकता कि कोई भी ज्ञान स्थायी होकर ठहरे जिसके आधार पर व्यक्ति की एकता का अनुभव और प्रत्यभिज्ञा समझाई जा सके। जब हर एक ज्ञान, दूसरे के आने से पहले अनुपस्थित हो, तब सादृश्य के आधार पर साम्य के भ्रम का भी अवसर नहीं रहता।

शंकर सम्प्रदाय का सिद्धान्त कि एक नित्य निर्गुण शुद्ध चैतन्य ही है, इसे यामुन समस्त अनुभव के विरुद्ध मानते हैं। इस प्रकार, चेतना किसी एक व्यक्ति की है, ऐसा

अनुभव में आता है, जो उत्पन्न होती है, कुछ समय तक रहती है और फिर लुप्त हो जाती है। गाढ़ निद्रा में हम सभी को ज्ञान नहीं रहता और यह इस संस्कार से प्रभावित है कि जगने के बाद हम कहते हैं कि हम देर तक सोये और हमें कोई चेतना नहीं थी। अगर अन्तःकरण जिसे अद्वैतवादी, 'अहम्' का आधार मानते हैं, निद्रा में डूब जाता है, तो हमें यह भान नहीं हो सकता कि हम देर तक सोये। किसी ने कभी शुद्ध ज्ञान का अनुभव नहीं किया है। ज्ञान वस्तुतः (ज्ञाता) 'किसी' को होता है। शंकर-मतवादियों का कहना है कि ज्ञान का उत्पन्न होना अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय विषय का उसी समय तादात्म्य होना है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि किसी विषय के ज्ञान की सच्चाई देश और काल मर्यादा से सम्बन्धित है, न कि विषय या ज्ञान के मुख्य गुण से। यह भी धारणा कि ज्ञान नित्य है, निर्मूल है, क्योंकि जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह देश और काल की मर्यादा में ही होता है। किसी ने भी कभी प्रकार-रहित ज्ञान का अनुभव नहीं किया है। ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान इत्यादि द्वारा ही होता है, ऐसा ज्ञान हो ही नहीं सकता जो प्रकार-रहित हो या नितान्त गुण-रहित हो। शंकर मतवादी आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप या अनुभूतिरूप मानते हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि आत्मा अनुभूति का कारक है, ज्ञाता है, ज्ञान या चैतन्य नहीं है। पुनः बौद्धवाद की तरह शंकर मत से भी, प्रत्यभिज्ञा का प्रश्न हल नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति के एकत्व के अनुभव या प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यही है कि ज्ञाता भूतकाल में था और अब भी है, जैसाकि हम कहते हैं, 'मैंने यह अनुभव किया,' किन्तु अगर आत्मा शुद्ध चैतन्य है तो कोई प्रत्यक्ष कर्त्ता (ज्ञाता) भूत और वर्तमान में अस्तित्व रखता हुआ नहीं हो सकता और 'मैंने यह अनुभव किया था,' इसे समझाया नहीं जा सकता, इसे भ्रम, मिथ्या कहकर ही हटाया जा सकता है। विषय का ज्ञान, 'मैं चेतना हूँ' ऐसे नहीं होता, किन्तु मुझे इसका ज्ञान है, इस प्रकार होता है। अगर प्रत्येक ज्ञान का प्रकार, शुद्ध ज्ञान पर मायिक अध्यास है, तो चेतना में परिवर्तन होना चाहिए या और मुझे चेतना है, ज्ञान है इसके बजाय ज्ञान का प्रकार 'मैं चेतना हूँ, ज्ञान हूँ' इस प्रकार होना चाहिए। शंकर मतवादी यह भी मानते हैं कि ज्ञातृत्व (ज्ञातृभाव) शुद्ध चैतन्य पर भ्रम-जनित अध्यास है। अगर ऐसा ही है तो चैतन्य स्वयं अज्ञानजनित अध्यास माना जाएगा, क्योंकि वह अन्त तक अर्थात् मुक्ति तक रहता है तब जबकि शुद्ध या सच्चे ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) का यह परिणाम है कि आत्मा ज्ञातृत्व-भाव खो देता है तो फिर तत्त्व ज्ञान के बजाय मिथ्या ज्ञान अपनाना चाहिए। 'मैं जानता हूँ' यह भान, आत्मा ज्ञातृत्व की सिद्धि है और ज्ञाता से पृथक् शुद्ध ज्ञान का अनुभव का नहीं हो सकता। 'अहम्' यह प्रत्यय ज्ञाता को देह, इन्द्रिय, मनस् और ज्ञान से विविक्त कर देता है ऐसे आत्मा को साक्षी भी कहा है क्योंकि सारे विषय इसके साक्षित्व में प्रत्यक्ष होते हैं।

सांख्य मत के अनुसार अहंकार या बुद्धि को ज्ञाता माना है। क्योंकि ये सब प्रकृति के विकार हैं इसलिए जड़ हैं। ऐसा माना नहीं जा सकता कि चैतन्य का प्रकाश इस पर पड़ कर प्रतिबिम्बित होकर उसे ज्ञाता बना देता है क्योंकि प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष वस्तु से ही उत्पन्न होता है। क भी-कभी शंकर मतवादी ऐसा भी कहते हैं कि चैतन्य, नित्य और अपरिणामी है और अहंकार इसी से प्रकाशित होता है और उसी सम्पर्क से इस ज्ञान को प्रकट करता है, जैसे दर्पण या पानी की सतह सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाती

है; और अब अहंकार इत्यादि के बन्धन गाढ़ निद्रा में टूट जाते हैं तब शुद्ध चैतन्य स्वाभाविक ही स्वयं ज्योति और आनन्द रूप से प्रकाशित हो जाता है। यह भी समझ के बाहर है क्योंकि अगर अहंकार इत्यादि शुद्ध चैतन्य से ही प्रकाशित होते हैं तो यही फिर शुद्ध चैतन्य को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ? वास्तव में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वह किस प्रकार का प्रकाशन है जो अहंकार द्वारा होता है क्योंकि यहाँ सर्व प्रकार की सादृश्य निरर्थक ठहरते हैं। साधारण दृष्टि में जब ढकने वाले आवरण दूर हो जाते हैं तब वस्तु प्रकट हो जाती है या जब दीप अंधकार को नष्ट कर देता है या जब दर्पण विषय को प्रतिबिम्बित करता है किन्तु यहाँ इनमें से एक भी सादृश्य या उपमा ठीक नहीं बैठती जिससे यह समझ में आ जाय कि किस प्रकार शुद्ध चैतन्य अहंकार द्वारा प्रकट होता है, यदि चैतन्य प्रकट होने के लिए किसी की अपेक्षा है तो वह स्वयं प्रकाश नहीं रहता, वह अन्य विषयों जैसा बन जाता है। ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान शुद्ध चैतन्य में से अज्ञान के क्रमबद्ध निवारण से होता है। अज्ञान (न ज्ञान-ज्ञान नहीं) का अर्थ ज्ञान की अनुपस्थिति या वह क्षण जब ज्ञान उत्पन्न होने जा रहा है किन्तु ऐसा अज्ञान चैतन्य (ज्ञान) का अवरोधक नहीं हो सकता। शंकर-मतवादी ऐसा मानते हैं कि अनिर्वचनीय भाव रूप अज्ञान से जगत् बना है। किन्तु यह सब बिलकुल अर्थ-शून्य है। जो किसी को प्रकाशित करता है वह प्रकाश्य अपना ही अंश या अपना परिणाम नहीं बना सकता। अहंकार किसी अन्य चेतना को (जो उससे भिन्न है) इस रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकता कि वह चेतना अपनी ही अभिव्यक्ति दीखे। इससे यह मानना पड़ता है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य नहीं है किन्तु अहंकृत चैतन्य ही है जो हमारे अनुभव से प्रत्यक्ष है। अहंकार की अन्य सीमाओं से असम्बद्ध सुषुप्ति का बहुधा दृष्टान्त शुद्ध चैतन्य के लिए दिया जाता है। किन्तु यह सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त, जबकि उत्तरकाल के जाग्रत क्षण का अनुभव यह सिद्ध करता है कि मैंने कुछ नहीं जाना तो यह आग्रह किया जा सकता है कि गाढ़ निद्रा में शुद्ध चैतन्य नहीं था। किन्तु अहंकार का अस्तित्व इस तथ्य से पुष्ट होता है कि जाग्रत क्षण में जिस ज्ञान द्वारा अहंकार अपने को आत्मा है ऐसा पहचानता है वही इसको भी पुष्ट करता है कि अहंकार आत्मा के रूप से गाढ़ निद्रा में भी था। आत्मा जो हम में अहंकार के रूप में प्रकाशित रहती है, सुषुप्ति-काल में भी बनी रहती है, परन्तु उसे इतना भान नहीं रहता। निद्रा में से जगकर हमें ऐसा अनुभव होता है कि मुझे कुछ भी ज्ञान न था, मैं अपने को भी नहीं जानता था। शंकरमतवादी इस अनुभव का प्रतिपादन करते हैं कि गाढ़ निद्रा में अहंकार का भी ज्ञान नहीं होता। किन्तु यह बिलकुल ठीक नहीं है क्योंकि यह ज्ञान कि 'मैं अपने को भी नहीं जानता था' इसका अर्थ यह है कि निद्रा में समस्त व्यक्तिगत सहचार (जैसे कि अमुक कुटुम्ब का हूँ, इस स्थान पर हूँ इत्यादि) अनुपस्थित थे, न कि अहंकार स्वयं अनुपस्थित था। जब आत्मा को अपने स्वयं का ज्ञान होता है तब 'मैं' का भान होता है जैसाकि भान 'मैं अपने आपको जानता हूँ' में है। गाढ़ निद्रा में भी जब कोई भी विषय प्रकट नहीं होता तब भी आत्मा है जो अहंकार रूप से—'मैं' रूप से अपने को जानता है। अगर मुक्तावस्था में आत्म-चैतन्य नहीं है अहंकार या 'मैं' नहीं है तो यह नितान्त बौद्ध शून्यवाद जैसा होता है। 'मैं' का भान या अहंकार, आत्मा के ऊपर आरोपित कोई बाह्य गुण नहीं है किन्तु वह आत्मा

का स्वरूप है। जब हम कहते हैं कि 'मैं इसे जानता हूँ' तो इसमें ज्ञान भी अहंकार के गुण के रूप में प्रकाशित होता है। 'मैं' ही इस ज्ञान को धारण करता है। ज्ञान इस प्रकार 'मैं' का गुण है। किन्तु हमारा कोई भी अनुभव यह नहीं सिद्ध करता कि 'मैं' शुद्ध ज्ञान का गुण है। हम कहते हैं मुझे यह ज्ञान है ऐसा नहीं कि ज्ञान का 'मैं' हूँ। अगर 'मैं' नहीं है, कोई अनुभव करने वाला नहीं है, मुक्तावस्था में कोई अधिष्ठान अस्तित्व नहीं रखता तो मुक्ति पाने का प्रयत्न कौन करेगा? अगर मुक्ति के बाद 'मैं' भी नष्ट हो जाता है तो कौन इस अवांछनीय अवस्था के लिए सारे कष्ट उठायेगा और धार्मिक प्रतिबन्ध इत्यादि सहन करेगा? अगर 'मैं' भी नष्ट हो जाता हूँ तो मुझे ऐसी शून्यावस्था की क्यों परवाह करनी चाहिए? मुझे शुद्ध चैतन्य से क्या काम, जबकि 'मैं' ही नष्ट होता हूँ। यह कहना कि 'मैं' 'तुम' 'या' 'यह' या 'वह' जैसा एक विषय है और यह 'मै' शुद्ध चैतन्य से प्रकाशित होता है तो यह समस्त अनुभवों के सर्वथा विपरीत है। 'मैं' स्वयं प्रकाशित है इसे अन्य कारक की अपेक्षा नहीं है न अभी और न मुक्तावस्था में ही; क्योंकि आत्मा 'मैं' के ही रूप से प्रकट होता है और अगर मुक्तावस्था में आत्मा प्रकाशित होता है तो 'मैं' के ही रूप में होगा। वैदिक शास्त्र ग्रन्थों में भी हम यह पाते हैं मुक्त जन—वामदेव और मनु, अपने विषय में 'मैं' के रूप में ही सोचते थे। ईश्वर भी अपने व्यक्तित्व के भान से रहित नहीं है जैसाकि उपनिषद् के पाठों से सिद्ध होता है जिसमें वह कहता है कि 'मैंने यह जगत् उत्पन्न किया है'। आत्मा 'मैं' का वह ज्ञान मिथ्या है जब उसका देह, जन्म या सामाजिक पद वे अन्य किसी बाह्य संचार से, तादात्म्य किया जाए या जब वह अभिमान या आत्म श्लाघिता को जन्म दे। इस प्रकार के अहंकार को शास्त्र में मिथ्या कहा है। 'मैं' जब आत्मा का ही निर्देश करता है, तब वह सच्चा ज्ञान है।

सुख और दुःख के अनुभव भी 'मैं' या आत्मा के गुण के रूप में प्रकट होते हैं। 'मैं' अपने आपको भी प्रकट करता है इसलिए उसे अजड मानना चाहिए। यह तर्क कि 'मैं' का भान ज्ञान का सहोपालम्भ होता है इसलिए ज्ञान ही का केवल अस्तित्व है और 'मैं' उससे भिन्न नहीं है, इसका खण्डन इसी तर्क को देकर किया जा सकता है कि 'मैं' का ही अस्तित्व है—ज्ञान का नहीं। हर कोई यही अनुभव करता है कि ज्ञान 'मैं' ज्ञाता, से भिन्न है जैसाकि ज्ञेय है। यह कहना कि आत्मा स्वरूपत: स्वयं प्रकाश्य है ज्ञानात्मक है, यह दोनों भिन्न तथ्य हैं क्योंकि आत्मा ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा इन्द्रिय इत्यादि के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, आत्मा, ज्ञाता है, 'मैं' है जो विषय को जानता है इससे वह ज्ञानवान् है।

'मैं' ज्ञाता, आत्मा, असंदिग्ध ही स्वचैतन्य द्वारा प्रकट होता है इसलिए जिन्होंने आत्मा को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की कोशिश की वे निष्फल हुए। इस प्रकार नैयायिक सोचते हैं कि आत्मा द्रव्य है जिसमें ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख इत्यादि समवाय सम्बन्ध से जुड़े हैं। किन्तु ऐसे अनुमान से हम यह जान भी जाएँ कि कोई कुछ है जिसमें ये गुण समवाय सम्बन्ध से अस्तित्व रखते हैं किन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगता कि वह पदार्थ हमारी आत्मा है। क्योंकि जब ऐसा कुछ हम नहीं पाते जिसमें ज्ञान इच्छा इत्यादि रह सकें, तो यह भी दलील दी जा सकती है कि ज्ञान इत्यादि गुण नहीं है या कोई ऐसा नियम नहीं है कि गुणों का किसी पदार्थ में रहना आवश्यक है। ये

पारिभाषिक रूप में गुण माने जाते हैं; नैयायिक इन्हें गुण मान लें, और इनसे अनुमान लगा लें कि कोई एक अन्य पदार्थ होगा (जो अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है) जो उपरोक्त गुणों का आधार है। किन्तु यह बिलकुल युक्तियुक्त नहीं है कि हम नए पदार्थ आत्मा को स्वीकार कर लें (जिसे हम अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते), केवल इसी तर्क पर कि गुणों का कोई आधार होना चाहिए। विरोधियों का यह सिद्ध वाक्य है कि गुण किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहिए और वे ज्ञान इच्छा इत्यादि हैं, जिन्हें वे गुण कहने पर राजी हैं; किन्तु इस तर्क का वे दुराग्रह यह कहकर नहीं कर सकते, क्योंकि और कोई द्रव्य नहीं मिलता जिसमें ज्ञान इच्छा इत्यादि तथाकथित गुण रह सकते हैं इसलिए किसी भिन्न द्रव्य का आत्मा के रूप में अनुमान से अस्तित्व मानना चाहिए।

सांख्यकार भी वही गलती करते हैं, जबकि वे जड़ प्रकृति का सारा विकास पुरुष के हेतु ही होना चाहिए ऐसा मानते हैं, जिसके लिए प्रकृति कार्यरत रहती है। ऐसे मत के प्रति आक्षेप यह है कि प्रकृति जिसके लिए क्रियाशील है ऐसा तत्त्व अनुमानित भी किया जाय, तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे तत्त्व स्वयं संघात रूप नहीं हैं और उनके अधीक्षण के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है, या पुरुष चैतन्य स्वरूप है जैसाकि उन्हें होना चाहिए। इसके अतिरिक्त घटना या पदार्थों के संघात का हेतु वही हो सकता है जिसे ऐसे संघात से लाभ होता है या किसी प्रकार से उनसे प्रभावित होता है। किन्तु पुरुष निष्क्रिय, शुद्ध चैतन्य रूप होने से प्रकृति द्वारा किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं हो सकते। तो फिर यह किस प्रकार माना जा सकता है कि प्रकृति उन्हीं के उद्देश्य से कार्य करती है। यह मात्र भ्रम या आभास है कि पुरुष प्रकृति से प्रभावित या लाभान्वित होता है, यथार्थ नहीं माना जा सकता, और न इससे प्रकृति के कार्यरत होने का प्रयोजन समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये तथाकथित भाव या भाव का भ्रम, स्वयं प्रकृति के विकार हैं, पुरुष के नहीं हैं, क्योंकि पुरुष चैतन्य रूप है और त्रिगुणातीत है। सांख्यानुसार समस्त चित्तवृत्तियाँ, बुद्धि का परिणाम हैं जो जड़ होने के कारण मिथ्या और भ्रम का विषय बन ही नहीं सकतीं। इसके अलावा, बुद्धि में पुरुष की प्रतिच्छाया दीखती है इस मान्यता का कहीं भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। क्योंकि पुरुष दृश्य पदार्थ नहीं है इसलिए उसकी छाया बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो नहीं सकती। अगर ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में कोई प्रतिबिम्ब नहीं है किन्तु बुद्धि पुरुष की तरह चैतन्यमय केवल दीखती ही है, यह भी शक्य नहीं है, क्योंकि अगर बुद्धि पुरुष जैसी गुणातीत हो जाती है तो समस्त चित्तवृत्तियों का भी उच्छेद हो जाता है। अगर ऐसा कहा जाता है कि बुद्धि शुद्ध चैतन्य जैसी नहीं बन जाती, किन्तु वह पुरुष जितनी ज्ञानमय है, तो भी यह अशक्य है, क्योंकि पुरुष सांख्यानुसार शुद्ध चैतन्य है, ज्ञानमय नहीं है। सच पूछो तो सांख्यदर्शन में कोई ज्ञाता नहीं है यही एक समस्या है। अगर ऐसा कहा जाता है कि पुरुष गुणों के विकास का हेतु है इसका अर्थ यही है कि पुरुष स्वयं अपरिणामी और त्रिगुणातीत होते हुए भी, अपने सान्निध्य मात्र से गुणों में हलचल कर देता है और वह इस प्रकार गुणों के विकास परिणाम का हेतु है, जिस प्रकार एक राजा के लिए उसका सारा राज्य कार्य करता है और लड़ाई लड़ता है। किन्तु पुरुष इनसे प्रभावित न होता हुआ केवल द्रष्टा ही है,

इसलिए यह भी शक्य नहीं है; क्योंकि यह उपमा संगतिहीन है। राजा अपने राज्य के लोगों से लाभान्वित होता है, किन्तु पुरुष, क्योंकि केवल देखना मात्र उपलक्षित करता है इसलिए द्रष्टा नहीं माना जा सकता।

आत्मा का स्वरूप जैसाकि हमने वर्णन किया है उपनिषदों द्वारा भी पुष्ट होता है। आत्मा प्रत्यय रूप से 'मैं' के रूप में स्पष्ट प्रकट होता है। सुख-दुःख, राग द्वेष, ये इसकी अवस्थाएँ हैं, जो आत्मा के 'मैं' के रूप में प्रकट होने के साथ ही प्रकट हो जाती हैं। कुमारिल की मान्यतानुसार आत्मा किसी इन्द्रिय या मनस् से भी गोचर नहीं है क्योंकि प्रश्न यह उठता है कि अगर आत्मा मनसा गोचर है तो वह कब होता है? यह ठीक उसी समय गोचर नहीं हो सकता जब विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि आत्मा और विषयों का ज्ञान एक ही क्षण उत्पन्न होने के कारण यह सम्भव नहीं कि उनमें से (आत्मा) ज्ञाता या निर्णेता बना रहे और अन्य ज्ञेय या (विषय) निर्णीत लेंगे। अगर विषय-ज्ञान और आत्मा का ज्ञान दो पृथक् क्षण में दो कार्य के रूप में उत्पन्न होते हैं तो यह कठिनाई आती है कि वे ज्ञाता-ज्ञेय भाव से कैसे सम्बन्धित हो सकता है? इसलिए यह माना जा सकता है कि आत्मा चैतन्यावस्था में अपने आपको हमेशा प्रकट करता है तो भी इन्द्रियाँ या मनस् द्वारा गोचर होता है। पुनः कुमारिल यह मानते हैं कि ज्ञान एक नयी वस्तु या कार्य है, और जब इन्द्रियों के व्यापार से हममें ज्ञान क्रिया उत्पन्न होती है तब विषय में भी आत्मा के सम्पर्क से ज्ञानता या प्रकाश्यता उत्पन्न होती है और इस प्रकाश्यता से ज्ञान क्रिया अनुमानित की जा सकती है और आत्मा ज्ञानवान् होने से, मनस् द्वारा गोचर है। किन्तु यह मत कि आत्मा स्वयं चैतन्य नहीं है, अन्य बाह्य ज्ञान अपेक्षित है, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि किसी को भी इस भेद की कल्पना तक नहीं है कि आत्मा (स्वयं का ज्ञान) अब किसी अन्य से प्रकाशित हो रहा है जो पहले नहीं था। तदुपरान्त, ज्ञान-क्रिया, आत्मा को तत्क्षण प्रकाशित नहीं करती तो यह भी शंका हो सकती है कि आत्मा ने विषय को जाना या नहीं और जैसाकि सामान्य अनुभव है प्रत्येक ज्ञान के अनुभव में आत्मा स्पष्ट प्रकट नहीं होता।

पुनः कुछ ऐसा मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, वह तो विषय के ज्ञान के ज्ञाता से होता है। यह सरल ही है कि हम इस सच्चाई को स्वीकार नहीं कर सकते, यह सरलता से समझ में आ सकता है। क्योंकि विषयगत चैतन्य या ज्ञान तो विषय को निर्देश करता है, वह आत्मा का ज्ञान कैसे उत्पन्न कर सकता है? इस मतानुसार ज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश न होने से, प्रकट होने के लिए अन्य की अपेक्षा रखता है, अगर ऐसा माना जाता है कि, यद्यपि ज्ञान स्वयं प्रकाश्य है, तो भी वह उसी व्यक्ति के सम्बन्ध से प्रकट होता है जिसमें वह समवाय-सम्बन्ध से स्थित है, हर एक व्यक्ति को नहीं। अगर वास्तव में ऐसा ही है, तो मतलब यह निकला, कि ज्ञान उभी एक व्यक्ति के सम्बन्ध द्वारा प्रकट होता है, जो जानता है। अगर इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि ज्ञान अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु केवल विषय और ज्ञाता के विशेष ज्ञान को प्रकट करने के लिए ही यह सम्बन्ध है, तो हमारा कहना है कि इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम इसे तभी स्वीकार कर

सकते हैं, जबकि हमारे सामने कोई दृष्टांत हो जिसमें शुद्ध चैतन्य या ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय-विषयक सम्बन्ध से पृथक् अनुभव में आया हो। अगर इतने पर भी तर्क किया जाता है कि चैतन्य उसकी स्वयं प्रकाश्यता से पृथक् नहीं किया जा सकता, तो हमें यह भी बताना पड़ेगा कि चैतन्य या ज्ञान, व्यक्ति, ज्ञाता, अधिष्ठान (उद्देश्य) से पृथक् कभी भी नहीं पाया जाता या ज्ञाता, या जो ज्ञानवान् है उससे पृथक्, ज्ञान नहीं पाया जाता। अनेक चेतनावस्थाओं में स्वयं प्रकाश्यता मानने के बजाय, क्या यही नहीं ठीक होगा कि हम यह मानें कि ज्ञान की स्वयं प्रकाश्यता, स्वयं चेतन कर्ता और चेतन अनुभूति के निर्धा...क विषय से उत्पन्न होती है? अगर चेतनावस्थाओं को स्वयं प्रकाश्य माना भी जाय तो भी इससे यह समझ में नहीं आता कि किस प्रकार उसी वजह से आत्मा भी स्वयं प्रकाश्य है। अगर आत्मा अनुभवों के ज्ञाता को, स्वयं प्रकाश मान लिया जाय तो ज्ञान के अनुभवों की प्रकाश्यता सरलता से समझाई जा सकती है, क्योंकि आत्मा सारे अनुभवों का द्रष्टा है। प्रकट होने के लिए सारे पदार्थ या विषय को अपने से दूसरे पदार्थ या अधिकरण की आवश्यकता रहती है जो अपने वर्ग से भिन्न हैं, किन्तु आत्मा को चैतन्य के लिए दूसरा कोई आश्रय नहीं है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि आत्मा स्वयं प्रकाश्य, ज्ञानवान् तत्त्व है, घड़े को प्रकट होने के लिए किसी दूसरे घड़े की आवश्यकता नहीं होती, केवल प्रकाश की आवश्यकता है जो दूसरे वर्ग के पदार्थ में है। प्रकाश को भी प्रकट होने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती या घड़े की जिसे वह प्रकट करता है, उसे केवल इन्द्रियों की अपेक्षा है और इन्द्रियाँ अपनी शक्ति प्रकट करने के लिए चैतन्य पर आश्रित हैं। चैतन्य अपने लिए आत्मा पर आधारित है, ज्ञान, आत्मा में आश्रय लिए बिना प्रकट नहीं हो सकता। किन्तु आत्मा को आश्रय के लिए दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए उसकी स्वयं प्रकाश्यता किसी की अपेक्षिता नहीं है।

चैतन्य की अवस्थाएँ, इस प्रकार, आत्मा की अवस्थाएँ माननी पड़ेगी, जो भिन्न विषयों के संयोग से उन्हें यह ज्ञान या वह ज्ञान के रूप में प्रकट करती हैं। यह या वह पदार्थ का ज्ञान केवल आत्मा की भिन्न अवस्थाएँ हैं और वह स्वयं आत्मा का विशेष लक्षण है।

अगर चैतन्य आत्मा का विशेष लक्षण या अभिन्न गुण न होता तो कोई ऐसा समय हो सकता था, जब आत्मा का चैतन्य-रहित अवस्था में अनुभव हो सकता था। एक वस्तु दूसरी से इस प्रकार सम्बन्धित हो कि वह उसके बिना रह नहीं सकती तो वह उसका आवश्यक और अभिन्न लक्षण ही तो हो सकता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह सामान्यीकरण ठीक नहीं है, क्योंकि हम देह के संयोग में होते हुए स्वचैतन्यवान् हैं, जो आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है, क्योंकि आत्मा का 'मैं' रूप में या 'मैं जानता हूँ' के रूप में ज्ञान, देह को लक्ष्य करके या उसके स्वयं से आवश्यक रूप में सम्बन्धित नहीं है। पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि चैतन्य, अगर आत्मा का अभिन्न और आवश्यक गुण है तो गाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छा की अवस्था समझाई नहीं जा सकती, क्योंकि ऐसा सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं है कि तथाकथित अचेतावस्था में आत्मा को ज्ञान नहीं है। जगने पर हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें उस समय कोई ज्ञान नहीं था क्योंकि हमें वहाँ उसकी स्मृति नहीं रहती। जाग्रतावस्था में अचेतावस्था

का भान होने का कारण यह है कि हमें उन अवस्थाओं की स्मृति नहीं है। स्मृति तब ही शक्य है जबकि विषय का आवगाहन होता है और ज्ञान के विषय के संस्कार हमारे चित्त में रह जाते हैं, जिससे उनके द्वारा हम स्मृति के विषय को याद कर सकें। निद्रा में कोई विषय प्रत्यक्ष नहीं होता और न संस्कार ही रहते हैं और परिणाम में हमें उनकी स्मृति भी नहीं रहती। आत्मा तब अपने आत्म-चैतन्य की स्वलक्षणता में रहता है किन्तु तब ज्ञान किसी का नहीं होता। स्वचैतन्य आत्मा कोई संस्कार, मानसिक कारणों पर संस्कार नहीं छोड़ जाता, जैसे मनस् इत्यादि, क्योंकि उस समय वे निष्क्रिय होते हैं। आत्मा पर कोई भी संस्कार नहीं किया जा सकता यह सरलता से समझ में आता है, क्योंकि अगर ऐसा होता और आत्मा पर संस्कारों का समूह बढ़ता रहता तो आत्मा उन्हें हटाकर कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। तदुपरान्त, स्मृति की यह विलक्षणता है कि जब कुछ एक बार प्रत्यक्ष हो गया है, किन्तु जिसका सतत अनुभव नहीं हो रहा है, उसे वर्तमान में याद किया जा सकता है जब साहचर्य द्वारा भूतकाल के वे संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। किन्तु स्वचैतन्य आत्मा हमेशा एक-सा ही रहता है इसलिए उसकी कोई भी स्मृति नहीं हो सकती। गाढ़ निद्रा से जगने पर हमें ऐसा अनुभव होता है कि हम सुख से सोये, यह तथ्य, इस बात को सिद्ध नहीं करता कि गाढ़ निद्रा में हमें वास्तव में सुख की स्मृति थी, वह तो शरीर का सुखमय अनुभव है जो गहरी नींद से होता है, जिसका यह अर्थ लगा लिया जाता है या ऐसा कहा जाता है कि हमें गाढ़ निद्रा में सुख का अनुभव हुआ। हम कहते हैं, 'मैं वही हूँ जो कल भी था' किन्तु यहाँ आत्मा की स्मृति नहीं होती किन्तु यहाँ स्मृति का विषय विशेष समय का साहचर्य ही है।

विषय का प्रत्यक्ष हमें तब होता है जब चैतन्य किसी इन्द्रिय के सम्बन्ध से किसी पदार्थ से संयोग में आता है। इसी कारण यद्यपि आत्मा स्वचैतन्ययुक्त है, तो भी, जब आत्मा का चैतन्य इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा किसी बाह्य पदार्थ से होता है तब हमें विशेष प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, अणु रूप है जब वह किसी इन्द्रिय के संयोग में आता है तब हमें उस इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह इस तथ्य को समझाता है कि दो प्रत्यक्ष का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता, क्रम बद्ध ही ज्ञान होता है लेकिन इतना द्रुत होता है कि परिवर्तन देखने में नहीं आता। अगर आत्मा सर्वव्यापी होता तो हमें सभी पदार्थों का ज्ञान एक साथ ही होता क्योंकि आत्मा का सबों से सम्बन्ध था। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान आत्मा का विलक्षण गुण है, ज्ञान या चेतना उसमें उत्पन्न नहीं होती, किन्तु जब अवरोधक हटा दिए जाते हैं और आत्मा विषय के सम्पर्क में आता है तो उनका ज्ञान प्रकट हो जाता है।

ईश्वर और जगत्

जैसाकि हमने अभी देखा है मीमांसक ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनीश्वरवादी तर्क जिन्हें हमने उल्लिखित नहीं किया है उन्हें अब यामुन के ईश्वरवाद के विरोध में दे सकते हैं। वे कहते हैं सर्वज्ञ ईश्वर नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी

धारणा सिद्ध नहीं की जा सकती, और ऐसी धारणा के विरोध में अनेक तर्क भी हैं। ऐसे सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो ? निश्चय ही यह साधारण प्रत्यक्ष के साधनों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि साधारण प्रत्यक्ष सभी वस्तुओं के भूत और वर्तमान का एक ज्ञान नहीं दे सकता जो इन्द्रियों की मर्यादा के पहले और परे हैं। योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा सामान्यतः माना जाता है, उसे भी माना नहीं जा सकता। योगी इन्द्रियों द्वारा भूतकाल की वस्तुओं को और इन्द्रियों की मर्यादा के परे की वस्तुओं को भी जाने, यह अशक्य है। अगर अन्तःकरण ऐसा है कि वह इन्द्रियों की समस्त वस्तुओं का बिना इन्द्रियों द्वारा जान सकता है तो फिर इन्द्रियों की आवश्यकता ही क्या है ? यह अलबत्ता ठीक है कि तीव्र ध्यान द्वारा हम पदार्थ को स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से देख सकते हैं, किन्तु कितने भी गहन ध्यान द्वारा हम आँख से सुन नहीं सकते और बिना इन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। सर्वज्ञता, इसलिए शक्य नहीं है और हमने अपनी इन्द्रियों द्वारा कोई ऐसे सर्वज्ञ व्यक्ति को, ईश्वर को, नहीं देखा है। ईश्वर का अस्तित्व अनुमान द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह दृश्य पदार्थों से परे है। तथा हम किसी हेतु को भी नहीं देख सकते जो उसके साथ सम्बन्ध रखता है और जिसकी वजह से उसे ईश्वर के अनुमान का विषय बना सके। नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि यह अणु के संघात से बना हुआ जगत्, कार्य होना चाहिए और फिर तर्क करते हैं कि अन्य कार्य की तरह, जगत् भी ज्ञानवान् पुरुष के निरीक्षण में बना होगा, जिसे जगत् के द्रव्य का साक्षात् अनुभव है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसा सोचा जा सकता है कि परमाणु इत्यादि का इस वर्तमान रूप में संयोग, जगत् के सारे मनुष्यों के अदृष्ट कर्म द्वारा हुआ है। पाप और पुण्य हम सब में होते हैं और वे जगत् की गति को ढालते हैं यद्यपि हम इसे देख नहीं सकते। इस प्रकार जगत् को मनुष्य कर्मों का परिणाम कहा जा सकता है, ईश्वर का नहीं, जिसे किसी ने कभी भी देखा नहीं है। तदुपरान्त, ईश्वर, जिसे कोई इच्छा पूर्ति करने को नहीं है वह जगत् को क्यों उत्पन्न करे ? यह जगत्, पहाड़, नदी और महासागर के साथ, किसी एक से उत्पन्न हुआ कार्य नहीं माना जा सकता।

यामुन न्यास की पद्धति स्वीकारते हैं और जगत् कार्य है इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और इसलिए यह मानते हैं जगत् ज्ञानवान् पुरुष द्वारा उत्पन्न किया होना चाहिए जिसे द्रव्य का साक्षात् ज्ञान है। उसे मनुष्यों के धर्म और अधर्मों का साक्षात् ज्ञान है जिसके अनुसार वह सारे जगत् का निर्माण करता है और यह नियन्त्रण करता है कि जिससे प्रत्येक वही अनुभव करे जिसके वह योग्य है। वह, केवल अपने संकल्प द्वारा जगत् को गति देता है। उसके शरीर नहीं है किन्तु तब भी वह अपने मनस् द्वारा संकल्प-व्यापार करता है। उसे असीम ज्ञान और शक्तिमान् पुरुष मानना ही पड़ेगा, नहीं तो वह किस प्रकार इस जगत् का निर्माण और उसका नियन्त्रण कर सकता है ?

शंकर मतवादियों ने ऐसा माना है कि जब उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म के सिवाय और कुछ अस्तित्व नहीं रखता तो इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का ही केवल अस्तित्व है और जगत् मिथ्या है, किन्तु यह कहने में कोई सार नहीं है। इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य दूसरा ईश्वर नहीं है और उसके जैसा दूसरा और कोई नहीं है। जब उपनिषद् यह कहते हैं कि जो कुछ देखते हैं वह ब्रह्म ही है और वह जगत् का उपादान कारण है, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि और किसी का

अस्तित्व है ही नहीं और निर्गुण ब्रह्म ही एक सत्ता है। अगर हम यह कहें कि सूर्य एक ही है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें रश्मियाँ नहीं हैं। अगर हम कहें कि सात समुद्र हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि समुद्र में लहरें इत्यादि नहीं हैं। ऐसे पाठों का केवल अर्थ यह हो सकता है कि जगत् की उत्पत्ति उसमें से—ब्रह्म से उसी तरह है जैसे अग्नि से स्फुलिंग और अन्त में जगत् उसी में अन्तिम स्थान और आधार पाता है। जगत् की समस्त वस्तुओं—वायु, अग्नि, पृथ्वी ने उसमें अपनी शक्तियाँ प्राप्त की हैं और उसके बिना वे कुछ भी करने में अशक्य रहते हैं। अगर इसके विपरीत, यह माना जा सकता है कि सारा जगत् मिथ्या है तो हमें अपने सारे अनुभवों की बलि दे देनी पड़ती है और ब्रह्म का अनुभव भी इसी अनुभव के अन्तर्गत आ जाता है इसलिए वह भी खत्म हो जाता है। वेदान्त का तर्क जो कि भेद के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करने को दिया जाता है वह हमारे किसी उपयोग का नहीं है क्योंकि अनुभव बताता है हम सम्बन्ध एवं भेद देखते हैं। हम नीले रंग को देखते हैं कमल को भी देखते हैं और यह भी कि कमल का रंग नीला है, इसलिए जीव और जगत् उपनिषद् के उपदेश के आधार पर ब्रह्म से अभिन्न रूप से सम्बन्धित हैं यह समझा जा सकता है। यह अर्थ उस अर्थ से अधिक न्याय-संगत है जो सारे जगत् को और जीवों को निषेध करता है और जो इन सबके चैतन्य और ब्रह्मगत चैतन्य का तादात्म्य मानकर ही सन्तुष्ट होता है। शुद्ध सर्वगत और निर्गुण ज्ञान जैसा कुछ नहीं है जैसाकि शंकर मतवादी कहते हैं, क्योंकि हर एक को भिन्न और पृथक् प्रत्यय का साक्षात् ज्ञान होता है जैसे कि व्यक्तिगत दुःख और सुख का। अगर एक ही चैतन्य होता तो सब कुछ सब समय के लिए एक साथ प्रकट होता। पुनः ऐसा भी कहा है कि यह चैतन्य, सत्‌चित् आनन्द है। अगर इस त्रिविध रूप को माना जाय तो वह एकतत्ववाद का उच्छेद करता है जिसका शंकर मतवादी बड़े उत्साह से रक्षण करते हैं। अगर वे ऐसा भी कहें कि ये तीन, ब्रह्म के रूप या गुण नहीं है। किन्तु ये तीनों एक ही तत्त्व को लक्ष्य करते हैं जो ब्रह्म है, यह भी शक्य नहीं है। क्योंकि आनन्द और ज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं? हम सुख और ज्ञान का भिन्न-भिन्न अनुभव करते हैं। इस प्रकार हम शंकर मत का जिस किसी भी प्रकार से परीक्षण करते हैं तो हमें पता चलता है कि वह अनुभव विरुद्ध है और तर्क-संगत युक्ति के भार को सहन नहीं कर सकता। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि हमारा जगत् के विषय में विचार ठीक है और वह बाह्य जगत् का सच्चाई से प्रतिनिधित्व करता है। नानाविध यह जगत् इसलिए मिथ्या नहीं है, किन्तु सत्य है जैसाकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध करता है।

इस प्रकार यामुन के दर्शन का अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि एक तरफ स्वचैतन्य जीव है और दूसरी तरफ सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ईश्वर और नानाविध जगत् है। ये तीन तत्त्व सत्य हैं। कहीं-कहीं वे ऐसा सूचन करते हैं कि जगत् ईश्वर के उद्भूत स्फुलिंग वत् है ऐसा माना जा सकता है किन्तु इस विचार का वे विस्तार नहीं करते और यह विचार अन्य पाठों से विरोध पैदा करता है जिसमें वे ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह जगत् का निर्माता सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार से वे जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध को 'सिद्धित्रय' और 'आगम प्रामाण्य' में न्याय दृष्टि से समर्थन करते हैं इससे यह निश्चित होता है उनका दृष्टिकोण न्याय से भिन्न नहीं है जिसमें ईश्वर और जगत् के द्वैत का निरसन नहीं किया गया है। इसलिए ऐसा लगता है कि (जैसाकि हम

सिद्धित्रय से निश्चित कर सकते हैं) कि यामुन का मुख्य योगदान जीवों का स्वचैतन्य स्वरूप है। ईश्वर और जगत् का अस्तित्व अन्य दर्शनों ने भी माना है। यामुन इस प्रकार ईश्वर और जीव तथा जगत् के सम्बन्ध में कोई भी नया विचार नहीं देते। वे जगत् की सत्ता के बारे में कोई अन्वेषण नहीं करते, केवल जगत् मिथ्या नहीं है इसे साबित करने से ही सन्तोष मान लेते हैं, जैसाकि शंकर मतवादियों ने माना था। वे एक स्थान पर कहते हैं कि वे नैयायिकों के अखंड परमाणु को नहीं मानते। मूल तत्त्व का सबसे छोटा अणु त्र्यसरेणु है जो हवा में उड़ता धूल का कण है जबकि सूर्य की किरणें एक छेद से आती हैं। वे इससे अधिक जगत् की अन्तिम सत्ता के बारे में कुछ भी नहीं कहते या इस बारे में भी नहीं कहते कि जगत् क्या है तथा वह किस प्रकार हुआ ? वे मुक्ति के साधन और मुक्तावस्था के विषय में भी मूक रहते हैं।

रामानुज, वेंकटनाथ और लोकाचार्य के अनुसार ईश्वर का स्वरूप

भास्कर ने कहा था कि यद्यपि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ गुण-सम्पन्न है और अपने आप में समस्त मल-रहित है, तो भी वह अपनी शक्ति से जगत् के रूप में परिणत होता है और उसकी सारी स्थितियाँ एवं मर्यादाएँ, सारे भूतल तत्त्व और घटनाएँ उसी की शक्तियाँ हैं, वह अपनी शक्ति से सामान्य जीव के रूप में प्रकट होता है और मुक्ति भी प्राप्त करता है। रामानुज ऐसा मानते हैं कि उनके मतानुसार ब्रह्म का ऐसा कोई स्वरूप नहीं है जो किसी भी बन्धन की मर्यादा के परे है, वह मर्यादा, शक्ति इस जगत् के रूप में प्रकट होती है। ब्रह्मन् अपनी शक्ति से जो जगत् के रूप में स्थित है, हमेशा सम्बन्धित रहने के कारण जगत् की सभी कमियों का आवश्यक रूप में विषय बनता है। इसके अतिरिक्त जब शक्ति ब्रह्म-शक्ति को मान लिया जाता है तो फिर ब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है। अगर शक्ति को ही परिणाम मान लिया जाय, तब भी यह नहीं स्वीकारा जा सकता कि ब्रह्म को अपनी शक्ति से जगत् रूप में परिणत होने के लिए अपनी शक्ति से सम्पर्क करना ही चाहिए।

एक दूसरे वेदान्तिन् (सम्भवत, यादव प्रकाश, जो प्रारम्भ में रामानुज के गुरु रहे) मानते थे कि ब्रह्मन्, अपने स्वरूप से जगत् रूप से परिणत हुए। यह तर्क भी आपत्ति-पूर्ण है कि ब्रह्म का जगत् रूप से परिणाम होने पर, जगत् की समस्त कमियों और त्रुटियों से युक्त हो जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि ईश्वर अपने एक अंश में सर्वातिशायी है और अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त है और दूसरे अंश में जगत् के परिणाम की त्रुटियों से युक्त है, तो जो एक अश में इतना अशुचि है कि उसकी यह मल पूर्णता, उसके दूसरे निर्मल अंश से इतनी प्रति संतुलित कैसे हो सकती है जिससे वह तब भी ईश्वर कहा जा सके ?

(रामानुज) इसलिए, मानते हैं कि सारे परिवर्तन एवं परिणाम ईश्वर के देह में ही होते हैं उसके स्वरूप में नहीं। इसलिए ईश्वर, अपने स्वरूप से सर्वदा मल से रहित है और श्रेष्ठ गुण-युक्त है जिससे जगत् का क्षोभ जो उसके शरीर से सम्बन्धित है, लेश मात्र भी नहीं स्पर्श करता। बाह्य जगत् की उपादानभूत वह वस्तु सांख्य का गुण-द्रव्य नहीं है, किन्तु वह केवल प्रकृति अति प्राचीन कारण तत्त्व है, जिसमें अनेक गुण हैं जिनका वर्गीकरण सत्व, रजस् और तमस् के रूप में किया जा सकता है। यह प्रकृति अपने सूक्ष्म

रूप में, ईश्वर का शरीर है और ईश्वर द्वारा समस्त परिणामों की ओर गतिशील होती है। जब वह प्रकृति को परिणामों से रोकता है और उसकी गति का निरास करता है, तब प्रलय होता है, तब भगवान् प्रकृति को उसकी सूक्ष्मावस्था में, देह रूप से धारण करता हुआ कारणावस्था में रहता है। प्रकृति, ईश्वर का देह और प्रकार भी है। जब वह व्यक्तावस्था में होती है तब सृष्टि रचना होती है। प्रकृति तन्मात्र, अहंकार इत्यादि के रूप में परिणत होती है, तो भी ये भगवान् के देह के सूक्ष्म तत्त्व हैं, तन्मात्र इत्यादि को उत्पन्न करने में जिन परिणामों में से प्रकृति गुजरती है, वे गुणों के मिश्रण से नहीं होता, जैसाकि सांख्य में माना गया है, किन्तु वह प्रकृति का उन अवस्था में से गुजर जाना है। प्रत्येक अवस्था में प्रकृति का विशेष गुण रहता है जिसमें से वह आगे बढ़ती है। गुण का अर्थ यहाँ सामान्य अर्थ में समझा जाने वाला गुण का बोधक है और ऐसा माना गया है कि ईश्वर द्वारा गतिशील होती हुई, प्रकृति नवीन गुण धारण करती है। जगत् की वर्तमान अवस्था भी प्रकृति की एक विशेष अवस्था बताती है जिसमें उसने यह लक्षण प्राप्त किए हैं जो हम अपने जगत् में देखते हैं।

हमने पहले देखा है कि यामुन ईश्वर को न्याय दर्शन की तरह अनुमति करते हैं। किन्तु रामानुज कहते हैं कि जितना इसके पक्ष में कहा जा सकता है उतना ही विपक्ष में भी कहा जा सकता है। इस प्रकार वे कहते हैं कि, अगर यह मान भी लिया जाए कि पर्वत इत्यादि कार्य हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी एक व्यक्ति ने बनाए हैं, क्योंकि सारे घड़े उसी एक मनुष्य ने नहीं बनाए हैं। ईश्वर का भी निषेध सांख्य मतानुसार किया जा सकता है, और यह माना जा सकता है कि कर्मानुसार, गुणों के संयोग से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष दोनों में कहा जा सकता है। रामानुज यह मानते हैं कि ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसे शास्त्रों के आधार पर ही मानना पड़ेगा।[1] न्याय और योग ने, तदुपरान्त, ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही माना है, किन्तु रामानुज की दृष्टि में ईश्वर सर्व देश और काल में सर्व व्यापक है। ईश्वर के सर्व व्यापकत्व का यह अर्थ नहीं है कि उसकी सत्ता ही केवल सर्वत्र एक ही सत्ता है, या वह जगत् की सत्ता से एक रस है, अभिन्न है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। इसका अर्थ जैसाकि सुदर्शनाचार्य ने रामानुज भाष्य सूत्र 2 पर (अपनी श्रुत प्रकाशिका में टीका में कहा है) कि वह किसी भी प्रकार की देश की मर्यादा से बंधा नहीं है। वरद और नारायण और वेंकटनाथ भी, सर्व व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणों में मर्यादा या प्रतिबन्ध का अभाव है ऐसा मानने में एक मत हैं (इयद् गुणक इति परिच्छेद-रहितः)।[2] ईश्वर के देह के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिए देह-सृष्टि से भी वह जगत् में सर्वव्यापक माना जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही नही है किन्तु उपादान कारण भी है। वेंकट कुछ विस्तार से यह सिद्ध करते हैं कि सर्वोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड़ और जीव की अधिष्ठात्री है। ईश्वर का अपना मनस् है और उसकी नित्य इन्द्रियों को प्रकट होने के लिए किसी देह या अंग की

---

1 देखो, रामानुज भाष्य, सू० 3।

2 देखो न्याय सिद्धांजन वेंकटनाथ कृत।

आवश्यकता नहीं होती । वेंकट भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते हैं : संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक इस पंचरात्र के व्यूह सिद्धांत का लोकाचार्य के तत्त्वत्रय पर वरवर भाष्य में संक्षिप्त विवरण मिलता है । संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन, वासुदेव के तीन भिन्न रूप कहे गए हैं । जिनके द्वारा वे जीव, मनस् और बाह्य जगत् का नियंत्रण करते हैं । जिस क्रिया के प्रकार से जीव, सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ में प्रकृति से पृथक् किए जाते हैं, वह ईश्वर के संकर्षण रूप से संबंध रखता है, जब यह पृथक्करण की पूर्ण क्रिया मनुष्य पर मन रूप से विकास एवं शासन करती है और उन्हें अन्त में श्रेय और पुण्य मार्ग पर ले जाती है तब वह ईश्वर के प्रद्युम्न रूप से सम्बन्ध रखती है । अनिरुद्ध भाव-प्रधान वह रूप है जिससे बाह्य जगत् उत्पन्न हाता है और नियन्त्रण में रखा जाता है और जिसमें हमारे सद् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न सम्पर्क पूरे उतरते हैं । ये रूप भिन्न-भिन्न ईश्वर नहीं हैं, किन्तु भगवान् के भिन्न व्यापार हैं या कार्य की दृष्टि से भगवान् की ऐसी कल्पना की गई है । ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगह है । वह और उसके रूप एक रस हैं । वे रूप वासुदेव की शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं । इसलिए इन्हें विभव कहा गया है । उसकी शक्तियों की ऐसी अभिव्यक्ति महान् धार्मिक पुरुषों में भी पाई जाती है जैसेकि व्यास, अर्जुन इत्यादि । लोकाचार्य आगे ईश्वर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर अपने स्वरूप से केवल सर्वज्ञ ही नही है किन्तु यह सर्वज्ञता, सम्पूर्ण और नित्यानन्द से जुड़ी हुई है । उसके ज्ञान और शक्ति में परिवर्तन नहीं होती न उनकी तुलना की जा सकती है क्योंकि वे सर्वदा सर्वोच्च और अचिंत्य हैं । वह हम सबों को कर्म करने की प्रेरणा देता है और कर्मानुसार इच्छापूर्ति करता है । जो अज्ञानी हैं उन्हें ज्ञान देता है, जो शक्तिहीन हैं उन्हें शक्ति देता है, अपराधियों को क्षमा, दु:खी जनों को दया, दुष्टों को भलाई, कुटिल को सरलता और जो हृदय से दुष्ट है उन्हें सहृदयता देता है । जो उनसे जुदा नहीं रहना चाहते उनसे वह जुदा रह नहीं सकता, और जो उनका दर्शन करना चाहते हैं वह उनके निकट आ जाता है । जब वह दु:खी मनुष्यों को देखता है तो उन पर दया करता है और सहायता देता है । इस प्रकार उसके गुण दूसरों के लिए हैं, अपने लिए नहीं । उसका प्रेम हमारे लिए माता जैसा है, प्रेम से प्रेरित होकर वह हमारे दोषों को नहीं देखता और हमें श्रेय मार्ग में सहायता करता है । इससे यह जगत् अपने में ही उत्पन्न किया है, अपनी कोई इच्छापूर्ति के लिए नहीं, लीला के लिए किया है । सृष्टि-उत्पत्ति में, वैसे ही उसे नियन्त्रण करने और प्रलय करने में यही लीला सबको धारण करती है और प्रकट करती है । प्रलय भी उसकी लीला है जैसे जगत् की उत्पत्ति है । यह सब उसी में और उसी में से उत्पन्न हुआ है ।

रामानुज और वेंकटनाथ के अनुसार जीव का विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

यामुन के अन्य दर्शनों के मुकाबले में जीव पृथक् और स्वचैतन्य मय सत्ता का प्रतिपादन किया है । इसका विवरण हमने उनके जीव-विषयक सिद्धान्त का उल्लेख करते विस्तार से किया है । जीव अणु रूप है जैसाकि यामुन ने कहा है । विष्णु मिश्र और वेंकटकाथ ने यह माना है कि जीव व्यावहारिक स्थिति में उसका ज्ञान विस्तार पाता है और संकुचित होता है। मुक्तावस्था में वह विकास की चरमावस्था पर

पहुँचता है जब वह समस्त जगत् पर व्याप्त हो जाता है। विशाल और संकुचित होना कर्मों के कारण से है जो अविद्या भी कहलाती है।

रामानुज 'वेदान्तदीप' ग्रन्थ में जीव के अणु रूप होने से शरीर के एक भाग में रहते हुए भी, ज्ञान की शरीर के भिन्न भागों में उत्पत्ति समझाने के लिए, दीपक की रश्मि की उपमा देते हैं। जीव देह के एक भाग में ही रहता है और अपना प्रकाश शरीर के सारे भागों पर फैलाता है जैसेकि एक दीपक। रामानुज कहते हैं कि ईश्वर जीवों को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की अनुमति देता है। जीवों की इच्छा को ईश्वर की सम्पत्ति बिना गति मिलना अशक्य है। स्वचैतन्य युक्त जीव अपनी स्वेच्छानुसार कर्म करना चाहते हैं इसमें भगवान अवरोध नहीं करते। ईश्वर सर्वदा जीवों को कर्म करने देते हैं अर्थात् अपनी इच्छानुसार अंगों को हिलाने देते हैं, यह एक प्रकार का प्रसंगागत कारणवाद है जिसके अनुसार मैं अपने प्रत्येक कर्मों के करने में ईश्वर के संकल्प पर आश्रित हूँ। मैं अपने अंग हिला सकता हूँ क्योंकि वह ऐसा चाहता है। ईश्वर हमारे समस्त कार्यों का आश्रय है इस सामान्य नियम के अलावा उसके अनुग्रह और अकृपा के कुछ अपवाद हैं जो उससे विशेष प्रकार से सम्बन्धित हैं। उनके प्रति भगवान् अधिक अनुग्रह दिखाते हैं और वह अपनी कृपा द्वारा उनमें ऐसी इच्छा उत्पन्न करते हैं कि जिससे वे उन्हें योग्य कर्म द्वारा उसे पा सकें। जो उनसे विरुद्ध हैं उनमें वह ऐसी इच्छाएँ उत्पन्न करते हैं कि वे उनसे और दूर हो जाते हैं।[1] ईश्वर हम सब में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। उस अन्तर्यामी रूप का प्रतिनिधि हमारा जीव है। यह जीव अपनी इच्छा, ज्ञान और प्रयत्नों में स्वतन्त्र है।[2] यह ज्ञान, इच्छा इत्यादि की स्वतन्त्रता, ईश्वर ने हम सभी को दी है और वह इस भौतिक जगत् में क्रियाओं की इस तरह व्यवस्था करता है कि वे हमारी इच्छानुसार होवें। इस प्रकार वह हमें स्वातंत्र्य ही नहीं देता किन्तु उन्हें बाह्य जगत् में फलीभूत होने के लिए सहायता भी करता है। और अन्त में अच्छे-बुरे कर्मानुसार पाप-पुण्य भी देता है।[3] इस प्रकार ईश्वर का आधिपत्य हमारी इच्छा को लूट नहीं लेता। उसका अनुग्रह और अप्रसन्नता भी भक्त की ईश्वर के सम्पर्क में आने की तीव्र इच्छा की पूर्ति के लिए ही है। उसकी अप्रसन्नता पक्के पापी को उसकी इच्छा की पूर्ति करता हुआ उसे अपने से दूर सांसारिक सुखों की ओर ले जाती है। बहुधा आत्मा चेतन या ज्ञानमय कही जाती है क्योंकि वह चैतन्य की तरह स्वयं प्रकाश्य है।[4] वह इन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा सभी पदार्थों को प्रकट करती है। समस्त जीव, फिर भी ईश्वर में ही आधृत हैं। रामानुज ने जीवों को केवल ईश्वर की देह माना है, किन्तु वरवर और लोकाचार्य इससे आगे ऐसा मानते हैं कि जिस प्रकार बाह्य पदार्थ जीव के लिए अस्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार भोग्य पदार्थ जीव के लिए हैं उसी प्रकार ईश्वर और जीव में शेष और शेषी सम्बन्ध है। ईश्वर शेष है और जीव ईश्वर के नियन्त्रण तथा आधार का विषय शेषी है।

---

1 देखो, तत्वत्रय पर वरवर टीका।

2 देखो, रामानुज भाष्य 2:3:40,41।

3 देखो, रामानुज भाष्य 9:3:40,41।

4 देखो, रामानुज भाष्य 2,3,29,30।

जीव यद्यपि स्वरूपत: निर्मल और शुद्ध है किन्तु अज्ञान से तथा अचित् के सम्पर्क से सांसारिक इच्छाओं से सम्बन्धित हो जाता है। अविद्या का अर्थ ज्ञानाभाव है, लक्षणों का मिथ्या आरोपण मिथ्या-ज्ञान इत्यादि हैं, यह अविद्या, जो अनेक सांसारिक इच्छाओं तथा अपवित्र प्रवृत्तियों का कारण है वह जीव के अचित् संयोग से है, जब यह संयोग छूट जाता है तब जीव अविद्या से छूट जाता है और मुक्त हो जाता है।[5]

जब वह अच्छे गुरु के पास से शास्त्रों का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर प्रतिदिन, आत्म-संयम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, दान, अहिंसा आदि का अभ्यास करता है और नित्य और नैमित्तिक कर्मों का पालन करता है और निषेध कर्मों का त्याग करता है और तत्पश्चात भगवान् में शरणागति लेता है, उसकी स्तुति करता है, निरन्तर उनका ही चिन्तन करता है, उनकी पूजा करता है, नाम जप करता है, उनकी महानता और दयालुता का श्रवण करता है, उसके ही बारे में बोलता है, भक्ति करता है, तब रामानुज, अपने वेदार्थ संग्रह में कहते हैं कि ईश्वर जीव को संसार से मुक्त कर देता है उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। उसे मुक्त कर मनुष्य को साधारण नित्य और नैमित्तिक कर्म पालन करना पड़ता है उसे सद्गुण का भी पालन करना चाहिए, और शास्त्रों से सच्चा ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है। जब वह इस प्रकार अपने को योग्य बनाता है तब ही वह अन्त में भगवान् की भक्ति और उसमें शरणागति द्वारा संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। रामानुज के अनुसार भक्ति भगवान् का सतत चिन्तन है। इसके बिना शुद्ध ज्ञान, मुक्ति नहीं दिला सकता। भक्ति का विशेष लक्षण यह है कि इससे मनुष्य, अपने प्रियजन के लिए कर्म करने के सिवाय अन्य सभी से विरक्त हो जाता है। अन्त में, रामानुज के अनुसार भक्ति-भाव नहीं है किन्तु वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है (ज्ञान विशेष) जो हमें सबसे प्रिय ईश्वर है, के लिए जो नहीं करना है उसे व्यक्त करता रहता है।[1]

वेंकटनाथ कहते हैं कि कर्मों का पालन मनुष्य को सच्चे ज्ञान की जिज्ञासा के लिए अधिकारी बनाता है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति उसे भक्ति के योग्य बनाती है। जब मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मों को त्याग सकता है। वेंकटनाथ के अनुसार भक्ति, पूज्य में प्रीति है केवल ज्ञान नहीं है। सायुज्य मुक्ति इसी से होती है। सायुज्य की स्थिति में जीव ईश्वर की सर्वज्ञता इत्यादि गुणों को ग्रहण करता है। जीव भगवान् से पूर्णत: सहयोग नहीं कर सकता और सृष्टि-रचना, उसका नियन्त्रण तथा मुक्ति देना ये सब गुण ईश्वर में ही रहते हैं। जीव भगवान् के ज्ञान और आनंद का ही सहभोग उठा सकते हैं और उसी की तरह सर्वज्ञ और आनंदमय हो सकते हैं। इस मुक्तावस्था में मनुष्य भगवान् की नित्य और असीम आनन्दपूर्ण दासता में रहता है। भगवान् की दासता लेशमात्र भी दु:खमय नहीं हैं जैसेकि अन्य प्रकार की दासता होती है। जब मनुष्य अपने दर्प को त्याग देता है और अपनी सारी स्वतंत्रता उसकी सेवा में लय कर देता है और अपने को भगवान् का दास मान लेता है जिसका

---

1 तत्वत्रय पर वरवर की टीका, चित् प्रकरण।

2 वेदार्थ संग्रह, पृ० 146।

एक ही कार्य उसकी सेवा करना है यही आनन्द की, सुख की उज्ज्वल स्थिति है। वेंकटनाथ, फिर, इस वैष्णवीय मुक्तावस्था को जिसमें भगवान् को सर्वश्रेष्ठ माना है और उससे जनित आनन्द-भोग को जाना है, दूसरी कैवल्यावस्था से पृथक् करते हैं जिसमें मनुष्य अपने को ब्रह्म समझता है और कैवल्य प्राप्त करता है। इस कैवल्यावस्था में भी अविद्या और संसार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और मनुष्य एकता को प्राप्त होता है, किन्तु यह वांछनीय अवस्था नहीं है क्योंकि इसमें वह असीम आनन्द नहीं है जो वैष्णव मुक्ति में है। रामानुज मुक्तावस्था के विषय में कहते हैं कि यह वह स्थिति है जो मनुष्य, अविद्या-रहित होकर प्राप्त करता है और उसे परमात्मा और उसके साथ अपने सम्बन्ध का सहज ज्ञान होता है। वे इस अवस्था को उस मुक्ति से विविक्त करते हैं जिसमें मनुष्य कर्म-रहित होकर अपने आप में यह अनुभव करता है कि वह ही ईश्वर के गुणों का अवरोधक है। वह कैवल्य या अपने आपको ब्रह्म अनुभव करना, निम्न कोटि की मुक्ति है। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वेंकटनाथ ने भक्ति और मुक्ति मानवी ध्येय को क्रमशः आनन्द भाव और भगवत्-शरण कहते हुए भक्ति और मुक्ति को उच्चतम भावस्तर पर पहुँचाया है।

अचित् या अतिप्राचीन द्रव्य, प्रकृति और उसके विकार

वेंकटनाथ, अचित् जड़ के स्वभाव का वर्णन करते हुए, न्याय वैशेषिक के परमाणु-वाद का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं। जड़ वस्तु का छोटे से छोटा कण वह है जो छेद में से जाती हुई सूर्य-रश्मि में दीखता है। इससे भी सूक्ष्म पदार्थ द्व्यणुक की कल्पना अनुभव सिद्ध नहीं है क्योंकि वे दृष्टिगोचर नहीं होते। उनकी तुलना पुष्प की अदृष्ट रज से भी नहीं की जा सकती जो हवा के साथ उड़कर सुगंध फैलाती है, क्योंकि इन अणुओं में गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म हैं और उनमें कोई भी गोचर गुण नहीं होता। अनुमान से भी ये सिद्ध नहीं किए जा सकते। क्योंकि अगर हम यह मानें कि इन्हें विभाजन करते हुए उस अवस्था पर पहुँचें कि जहाँ वे आगे विभाजित नहीं किए जा सकते और उन्हें परमाणु कहें तो यह भी अशक्य है, क्योंकि न्याय वैशेषिक के परमाणु सबसे छोटे अणु ही नहीं है किन्तु उनका विशेष प्रकार का एक गुण है जो पारिमाण्डल्य परिमाण कहा जाता है और इसे अनुमान करने को हमारे पास कोई भी आधार नहीं है। अगर लघुत्व ही लक्षण है तो हमें त्रसरेणु पर ही रुक जाना चाहिए। (सूर्य-रश्मि में दीखता अणु)। इसके उपरान्त परमाणु-वाद के विरोध में और भी आपत्तियाँ हैं। जैसा शंकराचार्य ने प्रतिपादन किया है कि परमाणु जो अखंड हैं वे दूसरे परमाणु के संयोग में नहीं आ सकते और न कोई पूरी इकाई बना सकते हैं या परमाणु का परिमाण्डल्य परिमाण द्व्यणुक में दूसरा नवीन परिमाण नहीं उत्पन्न कर सकता या द्व्यणुक त्रसरेणु में भिन्न प्रकार का परिमाण नहीं उत्पन्न कर सकता। यह संसार त्रसरेणु के संयोग से उत्पन्न होता है यह नहीं स्वीकारा जा सकता। सत्व, रजस् और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही एक मूल द्रव्य मानना पड़ेगा। अहंकार की अभिव्यक्ति के पहले और उसके बाद की स्थिति (साम्यावस्था, जिसमें कोई विकार पैदा नहीं होता) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियों के उत्पन्न होने के पहले की स्थिति अहंकार कहलाती है। महत् और अहंकार बुद्धि या अहं की आत्मगत अवस्था

नहीं है जैसाकि कुछ सांख्यवादी सोचते हैं किन्तु वे प्रकृति की—मूल द्रव्य की जगद्विषयक अवस्थाएँ हैं। अहंकार तीन प्रकार के हैं सात्विक, राजसिक और तामसिक। इन्द्रियाँ भूतों का परिणाम नहीं है जैसाकि वैशेषिक समझते हैं, किन्तु वे आँख, नाक इत्यादि के सम्बन्ध से ज्ञानात्मक व्यापार हैं। मनस् की अवस्थाएँ संकल्प, कल्पना इत्यादि भिन्न नामों से कही गई हैं। लोकाचार्य ने प्रकृति तीन प्रकार की बताई है (1) जिसमें शुद्ध सत्व गुण है जो ईश्वर के धाम का द्रव्य बनता है (2) दूसरा जिसमें सत्व, रजस्, तमस् गुण है जो हमारे सामान्य जगत् को बनाती है। यह ईश्वर का क्रीड़ा स्थान है। यह प्रकृति कहलाती है क्योंकि समस्त परिणाम यहाँ होते हैं। इसे अविद्या भी कहते हैं क्योंकि वह सत्य-ज्ञान की विरोधिनी है और माया भी कहलाती है क्योंकि समस्त नानात्व को उत्पन्न करती है। जैसाकि हमने पहले कहा है प्रकृति के गुण उसके गुण हैं। सांख्य मतवादी जैसा सोचते हैं वैसे ये तत्त्व नहीं हैं। प्रकृति में विरोधी गुणों के आविर्भाव से जगत् उत्पन्न होता है। तन्मात्र भूत की वह स्थिति है जिसमें विशेष गुण प्रकट नहीं हुए हैं। तन्मात्रों की उत्पत्ति का क्रम किसी ने इस प्रकार बताया है, पहले भूतादि, फिर उसमें से शब्द तन्मात्र, उसमें से आकाश, पुन: आकाश से स्पर्श तन्मात्र और उसमें से वायु, वायु से रूप तन्मात्र और उसमें से तेज (प्रकाश और उष्णता), तेजस् मे से रस तन्मात्र और फिर अप, अप में से गन्ध तन्मात्र और उसमें से पृथ्वी। भूतों की उत्पत्ति के अन्य मतों का भी वर्णन है किन्तु हम उन्हें यहाँ नहीं देंगे क्योंकि उनका विशेष महत्त्व नहीं है। वरवर कहते हैं कि काल सत्व-गुण रहित प्रकृति है, किन्तु वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप में उनकी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप मानते हैं। दिक् आकाश से भिन्न तत्त्व नहीं है जो पदार्थों को गति का अवकाश देता है। आकाश केवल खालीपन या शून्यता नहीं है, किन्तु वह भाव पदार्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का त्रिगुणात्मक अनिर्दिष्ट अव्याकृत द्रव्य अनेकावस्थाओं को अतिक्रमण करता हुआ अन्त में इस जगत् के रूप में प्रकट होता है जो मनुष्यों के अदृष्ट और अच्छे-बुरे कर्मानुसार सुख-दु:ख उत्पन्न करता है। अदृष्ट की शक्ति कोई पृथक् तत्त्व नहीं है किन्तु ईश्वर का अनुग्रह या अप्रसन्नता है जो मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मानुसार कार्य करता है।

———

अध्याय 20

रामानुज सम्प्रदाय का दर्शन

निर्गुण या सगुण सत्ता पर रामानुज और शंकर के मत

शंकर कहते हैं कि ब्रह्मन् चिन्मात्र है सर्वथा अरूप है और अन्तिम सत्ता (परमार्थ) है, ज्ञाता और ज्ञेय, भेद तथा भिन्न प्रकार के ज्ञान उस पर आरोप मात्र है और मिथ्या हैं। उनके मतानुसार मिथ्या तत्त्व जो दोष से उत्पन्न होता है भ्रम है, जो सद् वस्तु के ज्ञान से नष्ट हो जाता है। दोष सद् वस्तुओं को छिपाकर भिन्नत्व प्रकट करता है। संसार का भ्रम जिस दोष से उत्पन्न होता है वह अविद्या या माया है, जो सत् या असत् कुछ भी नहीं कही जा सकती है। (सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयम्)। यह ब्रह्म के ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है। यह सच्च है कि हम व्यवहार-दृष्टि में भिन्नत्व और नानात्व का अनुभव करते हैं किन्तु यह दोषपूर्ण है क्योंकि अदोषपूर्ण शास्त्र एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और यद्यपि वेदों में, अन्य स्थान पर हमें शास्त्रोक्त धर्मपालन करने का आदेश किया है जो नानात्व के अस्तितत्व का समर्थन करते हैं, तो भी शास्त्र के वह अंश जो एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे अन्तिम परम-सत्ता के बारे में कहते हैं, जबकि अन्य वेदों के आदेश भ्रमपूर्ण जगत् के बारे में ही प्रमाण हैं या उसी सीमा तक प्रमाण हैं जहाँ तक अन्तिम सत्ता को नहीं जाना गया है। पुनः वेद, ब्रह्म को सत्य, ज्ञानमय और अनन्त कहते हैं ये ब्रह्म के गुण नहीं है, ये एक ही अर्थ का बोध कराते हैं और उसी अभिन्न निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं।

रामानुज उपरोक्त बात का खण्डन करते हुए, शंकर के इस मत को पहले लेते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष है। वे कहते हैं कि जो सत्ता को निर्गुण बताते हैं उनके पास इसे सिद्ध करने के लिए कोई साधन नहीं है। क्योंकि सारे प्रमाण गुणों की मान्यता पर ही आश्रित हैं। यह निर्गुणत्व, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं हो सकता जैसाकि वे मानते हैं, क्योंकि अनुभव बिना कोई गुण के आश्रय के नहीं हो सकता। अनुभव मेरा स्वयं का होने से सगुण ही होगा। अगर तुम इस प्रकार सिद्ध करने की कोशिश करो जिससे अनुभव सगुण होता हुआ भी निर्गुण है तो भी तुम किसी विशेष गुण का आश्रय लेकर ही कह सकते हो कि यह गुण दृष्टि से वह ऐसा है, और इसी प्रयत्न से तुम्हारा सिद्ध करना भी व्यर्थ जाता है, क्योंकि वह विशेषता एक गुण है। ज्ञान स्वयं प्रकाश्य है उसी के द्वारा ज्ञाता समस्त पदार्थों को जानता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि निद्रा या मूर्छा में भी अनुभव निर्गुण नहीं होता। जब भी यह कहा जाता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है, अनन्त है, तब अर्थ यही होता है कि ये ब्रह्मन् के गुण हैं, यह कहना निरर्थक है कि वे कोई भी गुणों को लक्ष्य नहीं करते। शास्त्र किसी निर्गुण सत्ता का समर्थन

नहीं कर सकते, क्योंकि शास्त्र, शब्दों का व्यवस्थित क्रम है और प्रत्येक शब्द पूर्ण है जिसमें प्रत्यय और उपसर्ग है, इसलिए शास्त्र ऐसी वस्तु का, अर्थ प्रकट नहीं कर सकते जो निर्गुण हो। अगर प्रत्यक्ष को देखा जाय तो, यह सर्वमान्य है कि सविकल्प प्रत्यक्ष सगुणयुक्त पदार्थ को ही प्रकट करता है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी कुछ गुणों को अवश्य प्रकट करता है क्योंकि निर्विकल्पना का अर्थ यहाँ विशेष गुणों के निषेध से है, ऐसा कोई भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है जो गुणों के प्रकट करने का सर्वथा निषेध करता हो। सारे अनुभव 'यह ऐसा है' ऐसे वाक्यों में बांधे जाते हैं और इस प्रकार वे किसी न किसी गुण को ही प्रकट करते हैं। जब कोई वस्तु पहले प्रत्यक्ष होती है तब कुछ विशेष गुण दीखते हैं, जब वह फिर प्रत्यक्ष होती है तब पहले देखे हुए गुणों की स्मृति जागृत होती है और उनका तुलना द्वारा उन विशेष गुणों का समीकरण होता है। इसे ही हम सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं, जिसमें पहले क्षण के निर्विकल्प ज्ञान से भिन्न, सामान्य या जातिगुणों की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में कोई विशेष गुणों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित है इसलिए प्रत्यक्ष में विशेष गुणों का ज्ञान होना आवश्यक है, इस प्रकार हमारे ज्ञान के तीनों स्रोत अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, गुणरहित किसी भी वस्तु को प्रकट करते हैं—ऐसा नहीं हैं।

शंकर और उसके अनुयायियों का कहना है कि प्रत्यक्ष केवल शुद्ध सत्ता को ग्रहण करता है (सन्मात्र ग्राही) है, किन्तु यह कभी भी सत्य नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष जाति-गुणों से सम्बन्ध रखता है जो भेद प्रत्यय का अपेक्षी है, प्रत्यक्ष के पहले ही क्षण में, वस्तु या विषय के भेद-युक्त लक्षण का, जिससे वह दूसरी वस्तुओं से विविक्त होता है, ज्ञान होता है। अगर प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल शुद्ध सता से ही होता तो 'यह घड़ा है' 'यह कपड़े का टुकड़ा है' आदि प्रत्यक्ष कैसे होता ? और प्रत्यक्ष में यदि लक्षणों का ज्ञान नहीं होता तो फिर हमें, जब घोड़ा चाहिए, तब भैंसे से भिड़न्त क्यों नहीं हो जाती ? शुद्ध सत्ता के रूप में, सब एक सरीखे हैं, और सत्ता ही, ऐसा कहा जाता है, प्रत्यक्ष द्वारा प्रकट होती है तो फिर स्मृति, एक से दूसरे का भेद प्रकट नहीं करेगी और एक वस्तु का ज्ञान सभी वस्तुओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा। अगर एक प्रत्यक्ष दूसरे से भिन्न है, यह मान लिया जाता है तो यही बात या तथ्य, निर्विकल्प प्रत्यक्ष के सिद्धांत के आग्रह को नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त इंद्रियाँ, अपने योग्य गुणों को ही ग्रहण कर सकती हैं, जैसेकि आँख रंग का, कान शब्द का इत्यादि, इन्द्रियाँ निर्गुता का अवगाहन नहीं कर सकतीं। फिर आगे, ऐसा कहा है कि ब्रह्मन् शुद्ध सत्ता स्वरूप है, और यही शुद्ध सत्ता का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव होता है तो फिर इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मन् इन्द्रियगोचर है। अगर ऐसा है तो ब्रह्मन् अन्य इन्द्रियगोचर वस्तु की तरह, परिणामी और विनाशी हो जाता है, जो किसी को भी मान्य नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष में भेद का ज्ञान होता है, शुद्ध निर्गुता का नहीं।

पुनः ऐसा तर्क किया गया है, क्योंकि घड़े इत्यादि का अनुभव देशकाल के साथ भिन्न-भिन्न होता है, अर्थात् हम एक जगह घड़ा और दूसरी जगह कपड़े का टुकड़ा और दूसरे क्षण, एक जगह खिलौना और दूसरी जगह घोड़ा देखते हैं, और इस

प्रकार हमें हर देश और काल में एक ही वस्तु का निरन्तर अनुभव नहीं होता, इसलिए ये सब वस्तुएँ मिथ्या हैं। परन्तु ऐसा क्यों होना चाहिए ? इस तथ्य में कहीं भी विरोध अथवा असंगति नहीं है दो वस्तुएँ एक ही स्थान पर दो अलग-अलग काल में स्थित रहती हैं, अथवा दो वस्तुएँ दो अलग-अलग स्थानों पर एक ही समय विद्यमान रह सकती हैं। इसलिए जो कुछ हम देखते हैं वह सब मिथ्या है तथा विषय या वस्तु स्वरूपतः शुद्ध सत्ता रूप हैं। इसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई तर्क नहीं है।

पुनः ऐसा तर्क प्रस्तुत किया गया है कि अनुभव या अपरोक्षानुभव (जो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है) स्वयं प्रकाश है, किन्तु यह केवल प्रत्यक्षकर्त्ता के विषय में, किसी विशेष समय के, प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ही सत्य है। कोई अनुभव नितान्त स्वयं प्रकाश नहीं है। दूसरे मनुष्य का अनुभव, मुझे कुछ भी प्रकट नहीं करता और न मेरा ही भूतकाल का अनुभव अभी वर्तमान में मुझे कुछ प्रकट करता है, क्योंकि मेरे भूतकाल के अनुभव के विषय में मैं केवल यही कहता हूँ 'मै ऐसा पहले जानता था' न कि 'मैं, अभी जानता हूँ'। यह भी सत्य नहीं है कि किसी भी अनुभव का फिर आगे अनुभव नहीं किया जा सकता क्योंकि मैं अपने भूतकाल के अनुभव को याद कर सकता हूँ या उसके बारे में ठीक उसी प्रकार जान सकता हूँ जैसे मैं दूसरों के ज्ञान की अनुभूति को जान सकता हूँ अगर यह तथ्य कि दूसरे का अपना ज्ञान, किसी के ज्ञान का विषय बन जाने से वह संविद् या अनुभूति नहीं रहता तो फिर, कोई भी अनुभूति उपलब्ध नहीं रहती। अगर कोई, दूसरों के अनुभव को जान नहीं सकता तो वह अपने को व्यक्त करने के लिए, कोई भाषा का उपयोग नहीं कर सकता और न वह दूसरों की भाषा को भी समझ सकता है, इस प्रकार समस्त भाषा और वाणी निरर्थक हो जाती है। 'वह घड़ा' इत्यादि का अनुभव (संविद्) नहीं माना जा सकता ! केवल इसलिए कि वे स्वरूपतः उससे भिन्न हैं, इसलिए नहीं कि वे किसी अन्य के ज्ञान का विषय है. अनुभव का यह लक्षण नहीं है।

पुनः ऐसा कहा जाता है कि अनुभूति या संविद् उत्पन्न नहीं की जा सकती, क्योंकि हम यह नहीं बता सकते कि उसकी सत्ता कब नहीं थी (प्रागभावाद्यभावाद् उत्पत्तिर्निरस्यते)। ऐसा भी कहा जाता है कि कोई भी अनुभूति या संविद् यह नहीं प्रकट कर सकती कि कौनसी स्थिति में उसका अस्तित्व नहीं था। क्योंकि कोई भी वस्तु अपनी अनुपस्थिति किस प्रकार प्रकट कर सकती है जबकि वह अपनी अनुपस्थिति में वर्तमान नहीं रह सकती। रामानुज, शंकराचार्य के इस तर्क के जवाब में कहते हैं कि ऐसा क्यों आवश्यक समझा जाए कि अनुभूति केवल उसे ही प्रकट करे जो उसका तात्कालिक हो ? क्योंकि अगर ऐसा होता तो भूत और भविष्य के बारे में कोई भी बातचीत नहीं हो सकती। निःसन्देह प्रत्यक्ष ज्ञान में केवल समय तथा काल स्थित उसी का अनुभव होता है जिसके विषय में प्रत्यक्ष इन्द्रियों का व्यापार होता है। यह सिद्धान्त वर्तमान के प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में है किन्तु यह सिद्धांत सब प्रकार के ज्ञान के लिए लागू नहीं किया जा सकता। स्मृति, अनुमान, शस्त्र तथा ऋषियों की अपरोक्ष रहस्यानुभूति (योगि प्रत्यक्ष) के द्वारा भूतकालीन घटनाओं और भविष्य में होने वाली स्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाना सम्भव है। इस प्रकार के तर्क से यह अर्थ निकलता

है कि 'घट' जैसे सामान्य वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान काल-विशेष में होता है और इसकी अनुभूति सभी समय कालादि में नहीं होती। इस प्रकार इसकी अनुभूति नहीं होने का यही अर्थ है कि ज्ञान की अनुभूति (संविद् या अनुभूति) काल से मर्यादित नहीं है तो वस्तु की अनुभूति भी काल द्वारा बाधित नहीं हो सकती और इस प्रकार घट इत्यादि पदार्थ भी स्वरूप से नित्य माने जाने योग्य हैं जो यथार्थ में सच नहीं है। इसी प्रकार का तर्क, अनुमान के ज्ञान के प्रकटीकरण के बारे में भी दिए जा सकते हैं। तर्क किया जा सकता है, जबकि पदार्थ का स्वरूप अनुभूति स्वरूप ही होना चाहिए, जैसा कि वह प्रकट करती हैं तो, अगर ज्ञान या अनुभूति समय से मर्यादित नहीं है और नित्य है तो पदार्थ भी नित्य होंगे। बिना पदार्थ या विषय के ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि निद्रा, मदमत्तावस्था और मूर्छा में बिना विषय के शुद्ध ज्ञान होता है। अगर शुद्ध अनुभव उस अवस्था में होता है तो जगने पर उसकी स्मृति रहनी चाहिए, क्योंकि प्रलयावस्था एवं शरीर-अभाव की अवस्था को छोड़कर, सभी अनुभवों की स्मृति रहती है। किन्तु मूर्छा या निद्रा का क्या अनुभव है उसकी किसी को स्मृति नहीं रहती इससे यह पता चलता है कि उस समय कोई शुद्ध ज्ञान प्रकट नहीं होता न उसकी सत्ता ही है। रामानुज का कहने का अर्थ यह है—और जो आगे और स्पष्ट हो जाएगा कि मूर्छा और निद्रा में हमें आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है और शुद्ध चित्त का निर्विकार अनुभव नहीं होता। इस प्रकार ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें बिना विषय के शुद्ध ज्ञान का अनुभव हो। इसलिए ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि, क्योंकि ज्ञान अपनी अनुपस्थिति या अभाव की अवस्था को प्रकट नहीं कर सकता इसलिए, वह हमेशा वर्तमान ही है और उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जबकि प्रत्येक ज्ञान अपने विषय से नित्य सम्बन्धित है और प्रत्येक पदार्थ या विषय समय की मर्यादा में है अतः ज्ञान भी समय से मर्यादित है।

पुनः यह तर्क कि ज्ञान या अनुभूति अज्ञात है (उत्पत्ति रूप नहीं है) इसलिए उसमें कोई परिणाम या भेद नहीं हो सकता, यह मिथ्या है। तर्क करने के लिए यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान उत्पत्तिरहित है तो भी उसे आवश्यक रूप से परिणाम-रहित क्यों होना चाहिए? प्रागभाव अनादि है किन्तु वह सान्त है। ठीक उसी प्रकार शंकर मतवादियों की अविद्या है जो अनादि मानी गई है और भेद तथा परिणाम-युक्त है, जिसका प्रमाण जगत्-आभास की उत्पत्ति है। आत्मा भी, जो अनादि और अनन्त है वह भी देह और इन्द्रियों से जो उससे भिन्न हैं, सम्बन्धित है, जुड़ा हुआ है। आत्मा का अविद्या से भेद-युक्त ज्ञान, ज्ञान का एक विशेष प्रकार है और इसे ही (इस भेद को) ही न माना जाय तो आत्मा को अविद्या से अभिन्न मानना पड़ेगा पुनः यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य, चित् या संविद् शुद्ध अनुभवरूप है क्योंकि अगर वह ऐसा है तो उसे आत्म प्रकाश, नित्य या एक कहने की भी क्या आवश्यकता है? ये सब भिन्न गुण हैं और ये वस्तु के सगुण रूप को निर्दिष्ट करते हैं जिसमें ये पाए जाते हैं। यह कहना निरर्थक है कि शुद्ध चैतन्य निर्गुण है, क्योंकि कम से कम उसमें निषेधात्मक गुण है जिसके फलस्वरूप वह भौतिक, और अन्य आश्रित पदार्थों से पृथक् किया जाता है जो शुद्ध चैतन्य से भिन्न हैं। पुनः यदि इस शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है तो यही इसका एक गुण होना चाहिए। परन्तु यह किसके लिए सिद्ध

किया जाता है ? आत्मा जो जानता है उसी के लिए यह सिद्धि अर्थ रखनी चाहिए, और इस अवस्था में विशेष लक्षण आत्मा को अनुभव होना चाहिए। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि आत्मज्ञान और आत्मा दोनों एक ही है तो यह सब असम्भव दीखता है, क्योंकि ज्ञान ज्ञाता से भिन्न होता है, जो किसी विषय को प्रकट करता है। ज्ञाता अपने समस्त ज्ञान-व्यापार में नित्य होना चाहिए, और इसी द्वारा स्मृति और प्रत्यभिज्ञा समझ में भी आ सकती हैं। विभिन्न वस्तुओं के सुख और दुःख के अनुभव आते और जाते हैं, किन्तु ज्ञाता हर अनुभव में एक सा ही रहता है। तो फिर अनुभव और अनुभव-कर्त्ता दोनों का तादात्म्य कैसे किया जा सकता है ? 'मैं जानता हूँ' 'अभी मैं भूल गया हूँ' इसी से हम यह जानते हैं हमारा ज्ञान आता और जाता है और ये अवस्थायें हम से भिन्न हैं। ज्ञान या चैतन्य का ज्ञाता या आत्मा से तादात्म्य कैसे हो सकता है ?

ऐसा माना गया है कि आत्मा और अहं या जिसे हम 'मैं' कहते हैं दोनों भिन्न हैं। जिसे हम 'मैं' कहते हैं इसमें दो भाग हैं एक तो स्वयं प्रकाश और स्वतन्त्र है जो शुद्ध चैतन्य है और दूसरा विषय रूप, परतन्त्र प्रकाशहीन जिसे हम 'मेरा' कहते हैं; इसमें पहला अंश ही आत्मा है, जबकि दूसरा अंश, पहले से सम्बन्ध रखता हुआ भी, इससे अत्यन्त भिन्न है और पहले के सम्बन्ध द्वारा ही इसका ज्ञान होता है और प्रकट भी किया जाता है। किन्तु इसे मान्य नहीं किया जा सकता। 'मैं' तत्त्व अविषयी है और आत्मा है और यही मेरे अनुभवों को दूसरों से पृथक् करता है। मुक्ति में भी मैं इसी तत्त्व की मुक्ति चाहता हूँ जिसके लिए ही मैं प्रयत्न करता हूं, साधना करता हूं। अविषयी, विषयरहित, शुद्ध चैतन्य के लिए मैं यह सब नहीं करता। अगर यह 'मैं' ही नष्ट हो जाता है तो केवल शुद्ध चैतन्य में किसे रस मिलता है चाहे वह मुक्त हो या न हो ? अगर इस 'अहं' या आत्मा या 'मैं' से कोई सम्बन्ध नहीं है तो किसी भी प्रकार का ज्ञान होना अशक्य है। हम सब यह कहते हैं 'मैं जानता हूँ' 'मैं ज्ञाता हूँ' अगर अविषयी और व्यक्तिगत तत्त्व मिथ्या, प्रतिभास मात्र है तो फिर अनुभव का प्रयोजन या महत्त्व क्या रहता है ? यही वह अहं है जो स्वप्रकाश है और किसी अन्य से प्रकाशित होने की अपेक्षा नहीं रखता। यह दीप जैसा है जो स्वप्रकाश होकर अन्य को भी प्रकाशित करता है। यह पूर्ण है और इसका ज्ञानात्मक स्वभाव ही स्वप्रकाश लक्षण है इसलिए स्वप्रकाश आत्मा ही ज्ञाता है और वह केवल प्रकाशात्मकता नहीं है। प्रकाश्यता, जानना या ज्ञान का अर्थ यही है कि किसी को कुछ प्रकट हुआ और यह कहना निरर्थक ठहरता है कि आत्मा और ज्ञान एक ही हैं। पुनः ऐसा माना गया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है क्योंकि यही शुद्ध चैतन्य ही केवल अजड़ है इसलिए चिद्रूप है। किन्तु इस अजड़ता का क्या अर्थ है ? शंकर मतवादी कहते हैं कि यह वह तत्त्व है जिसकी सत्ता ही उसकी प्रकाश्यता है जिससे वह प्रकट होने को दूसरे पर आश्रित नहीं है। इसलिए सुख-दुःख इत्यादि भी स्वप्रकाश्य हैं। दांत का दर्द वर्तमान भी हो और पता भी न चले ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु माना ऐसा गया है कि सुख-दुःख प्रकट नहीं हो सकते जहाँ तक उसको भोगने वाला कोई ज्ञाता न हो। तो फिर ज्ञान के बारे में यही ठीक बैठता है। क्या चैतन्य (ज्ञान) अपने आपको अपने लिए प्रकट कर सकता

है ? कदापि नहीं, ज्ञान, ज्ञाता, अहं या आत्म को ही प्रकट होता है ? जिस प्रकार हम यह कहते हैं कि 'मैं सुखी हूं' उसी प्रकार हम कहते हैं 'मैं जानता हूँ'। अगर अजड़त्व की उपरोक्त कहे अनुसार व्याख्या की जाती है तो इस प्रकार का अजड़त्व चैतन्य में भी नहीं है। अहं ही, मैं ही, सर्वदा अपनी सत्ता द्वारा, अपने आपको प्रकट करता है इसलिए वह आत्मा ही होना चाहिए और शुद्ध चैतन्य नहीं जो सुख और दुःख की तरह अपने आपको प्रकट होने के लिए स्वप्रकाशता पर आश्रित है। पुनः ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि अनुभूति स्वयं विषय-रहित है तो भी भूल से वह ज्ञाता दीखती है, जैसेकि सीप में रजत का भ्रम होता है। किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अगर ऐसा भ्रम होता तो लोगों को यह रजत है इस प्रकार 'मैं चैतन्य हूँ' ऐसा अनुभव होता। कोई भी ऐसी भूल नहीं करता, क्योंकि हम दोनों को पृथक् करते हैं और अपने को ज्ञान से भिन्न अनुभव करते हैं जैसेकि 'मैं' अनुभव करता हूँ। (अहं अनुभवामि)।

ऐसा तर्क किया गया है कि आत्मा अपरिणामी होने से ज्ञान-व्यापार का कारक और ज्ञाता नही हो सकता और इसलिए ज्ञातृ-भाव केवल अहंकार का ही धर्म है जो परिणामो प्रकृति का विकार है। यह अहंकार अन्तःकरण है और इसे ही ज्ञाता कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान-व्यापार का कारक, वस्तुनिष्ठ और साश्रय गुणयुक्त है इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। अगर आत्मा में अहं भावना तथा कृत-कत्व के गुण के निक्षेप की सम्भावना होती तो, आत्मा देह की तरह जड़ और पराश्रित सत्तायुक्त हो जाता क्योंकि इस तरह वह स्वप्रकाशहीन हो जाता है। रामानुज इन आक्षेपों के उत्तर में कहते हैं कि अगर अहंकार शब्द का अन्तःकरण के अर्थ में उपयोग किया जाता है तो उसमें देह के सभी जड़त्व के गुण आ जाते हैं और उसे ज्ञाता कभी भी नहीं कहा जा सकता। ज्ञातृत्व परिणामी गुण नहीं है (विक्रियात्मक), क्योंकि इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमें ज्ञान करने का गुण है (ज्ञान-गुणाश्रय) और ज्ञान, क्योंकि, नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है इसलिए वह भी नित्य है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो भी जैसे प्रकाश तत्त्व, प्रकाश और रश्मि दोनों रूप से सत्ता रखता है इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान या चैतन्य रूप से और गुणाश्रय रूप से सत्ता रख सकता है (मणि प्रभृतीनाम् प्रभाश्रयत्वम् इव ज्ञानाश्रयत्वम् अपि अविरुद्धम्)। ज्ञान स्वरूप से अमर्यादित एवं अपरिच्छिन्न है (स्वयं अपरिच्छिन्नम् एव ज्ञानम्) तो भी वह संकोच और विकास कर सकता है (संकोच विकाशाहम्) देहाश्रित आत्मा में कर्म के प्रभाव से वह संकुचित रूप से है (संकुचितस्वरूपम) तो भी उसमें उत्तरोत्तर विकसित होने की शक्ति है। व्यक्ति के सम्बन्ध में इसे यों कहा जाता है कि उसमें इन्द्रियों के प्रतिबन्ध के अनुसार, ज्ञान न्यून या अधिक है।[1] इसी वजह से हम ज्ञान का उदय और ज्ञान का अन्त कहते हैं। जब ज्ञान का उदय होता है तब हम उसे ज्ञाता कह सकते हैं। इस प्रकार यह मान्य होता है कि ज्ञातृ-भाव या ज्ञातृत्व-शक्ति आत्मा में निसर्गतः नहीं है, किन्तु कर्म से है, इसलिए यद्यपि आत्मा स्वयं ज्ञाता है किन्तु वह चैतन्य की दृष्टि से

---

1 श्री भाष्य, पृ० 45।

अपरिणामी है। किन्तु यह तो कभी भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि जड़ अहंकार, चित्त के सम्पर्क से ज्ञाता बन जाता है क्योंकि चित् स्वरूप से ज्ञाता नहीं माना जा सकता। अहंकार भी ज्ञाता नहीं है और ज्ञाता को इस दृष्टि से समझाया नहीं जा सकता। यह कहना निरर्थक है कि चित्त का प्रकाश जड़ अहंकार पर सान्निध्य की वजह से पड़ता है, क्योंकि अदृश्य चित्त जड़ अहंकार को किस प्रकार प्रकाश दे सकता है।

निद्रा में भी आत्मा का अनुभव 'मैं' के रूप में रहता है क्योंकि जगने पर हमें अनुभव होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इससे यह पता चलता है कि निद्रा में 'मैं' को अपना ज्ञान रहता है और वह सुख का अनुभव करता है। यह भी मान लिया गया है कि निद्रा से पहले और निद्रा में और उसके बाद भी 'मैं' की निरन्तरता रहती है क्योंकि 'मैं' को निद्रा के पहले का हाल याद रहता है। हमें यह भी ज्ञान होता है कि निद्रा में मुझे किसी का ज्ञान नहीं था। इस तथ्य से यह अर्थ नहीं होता कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। इसका अर्थ है कि 'मैं' को उन विषयों और पदार्थों का ज्ञान नहीं था जो उसे जागने पर होता है। 'मैं' को निद्रा में ज्ञान था इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है, क्योंकि शंकर मतवादी भी कहेंगे कि निद्रा में आत्मा को अज्ञान का साक्षी रूप से ज्ञान है और कोई भी ज्ञाता हुए बिना साक्षी रूप से ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार निद्रा के बाद जब कोई कहता है कि 'मैं' इतना अच्छा सोया कि मैंने अपने को भी नहीं जाना यह कहने का मतलब यह नहीं होता है कि उसने अपने जाति, कुटुम्ब इत्यादि विशेष गुणों सहित नहीं जाना, जैसाकि वह जागने पर जानता है। इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं था। मुक्ति के बाद भी 'अहमर्थ' तत्त्व बाकी रहता है। क्योंकि वह आत्मा को निर्देश करता है। अगर मुक्ति में मुक्तावस्था को जानने वाला ही कोई नहीं है, तो वह कौन है जो मुक्त हुआ है और फिर ऐसी मुक्ति का प्रयास कौन करता है? अपने आपको प्रकट होना आत्म चैतन्य है और वह 'मैं' जो जानता है उसे अवश्य ही अनुमित करता है इसलिए 'मैं' यह प्रत्यय आत्मा को, स्वरूप से निर्देश करता है जोकि अनुभव और ज्ञान करता है। किन्तु अहमर्थ प्रत्यय को जड़ चित्त तत्त्व या अन्तःकरण से पृथक् करना चाहिए जो प्रकृति का एक विकार है और जो अभिमान की मिथ्या-भावना है और जिसे हमेशा बुरा माना है, यह बड़ों के प्रति अपमान जताता है, यह अविद्या-गत है।

इस सम्बन्ध में रामानुज, विवाद का दूसरा प्रश्न खड़ा करते हैं जो वे अपने इस आशय को सिद्ध करने के लिए देते हैं कि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो नितान्त निर्गुण हो। शंकराचार्य का यह कहना कि श्रुति ने पर्याप्त प्रमाण दिए हैं जिससे हमें यह मानना पड़ता है कि सत्ता निर्गुण है और हमें इन प्रमाणों को श्रेष्ठ और अकाट्य मानना चाहिए, रामानुज इसका खण्डन करते हैं। शंकर ने कहा है कि प्रत्यक्ष से श्रुति प्रमाण श्रेष्ठ है। किन्तु श्रुति अनेकत्व की मान्यता पर खड़ी है और जिसके बिना भाषा प्रयोग अशक्य है। इसलिए ये प्रमाण मिथ्या हैं। श्रुति को इसलिए श्रेष्ठ माना है कि वे यह सिद्धान्त प्रतिपादन करती हैं कि नानात्व और भेद मिथ्या हैं और सत्ता नितान्त निर्गुण और भेद-रहित है किन्तु जबकि श्रुति का अर्थ

एवं अभिव्यक्ति ही भेद पर आश्रित है तो फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है ? पुनः जबकि वे प्रत्यक्ष की तरह नानात्व पर आधारित होने से मिथ्या है तो फिर उन्हें प्रत्यक्ष से श्रेष्ठ कैसे माना जाएगा ? जबकि श्रुति ही मिथ्या पर आधारित हैं तो फिर जो ये श्रुतियाँ कहती हैं वह भी मिथ्या है, यद्यपि वे प्रत्यक्ष द्वारा विरोधी प्रमाणित न भी किया गया हो। अगर किसी व्यक्ति का जिसका किसी भी अन्य मनुष्य से कुछ भी सम्पर्क नहीं है उसे नेत्र-रोग हो जाए जिससे वह दूर स्थित वस्तुओं को दोहरा देखता है तो उसका आकाश में दो चन्द्र देखना भी मिथ्या ही होगा, चाहे फिर यह अनुभव स्वयं उसके अथवा दूसरों के अनुभवों द्वारा कभी भी खण्डित हो। अतः यदि दोष है तो इस दोष द्वारा प्रसूत ज्ञान भी मिथ्या ही है। इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि जब ब्रह्मन् जोकि ज्ञान का विषय है, यदि अविद्या से ग्रस्त है, तब वह भी मिथ्या है और जगत् भी मिथ्या है इसलिए, अविद्या ही जब मिथ्या है तो, अविद्या के व्यक्त रूप शास्त्र द्वारा कहा गया ब्रह्म भी मिथ्या ही होगा और कोई भी इस प्रकार तर्क कर सकता है, क्योंकि ब्रह्म, अविद्या-दूषित साधन द्वारा उत्पन्न ज्ञान का विषय है इसलिए मिथ्या है जिस प्रकार कि जगत् मिथ्या है, (ब्रह्म मिथ्याविद्याद्युत्पन्न-ज्ञान-विषयत्वात्-प्रपंचत्वात्)। ऐसे तर्कों की कल्पना करते हुए शंकर इस प्रकार परिहार करने का प्रयत्न करते हैं। मिथ्या स्वप्न भी अच्छी या बुरी घटना की आगाही दे सकते हैं अथवा सांप का मिथ्या भ्रम भी सच्ची मृत्यु ला सकता है। रामानुज इसका यों उत्तर देते हैं, स्वप्न मिथ्या है यह कहने का अर्थ यह है कि उनमें जो कुछ ज्ञान है उसके अनुरूप वास्तव में कोई भी विषय नहीं है, इस तरह भ्रम में भी ज्ञान का अंश है और ऐसे ज्ञान से सच्चा भय पैदा होता है यद्यपि बाह्य जगत् में ज्ञान के अनुरूप कोई भी विषय नहीं होता। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में भी सच्चाई या सच्ची वस्तु या घटना का निवेदन मिथ्या नहीं होता किन्तु सच्चे ज्ञान द्वारा होता है क्योंकि ऐसी कोई भी शंका नहीं करता कि उसे स्वप्न या भ्रम में ज्ञान नहीं हुआ। स्वप्न में ज्ञान हुआ था इस तथ्य को अगर माना जाता है तो स्वप्न सत्य है इसलिए यह कहना नितान्त निरर्थक है कि स्वप्न में मिथ्यात्व से, सच्ची घटना की आगाही होती है।

इस तरह किसी भी दृष्टिकोण से तर्क किया जाय, तो पता चलेगा कि ब्रह्म निर्गुण और भेद-रहित है ऐसा सिद्ध करना अशक्य है चाहे फिर वह सत्ता शुद्ध सत् हो, या सत् चित् और आनंद की इकाई हो या शुद्ध अनुभूति हो। ऐसा विवाद, शास्त्र की प्रमाणता को ऐसा कुचल देगा कि उसके आधार पर कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता और प्रत्यक्ष से शास्त्र की श्रेष्ठता की योग्यता भी स्थापित नहीं की जा सकती। किन्तु शास्त्र भी निर्गुण और निर्विकार सत्ता का प्रतिपादन नहीं करते। क्योंकि शास्त्र के पाठ, जो ब्रह्म को शुद्ध सत् (छा० 6.2.1.) या परात्पर मानते हैं (मुंड० 1.1.5.) या जब ब्रह्म का, ज्ञान या सत्य से तादात्म्य प्रतिपादित है (तैत० 2.1.1.) तो ये सब निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य नहीं करते किन्तु वे उस ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसा साबित किया जा सकता है—जिसमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमता, सर्वव्यापकता, नित्यता इत्यादि गुण हैं। गुणों के निषेध का अर्थ हेय गुणों से सम्बन्ध रखता है (हेय गुणान् प्रतिषिद्ध्य)। जब ब्रह्म को शास्त्रों ने एक कहा है इसका अर्थ यही है कि जगत् का कोई और प्रतिस्पर्धी कारण

नहीं हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी इकाई इतनी उत्कट है कि उसमें कोई भी गुण नहीं हैं। जहाँ-कहीं भी जब ब्रह्म को ज्ञान-स्वरूप कहा है तो अर्थ यह नहीं निकलता है कि यह ज्ञान-स्वरूपता निर्गुण और निर्विकार है, क्योंकि ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्वरूप होने के कारण, वह ज्ञानवान् भी कहा जा सकता है, जिस प्रकार कि दीप जो प्रकाश स्वरूप है वह प्रकाश रश्मिवान् कहा जा सकता है।[1]

शंकराचार्य की अविद्या का खण्डन

शंकर ऐसा कहते हैं कि स्वप्रकाश, भेदरहित सत्ता दोष के प्रभाव से नानात्व के रूप में दीखती है। अविद्या रूपी यह दोष, अपना स्वरूप छिपाता है और नाना रूप प्रकट करता है जो सत् या असत् दोनों नहीं कहे जा सकते, इसे सत् इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि तब भ्रम और उसका मिथ्या अनुभव होना समझाया नही जा सकता, और वह असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब हम संसार प्रपंच और उसका मिथ्यात्व नहीं समझा सकते।

रामानुज, अविद्या का खंडन करते हुए कहते हैं कि अविद्या असम्भव है क्योंकि अविद्या का कोई आश्रय होना आवश्यक है और वह आश्रय स्पष्ट रूप से जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अविद्या से उत्पन्न है। ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वप्रकाश चैतन्य है इसलिए अविद्या का विरोधी है और अविद्या सत्यज्ञान के प्रकाश के होते ही भ्रम रूप से जानी जाती है। ऐसा भी तर्क नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, यह ज्ञान ही अविद्या को नाश करता है, न कि यह ज्ञान की शुद्ध ब्रह्म ज्ञान का सरभाग है क्योंकि ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता और ब्रह्म का अविद्या नाशक ज्ञान, इन दोनों में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। इस ज्ञान से जो ब्रह्म का लक्षण प्रकट होता है वह उसकी स्वप्रकाशता में विद्यमान ही है जो अविद्या का आवश्यक रूप से नाश करता है।[2] पुनः शंकर के मतानुसार, ब्रह्म, अनुभूति स्वरूप होने के कारण किसी अन्य ज्ञान का विषय नहीं हो सकता और इसलिए ब्रह्म को अन्य किसी प्रत्यय का विषय भी नहीं होना चाहिए। अगर ज्ञान का, अविद्या या अज्ञान से विरोध करना है तो फिर उसे अपने स्वरूप से वैसा ही होना चाहिए जैसा वह है और इस प्रकार ब्रह्म, शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अविद्या से उसका विरोध होना चाहिए। पुनः ऐसा कहना कि ब्रह्म जो स्वरूप से स्वप्रकाश है वह अविद्या से ढका गया है तो इससे ब्रह्म के स्वरूप का ही नाश हो जाता

---

1 ज्ञान स्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणि द्युमणि प्रदीपादिवदिति उक्तम् एव। श्री भाष्य, पृ० 61। उपरोक्त विचार श्री भाष्य में 'महापूर्वपक्ष' तथा 'महासिद्धांत' में प्रकट किए गए हैं। श्रीभाष्य पृ० 10।

2 सुदर्शन सूरि यहाँ कहते हैं कि, यदि स्वरूप दृष्टि तथा अविद्या नाशक दृष्टि से ब्रह्म में ऐसा भेद है तो अर्थ यह होगा कि ब्रह्म का एक रूप दूसरे से भिन्न है या दूसरे शब्दों में ब्रह्म सगुण है।

—श्रुत प्रकाशिका, पंडित संस्करण बनारस, ग्र०स० 9, पृ० 658।

है, क्योंकि ऐसी अवस्था में स्वप्रकाशता कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकती, स्वप्रकाशता का ढक जाना यही अर्थ रखता है कि वह नष्ट हो जाती है। क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूप होने के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। पुनः, अगर यह निर्विषय, शुद्ध स्वप्रकाश अनुभूति ही, अविद्या-दोष द्वारा नानात्व रूप धारण करती है जिसे वह आश्रय देती है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह दोष सत् है या असत्। अगर यह सत् है तो अद्वैतवाद नष्ट होता है और यह असत् है तो, प्रश्न यह उठता है कि यह असत् दोष किस प्रकार उत्पन्न होता है? अगर यह किसी अन्य दोष से उत्पन्न है तो उसके भी असत् होने के कारण, वही प्रश्न फिर उठता है, और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। अगर ऐसा माना जाता है कि अधिष्ठान न होते हुए भी, एक असत् दोष दूसरे असत् दोष का कारण हो सकता है और इस प्रकार अनादि शृंखला चलती है तो हम शून्यवाद में पड़ जाते हैं (माध्यमिक पक्ष या शून्यवाद)।[1] अगर इन आक्षेपों से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि दोष, ब्रह्म या अनुभूति का ही स्वरूप है तो ब्रह्म नित्य होने के कारण दोष भी नित्य होंगे और मुक्ति तथा जगत्

---

[1] सुदर्शन सूरि यहाँ सूचन करते हैं कि शंकर मतानुयायी यहाँ अनवस्था दोष को तीन प्रकार से बचाने की कोशिश करते हैं। पहला, जो अविद्या का जीव से सम्बन्ध मानते हैं (जीवाज्ञानवादी), वे इसे बीजांकुर न्याय द्वारा समझाते हैं, जो खण्डित अनवस्था नहीं है, क्योंकि उनके मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या जीव से उत्पन्न है (अविद्यायाम् जीवः जीवादविद्या), जो अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध मानते हैं (ब्रह्मज्ञानवादी) वे कहते हैं कि अविद्या स्वरूप से अनादि है इसलिए उसकी प्रकृति की अकारणता और असंगति अचम्भे का कारण नहीं होना चाहिए। जीव के अनादि प्रभाव में अविद्या भी अनादि है। इस मत का और जीव ज्ञानवादियों के मतानुसार जीव और अविद्या का जो सम्बन्ध (इस मत का) खण्डन करने के लिए, अज्ञान ब्रह्म में ही है यह मत ही पर्याप्त है। क्योंकि उन्होंने कहा है कि उपरोक्त मत, जीव अनादि है यह सर्वसाधारण द्वारा मान्य मत का विरोध करता है क्योंकि इस मतानुसार जीव अविद्या से और अविद्या से जीव की उत्पत्ति है। दूसरा मत, भ्रम की शृंखला स्वतः ही अनादि शृंखला है यह उससे अधिक अच्छी नहीं है, क्योंकि, अगर एक भ्रम दूसरे भ्रम का कारण अनादि शृंखला की तरह है, तो यह मत शून्यवाद से लगभग एकसा उतरता है। तदुपरांत, अगर भ्रम को स्वभावतः ही अनादि मान लिया जाता है तब भी हमें मूलकारण ढूंढ़ना पड़ेगा जिसमें से यह भ्रम की शृंखला उत्पन्न हुई (मूल दोषापेक्षा), इस प्रकार यहाँ भी दोषपूर्ण अनवस्था प्राप्त होती है। अगर मूल दोष की माँग न की जाय, तो फिर हमें मूल दोष रूप में अविद्या ही है इसे मानने की आवश्यकता नहीं रहती। अगर ऐसा माना जाता है कि अविद्या स्वरूपतः न्याय-विसंगत है तो वह मुक्त जीवों को और ब्रह्म को क्यों प्रभावित नहीं करती? अगर उत्तर ऐसा दिया जाता है कि मुक्त जीव और ब्रह्म शुद्ध होने से, अविद्या इन्हें प्रभावित नहीं करती तो इसका अर्थ यह होगा कि अविद्या न्याय युक्त है, संगतिपूर्ण है, न्याय-विरोधी नहीं है।

—श्रुत प्रकाशिका, ग्र० 9, पृ० 636–665।

प्रपंच का नाश कभी शक्य नहीं होगा। पुनः इस अविद्या को अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि वह सत्-असत्-विलक्षण है। परन्तु यह कैसे हो सकता है ? वस्तु सत् या असत् ही हो सकती है। कोई वस्तु सत् और असत् दोनों हों और न भी हों यह कैसे हो सकता है ?

अज्ञान एक भाव पदार्थ है और मैं अज्ञानी हूँ 'मैं अपने को और दूसरों को नहीं जानता' इत्यादि अनुभवों द्वारा अज्ञान प्रत्यक्षगोचर होता है इस कथन के समर्थन में शंकर मतवादी जो तर्क देते हैं उनका निर्देश करते हुए रामानुज कहते हैं कि ये प्रत्यक्ष अनुभव के लक्ष्य विषय के ज्ञान के अभाव से हैं, जो अनुभव से पूर्व विद्यमान था (प्राक् भाव)। रामानुज तर्क करते हैं कि अविद्या किसी विशेष तथा असंदिग्ध विषय का निर्देश नहीं कर सकती, क्योंकि अगर वह ऐसा करती है तो उस विषय का ज्ञान हो जाएगा और अज्ञान को स्थान न रहेगा, और अज्ञान किसी विशेष विषय को निर्देश नहीं करता तो अज्ञान आप ही अकेला बिना आधार के कैसे अनुभव में आएगा ? अगर ऐसा कहा जाता है कि अज्ञान का अर्थ यहाँ अविशद-स्वरूप ज्ञान है तो भी यह कहा जा सकता कि इसे संदिग्ध ज्ञान के उदय का अभाव मानना चाहिए। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान को मान लिया जाय तो भी उसका अपने से किसी अन्य का सम्बन्ध होना आवश्यक है जिसे वह निर्देश करता है। अज्ञान को ज्ञान के अभाव के रूप में या ज्ञान से कोई अन्य पदार्थ के रूप में, या ज्ञान के विरोधी रूप में, कोई किसी भी दृष्टि से समझाना चाहे यह तब ही शक्य होता है कि जब हम उसे उस विषय के ज्ञान के रूप में समझें, जिसका वह विरोधी है। अंधकार को भी प्रकाश का विरोधी मानना ही पड़ेगा, इसलिए अंधकार को समझने के लिए प्रकाश का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि वह उसका विरोधी है। किन्तु शंकर मतवादियों का अज्ञान अपने आप खड़ा नहीं रह सकता इसलिए उसे उस विषय का निर्देश करना होगा कि जो अज्ञात है। इसलिए, उपरोक्त अनुभवों में, जैसेकि 'मैं अज्ञ हूँ' मैंने अपने आप तथा अन्य को नहीं जाना'। हमें यह मानना पड़ेगा कि इस अवस्था में हमें ज्ञान के उदय के अभाव का अनुभव है न कि कोई भाव रूप अज्ञान का, क्योंकि भाव रूप अज्ञान भी, उद्देश्य और विधेय के सापेक्ष है, ज्ञान के अभाव से इसकी स्थिति अधिक न्याययुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म जोकि सर्वदा स्वतन्त्र और नित्य शुद्ध स्वप्रकाश स्वरूप है उसे अविद्या का अनुभव कभी भी नहीं हो सकता। अज्ञान, ब्रह्म का आवरण नहीं कर सकता, क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है, केवल वही है। अगर ब्रह्म, अज्ञान को देख सकता है तो वह जगत् प्रपंच को भी देख सकता है, अगर अज्ञान ब्रह्म को आवृत्त करके ब्रह्म को दिखाई देता है तो ऐसा अज्ञान सत्य ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें ज्ञान को आवृत्त करने की शक्ति है और उसके द्वारा प्रभावित करने की शक्ति है। आगे, यह भी नहीं कहा जा सकता कि अविद्या ब्रह्म को अंश रूप से ही आवृत्त करती है क्योंकि ब्रह्म निष्कल है। इसलिए उपरोक्त अनुभव 'मैंने कुछ नहीं जाना' स्मृति रूप से जो जाग्रत अवस्था में होता है और जो गाढ़ निद्रा में अनुभव को लक्ष्य करता है, वह गाढ़ निद्रा में किए साक्षात् अज्ञान या अविद्या के अनुभव की स्मृति नहीं है, किन्तु यह जाग्रत अवस्था में किया हुआ अनुमान है कि सुषुप्ति में स्मृति न होने से,

हमें कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ।[1] अज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान भी उपयोगी नहीं है, क्योंकि ऐसा तर्क केवल दोषपूर्ण ही नहीं होता किन्तु उसके अनुरूप कोई योग्य दृष्टान्त भी ढूँढा नहीं जा सकता जो वास्तविक घटना के आधार पर तर्क की माँग को सन्तुष्ट कर सके। तदुपरान्त, और भी कई अनुमान सरलता से दिए जा सकते हैं जो अज्ञान के बारे में शंकर मतवादियों की मान्यता का खण्डन कर सकते हैं।[2]

रामानुज का भ्रम विषय में मत—समस्त ज्ञान सत्य है

रामानुज कहते हैं कि समस्त प्रकार के भ्रम संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किए जा सकते हैं कि भ्रम में, एक वस्तु जो है उससे कुछ और प्रतीत होती है (अन्यस्य अन्यथावभासः)। यह मानना न्याय-विरुद्ध है कि अनुभव में भ्रम से जो देखा गया है उसका कोई भी कारण नहीं है या भ्रम सर्वथा अगोचर है या सर्वथा अज्ञात है (अत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तु-कल्पना-योगात्)। अगर भ्रम के अनुभव के (अर्थ) विषय में इस प्रकार अत्यन्त असम्भव सी कल्पना की जाती है तो वह अनिर्वचनीय अवश्य ही होगा किन्तु भ्रम का कोई भी विषय अनिर्वचनीय नहीं है। वह तो सत्य ही दीखता है। अगर वह अनिर्वचनीय वस्तु जैसा दीखता है तो भ्रम और निवारण भी शक्य नहीं होता। इसलिए यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक भ्रम में (जैसेकि रजत् और सीप) एक वस्तु (सीप) दूसरे रूप में दीखती है (रजत्)। भ्रम के प्रत्येक मत में, चाहे फिर उसमें मिथ्यात्व का कितना भी अंश विद्यमान हो, हमें मानना पड़ेगा कि एक वस्तु दूसरे रूप में दीखती है। वे कहते हैं कि शंकर मतवादियों का विरोध करते हुए, यह पूछा जा सकता है कि, यह अनिर्वचनीय रजत् कहां से उत्पन्न होता है? भ्रमपूर्ण अनुभव इसका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव अनिर्वचनीय रजत् उत्पन्न होने पर ही होता है, वह कारण होने से इसके पहले विद्यमान नहीं हो सकता। भ्रम हमारी इन्द्रियों के दोष से भी उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोष व्यक्ति से सम्बन्धित है इसलिए ये विषय के गुणों पर असर नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त अगर यह अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है तो फिर वह रजत् के रूप में किसी विशेष परिस्थिति और असंदिग्ध रूप से क्यों दिखाई देता है? अगर ऐसा कहा जाता है कि इसका कारण रजत् और सीप का साम्य है तो फिर पूछा जा सकता है कि यह साम्य सत् है या असत्? यह सत् नहीं हो सकता क्योंकि विषय भ्रम रूप है और वह असत् भी नहीं हो सकता क्योंकि वह किसी वास्तविक पदार्थ को निर्देश करता है (दूकान में रहे रजत् को)। इस प्रकार भ्रम का यह मत अनेकों आक्षेपों का ग्रास बनता है।

रामानुज भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद की ओर झुकते हैं ऐसा दीखता है और वे कहते हैं कि भ्रम के ज्ञान के अन्तर्गत, ज्ञान के बोध का या ऐसे ज्ञान से सूचित व्यवहार

---

1 अतो न किंचित् अवेदिषम् इतिज्ञानम् न स्मरणम् किन्तु अस्मरणलिंगकम् ज्ञानाभावविषयम् अनुमितिरूपम्। —श्रुत प्रकाशिका, पृ० 178 (निर्णयसागर 91, 6)।

2 श्रुत प्रकाशिका, पृ० 178–180।

की विफलता का कोई समझौता नहीं होगा, जब तक, हम अन्ततोगत्वा यह न माने कि मिथ्यात्व या मूल एक वस्तु का दूसरे रूप में दीखना है। वे ऐसा भी कहते हैं कि भ्रम के अन्य वादों को (सम्भवतः यथार्थ ख्याति को छोड़कर, जैसा कि श्रुत 'प्रकाशिका' की टीका से सूचित होता है—यथार्थ ख्याति व्यतिरिक्तपक्षेषु अन्यथाख्याति-पक्षः प्रबलः) मिथ्यात्व का विश्लेषण इसी प्रकार स्वीकारना होगा कि वह एक पदार्थ का भ्रम से दूसरा दीखना है (ख्यात्यान्तराणाम् तु सुदूरम् अपि गत्वा अन्यथावभासः आश्रयणीयः ।। रामानुज भाष्य)। रामानुज आगे यह भी बताते हैं, कि अख्यातिवाद भी (अर्थात् सीप में 'इदं' और 'रजत्' की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि से उत्पन्न भ्रम) अन्यथाख्याति का ही एक प्रकार है क्योंकि यहाँ पर भी अन्त में यही मानना पड़ता है कि दो लक्षणों या विचारों के बीच भ्रम से तादात्म्य किया गया है। वेंकटनाथ, 'न्याय परिशुद्धि', इसी विषय पर टीका करते हुए कहते हैं एक वस्तु का दूसरे रूप से दीखना भ्रम का अनिवार्य कारण है, किन्तु भेद की अनुपलब्धि को, भ्रम से तादात्म्य करने की समस्त घटनाओं का अनिवार्य कारण मानना पड़ेगा। इसलिए इसमें सरलता (लाघव) है, तो भी अन्यथा ख्यातिवाद, भ्रम का योग्य और सत्य वर्णन करता है और भी भ्रम सिद्धान्त भ्रम का यथार्थ वर्णन करने वाले इसे माने बिना चल नहीं सकता। इस तरह वेंकटनाथ कहते हैं कि रामानुज भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद से सहमत होते हुए भी, अख्यातिवाद की उत्कृष्ट सरलता को मान्यता प्रदान करते हैं, क्योंकि वह समस्त प्रकार के भ्रमों की अनिवार्य दशा है।

यद्यपि, जोकि रामानुज स्वयं भ्रम के अन्यथा ख्यातिवाद को पसन्द करते हैं तो भी वे यथार्थख्यातिवाद मत की अवज्ञा नहीं कर सके जो बोधायन नाथमुनि और वरद विष्णु मिश्र इत्यादि जैसे ज्येष्ठ अनुयायी और प्रतिष्ठापकों ने माना था और जिनकी उन्होंने टीका की थी। इस प्रकार, रामानुज के सामने दो वाद उपस्थित थे, एक तो वह जो वे स्वयं मानते थे और दूसरा जो उनके ज्येष्ठ अनुयायियों ने माना था। सौभाग्यवश, उनके अन्यथा ख्यातिवाद की भूमिका मनोवैज्ञानिक थी और यथार्थ ख्यातिवाद की भूमिका सत्ता मीमांसापरक थी, जिससे एक वाद को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और दूसरे को सत्ता मीमांसा की दृष्टि से स्वीकारना शक्य था। रामानुज इसलिए यथार्थ ख्यातिवाद का एक विकल्प के रूप में प्रतिपादन करते हैं। वेंकटनाथ कहते हैं कि यथार्थख्यातिवाद श्रुति प्रमाण के आधार पर ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अनुभव के आधार पर एक दार्शनिक वाद की तरह उसका समर्थन नहीं किया जा सकता और इसलिए यह भ्रम का वैज्ञानिक मत नहीं कहा जा सकता। हमें इन दोनों अन्यथा ख्याति के और अख्याति में से किसी के प्रति अपनी स्वीकृति देने का चुनाव कर लेना चाहिए।

रामानुज, अपने गुरुजनों द्वारा मान्य यथार्थ ख्याति से, जिसे वे 'वेदविदां मतम्' कहते हैं, पृथक् करते हुए, अपने मत को कई पदों द्वारा प्रतिपादित करते हैं और कहते हैं कि वे श्रुति के आधार पर ऐसा समझते हैं कि भौतिक जगत् अग्नि, अप और पृथ्वी इन तीन तत्वों के मिश्रण से बना है, इसलिए, प्रत्येक पदार्थ में ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं। जब किसी पदार्थ में कोई एक तत्त्व प्रधान होता है तब उस पदार्थ में उस तत्त्व के

गुण अधिकांश रूप से प्रधान होते हैं और वह उन गुणों वाला कहा जाता है यद्यपि उसमें अन्य तत्वों के गुण रहते हैं। इस प्रकार कुछ मानों में ऐसा कहा जा सकता है कि सभी पदार्थ सब पदार्थों में विद्यमान हैं। सीप में तेज या रजत के गुण हैं इस बजह से यह रजत से एक दृष्टि से मिलता-जुलता भी कहा जा सकता है। भ्रम में ऐसा होता है कि इन्द्रिय-दोष इत्यादि से सीप में रहे गुण जो अन्य तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं उन्हें नहीं देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष, उन्हीं गुणों को ग्रहण करता है जो रजत के हैं और जो सीप में विद्यमान हैं और सीप इस प्रकार, रजत रूप देखी जाती है। इस प्रकार सीप में रजत का ज्ञान न मिथ्या है, न असत् है, किन्तु सत् है और वह वास्तविक पदार्थ को निर्देश करता है जो सीप में रजत अंश है,[1] भ्रम के, इस वाद की दृष्टि से, समस्त ज्ञान किसी यथार्थ विषय या पदार्थ को निर्देश करता है।[2] प्रभाकर के वाद में और इसमें भेद यह है—प्रभाकर जबकि भ्रम के कारण को वर्तमान में चमकते सीप का अनुभव और दुकान में रहे रजत की स्मृति के भेद की अनुपलब्धि रूप निषेधात्मक दशा को मानकर ही सन्तुष्ट हैं और कहते हैं कि ज्ञान स्मृति या प्रत्यक्ष रूप, दोनों रूप से सत्य है और भ्रम इन दोनों के भेद को न जानने से है, रामानुज अधिक मौलिक हैं क्योंकि वे बताते हैं कि सीप में रजत देखने का कारण, सीप में रजत अंश का सचमुच देखना और इन्द्रियादि-दोष के कारण विषय में विद्यमान—उन अंशों की अनुपलब्धि है जो उस भेद को बता सकते थे। इस तरह सीप में रजत का भ्रम किसी यथार्थ पदार्थ को निर्देश करता है, जो भ्रम का मूल है।

रामानुज स्वप्न को, ईश्वर की रचना कहकर, समझाते हैं जिसका आशय स्वप्न देखने वालों के चित्त में वैसा ही अनुभव उत्पन्न करने का है। कामला रोग से पीड़ित व्यक्ति को सीप पीली दीखती है, इसे वे इस प्रकार समझाते हैं कि पीला रंग आंखों में पित्त से उत्पन्न होकर, आंखों की रश्मि द्वारा सीप पर छा जाता है जो सफेद सीप को पीला कर देता है। जब सीप पीला दीखता है तब वह सचमुच पीला बन जाता है, जो कामला के रोगी का नेत्र देखता है, यद्यपि यह उसी व्यक्ति को दीखता है और को नहीं क्योंकि पीलापन उसकी आंखों के निकट है।[3]

---

[1] देखो श्रुत प्रकाशिका, 183–6।

[2] सुदर्शन सूरि के मतानुसार यह वाद बोधायन नाथमुनि, राममिश्र इत्यादि का साम्प्रदायिक मत है जिसे रामानुज ने अपने को उस सम्प्रदाय के एकनिष्ठ अनुयायी के नाते माना है, रामानुज यों कहते हैं—

यथार्थं सर्व विज्ञानम् इति वेदविदां मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्व प्रतीतितः।।

—भाष्य और श्रुति प्रकाशिका, पृ० 183।

[3] दूसरे प्रकार के भ्रम या मिथ्यापन, रामानुज इस प्रकार समझाते हैं—वे यथार्थ सत्ता रूप हैं, उसमें मिथ्यापन उन अन्य तत्त्वों के न जानने से है जो यथार्थ है और उस पदार्थ से सम्बन्धित है जो भ्रम के विषय हैं; किन्तु दोष के कारण देखे नहीं गये हैं।

—देखो वही, पृ० 187, 188।

आख्यातिवाद और यथार्थख्यातिवाद इस बात पर एक मत हैं कि आरोपित विचार के अनुरूप यथार्थ विषय है जो उसका आधार है। किन्तु जबकि पहला मत यह मानता है यथार्थ आधार भूतकाल का अनुभव है, दूसरा मत यह मानता है कि वह विषय के साथ-साथ प्रस्तुत होता है अर्थात्, रजत अंश का सीप के अंश से मिल-जुल जाना इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय होता है, किन्तु परिस्थिति, इन्द्रियादि दोषों की वजह से, सीप में जो अनुभव का प्रधान अंश होना चाहिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार रजत अंश ही प्रत्यक्ष में आता है जिससे भ्रम होता है। इस प्रकार सीप का अप्रत्यक्ष होना दोनों में एक जैसा है, जबकि अख्यातिवाद की दृष्टि से रजत अंश अतीत अनुभव की स्मृति से उत्पन्न प्रतिमा है। यथार्थ ख्यातिवाद उपनिषत् के त्रिवृत्करण के सिद्धान्त का आधार लेता है और मानता है कि रजत अंश का उस समय प्रत्यक्ष ही होता है। किन्तु सुदर्शन सूरि अन्य आचार्यों (केचित् आचार्याः) के मतों का ब्यौरा देते हुए कहते हैं कि त्रिवृत् करण-सिद्धान्त, एक भूत का दूसरे रूप में मिथ्या देखने को भी समझा सकता है, किन्तु साम्य के कारण भ्रम की घटना को समझाने में त्रिवृत्-करण अनुपयोगी है, क्योंकि त्रिवृत्करण और पंचीकरण भूतों के मिश्रीकरण को समझा सकते हैं किन्तु भौतिक को नहीं, या पाँच तत्त्वों के पदार्थ के रूप में होने वाले विकार को नहीं समझा सकते जैसेकि सीप और रजत, जो साम्य होने की वजह से एक दूसरे का भ्रम पैदा करते हैं। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि भूतों के विकार में भी त्रिवृत्करण का सिद्धान्त कुछ अंश में लागू होता है, क्योंकि यहाँ पर पदार्थ के अणु अधिक अंश में एक तत्त्व के विकार से और कम अंश में अन्य तत्त्वों के विकार से बने हैं। सीप के अणु इस प्रकार अधिक अंश में सीप के तत्त्व से और न्यून अंश में रजत तत्त्व से बने हैं, यह एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व से साम्यता को स्पष्ट करते हैं। साम्य, एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व के वास्तविक रूप से विद्यमान होने से है और इसे प्रतिनिधि न्याय कहते हैं या यथार्थ निरूपण द्वारा सादृश्य निर्धारक नियम के रूप में जानते हैं। इस प्रकार साम्य की वजह से एक वस्तु को अन्य अनुभव करने में सचमुच मिथ्या अनुभव नहीं होता किन्तु दूसरी प्रतिवस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है जो उनके सादृश्य का आधार है और जो उस वृहत् अंश की अनुपलब्धि है जिसने प्रतिवस्तु को सदृश रूप से ग्रहण कर रखा था। सीप में शुक्त्यंश अधिक है और रजत अंश न्यून-रूप से है, इसी कारण से वह सीप जाना जाता है, रजत नहीं जाना जाता। सीप अंश के विद्यमान होते हुए भी रजत के अर्थ से निरूपयोगी है क्योंकि शुक्ति का वृहत् अंश उसका अवरोधक है इसलिए हम कहते हैं कि हमें सीप दिखाई देती है रजत नहीं। जब यह कहा जाता है कि यह सीप है रजत नहीं है (नेदं रजतम्) 'यह रजत नहीं है' इसका अर्थ सीप से ही है जिसके अनुभव से रजत का विचार हट जाता है। 'यह रजत नहीं है' कह कर निषेधात्मक रूप से सीप ही लक्ष्य है और स्वीकारात्मक रूप से भी सीप लक्ष्य है।

रामानुजाचार्य यानी वादिहंसाम्बुवाहाचार्य, जो वेंकटनाथ के मामा थे, वे रामानुज के सत् ख्यातिवाद का यों कहकर समर्थन करते हैं कि अन्य तीन प्रतिस्पर्धीवाद अर्थात् अन्यथा ख्याति, अख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति एक दूसरे को काटते हैं, इसलिए असंगत हैं। किन्तु वे यह सिद्ध करने का कठिन प्रयत्न करते हैं कि अन्यथा ख्याति

एवं अख्याति के वास्तविक वाद के अन्तर्गत आए हुए तार्किक सम्बन्धों के आधार पर, सत् ख्याति का समर्थन हो सकता है। वे अख्यातिवाद के वस्तुवाद (वास्तविकतावाद) और उसके सम्बन्ध को मानकर विवाद करना शुरू करते हैं। वे यह मानते हैं कि वह भी अन्त में अन्यथा ख्यातिवाद को ही पहुँचेगा, इसलिए (सत् ख्याति को छोड़कर) सम्भवतः अन्यथा ख्याति सबसे श्रेष्ठ है। वे अपने 'न्याय कुलिश' में कहते हैं कि जबकि ज्ञान-व्यापार के लिए इन्द्रियों को विषय तक पहुँचना आवश्यक है तो भ्रम के अनुभव में भी कोई विषय होना चाहिए जिस पर इन्द्रियाँ पहुँचती हैं, क्योंकि वे ऐसे विषय का ज्ञान नहीं दे सकते जिससे उनका सम्बन्ध न हो।[1] दोष, नये ज्ञान का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह तो किसी ज्ञान या प्रत्यक्ष का अवरोधक है, दोष केवल कार्य कारण के स्वाभाविक क्रम का अवरोध करता है।[2] जिस प्रकार अग्नि बीज की अंकुर उत्पादन शक्ति का नाश कर देती है। इसके अतिरिक्त सीप रजत का पुराना उदाहरण लेकर यह पूछा जा सकता है कि अगर रजत विषय रूप से विद्यमान न था तो फिर ऐसी असत् वस्तु का ज्ञान कैसे होता है? जबकि हमारी चेतना असत् वस्तु का निर्देश नहीं कर सकती, इसलिए प्रत्येक प्रकार की चेतना उसके अनुरूप विषय की सत्ता को सिद्ध करती है। रजत-सीप के भ्रम में भूतकाल में अनुभव किए रजत की स्मृति होती है और इसका भूतकाल में अनुभव हुआ होता है और दोष के कारण, रजत भूतकाल की स्मृति है, यह नहीं समझा जाता, केवल उस समय 'यह' ही हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है तो उस समय अनुभव में आता है (दोषात् प्रभुषिततदवमर्शः)।[3]

वादिहंसाम्बुवाह, प्रतिस्पर्धी अन्यथा और अख्याति वादों के तर्कों की तुलना करते हुए अन्यथा ख्यातिवाद के तर्कों का प्रतिपादन करते हैं। अख्यातिवाद के विरोध में उठाए गए आक्षेपों के विरुद्ध उनका कथन है कि जैसे प्रत्येक पदार्थ दूसरे से भिन्न है, तो फिर भ्रम किस प्रकार से समझा सकता है कि वह पूर्व अनुभुत रजत की स्मृति और वर्तमान में प्रत्यक्ष का विषय बने 'इदम्' की अनुपलब्धि है। इस तर्क के पक्ष में वे कहते हैं कि भेद, जो यहाँ नहीं देखा जाता है वह पदार्थ के वे गुण हैं, जिनकी वजह से, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ जैसा संकीर्ण नहीं किया जाता या भ्रम रूप नहीं देखा जाता और इसी भिन्न करने वाले लक्ष्य के न जानने से ही सीप में रजत का भ्रम उत्पन्न होता है, (संसर्ग-विरोधी वैधर्म्य-विशेषरूप भेदाग्रहः प्रवृत्ति हेतुः)।[4] किन्तु भ्रम के आख्यातिवाद को अत्यन्त संतोषजनक मानने में, सच्चे आक्षेप ये हैं, कि, इसे मानने से हम,

---

[1] इन्द्रियाणाम् प्राप्यकारित्वेन अप्राप्तार्थप्रकाशनानुपपत्तेः। —न्याय कुलिश।
मद्रास गव० ओरिऐन्टल हस्तलिखित, सं० 4910।

[2] दोषाणां कार्यविघातमात्रहेतुत्वेन कार्यान्तरोपजनकत्वायोगात्, न हि अग्नि संस्पृष्टस्य कलमबीजस्य अंकुरोत्पादने सामर्थ्यम् अस्ति।
—वही।

[3] इदं इतिपुरो वस्तुनि अनुभवः रजतम् इति च पूर्वानुभूत-रजत-विषयास्मृतिः।
—वही।

[4] मद्रास गवर्नमेंट हस्त० सं० 4910।

पदार्थ अमुक धर्म वाला है ऐसा मानते जैसा संसर्ग व्यवहार होता है, जैसाकि पंडितों के विवाद तथा हमारे भ्रम के प्रत्यय तथा व्यवहार में पाया जाता है. इसे मानने पर हमें अन्यथा ख्याति को अपरिहार्य एवं अन्तिम स्पष्टीकरण के रूप में मानने को बाध्य होना पड़ता है।[1]

वादिहंसाम्बुवाह कहते हैं कि जबकि रजत का अनुभव उसी में होता है जो केवल सीप का ही टुकड़ा है इससे यह अनुमान होता है कि एक का दूसरे पर आरोपण किया जाता है (जो तत्त्वत: अन्यथा ख्याति का गुण है)। जिस प्रकार रजत के सचमुच ज्ञान में, हमारे सामने जो पदार्थ है उसी का रजत रूप से अनुभव होता है, वैसे ही रजत-सीप के भ्रम में, हमारे सन्मुख उपस्थित पदार्थ ही रजत रूप से प्रत्यक्ष होता है और यहाँ पर भी सीप ही रजत रूप से दीखती है। जब भ्रम नष्ट हो जाता है तब

---

[1] रामानुज के निर्देश किए हुए 'वेदविदांजन' की तरह प्रभाकर भी समस्त ज्ञान को यथार्थ मानते हैं (यथार्थ सर्वम् एवंह विज्ञानम् इति। प्रकरण पंचिका पृ० 32)। किन्तु वे इसे 'सत्व मीमांसा' के आधार पर मानते हैं जबकि प्रभाकर मनोवैज्ञानिक और प्रयोग के आधार पर मानते हैं। प्रभाकर का मत प्रतिपादन करते हुए शालिकनाथ ऐसा कहते हैं कि ज्ञान का जो भी विषय होता है, वही जाना जाता है और सीप रजत भ्रम के समय, जो कुछ जाना जाता है वह 'यह रजत है' किन्तु उस समय सीप का ज्ञान नहीं है, क्योंकि उस समय वह अनुभव का विषय नहीं होता। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि भ्रम में सीप रजत रूप से जाना जाता है किन्तु 'इदम्' को रजत जाना जाता है, क्योंकि जब भ्रमयुक्त रजत का ज्ञान होता है तब सीप का नहीं होता। भ्रम में, दोष के कारण सीप का भेद उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म नहीं जानने में आता, सीप सामान्य धर्म से एक विषय के रूप में ही दीखता है। फिर रजत की स्मृति का प्रश्न है, मनो व्यापार के दोष से (मनोदोष) रजत देश और काल के मूल सहचार के साथ वह वही रजत है तो वहाँ देखा था ऐसा स्मरण नहीं होता किन्तु केवल एक प्रतिभा रूप से रजत का स्मरण होता है (तदित्यंश परामर्श-विवर्जितम्)। यद्यपि 'मैं रजत का स्मरण' करता हूँ ऐसा स्पष्ट अनुभव नहीं होता, तो भी रजत का विचार स्मृति से उत्पन्न होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि यह अन्य किसी प्रमाण द्वारा, जैसे कि प्रत्यक्ष या अनुमान, से उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार, सारे प्रमाणों को लोप करने पर रजत की स्मृति से उत्पन्न है ऐसा मानना पड़ता है (अनन्यगतितः स्मृतिः अत्राव-गम्यते)। मैं पूर्वकाल के अनुभव को याद करता हूँ, इस भावना की अनुपस्थिति की वजह से, रजत की स्मृति प्रत्यक्ष से विविक्त नहीं होती, क्योंकि यही तथ्य, वर्तमान प्रत्यक्ष को स्मृत प्रतिमा से भिन्न करता है, इसीलिए, हम इस स्मृति और साक्षात् प्रत्यक्ष के बीच भेद जानने में विफल होते हैं (भेद प्रकट करने वाले धर्म, इन्द्रिय-दोष इत्यादि के कारण लुप्त हो जाते हैं) इस भेद का अनुभव न होने से, ये दो प्रकार की चेतना, स्वयं, रजत का साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव रूप से भ्रम उत्पन्न करते हैं, जो उस समय नहीं होता है और हम अपना हाथ बढ़ाकर उसे उठाने को ललचाते हैं मानोकि हमारे सामने सचमुच चाँदी का टुकड़ा पड़ा है।

—देखो प्रकरण पंचिका, अ० 4, नयवीथि।

हम कहते हैं 'यह रजत नहीं है' इससे यह अर्थ नहीं होता कि केवल सीप ही उपस्थित है बल्कि पहले जो आरोपण किया गया था उसका निरास है। क्योंकि अगर निषेध को भाव रूप माना जायेगा तो फिर भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों में भेद समाप्त हो जाएगा (बाध्यस्य विधिरूपत्वे विधि-निषेध-व्यत्भासं च निषेधे बाध इति तुल्या-र्थत्वात्)।[1] अख्यातिवाद, संसर्ग की अनुपस्थिति के अग्रहण को (अर्थात्-सीप-रजत के, असंसर्गग्रह) का भ्रम का कारण मानता है। यहाँ ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि यह संसर्ग की अनुपस्थिति क्या है? वह स्वयं वस्तु ही नहीं हो सकती, क्यों अगर ऐसा होता तो, हमें ऐसी आशा करनी चाहिए कि स्वयं वस्तु (सीप) प्रत्यक्ष नहीं होती है और वही भ्रम पैदा करता है, जो कि असम्भव है। इसके अतिरिक्त, रजत ही हमारे सामने है और प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, न कि कोई याद की हुई वस्तु प्रत्यक्ष होती है। हम जानते हैं कि जब हमें 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है, तब मिथ्या संसर्ग ग्रहण होता है (बाधक संसर्ग ग्रहण), किन्तु हम भेद ग्रहण नहीं करते हैं, (भेदाग्रह) ऐसा विचार कभी भी नहीं आता। अगर हम विरोध या मिथ्या (रजत सीप) के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करें तो हमें पता चलेगा कि सीप जला देने पर राख हो जाती है और रजत के जला देने पर उसकी अँगूठी बनाई जा सकती है, यह तथ्य भ्रम का कारण नहीं है किन्तु यह तथ्य कारण है कि जो आग में तपाने पर अँगूठी बनने में शक्तिमान् है उसे ऐसा नहीं किया जा सकता (यदि त्वंगुलीयकादिहेतुतयाभिमतस्य व्यवहारस्य भस्म हेतुत्वको हि अत्र विशेषः)। अगर भ्रम का यही अर्थ समझा जाता है तो वह एक प्रकार के व्यवहार के कारण को, दूसरे प्रकार का कारण ग्रहण करने के सिवाय और कुछ नहीं है (अन्य हेतु व्यवहारोऽन्यहेतुतयावगतः)। यह तो अन्यथा ख्याति हुई, क्योंकि अगर यहाँ पर भी यह कहा जाय कि भेद ग्रहण नहीं हुआ है, तो भी यहाँ पर यह नहीं समझाया जाता कि ऐमी परिस्थिति में एक वस्तु को दूसरा कैसे मान लिया गया?[2] ऐसी सभी परिस्थितियों में अनुभव को ही प्रमाण मानना चाहिए, जो इस बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक भ्रम के दृष्टांत में एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है।[3]

किन्तु यद्यपि वादिहंसाम्बुवाहाचार्य इस प्रकार भ्रम के अन्यथा-ख्यातिवाद का समर्थन करते हैं तो भी वे अख्यातिवाद को तुच्छ मानते, किन्तु वे मानते हैं कि यह भी भ्रम की दशा को, जब हम दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं, तब समझा सकता है। क्योंकि

---

[1] न्यायकुलिश वादिहंसाम्बुवाह रामानुजाचार्य कृत, गव० ओरि० हस्त० सं० 4910।

[2] सुदर्शन सूरि, श्रुत प्रकाशिका में रामानुज ने कहे वेदविदांजन की यथार्थ ख्यातिवाद पर टीका के सम्बन्ध में अख्यातिवाद पर टीका करते हुए कहते हैं कि अख्यातिवाद में लाघव गुण है, सरलता है, या वह वाद कम से कम पूर्व कल्पना को ग्रहण करता है, जैसेकि भ्रम में अस्पष्ट पदार्थ ही दीखता है और 'इदम्' और स्मृति-जनित प्रतिमा के बीच भेद को नहीं जाना जाता। इसे प्रत्येक भ्रमवाद के सिद्धांत में मानना पड़ेगा और इसके उपरान्त दूसरी पूर्व कल्पना भी माननी पड़ेगी।

[3] यदि चात्रापि भेदाग्रहः क्षरणम् स्यात् ततोऽभिमान-विशेष-कृत-बाध-व्यवस्था न सिध्येत्।

—गव० ओरि० हस्त० सं० 4910।

अगर सीप और रजत का भेद अग्रहण न होता तो सीप को रजत समझा ही न जाता, इसलिए, अन्यथाख्याति में भी, अख्याति का एक अंश उपस्थित है, क्योंकि हम सीप के प्रति ठीक वैसा ही व्यवहार करें जैसाकि रजत के प्रति होना चाहिए इसलिए यह आवश्यक है कि हम हमारे सामने जो उपस्थित है और जिसका स्मरण होता है, इस भेद को न जाने। किन्तु यद्यपि अख्याति के निषेधात्मक अंश को अर्थात् भेद के अग्रहण को—एक आवश्यक अवस्था माना जा सकता है, तो भी, संसर्ग के विध्यात्मक अंश को आवश्यक क्रम के रूप में मानना ही पड़ेगा, जो अनुभूत प्रत्यक्ष के भिन्न तत्त्वों को जोड़ता है। हमारी समस्त प्रवृत्ति और कर्म का मूल कारण संसर्ग है इसलिए यह मानना गलत होगा कि भेद का अग्रहण स्वतः ही हमारे प्रवृत्ति के कर्म का सच्चा कारण है (न च मूलभूते संसर्गज्ञाने प्रवृत्ति-कारणे सिद्धे तदुपजीविनो निरन्तर-ज्ञानस्य प्रवृत्ति हेतुत्वम् इति युक्तं वक्तुम्)।[1] यद्यपि वादिहंसाम्बुवाह सारा विवाद भ्रम के सम्भाव्य वादों में अख्याति और अन्यथा ख्याति की आपस की सम्बद्ध श्रेष्ठता बताने में ही व्यस्त करते हैं तो भी वे रामानुज द्वारा माने गए भ्रम के बाद की ओर लक्ष्य करते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु में उपस्थित है इसलिए कोई ज्ञान भ्रमयुक्त नहीं है। वे इस वाद को अत्यन्त सच्चा और ठीक समझते हैं। किन्तु अगर ऐसा है तो भ्रम के अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद के विवाद में उतरना व्यर्थ ठहरेगा। वादिहंसाम्बुवाह यह बताने का प्रयत्न नहीं करते कि अगर इस वाद को माना जाय तो अख्याति और अन्यथाख्यातिवाद को किस प्रकार माना जायगा।[2] वे आगे अनिर्वचनीय ख्याति (सीप रजत भ्रम में रजत का दीखना-अनिर्वचनीय उत्पत्ति है) जो शंकरमतवादी मानते हैं, पुराने घिसे-पिटे ढंग से खण्डन करते हैं जिससे हम पहले से ही परिचित हैं।

19वीं शताब्दी के लेखक, अनन्ताचार्य ने भ्रम के इस वाद पर बल दिया है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक में उपस्थित है और इसलिए सीप का रजत रूप दिखना न तो भ्रम है और न प्रत्यक्ष और स्मृति के बीच भेद का अग्रहण ही है, क्योंकि 'यह रजत है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान, दो प्रत्यक्षों का 'यह' और 'रजत' का मिश्रण है। अगर यह प्रत्यक्ष अनुभव न होता तो हमें ऐसा प्रतीत न होता कि हमने हमारे सामने उपस्थित 'इदम्' को रजत रूप से अनुभव किया है। दोष का कार्य केवल सीप अंश को प्रत्यक्ष से ढकना था (जो रजत से मिश्र हुआ था)। ऐसा कहना है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष के अनुरूप विषय होते हैं (यथार्थ) इसका अर्थ यह नहीं होता कि वस्तु वैसी ही है जैसाकि हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, किन्तु अर्थ यह निकलता है कि जिसका प्रत्यक्ष होता है उसके अनुरूप विषय का आधार नहीं है यह बात सत्य नहीं है।[3] रजत में जो तेज अंश है जो

---

1 यदि चात्रापि भेदोग्रह शरणं स्यात् ततोऽभिमान-विशेष-कृत-बाध व्यवस्था न सिध्येत्।
—ग० ओ० हस्त० सं० 4910।

2 यद्यपि भूतानाम् पंचीकरण-लब्ध-परस्पर व्याप्तया शुक्ति कायाम् अपि सादृश्यात् रजतैकदेशो विद्यत एव इति सिद्धान्तः तथापि न विद्यत इति कृत्वा चिंत्यते वाद्युद्धाहरण प्रसिद्धयनुरोधाय।
—गर्व ओ० हस्त० सं० 4910।

3 तद् विषयक-ज्ञान-सामान्यं विशेष्यावृत्तिधर्मप्रकारत्वाभावादिति यथार्थ सर्वविज्ञानम्। 'ज्ञान यथार्थ्यवाद'
—हस्त० सं० 4884

उसका निमित्त कारण है, वह अवश्य ही तेज़ तत्त्व भी है और सीप में निमित्त कारण रूप पृथ्वी अंशक्षिति तत्त्व में भी हैं, ये तत्त्व शंकर की मूलावस्था में त्रिवृत्करण की वजह से मिश्रित हो गए हैं और यही तथ्य रजत-भ्रम की दशा में रजत के अनुरूप विषय की उपस्थिति को समझाते हैं।[1] अनन्ताचार्य तर्क करते हैं कि यह स्पष्ट है कि सीप रजत रूप में नहीं दीख सकती, क्योंकि सीप रजत नहीं है, वह फिर रजत कैसे दीखेगी। 'यह रजत है' इस अनुभव को पूर्णतया समझाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि 'यह रजत है' इस मिश्र दशा के 'इदम्' और 'रजत' यह दो अंश प्रत्यक्ष में निश्चित हैं। क्योंकि इसी प्रकार ही, हम 'मैं रजत देखता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव को न्याय-युक्त कह सकते हैं।

ईश्वरवादी प्रमाणों की विफलता

ईश्वर की सत्ता केवल शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है। अन्य दूसरे प्रमाण जो ईश्वर की सत्ता प्रतिपादन करते हैं, अन्त में विफल हो जाते हैं, क्योंकि उनका खण्डन करने के लिए अन्य योग्य विरोधी तर्क सफलता से दिए जा सकते हैं।

ईश्वर, किसी भी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा गोचर नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियाँ उनका ही ज्ञान करा सकती है जिसके वे सम्पर्क में आती हैं। और मन (दुःख और सुख की भावनाओं को छोड़कर) जिनका साक्षात्कार वह करता है उन बाह्य पदार्थों को इन्द्रियों के बिना ज्ञान नहीं करा सकता। और ईश्वर योगि-प्रत्यक्ष द्वारा भी अनुभव किया नहीं जा सकता, क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष स्मृति रूप है और इन्द्रिय द्वारा अननुभूत तथ्यों का ज्ञान नहीं देता। योगी, अनुभूत विषयों को ही जान सकते हैं चाहे ये विषय उनके सामने उपस्थित न हों। अतिसूक्ष्म विषय भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इनसे इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं हो सकता। ऐसा कोई हेतु भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जिससे यह अनुमान किया जा सके कि कोई एक परम पुरुष है जिससे समस्त पदार्थों का साक्षात् परिचय है और जिसमें उन्हें उत्पन्न करने की शक्ति भी है। साधारण तर्क जो दिए जाते हैं वे कार्य-कारण रूप होते हैं—संसार कार्य है इसलिए इसका कारण होना चाहिए, कोई कर्त्ता होना चाहिए, जिसे पदार्थों से तथा उनकी उपयोगिता से परिचय हो और वह उन्हें भोगता भी हो। संसार अन्य कार्यों की तरह, एक कार्य है, और खण्डों का समूह-सा (सावयव) है, इसलिए वह स्वस्थ मानव देह की तरह किसी एक ही पुरुष के मार्ग-दर्शन और अधीक्षण में है। किन्तु इन उदाहरणों में साम्यता नहीं है। मनुष्य की देह न तो जीव (आत्मा) द्वारा उत्पन्न होती है और न उसके अधीक्षण से जीवित रहती है। देह की उत्पत्ति उस मनुष्य के केवल कर्मों (अदृष्ट) के कारण ही नहीं हैं किन्तु जो लोग उससे लाभ उठाते हैं या उससे किसी प्रकार सम्बन्धित हैं उनके कारण भी हैं। देह

---

1 यादृश धर्मावच्छिन्नात् तेजोंऽशाद् रजतारम्भः तादृशधर्मा विच्छिन्ननाम् अपि अंशानाम् महाभूतात्मके तेजसि सत्वेन शत्तयारम्भकतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नानाम् पार्थिव-भागानाम् अपि महापृथिव्याम् सत्वेन तयोः महाभूत त्रिवृत् करण दशायाम् एव मेलानासम्भवाच्छुत्तयादौ रजतासद्भावोपपत्तेः।

—वही।

श्रुत प्रकाशिका में किए गए आक्षेप का जो हमने अभी देखा है, यही उत्तर है।

की, अवयवों के अन्तर्सम्बन्ध के रूप में सत्ता, उसके अवयवों की इकाई के कारण है, वह उस जीवित मनुष्य के अधीक्षण पर आधारित नहीं है। देह का जीवित रहना वह उसकी विलक्षणता है जिसका समस्त जगत् में कोई उदाहरण नहीं है। एक पुरुष का अधीक्षण, उसकी प्रवृत्ति का नियत कारण मानना आवश्यक नहीं हैं क्योंकि यह तो प्रसिद्ध है कि बहुत से लोग मिलकर अपनी शक्ति से कोई भारी पदार्थ को हटाने में लगते हैं जो अन्य किसी प्रकार नहीं हिलाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, अगर, जगत् का ऐसा रचयिता माना जाता है, तो क्या जगत् को बनाने के लिए एक या अधिक जीवों को मानना अच्छा नहीं है ? उन्हें जगत् की सामग्री का साक्षात् परिचय है। रचयिता को, पदार्थों की आन्तरिक कार्यक्षमता और शक्ति से परिचय होना आवश्यक नहीं है क्योंकि शक्तिमान पदार्थों का साक्षात् परिचय होना ही पर्याप्त है। हम यह देखते हैं कि रचना के सारे उदाहरणों में, जैसाकि घड़ा या कपड़ा बनाना, बनाने वाला एक साधारण मनुष्य होता है। जगत् के कारण का अनुमान, जबकि, ऐसे ही उदाहरणों से प्रेरित होता है, तो यही योग्य होगा कि जगत् का रचयिता भी उसी वर्ग का व्यक्ति होगा जिस वर्ग के व्यक्ति साधारण सांसारिक पदार्थों को बनाते हैं जैसेकि घड़ा या कपड़ा। इस प्रकार, जगत् के रचयिता को एक परम पुरुष मानने के बजाय, हम एक जीव को भी जगत् का कर्त्ता मान सकते हैं। इस प्रकार अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना कठिन है। किसी विषय को जानने के लिए, साधारणतः अनुमान का उपयोग किया जाता है, जो अन्य प्रकार से भी जाने जा सकते हैं, और ऐसे सभी प्रसंगों, दशा में, इन प्रमाणों द्वारा ही, किसी भी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध की जाती है। किन्तु ईश्वर को जानने के लिए अनुमान का उपयोग करें तो यह असम्भव हो जाता है, क्योंकि ईश्वर किसी भी साक्षात् या परोक्ष साधन द्वारा नहीं जाना जा सकता इसलिए अनुमान का उपयोग सर्वथा निरुपयोगी रहता है क्योंकि हमारे पास अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने का न कोई साधन है और न अनुमान को हम किसी एक ही विशेष प्रकार से निश्चित भी कर सकते हैं। जबकि भिन्न तर्क वाक्यों से किसी भी प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं तो यह निश्चित करना असम्भव है कि कोई विशेष अनुमान दूसरे से अधिक मान्य है।

कुछ लोग विश्वकारण-युक्तिवादी तर्क का इस आधार पर समर्थन करना चाहते हैं कि इस महान् जगत् का, एक साधारण जीव से सर्वथा भिन्न ही, जो परम पुरुष से कम नहीं है, रचयिता माना जा सकता है, क्योंकि जीवों को, सूक्ष्म-दृष्टि पथ से अवरुद्ध या बहुत दूर स्थित वस्तु को देखने की शक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार जगत् का कर्त्ता, अपरिमित शक्तिशाली सत्ता है ऐसा मानना आवश्यक है। कार्य से, हम कारण का अनुमान लगाते हैं और पुनः कार्य के स्वरूप से हम कारण के स्वरूप का अनुमान करते हैं। इसलिए, यदि हमें जगत् के कारण का अनुमान करना है तब ऐसा ही कारण अनुमान किया जा सकता है जिसमें ऐसा कार्य उत्पन्न करने की सचमुच अपरिमित शक्ति हो। कारण जो ऐसा कार्य उत्पन्न न कर सके, उसे अनुमित करना, असंगत है। इसके साथ-साथ, साधारण कारणों की अनावश्यक उपाधियों का भी यह सूजन करने को नहीं छोड़ना चाहिए कि जिस प्रकार कि एक साधारण मनुष्य को, कार्य उत्पादन करने के लिए देह और साधन होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार परम कारण को भी देह और कार्य

करने के लिए साधन होना चाहिये। यह नहीं हो सकता, क्योंकि हम जानते हैं कि कितने ही कार्य, इच्छा और संकल्प मात्र से ही सिद्ध होते हैं और इच्छा और संकल्प की सत्ता के लिये देह की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व देह से उत्पन्न न होकर मन से होते हैं। मन की सत्ता देह की सत्ता से स्वतन्त्र है, क्योंकि मनस् की सत्ता देह से अलग होने पर भी, विद्यमान रहती है। जबकि, पाप और पुण्य के प्रभाव में रहने वाले, परिमित जीव, इस विचित्र अनेक प्रकार की रचना वाले बहुरूप जगत् को उत्पन्न करने में शक्तिमान् नहीं है इसलिये यह मानना ही पड़ता है कि एक परम पुरुष है जिसने यह सब उत्पन्न किया है। और जबकि उपादान कारण, कर्त्ता और कारण रूपी कारण से सर्वथा भिन्न होता है ऐसा सभी ज्ञात उदाहरणों में देखा गया है, तो फिर ब्रह्म इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों नहीं हो सकता है।

इस तर्क का इस तरह उत्तर दिया जा सकता है, हम यह मानते हैं कि जगत् एक कार्य है और महान् भी है, किन्तु यह कोई नहीं जानता कि इस विशाल जगत् के सभी भाग एक ही समय और एक ही पुरुष द्वारा बने हैं। एक अज्ञात परम पुरुष के लिए यहाँ कहाँ स्थान बचता है और इस शक्यता की किस प्रकार अवगणना की जा सकती है कि भिन्न-भिन्न जीवों ने, अपने विशेष कर्म और शक्ति से, भिन्न-भिन्न समय में जगत् के भिन्न भागों को बनाया हो जो अब हमें एक रूप से दिखाई देते हैं मानो एक पुरुष द्वारा बने हों? जगत् के भिन्न भाग भिन्न समय में बनाये गये हों और उसी प्रकार भिन्न समय में नष्ट किये जायेंगे यह मानना शक्य है। एक परम पुरुष की सत्ता की कल्पना करना, जिसने इस बहुरूप जगत् को बनाया हो, असम्भव कल्पना मानना चाहिये। जगत् एक कार्य है, इस तथ्य से यही तर्क किया जा सकता है कि यह किसी चेतन पुरुष द्वारा बनाया गया होगा, किन्तु यह आवश्यक रूप से, एक ही चेतन पुरुष द्वारा बनाया गया है, इसका कोई आधार नहीं है। यह विराट् जगत् एक ही क्षण में उत्पन्न नहीं हो सका होगा और ऐसा हुआ है इसका कोई प्रमाण भी नहीं है और अगर यह क्रम से उत्पन्न हुआ है तो यह भी माना जा सकता है कि यह अनेक चेतन पुरुष द्वारा क्रम से बनाया गया हो। इसके अतिरिक्त, ईश्वर को सर्वथा पूर्ण होने के कारण रचना की आवश्यकता पड़ी होगी ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। उसके न तो शरीर है न हाथ है जिससे वह जगत् की रचना करे। यह सत्य है कि मनस् शरीर के साथ मर नहीं जाता, किन्तु यह शरीर से सम्बन्धित न होते हुए सक्रिय दशा में पाया भी नहीं जाता। अगर ऐसा मान लिया जाता है कि ईश्वर के देह है तो वह नित्य भी नहीं हो सकता। अगर उसका शरीर, सावयव होते हुए भी, नित्य है तो उसी आधार पर इस जगत् को भी नित्य माना जा सकता है। अगर यह संसार उसकी इच्छा मात्र से उत्पन्न हुआ है और ऐसा माना जाता है तो यह इतना विचित्र है कि यह ज्ञात, कार्य-कारण के उदाहरणों से सर्वथा भिन्न है। इसलिये ज्ञात कार्य-कारणों के अनुभूत उदाहरणों के आधार पर, अगर किसी को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है, और यदि ऐसे ईश्वर को श्रेष्ठ-गुण-युक्त माना जाता है जो उसमें बहुधा माने जाते हैं, और यदि जगत् की विचित्र रचना-शक्ति भी उसमें मानी जाती है, तो वह ऐसा कारण होगा जो ज्ञात कारण और उनके कार्य के प्रकार के साम्यत के आधार पर, कभी भी अनुमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ईश्वर अनुमान के आधार पर कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। उसकी सत्ता शास्त्र-प्रमाण से ही माननी पड़ेगी।

भास्कर और रामानुज

रामानुज और भास्कर का अध्ययन करने वाले, प्रत्येक सावधान पाठक ने यह पाया होगा कि रामानुज अपने दार्शनिक, विचारों और मतों के लिये, भास्कर के अधिकांश ऋणी हैं और अधिक विषय पर दोनों के मत एक से ही हैं। रामानुज अपने मतों के लिये बोधायन तथा अन्य वैष्णव लेखकों के भी ऋणी रहे होंगे ऐसी सम्भावना है, यह चाहे कैसे भी हो, भास्कर के प्रति उनका ऋण भी बहुत था जैसाकि दोनों मतों का तुलनात्मक अध्ययन बताता है तो भी ये दो मत एक सरीखे नहीं हैं, कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर दोनों में विरोध है। भास्कर मानते हैं कि ब्रह्मन् शुद्ध सत् चित् रूप है, निराकार और कारण रूप है, और वह प्रकट कार्य-रूप से जगत् है। भास्कर के अनुसार इस सिद्धान्त में कोई असंगति या कठिनाई नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के ऐसे उभय स्वरूप हैं जैसाकि एक और अनेक, या एकत्व और अनेकत्व। अनेकत्व में एकत्व प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। रामानुज मानते हैं कि भेद और एकत्व एक ही साथ किसी एक पदार्थ में नहीं स्वीकृत हो सकते। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं 'यह ऐसा है' तब यह सत्य नहीं है कि एक ही वस्तु दोनों उद्देश्य और विधेय हैं। उदाहरणार्थ, उपरोक्त वाक्य में यह गाय को लक्ष्य करता हो तो विधेय 'ऐसा' उसके किसी विशेष विलक्षण शारीरिक रूप को लक्ष्य करता है। पिछला पहले का गुण मात्र है, और उसके स्वभाव और गुण को निश्चित करता है। उद्देश्य और विधेय का तादात्म्य जोड़ना कोई अर्थ नहीं रखता या यह भी कहना अर्थ नहीं रखता कि वही पदार्थ इकाई के रूप से उद्देश्य है और भेद के दूसरे रूप से विधेय है। भास्कर तर्क करते हैं कि अवस्था और जिसका अवस्था पर प्रभाव है (अवस्था ताद्वस्थाः च) दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं, और न द्रव्य और गुण हैं जैसेकि कपड़ा और उसका सफेद रंग। बिना गुण के द्रव्य नहीं है और द्रव्य बिना गुण के। प्रत्येक भिन्नता एकत्व भी है। द्रव्य की शक्ति और गुण उससे भिन्न नहीं है, अग्नि उसकी दहन-शक्ति एवं प्रकाशात्मक गुण दोनों एक ही हैं। इस तरह, प्रत्येक वस्तु एकरूप और भिन्न रूप दोनों ही है और किसी एक को दूसरे से एकरूप नहीं किया जा सकता। किन्तु रामानुज यह मानते हैं कि सारे वाक्य एक ही प्रकार के हैं जिससे विधेय उद्देश्य का गुण है। यही गुणवाचक सिद्धान्त जाति और वर्ग, कार्य और कारण, और सामान्य और विशेष के उदाहरणों में लागू होता है। भिन्नता और एकता वस्तु के दो स्वतन्त्र रूप नहीं हैं 'जो दोनों सत्य भी हैं', किन्तु भिन्नता, एकत्व के स्वभाव या लक्षण को विशिष्ट बनाता है या उसके रूप में भेद करता है और यह हमारे मिश्र या यौगिक सत्ता के अनुभवों से सिद्ध भी है।[1] रामानुज के अनुसार एक ही वस्तु में एकत्व और भिन्नता को स्वीकारना विरोधाभास है। भेद की सच्चाई का स्वतन्त्र एवं अपना स्वयं अस्तित्व रखना अनुभव से प्रमाणित नहीं है, क्योंकि गुण और मात्रा इत्यादि भेद से इकाई के रूप में उद्देश्य के स्वभाव और लक्षण में भेद उत्पन्न होता है, और यही केवल हमारे अनुभव में आता है।

भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं, प्रकट-व्यक्त रूप तथा नाना रूप और चित् और सत् के तादात्म्य का अव्यक्त, निराकार रूप ब्रह्म का यह पिछला रूप ही हमारी

---

1 वादित्रयखण्डन।

भक्ति और उच्च ज्ञान का विषय है। रामानुज, इस निराकार और भेद रहित ब्रह्मन् को इन्कार करते हैं और विशिष्ट सगुण ब्रह्म में विश्वास करते हैं जो व्यापक ईश्वर रूप से अपने में, जीवों को और अचित् जगत् को शरीर रूप से धारण करता है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में भास्कर कहते हैं कि जीव अन्तःकरण की उपाधि से संकुचित, ब्रह्म ही है। जब ऐसा कहा गया है कि जीव ब्रह्म का अंश है तब अंश शब्द 'भाग' एवं 'कारण' के अर्थ में उपयोग नहीं किया गया है, किन्तु अन्तःकरण की उपाधि से परिमित इस पारिभाषिक अर्थ में उपयोग किया गया है। यह सीमितता मिथ्या भी नहीं है और न असत् है, इसी कारण जीव अणु रूप है। रामानुज के अनुसार भेद, अज्ञान के कारण है, इसलिये यह भेद असत् है। रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है। जीव की अपूर्णता, सीमितता और ब्रह्म की पूर्णता एवं असीमता इत्यादि का दीखना यह भेद अविद्यागत है, जब जीव को यह अनुभव होता है कि वह ब्रह्म ही देह रूप है तब यह भेद मिथ्या हो जाता है। रामानुज के अनुसार, भेद स्वयं की कोई सत्ता नहीं है, वह, केवल जिस अभिन्न एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है उसके लक्षण को निश्चित करता है और उसके रूप का परिवर्तन करता। वस्तु और उसके गुण अभिन्न हैं। भास्कर, अभिन्नता और भेद के दो प्रकार मानते हैं जो दोनों, अपने में सरीखे और स्वतन्त्र रूप से सत्य हैं, यद्यपि वे आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित है। भास्कर के विरोध में यह कहा जाता है कि अगर ब्रह्म के मर्यादित रूप भी सत्य हैं तो वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से मर्यादित बना देंगे, क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है, वे इस प्रकार उसे पूर्ण रूप से दूषित कर देंगे। भास्कर के प्रति यह आक्षेप, रामानुज ने बहुत कुछ सूक्ष्म रूप से तथा युक्तिपूर्ण चातुर्य से किया है।[1] अगर हम भास्कर का यह तार्किक दावा मान लें कि एकत्व और अनेकत्व, कार्य और कारण, एक ही सत्ता के अस्तित्व के दो प्रकार हैं और ये दोनों ही सत्य हैं तो भास्कर के विरुद्ध रामानुज के तर्कों का कोई प्रभाव रहा हो एसा नहीं लगता भास्कर के तार्किक पक्ष का पूर्णरूप से, खण्डन किया जा चुका हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

रामानुज ब्रह्म को जीव और जड़ जगत् से अभिन्न मानते हैं किन्तु ब्रह्म को जीव और जड़ जगत् से अलग भी कहते हैं। किन्तु वे इसी अर्थ में अभिन्नता को मानते हैं जिस अर्थ में द्रव्य अपने अंश या गुण से एक साथ अभिन्न भी और भिन्न भी है या एक पूर्ण वस्तु अपने अंश से अभिन्न और भिन्न है। व्यक्तिगत जीव और जड़ जगत्, अपने आप स्वतन्त्रता से सत्ता नहीं रख सकते, केवल ब्रह्म के अंश रूप से ही सत्ता रख सकते हैं। जीव ब्रह्म के अंश रूप हैं इस तथ्य से उनकी ब्रह्म से अभिन्नता उतनी ही प्रधान है जितनी उनकी भिन्नता है, अगर हम यह ध्यान रखें कि द्रव्य उसके गुण से भिन्न हैं।[2] भास्कर और रामानुज के बीच, मुख्य विरोध यह रह जाता है कि भास्कर देह

---

1 रामानुज भाष्य, पृ० 265, 66। श्रुत प्रकाशिका के साथ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1916।

2 जीववत् पृथकसिद्ध्यनर्हं विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम्, विशिष्टस्त्वेक देशत्वेन अभेद-व्यवहारो मुख्यः विशेषण विशष्ययोः स्वरूप-स्वभावभेदेन भेद-व्यवहारोऽपि मुख्यः।
—श्री भाष्य, 3:2:28।

और अंश या द्रव्य और गुण के सिद्धान्त को प्रवर्तित करने की आवश्यकता नहीं समझते। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मन् सर्वान्तर्यामी और पर, एक साथ ही है, अभिन्नता और भिन्नता दोनों एक साथ ही वस्तु में स्वीकार की जा सकती हैं, तथा कार्य और कारण एवं द्रव्य और गुण इत्यादि की दृष्टि द्वारा इसे प्रमाणित किया जा सकता है।

रामानुज-दर्शन का सत्ता ज्ञान विषयक पक्ष

अद्भुत रचना युक्त, यह सारा जगत्, जो अद्भुत नियम और विधि द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है वह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी के द्वारा उसकी सत्ता पोषण की जा रही है और अंत में वह उसी में मिल जायगा। ब्रह्म की महानता की कोई मर्यादा नहीं है। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार, तीन प्रकार के गुण के अर्थ में व्यवहृत हैं किन्तु वे तीन द्रव्यों को लक्ष्य नहीं करते, केवल एक ही द्रव्य को लक्ष्य करते हैं जिसमें वे रहे हुए हैं। उनका सच्चा स्वरूप तो उसकी अपरिणामी सत्ता और नित्य सर्वज्ञता और देश, काल और लक्षणों में अमर्यादितता में रही है। शंकर के इस सूत्र (1-1-2) के विवरण का उल्लेख करते हुए रामानुज कहते हैं कि जो ब्रह्मन् को निर्विशेष मानते हैं वे ब्रह्म सूत्र के इस पाठ (1-1-2) में कहे हुए ब्रह्म के गुण को ठीक नहीं समझा सकते, क्योंकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है ऐसा कहने के बजाय उन्हें यों कहना चाहिए कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का भ्रम ब्रह्म से है। किन्तु ऐसा कहने से भी ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि भ्रम अज्ञानवश होगा और ब्रह्म सारे अज्ञान को प्रकट करने वाला हो जायगा। वह स्वप्रकाश स्वरूप होने के कारण ऐसा कर सकता है और अगर उसमें यह भेद हैं तो वह न तो निर्विशेष ही हो सकता है और न भेद-रहित ही।[1]

यह शंकर के उपरोक्त सूत्र के सच्चे अर्थ के बारे में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करता है। क्या वे सचमुच यही मानते थे जैसाकि रामानुज ने उनके बारे में बताया है कि जिस वस्तु में से जगत् की उत्पत्ति का भ्रम होता है वही ब्रह्म है? या वे सचमुच यही मानते थे कि ब्रह्म तथा वह स्वतः ही अकेला इस जगत् की सचमुच उत्पत्ति का कारण है? शंकर, जैसाकि प्रसिद्ध है, उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र के टीकाकार थे, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन ग्रन्थों में ऐसे अनेक अवतरण हैं जो ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं और यह भी कि इस वास्तविक जगत् की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा ही सचमुच हुई है। शंकर को इन अवतरणों को समझाना था और उन्होंने हमेशा अद्वैतिक भाषा का कठोर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि उन्होंने तीन प्रकार की सत्ता मानी है और सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु शंकर ने उस समय जिन शब्दों का प्रयोग किया, उनके प्रति सावधानी रखना आवश्यक था, जो उन्होंने हर समय नहीं रखी। उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ऐसे पाठ नजर आते हैं जो वास्तव में ईश्वरवाद का संकेत करते हैं, दूसरे द्वयर्थक हैं जिनका दोनों प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है, और कुछ दूसरे पाठ ऐसे हैं जो नितान्त अद्वैतवादी हैं। किन्तु अगर महान् टीकाकारों

---

1 जगज्-जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेऽति स्वोत्प्रेक्षा-पक्षेऽपि न निर्विशेष-वस्तु-सिद्धिः इत्यादि। —वही, 1.1.20।

और शंकर-मत के स्वतंत्र लेखकों की साक्षी ली जाय, तो शंकर के सिद्धान्त को शुद्ध अद्वैत एकत्ववाद के अर्थ में ही समझाया जा सकता है। ब्रह्म निश्चित रूप से अपरिणामी, अनन्त है और वह जगत्-प्रपंच के उत्थान, स्थिति और प्रलय का एकमात्र अधिष्ठान है और वह सभी के अंतर्हित एक सत्य हैं। किन्तु जगत्-प्रपंच के भास में दो तत्व उपस्थित हैं, एक ब्रह्म जो मूल अधिष्ठान रूप है, जो तत् और चित् स्वरूप है और दूसरा भेद और परिणामी तत्त्व माया है जिसके विकास या परिणाम से नानात्व का भास सम्भव है। किन्तु, शंकर भाष्य में ब्रह्म सूत्र के 1.1.2 पाठ की टीका में ऐसे पाठ मिलते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि जगत्-प्रपंच केवल भास मात्र नहीं है, किन्तु सत्य है क्योंकि उसका अधिष्ठान केवल सत्य ही नहीं है किन्तु वह ब्रह्म द्वारा प्रसूत है। यदि संयत होकर देखा जाय, तो ब्रह्म ही केवल जगत् का उपादान कारण नहीं है पर वह अविद्या के साथ उपादान कारण है, और ऐसा जगत्, ब्रह्म पर आधारित है और उसी में वह लय पाता है। वाचस्पति भामती में, शंकर भाष्य के उसी सूत्र पर (ब्र० सू० 1.1.2) पर यही टीका करते हैं।[1] प्रकाशात्मन्, अपने 'पंचपादिका विवरण' में कहते हैं कि सर्जन कार्य जो यहाँ कहा गया है वह ब्रह्म में नहीं है और ब्रह्म के स्वरूप के विषय में खोज का अर्थ यह नहीं है कि वह इन गुणों से सम्बन्धित है, ऐसा जाना जाता है।[2] भास्कर ने यह प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म ने ही जगत् रूप से परिणाम किया है और यह परिणाम सत्य है उसकी शक्तियों का नाना रूप यह जगत् है। किन्तु प्रकाशात्मन्, परिणामवाद का प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि जगत्-प्रपंच, भले ही माया रूप क्यों न हो, चूँकि यह माया ब्रह्म से सम्बन्धित है इसलिये यह जगत्-प्रपंच ऐसा होते हुए भी, इसका बोध, निषेध या असत्ता अनुभव में नहीं आता, केवल इतना ही पता चलता है कि वह अन्ततोगत्वा सत् नहीं है।[3] माया का अधिष्ठान ब्रह्म है (आधार ब्रह्म है) और जगत् प्रपंच, माया का परिणाम होने से ऐसे परिणाम रूप से सद्रूप है। वह भी ब्रह्म पर आधारित है किन्तु उसकी अन्तिम सत्ता केवल यहां तक है जहां तक वह इस अधिष्ठान या ब्रह्म पर आश्रित है। जहां तक जगत्-प्रपंच का प्रश्न है वह माया का परिणाम होने से अपेक्षित रूप से ही सत् है। ब्रह्म और माया के संयुक्त कारणत्व का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है, माया और ब्रह्म दो तंतु रूप हैं जो बुनकर एक तंतु बने हैं, या ब्रह्म और माया उसकी शक्ति रूप से, जगत् कारण है, या ब्रह्म, माया का आधार होने से, जगत् का गौण रूप से कारण है।[4] पिछले दो वादों में माया, ब्रह्म पर आश्रित है इसलिये, माया का कार्य जगत् भी ब्रह्म पर आश्रित

---

1 अविद्या-सहित-ब्रह्मोपादानं जगत् ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयते।

—भामती 1.1.2।

2 नहि नानाविध-कार्य-क्रियावेशात्मकत्वं तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्वं वा जिज्ञास्य-विशुद्ध-ब्रह्मान्तर्गतम् भवितुम् अर्हति। पंचपादिका विवरण। —पृ० 205।

3 सृष्टेश्च स्वोपाधौ अभावव्याव‍ृत्वात् सर्वे च सोपाधिकधर्माः स्वाश्रयोपाधौ अबाध्यतया सत्या भवन्ति सृष्टिरपि स्वरूपेण न बाध्यते किन्तु परमार्था सत्यत्वांशेन।

—वही, पृ० 206।

4 वही, पृ० 212।

है, और इन दोनों वादों में उपरोक्त अर्थ लगाने से, शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण होता है। सर्वज्ञात्मा मुनि भी, जो ऐसा मानते हैं कि शुद्ध ब्रह्म उपादान कारण है, वे माया के कार्य को, ब्रह्म के साथ संयुक्त उपादान कारण है, ऐसा नहीं मानते, किन्तु उसे वह साधन है, सामग्री है ऐसा मानते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म का कारणत्व, नानात्व भिन्न जगत्-रूप से प्रगट होता है। किन्तु इस वाद के अनुसार भी नानात्व का उपादान माया है, यद्यपि माया का, इस प्रकार से प्रकट होना, मूल कारणत्व ब्रह्म की अनुपस्थिति में असंभव है।[1] ब्रह्म के कारणत्व के स्वरूप पर विचार करते हुए, प्रकाशात्मन् कहते हैं कि वेदान्त का अद्वैतवाद का सिद्धान्त इस तथ्य से समर्थन पाता है कि कारण को छोड़कर कार्य में कुछ भी नहीं है जिसे वर्णन किया जा सके या व्यक्त किया जा सके (उपादान व्यतिरेकेण कार्यस्य अनिरुपणाद् अद्वितीयता)।[2] इस प्रकार, भिन्न-भिन्न प्रकार से, शंकर-दर्शन की व्याख्या की गयी है, अतः शंकर के लगभग सभी अनुयायियों ने यह माना है कि यद्यपि ब्रह्म ही जगत् का अन्त में मूल कारण ही है, तथापि जगत् जिन पदार्थों से बना है वह ब्रह्म नहीं होकर केवल माया तत्त्व है और इसलिए नानात्व जगत् की सत्ता-सापेक्ष मात्र है और यह सापेक्ष सत्ता ब्रह्म की सत्ता की तरह सत्य नहीं है।[3] शंकर स्वयं कहते हैं कि ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्व विषय को प्रकाश करने और प्रकट करने की नित्य शक्ति में ही है (यस्य हि सर्व-विषयावभसान-क्षमं ज्ञानं नित्यम् इति)। यद्यपि इस सर्वव्यापी चैतन्य में कोई भी क्रिया या साधन की आवश्यकता नहीं रहती तो भी वह ज्ञाता कहा जाता है जबकि सूर्य स्वयं दाहक और प्रकाशक कहा जाता है जबकि सूर्य स्वयं ताप और प्रकाश की अभिन्नता के सिवाय और कुछ नहीं है (प्रततोष्णय-प्रकाशेपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातंत्र्य-व्यपदेश-दर्शनात् एवम् असत्यपि ज्ञान-कर्मणि ब्रह्मणः तद् ऐक्षत इति कर्तृत्व-व्यपदेशदर्शनात्)। जगत् की उत्पत्ति के पहले, इस सर्वव्यापी चैतन्य का जो विषय है वह अनिर्वचनीय नाम रूप है जिसे 'यह'

---

[1] संक्षेप शारीरिक 1–332, 334 और रामतीर्थ की अन्वयार्थ प्रकाशिका टीका।

[2] पंचपादिका वितरण, पृ० 221।

[3] प्रकाशात्मन्, ब्रह्म और माया के बीच किये गये अनेकों संबंधों का उल्लेख करते हैं जैसेकि, ब्रह्म में माया शक्ति रूप है, और सारे जीवों का संबंध अविद्या से है: माया और अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्मन्, जगत्-कारण है (माया विद्या प्रतिबिम्बितं, ब्रह्म जगत्-कारणम्): शुद्ध ब्रह्म अमर है जीव अविद्या से सम्बन्धित है, जीव, जगत् के बारे में अपना ही भ्रम है और ये सादृश्य की वजह से एक नित्य जगत् रूप से दीखता है, ब्रह्म का अपनी अविद्या के कारण ही भासमात्र परिणाम होता है। किन्तु इन किसी भी विचारों में जगत् ब्रह्म का सच्चा रूप है ऐसा नहीं माना गया है।

—पंचपादिका विवरण, पृ० 232।

ब्रह्म किस प्रकार अनादि वेदों का कारण है, इस विषय को प्रकाशात्मन् यों समझाते हैं कि ब्रह्म अंतरस्थ सत्ता थी, जिससे, वेद, जो उस पर निक्षिप्त किये गये थे, प्रकट हुए।

—वही, पृ० 203–231।

या 'वह' कहकर निश्चित नहीं किया जा सकता।[1] ब्रह्म की सर्वज्ञता, इसलिये सबको प्रकट करती है जिससे माया की समस्त सृष्टि, बुद्धि का ज्ञानात्मक विषय बन जाती है। किन्तु यह प्रकट करना ज्ञान-कर्म नहीं है, किन्तु चैतन्य का नित्य स्थिर प्रकाश है जिससे माया के मिथ्याभास प्रकाशित हो उठते हैं और जाने जाते हैं।

रामानुज का अभिप्राय इससे अत्यन्त भिन्न है। वे शंकर के इस मत को कि कारण ही एक मात्र सत्य है और कार्य सारे मिथ्या हैं—इसे नहीं मानते। कार्य रूप जगत् के मिथ्यात्व के लिये एक कारण यह दिया जाता है कि कार्य अनित्य है। इससे कार्य का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होता, केवल इसका नाशवान् और अनित्य स्वभाव ही सिद्ध होता है। जब एक वस्तु एक देश और काल में विद्यमान रहती हुई, उसी देश और काल में नहीं रहती है तब वह मिथ्या कहाती है, किन्तु यदि वह दूसरे देश और काल में रहती हुई नहीं पाई जाती है तो उसे मिथ्या नहीं कह सकते, वह केवल नाशवान् और अनित्य है। यह मान्यता गलत है कि कारण का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि समय, स्थान के संयोग से नये तत्त्वों का उदय होता है जिसके फलस्वरूप उसमें परिवर्तन होता है। कार्य न तो असत् है और न भ्रम है क्योंकि वह कारण से उत्पन्न होने के पश्चात्, तब तक किसी निश्चित देश और काल में दीखता है जब तक कि वह नष्ट नहीं हो जाता। हमारा यह अनुभव मिथ्या है ऐसा सिद्ध करने का कुछ भी प्रमाण नहीं है। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा जो श्रुति-शास्त्र प्रतिपादन करते हैं वे इस अर्थ में सत्य हैं कि ब्रह्म ही केवल जगत् का कारण है और कार्य-कारण, अन्त में, भिन्न नहीं है। जब ऐसा कहा जाता है कि घड़ा मिट्टी के सिवाय और कुछ नहीं है तो कहने का अर्थ यह है कि वह मिट्टी है जो विशेष और निश्चित रूप से घड़ा कहलाती है और पानी लाने इत्यादि का कार्य करती है, यद्यपि वह ऐसा करती है तो भी वह मिट्टी से भिन्न द्रव्य नहीं है। घड़ा इस प्रकार, मिट्टी स्वयं की अवस्था ही है, और जब यह विशेष अवस्था बदल जाती है तब हम कहते हैं कि कार्य रूप घड़ा नष्ट हो गया है, यद्यपि कारण, मिट्टी वैसी ही रहती है। उत्पत्ति का अर्थ पहली स्थिति का नाश और नयी स्थिति का निर्माण है। द्रव्य, इन सब स्थितियों में एक-सा ही रहता है इसी कारण कि कार्य, कारण साधनों की क्रिया के पहले ही विद्यमान हैं, यह कारणवाद सच माना जा सकता है। वास्तव में, दशा या रूप जो पहले नहीं थे वे उत्पन्न होते हैं, किन्तु स्थिति या दशा, जो द्रव्य में दीखती है, उसकी द्रव्य से स्वतन्त्र रूप में सत्ता नहीं होती, उसकी नयी उत्पत्ति, कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान है, इस कारणवाद पर प्रभाव नहीं डालती। इस तरह, एक ही ब्रह्म स्वयं जगत् रूप से परिणत हुआ है और नाना जीव, उसकी विशेष दशाएँ या स्थिति होने के कारण, उससे एक रूप हैं और तो भी उसके अंश रूप या अवस्था होने से सचमुच अस्तित्व रखते हैं।

पूर्ण या अद्वैत यहां ब्रह्म है, जीव और जड़ जगत् उसकी देह हैं। जब ब्रह्म, जीव और जड़ जगत् के सूक्ष्म रूप देह के साथ रहता है तब वह कारण या ब्रह्म की कारण

---

1 किं पुनः तत् कर्मः? यत् प्रागुत्पत्तेरीश्वर ज्ञानस्य विषयो भवतीति। तत्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये नाम रूपे अव्याकृत व्याचिकीर्षीते इति ब्रूमः।

—शंकर भाष्य, 1.1.5।

अवस्था कहलाती है । जब वह, जीव और जगत् की साधारण प्रकट अवस्था रूपी देह से युक्त है तब ब्रह्म की कार्यावस्था कहलाती है ।[1] जो कार्य को मिथ्या मानते हैं वे यह नहीं कह सकते कि कार्य कारण से अभिन्न है, क्योंकि उसके अनुसार जगत्, जो मिथ्या है वह ब्रह्म से जो सत्य है, अभिन्न नहीं हो सकता ।[2] रामानुज, बलपूर्वक इस सुझाव का निषेध करते हैं कि सन्मात्र रूप कोई ऐसी वस्तु, जीव और जगत् की सूक्ष्मावस्था रूप देह वाले नियंता कारण ईश्वर से, अंततः अधिक सत्य है, क्योंकि वे इसे भी अस्वीकार करते हैं कि ईश्वर को केवल सन्मात्र माना जाय, क्योंकि ईश्वर सर्वदा, सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता, इत्यादि अनन्त श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं । रामानुज इस प्रकार, ईश्वर के अंश रूप, जड़ और जीव के द्विविभक्त सिद्धान्त को पकड़े रहते हैं, जो ईश्वर इन अंशों का निरन्तर अन्तर्यामी हैं । वे निश्चय रूप से सत्कार्यवादिन् हैं किन्तु उनका सत्कार्यवाद, वेदान्त के सत्कार्यवाद से, जो शंकर ने माना है अधिक सांख्य की राह पर है । कार्य, कारण की केवल बदली हुई अवस्था है और इसलिये जड़ और जीव रूप से प्रकट जगत्, जो ईश्वर की देह है, इसे केवल इसलिये कार्य माना है कि यह कार्य रूप से प्रकटावस्था के पूर्व, ईश्वर में सूक्ष्म और निर्मल अवस्था में विद्यमान था । किन्तु, ईश्वर में यह जड़ और जीव का भेद हमेशा से विद्यमान था और उसमें कोई ऐसा अंश नहीं है जो इससे अधिक सत्य और चरम हो । यहां पर रामानुज भास्कर का पूर्णतः साथ छोड़ देते हैं । क्योंकि भास्कर के अनुसार, जोकि कार्य रूप से ईश्वर जड़ और जीवमय प्रकट सृष्टि-रूप से विद्यमान था, तो भी कारण रूप से ईश्वर की सत्ता भी थी, जो नितान्त अव्यक्त और निर्विशेष रूप से सन्मात्र था । ईश्वर, इसलिये, सर्वथा जड़, जीव और उसके अन्तर्यामी. के त्रिविध रूप से विद्यमान था, और प्राकृत या कारणावस्था और प्रलयावस्था का अर्थ, जड़ और जीव की व्यक्तावस्था से भिन्न सूक्ष्म और निर्मल अवस्था से है । किन्तु रामानुज आग्रह करते हैं कि जैसे मनुष्य में देह और आत्मा के बीच भेद है, और जैसे देह की कमी और दोष आत्मा को प्रभावित नहीं करते, उसी प्रकार परम अन्तर्यामी ईश्वर और उसका शरीर, जीव और जड़ जगत् रूपी के बीच, स्पष्ट रूप से भेद है और जगत् के दोष ब्रह्म को इसलिये प्रभावित नहीं कर सकते । इस प्रकार, यद्यपि ब्रह्म के शरीर है तो भी वह अखण्ड (निरवय) है और कर्म से सर्वदा रहित है : क्योंकि उसकी निश्चयात्मक चेष्टाएं अहेतुकी हैं । वह, इसलिये, सभी दोषों के प्रभाव से रहित है और अपने में, अनन्त हितकारी गुण धारण करता हुआ, शुद्ध और पूर्ण है ।

रामानुज, अपने 'वेदार्थ संग्रह' और 'वेदान्त दीप' में यह बताने की कोशिश करते हैं कि किस प्रकार, शंकर के अद्वैतवाद को दूर करके, उन्हें भास्कर के सिद्धान्त और अपने पूर्वगामी गुरु यादव प्रकाश के सिद्धान्त से भी, हट कर रहना पड़ा । वे भास्कर

---

[1] श्री भाष्य, पृ० 444, 454 । बम्बई 1914 ।

[2] रामानुज का यह आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार कार्य के अन्तस्थ सत्ता कारण से एक रूप है । किन्तु इस आक्षेप में भी यह सच्चाई है कि कार्य-कारण की अभिन्नता के सिद्धान्त को शंकर के मत के योग्य बनाने के लिये, वक्रार्थ देना आवश्यक हो जाता है ।

का साथ न दे सके, क्योंकि भास्कर मानते थे कि ब्रह्म उन मर्यादाओं और सीमाओं से सम्बन्धित है जिनसे वह बंधन में पड़ता है और जिनके निवारण से वह मुक्त होता है। वे यादव प्रकाश से भी सहमत न हो सके, जो मानते थे कि ब्रह्म एक ओर शुद्ध है और दूसरी ओर, स्वयं नाना रूप जगत् में परिणमित होता है। इन दोनों मतों की उपनिषद् के पाठ से संगति नहीं बैठती।

वेंकटनाथ का प्रमाण-निरूपण

जिस प्रकार शून्यवादी बौद्ध या माध्यमिक किसी भी तथ्य या प्रतिज्ञा की न्याय-युक्त सत्ता का निषेध प्रतिपादित करते हैं, उसी प्रकार शंकर मतवादी उक्त प्रश्नों पर अपना निर्णय दे सकने में असमर्थ हैं। खण्डनखण्डखाद्य के पूर्व पक्ष में, इस प्रश्न के उत्तर में कि सारे विवादों (कक्षाओं) को, लक्ष्य करने वाले तथ्यों और प्रतिज्ञाओं की पहले ही सिद्धि और असिद्धि मान लेनी चाहिये अथवा नहीं, इसका उल्लेख करते हुए भी श्री हर्ष कहते हैं कि ऐसी कोई मान्यता अनिवार्य नहीं है, क्योंकि विवाद, दो प्रतिस्पर्धी पुरुषों की आपस की स्वीकृति से ही, यह मानकर किया जा सकता है कि, वे विवाद का किसी एक मध्यस्थ द्वारा निश्चित किये गये कुछ सिद्धान्तों की सच्चाई या मिथ्यापन के आधार पर उनकी अंतिम सच्चाई का प्रश्न खड़े किये बिना, सम्मान करें। यदि कुछ सिद्धान्तों, तथ्यों का प्रतिज्ञाओं की सिद्धि या असिद्धि मान भी ली जाय, तब भी, प्रतिस्पर्धी विवाद करने वालों के बीच मध्यस्थ द्वारा शासित किये गये, यह या अन्य सिद्धान्तों के बारे की स्वीकृति, समस्त विवाद के लिये प्रारम्भिक आवश्यकता होगी।[1] रामानुज संप्रदाय के विख्यात दार्शनिक वेंकटनाथ, इन मतों के विरोध में, सत्य या हेतु या ज्ञेय विषय की खोज की प्रारम्भिक अवस्था के तौर से, कुछ प्रतिज्ञाओं या तथ्यों में स्वाभाविक धर्म के रूप में प्रामाण्य या अप्रामाण्य मानना आवश्यक है या नहीं इसे निश्चित करना चाहते हैं। अगर प्रामाण्य या अप्रमाण्य प्रतिज्ञाओं का भेद नहीं माना जाय तो, कोई भी प्रबंध (प्रतिज्ञा) सिद्ध नहीं की जा सकती और न कोई व्यवहार ही सम्भव है। यद्यपि सामान्य लोगों की स्वीकृति के आधार पर प्रमाण और अप्रमाण प्रतिज्ञाओं का भेद इस प्रकार मानना पड़ता है, तब भी उनके सच्चे स्वरूप का परीक्षण करना ही पड़ता है। जो इस भेद को अस्वीकार करते हैं उनके लिये चार विकल्प उपस्थित होते हैं, जैसाकि (1) सारी प्रतिज्ञाएँ प्रमाण हैं, (2) सारी प्रतिज्ञाएँ अप्रमाण हैं, (3) सारी प्रतिज्ञायें आपस में परस्पर विरोधी हैं, या (4) सारी प्रतिज्ञाएँ शंकास्पद हैं। यदि सारी प्रतिज्ञाएं प्रमाण हैं, तो ऐसी प्रतिज्ञाओं का निषेध भी प्रमाण है जो स्वतोविरोधी हो जाता है। अगर वे सभी अप्रमाण हैं तो यह प्रतिज्ञा भी अप्रमाण ठहराती है और इस प्रकार अप्रमाणता प्रतिपादित नहीं की जा सकती। तीसरे विकल्प के बारे में, यह बताया जा सकता है कि अप्रमाण प्रतिज्ञा कभी भी प्रमाण प्रतिज्ञा का बाध नहीं कर सकती। यदि एक प्रमाण-प्रतिज्ञा दूसरी प्रमाण-प्रतिज्ञा के क्षेत्र को निरुद्ध करती है तो इसे विरोध

---

1 न च प्रमाणादिनां सत्तापि इत्थम् एव ताभ्याम् अंगीकर्तुम् उचिता, तादृश-व्यवहार-नियममात्रेणैव कथा प्रवृत्युपपत्तेः। प्रमाणादिसत्ताम् अभ्युपेत्यापि तथा व्यवहार-नियम-व्यतिरेके कथा प्रवृत्ति बिना तत्व-निर्णयस्य जयस्य वा अभिलसितस्य कथ-कयोरपर्यवसानात्, इत्यादि। —खण्डनखण्डखाद्य, पृ० 35।

नहीं माना जा सकता। एक प्रमाण-प्रतिज्ञा को उसकी प्रमाणता प्रकट करने के लिये दूसरी प्रतिज्ञा पर आश्रित होना नहीं पड़ता। क्योंकि प्रमाण-प्रतिज्ञा स्वतः प्रमाणित है। अन्त में, यदि आप सभी के बारे में शंका करते हैं, तो कम से कम आप इसे तो शंका नहीं करते कि आप शंका करते हैं, इस प्रकार तुम्हारा यह कहना असंगतिपूर्ण है कि आप सभी के बारे में शंका करते हैं।[1] इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि दो प्रकार की प्रतिज्ञाएँ होती हैं, प्रमाण और अप्रमाण। प्रतिज्ञाओं के बीच प्रमाणता और अप्रमाणता का सामान्य भेद यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो भी, कोई विशेष प्रतिज्ञा, प्रमाण है अथवा नहीं इसे निश्चित करने के लिये, उक्त प्रतिज्ञा का परीक्षण, पूछताछ खोज इत्यादि किया जाना न्याय युक्त है। प्रमाण उसे ही कहते हैं, जिसके द्वारा सही ज्ञान (प्रमा) उपलब्ध हो।[2] उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के लिए दोष रहित नेत्र ध्यान-संगत मानसिक व्यापार एवं विषय की योग्य निकटता इत्यादि के संयुक्त स्वरूप से 'प्रमाण' की उपलब्धि होती है। किन्तु शब्द प्रमाण में, ज्ञान की प्रमाणता, बोलने वाले की दोष-रहितता से है। शास्त्र प्रमाण हैं, क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं, जिन्हें वस्तु का सच्चा ज्ञान है। वेदों की प्रमाणता, हमारे ज्ञान के साधनों की दोष-रहितता पर आश्रित नहीं है। यह कैसे भी हो, प्रमाण का अन्तिम निश्चय प्रमा द्वारा या सच्चे ज्ञान द्वारा ही है। जिससे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है वही प्रमाग है। वेद प्रमाण हैं क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं जिसे सच्चा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान की सच्चाई ही, अन्त में, प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है।[3]

वात्स्य श्री निवास जो रामानुज सम्प्रदाय के श्री वेंकटनाथ के उत्तराधिकारी हैं, प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण, यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की तात्कालिक नित्य एवं ऐकान्तिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति होने के फलस्वरूप समग्र कारणों में सबसे विशिष्ट सिद्धिकर उपकरण है। अतः उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष में चक्षु इन्द्रिय के प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की उपलब्धि संभव है यद्यपि इस क्रिया में बीच की सक्रिय क्रिया (अवान्तर व्यापार) के माध्यम से आंख का वस्तु से सम्पर्क होता है।[4]

---

1 यह उक्ति डेकार्ट का स्मरण कराती है—सर्वं संदिग्धम् इति ते निपुणस्यास्ति निश्चयः संशयश्च न संदिग्धः संदिग्धाद्वैतवादिनः।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० 34। चौखम्बा सं० सी०।

2 यहां करण प्रामाण्य और आश्रय प्रामाण्य के बीच भेद किया गया है। (प्रमाश्रयस्य ईश्वरस्य प्रामाण्यं अंगीकृतम्) न्यायसार, न्याय परिशुद्धि की टीका, श्री निवास कृत, पृ० 35।

3 करण प्रामाण्यस्य आश्रय प्रामाण्यस्य च ज्ञानप्रामाण्याधीनज्ञानत्वात् तदुभयप्रामाण्य-सिद्धयर्थमपि ज्ञान-प्रामाण्यमेव विचारणीयम्। —न्यायसार, पृ० 35।

4 प्रमा करणं प्रमाणम् इति उक्तम् आचार्यैः सिद्धान्त सारे प्रमोत्पादक-सामग्री-मध्ये यत् अतिशयेन प्रमागुणकम् तत् तस्याः कारणम्, अतिशयश्च व्यापारः, यद्धि यद् जनयित्वैव यद् जनयेत् तत्तत्र तस्यावान्तर व्यापारः। साक्षात्कारि प्रमाया इन्द्रियं कारणम् इन्द्रियार्थ संयोगोवान्तर व्यापारः।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह। गव० ओ० हस्त० सं० 4988।

न्याय के सुविख्यात लेखक, जयन्त ने अपनी 'न्याय मंजरी' में, इस विषय पर भिन्न ही मत प्रकट किया है। उन्होंने माना है कि प्रमा की उत्पादक सामग्री में से किसी एक को भी, दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण या अतिशय नहीं कहा जा सकता। कारण साधन की अतिशयता का अर्थ उनकी कार्योत्पादक शक्ति है, और वह शक्ति, उत्पादक सामग्री के सभी तत्त्वों में संयुक्त होकर ही है, इसलिये प्रमा उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण कारण—उत्पादक सामग्री को ही प्रमाण मानना पड़ेगा।[1] उद्देश्य और विधेय भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे भी उद्देश्य और विधेय के बीच, उत्पादक सामग्री द्वारा ही, इच्छित सम्बन्ध उत्पन्न करके ही, प्रकट होते हैं।[2] न्याय के अनुसार उत्पादक सामग्री बोधा बोध-स्वभाव रूप है।[3]

अगर वेदान्त परिभाषा का मत माना जाता है तो शंकर अनुयायियों का मत भी इस विषय पर रामानुज के मत जैसा बहुत कुछ ही जाता है, क्योंकि धर्म राजाध्वरीन्द्र और रामकृष्ण दोनों प्रमाण को प्रमा का कारण मानने में एक मत हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष से तथा अन्य में, इन्द्रियां ही प्रमाण मानी गई हैं, और इन्द्रिय-संयोग इस कारण का व्यापार माना गया है।

रामानुज और न्याय के मत में भेद यह है कि जबकि न्याय उत्पादक सामग्री के प्रत्येक तत्त्वों को समान महत्त्व देता है, रामानुज का मत, उसी निमित्त कारण को विशेष महत्त्व देता है जो व्यापार से साक्षात् सम्बन्धित हैं। शंकर अनुयायी भी ज्ञान के ऐसे उत्पादक मत को मानते हैं, यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं, तो भी वे वृत्ति-ज्ञान की उत्पत्ति में मान्यता रखते हैं। क्योंकि यद्यपि वे चैतन्य को नित्य और अज मानते हैं तो भी, वे, वृत्ति-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, ऐसा मानते हैं। शंकर और रामानुज के मत, न्याय से एक मत हो, ज्ञान के उत्पादक सिद्धान्त को मानते हैं, क्योंकि दोनों के मतानुसार जगत् विषय रूप से, ज्ञाता के बाहर है और प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से, अर्थ का व्यापार द्वारा संयोग होने से उत्पन्न होता है। रामानुज-मत में कारण और करण (विशेष साधन) के बीच भेद किया गया है और वह कारण जो कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापारों से, अतिशय रूप से और साक्षात् सम्बन्धित है, वह कारण है।[4] इसी कारणवश यद्यपि रामानुज का मत सामग्री को स्वीकार कर लेता है, किन्तु कुछ अर्थ में वह इन्द्रियों को भी प्रधान साधन मानता है, दूसरे सब सहायक हैं या अन्य रूप से उत्पादन में सहकारी हैं।

---

1 सच सामग्र्यन्तरं तस्य न कस्यचिद् एकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते, सामग्र्यस्तु सोऽतिशयः सुवचः सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नम् एवं फलम् इति।

—न्याय मंजरी, पृ० 13।

2 साकल्य प्रसाद लब्ध प्रमिति–सम्बन्ध–निबंधनः प्रमातृ–प्रमेयो मुख्यस्वरूप लाभः।

—वही, पृ० 14। न्याय मंजरी।

3 बोधा बोध स्वभावा सामग्री प्रमाणम्। —न्याय मंजरी, पृ० 15।

4 तत्कारणानां मध्ये या दतिशयेन कार्योत्पादकं तत्करणाम्।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह, ग० ओ० हस्त० सं० 4988।

कुछ बौद्ध ऐसे भी हैं जो पूर्ववर्ती क्षण के मानसिक तथा मनोबाह्य कारक की संयुक्त सामग्री ही, ज्ञान तथा उत्तर क्षण की बाह्य घटना को उत्पन्न करती है, ऐसा मानते हैं, किन्तु वे मानसिक तत्त्व सीधे-सीधे ज्ञान उत्पन्न करते हैं ऐसा मानते हैं, जबकि मनोबाह्य तथा बाह्य पदार्थ केवल उत्तेजक या सहकारी साधन हैं। इस मत के अनुसार, ज्ञान अनुभव के पूर्व ही, अन्तर से निश्चित होता है, यद्यपि बाह्य विषयों के प्रभाव का निषेध नहीं किया गया है। बाह्य जगत् में कारणता के व्यापार के सम्बन्ध में, वे मानते हैं कि यद्यपि वर्तमान क्षण के ज्ञानमय तत्त्व, सहायक रूप से उन्हें प्रभावित करते हैं, तो भी अतिशय कारण-व्यापार तो बाह्य विषयों में ही ढूंढना पड़ेगा। पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानोत्तर तत्त्व, संयुक्त रूप से, जगत् में, उत्तर क्षण की प्रत्येक घटना को निश्चित करते हैं, चाहे वे मानसिक या भौतिक ही क्यों न हो, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के निश्चय में तो ज्ञान तत्त्व ही प्रबल हैं, बाह्य दशाएं केवल सहकारी ही हैं। बाह्य घटना को निश्चित करने में, ज्ञान तत्त्व सहायक हैं और बाह्य कारण निकटतम साधन रूप है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में, यद्यपि विशिष्ट बाह्य पदार्थ सहायक माने जा सकते हैं किन्तु उनका अचिरात् और अव्यवहित रूप से निर्धारक तत्त्व विज्ञान ही है।[1]

विज्ञानवादी बौद्ध जो प्रत्यय-बोध और पदार्थ-वस्तु में भेद नहीं करते उनकी मान्यता है कि अरूप प्रत्यय ही नील, लाल इत्यादि भिन्न रूप धारण करता है, क्योंकि वे इन प्रत्यय बोधों के अलावा किसी अन्य बाह्य विषय को नहीं मानते और इसलिये, विभिन्न रूप में प्रत्यय बोध (विज्ञान) को ही प्रमाण कहते हैं और इन्द्रियों अथवा अन्य सामग्री की मान्यता अस्वीकार करते हैं। प्रमाण और प्रमाण-फल, या प्रमाण-व्यापार की निष्पत्ति में यहां भेद नहीं किया गया है।[2] अतः विज्ञानवादी बौद्धों में पदार्थ की स्थिति एवं उसकी जानकारी के भेद का कोई खुलासा नहीं किया गया है। अर्थात् वे चेतना और उसके अर्थ या विषय का भेद समझाने में असफल रहते हैं।

कुमारिल की मीमांसा-शाखा का विचार है कि आत्मा-इन्द्रियां मनस् विषय-संयोग क्रम को अनुसरण करते हुए, कोई ऐसा ज्ञान-व्यापार है, जोकि वह साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता, तो भी उसे ज्ञान के विषय को प्रकट करने का नियत व्यापार मानना ही पड़ेगा (अर्थ-दृष्टता या विषय-प्रकाशता)। यही अदृष्ट किन्तु न्याय अनुमित, ज्ञान-

---

1 ज्ञान जन्मनि ज्ञानम् उपादान कारणमर्थः सहकारि कारणमर्थ जन्मनि च अर्थ उपादान कारणं ज्ञानं सहकारिकारणं। —न्याय मंजरी. पृ० 15।

जयन्त ने इस मत के प्रति यह आक्षेप किया है कि, अगर ज्ञान और बाह्य पदार्थ और दोनों घटना, पूर्ववर्ती क्षण के ज्ञान तथा ज्ञानेतर तत्त्वों के संयुक्त व्यापार से निश्चित होते हैं तो हम पूछते हैं कि एक तथ्य-ज्ञान है और दूसरा भौतिक है, एक द्रष्टा है और दूसरा दृश्य है, इसे कौन निश्चित करता है।

2 निराकारस्य बोधरूपस्य नील-पीताद्यनेक-विषय-साधारणत्वाद् जनकत्वस्य च चक्षुरादावपि भावेनातिप्रसंगात् तदाकारत्वकृतम् एव ज्ञानकर्म नियमम् अवगच्छन्तः साकार-विज्ञानम् प्रमाणम्····अर्थस्तु साकार-ज्ञानवादिनो न समस्त्येव। —वही, पृ० 16।

व्यापार है जो प्रमाण कहलाता है[1] । जयन्त, ऐसे अदृष्ट व्यापार का ज्ञान-क्रिया को मान नहीं सकते, क्योंकि न्याय-मतानुसार, एक ही प्रकार का व्यापार माना गया है जो परमाणु की गति है या कारण चक्र द्वारा उत्पन्न किया गया परिस्पंद (चलन) है ।[2]

जैन मतवादी सामग्री की संयुक्त कारणता का या किसी भी व्यक्तिगत कारण का, जैसे कोई भी इन्द्रिय या प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी भी प्रकार के इन्द्रिय-सम्बन्ध, या अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का खंडन करते हैं । प्रभाचन्द्र, इस प्रकार 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' में, विवाद करते हैं कि कोई भी व्यक्तिगत कारण या कारण-सामग्री का संयोग, ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकता है । क्योंकि ज्ञान हमारे इच्छित विषय के प्रति, या अनिच्छित विषय से दूर, ले जाने में, स्वतंत्र और स्वतः निश्चित है, और किसी अर्थ में इन्द्रियों का कारण-व्यापार या इन्द्रियों का संयुक्त व्यापार या अन्य किन्ही तत्त्वों को, ज्ञान का कारण नहीं कह सकते । इस प्रकार, स्वतः ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए जो इच्छित विषय को प्राप्त कराता है ।[2]

प्रमाण के विषय में, विभिन्न मतों का सारा निचोड़ ज्ञान की उत्पत्ति में, इन्द्रियों का विषय या वस्तु और अन्य सहकारी परिस्थितियों के संबंध के प्रकार को निश्चित करने में ही रहा है । जैसाकि हमने देखा है, रामानुज के मतानुसार, ज्ञान, अनेक कारण तत्त्वों का कार्य माना गया है जिसमें, प्रत्यक्ष ज्ञान में, इन्द्रियाँ साक्षात् (अचिरात्) और नियत रूप से महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं । जैन और बौद्ध (विज्ञानवादी) (यद्यपि उनमें आपस में उत्कट मतभेद है) ज्ञान के आत्मनिर्धारण को मानने में एक मत हैं, जिसके अनुसार, ज्ञान, इन्द्रियाँ या बाह्य पदार्थों के व्यापार के 'जो ज्ञान के विषय बनते हैं और उससे प्रकाशित होते हैं, स्वतंत्र है ।

वेंकटनाथ का संशय निरूपण

वेंकटनाथ संशय को, विशिष्ट विरोधी गुणों के अग्रहण से, दो या अधिक विकल्पों (जो आपस में असंगत हैं) का दीखना कहते हैं और दोनों में कुछ सामान्य साधारण लक्षणों का अनुभव करना है, जैसेकि जब केवल ऊँची वस्तु ही दीखती है, वह फिर चाहे मनुष्य हो या ठूंठ हो, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने से एक साथ दोनों नहीं हो सकते । इसलिए, दोनों विकल्प, सर्वथा भिन्न नहीं होने चाहिए, और वस्तु को देखने से पता नहीं चलना चाहिए कि वह एक या दूसरी है, इसी से संशय उत्पन्न होता

---

[1] नान्यथा ह्यर्थ सद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते ।
ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणम् उपजायते ।। —श्लोक वार्तिक, शून्यवाद, 178 ।
जयंत यह भी कहते हैं, फलानुमेयो ज्ञान-व्यापारो ज्ञानादि-शब्द-वाच्यः प्रमाणम् ।
—न्याय मंजरी, पृ० 17 ।

[2] तस्मात् कारक–चक्रेण चलता जन्यते फलम् ।
न पुनश्चलनाद् अन्यो व्यापार उपलभ्यते ।। – वही, पृ० 20 ।

[3] ततोऽन्य-निरपेक्षतया स्वार्थ परिच्छिन्नं साधकतमत्वात् ज्ञानम् एव प्रमाणम् ।
—प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० 5 ।

है। वेंकटनाथ संशय के इस विश्लेषण को पूर्वगामी आचार्यों को लक्ष्य करके, न्यायपूर्ण सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, वे संशय को मन की उस स्थिति कहते हैं, जिसमें वह एक विकल्प से दूसरे की तरफ की दोलायमान होकर अनुभव करता है (दोलावेगवदत्र स्फुरण-क्रमः), क्योंकि एक ही वस्तु का एक ही समय में दोनों होना, असंगतिपूर्ण है। 'आत्मसिद्धि' के रचयिता ने, इसलिए, संशय को मन का दो या अधिक वस्तुओं से शोध क्रम में शिथिल संयोग कहा है (बहुभिर्युगपदद्दढ़-संयोगः)। संशय, सामान्य लक्षणों के ज्ञान से–जैसेकि, ऊँचाई से, प्रत्यक्ष वस्तु चाहे पुरुष हो या वृक्ष का ठूंठ हो या जो दृष्टिगोचर होता है या किसी अन्य प्रकार से जाना गया है, उससे सूचित भिन्न संभावनाएं और भिन्न विरोधी लक्षणों के पारस्परिक बलों के बीच, निश्चित न कर पाने से, उत्पन्न होता है (अग्रह्यमान बल तारतम्य विरुद्धा-नेकज्ञापकोपस्थानम् इह विप्रतिपत्तिः)। इसलिए, जब भी दो या अधिक संभाव्यताएं होती हैं, जिनमें से कोई भी और प्रमाणित किए बिना हटाई (निरास) नहीं जा सकती तो संशय उत्पन्न होता है।[1]

इस प्रकार, संशय, सच्चे और झूठे प्रत्यक्ष के बीच उत्पन्न होता है जब मैं दर्पण में मुंह देखता हूं, किन्तु यह नहीं जानता कि वह सचमुच मुंह है या नहीं जब तक कि मैं उसे स्पर्श कर निश्चित नहीं करता। इसी तरह, सिद्ध या असिद्ध अनुमान के बीच भी जब मैं धुएँ से यह अनुमान करता हूं कि पर्वत पर आग लगी है और भी तब भी प्रकाश न देखकर संशय करूं कि सचमुच आग लगी है या नहीं, शास्त्र वाक्यों में विरोध

---

[1] वात्स्यायन के भाष्य में (1.11.23) में संशय का न्याय-दृष्टि से यह विश्लेषण किया गया है। शक्य वस्तुओं के, जब सामान्य लक्षण देखे जाते हैं, किन्तु विशिष्ट गुणों को नहीं देखा जाता जिससे निश्चित रूप से यह है या वह है ऐसा कहा जा सकता है तब मन की, उस समय, एक या दूसरे के पक्ष में निश्चित करने की वेदना, संशय है। संशय मतों के द्वन्द्वात्मक स्थिति (विप्रतिपत्ति) से भी उत्पन्न होता है, जैसेकि, कोई कहते हैं कि आत्मा है, जब अन्य कहते हैं आत्मा नहीं है। संशय, उन निर्णयात्मक लक्षणों के ज्ञान से भी (विभाजन से उत्पन्न, विभागतत्व) उत्पन्न होता है, जो लक्षण एक वस्तु में (उदाहरणार्थ, शब्द) दूसरी वस्तु के साथ सामान्य रूप से है (उदाहरणार्थ, द्रव्य, गुण कर्म इत्यादि)। संशय, वस्तु के न होते भी, उसे निर्शिचत करने की इच्छा के कारण भ्रमपूर्वक देखने, से भी उत्पन्न होता है (मृग-तृष्णा) और संशय इस प्रकार भी उत्पन्न हो सकता है कि जब हम वस्तु (वहां है पर अप्रकट है) नहीं देखती है, हम उसके लक्षण जानने की इच्छा रखते हैं जिससे हमें यह निश्चय हो जाय कि वस्तु वहां थी या न थी। वेंकटनाथ का, इस विषय में, मुख्य योग यह है कि वे संशय का साधारण (सामान्य) विश्लेषण, विशिष्ट प्रकार के पांच संशय कहने के बजाय, एक मानसिक परिस्थिति के रूप में करते हैं। वेंकटनाथ यह स्पष्ट करते हैं कि संशय पांच प्रकार के ही हों ऐसा नहीं है, किन्तु अनेक प्रकार के हो सकते हैं, और इसमें सबों की स्वीकृति है कि संशय की स्थिति में मन एक विकल्प से दूसरे की तरफ, वस्तु, के विशिष्ट एवं निश्चयात्मक लक्षणों को देखे बिना, केवल कुछ सामान्य लक्षणों को देखने के कारण, भिन्न सम्भाव्य विकल्पों के पारस्परिक बलों के प्रति अनिश्चितता से, दोलायमान रहता है।

होने पर, 'जीव ब्रह्म से भिन्न कहा गया है,' और 'वह उससे एक रूप है,' तब सचमुच जीव ब्रह्म से भिन्न है या एक रूप है, आप्त वचनों के मतभेद होने पर, (उदाहरणार्थ, वैशेषिक दार्शनिक और उपनिषदों के सिद्धान्त) जैसे कि, इंद्रियां भौतिक हैं या अहंकार के कार्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच भी यही परिस्थिति है। (पीले सीप का भ्रमयुक्त देखना, उसे पीला देखकर अनुमान करना कि वह पीला नहीं हो सकता, क्योंकि वह सीप है तब संशय होता है कि सीप सफेद है या पीला इत्यादि)।

वेंकटनाथ, अपने 'प्रज्ञापरित्राण' में, वरदनारायण के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उन्होंने संशय का जो त्रिविभाजन, सामान्य लक्षणों के ज्ञान से, भिन्न विकल्पों के ज्ञान से, पंडित और आप्त लोगों में मतभेद से, किया है, वह न्याय-दृष्टि को अनुकरण करके किया है,[1] क्योंकि अन्त के दो विकल्प एक ही हैं। वेंकटनाथ, आगे संशय के विषय में, उस न्याय-मत का निरसन करते हैं जिसमें, वात्स्यायन, न्यायसूत्र 1. 11. 23 को समझाते हुए कहते हैं कि संशय विशेष लक्षित गुणों से भी उत्पन्न हो सकता है। इस तरह पृथ्वी में गंध का, विशिष्ट लक्षित गुण है जो न तो आत्मा जैसे नित्य द्रव्य में है और न जल जैसे अनित्य द्रव्यों में है, और स्वाभाविक रूप से यह संशय किया जा सकता है कि पृथ्वी नित्य द्रव्य से भिन्न होने से, अनित्य है, या अनित्य द्रव्यों से भिन्न होने के कारण नित्य है। वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यहाँ संशय, इस कारण नहीं होता कि पृथ्वी में यह विशेष या लक्षित गुण है। सीधा कारण यही है कि गंध का होना, नित्यता या अनित्यता निश्चित करने के लिए, बिलकुल असंगत है क्योंकि यह नित्य और अनित्य द्रव्य, दोनों में प्राप्त है। जब तक कि कोई विशेष लक्षित गुण, जो नित्य और अनित्य वस्तु मात्र में है, और वह पृथ्वी में भी पाया जाता है, जिसके बल पर यह निश्चित किया जा सके कि वह नित्य है या अनित्य है तब तक संशय बना रहेगा (व्यतिरेकि-निरूपण-विलम्बात्)। वेंकटनाथ, अनेकों उदाहरणों द्वारा, यह बताते हैं कि संशय, दो संभाव्य विकल्पों के प्रति अनिश्चय की वजह से, मन का दोलायमान होना है। वे 'इस वृक्ष का क्या नाम होगा ?' ऐसे प्रश्न को भी संशय मानते हैं और केवल अनिश्चय या ज्ञान की कमी को नहीं मानते (अनध्यवसाय)। ऐसी जिज्ञासा, युक्त रूप से, संशय स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि यह दो या दो से अधिक वैकल्पिक नामों के बारे में संशय उत्पन्न करता है, जो मन में दोलायमान हो रहे हैं और किसी एक या दूसरे नाम का निश्चय करने की इच्छा हो रही है। इस प्रकार यहां पर भी स्थिर निर्णय न ढूंढ पाने के कारण, दो विकल्पों के बीच अनिश्चय है (अवच्छेदकादर्शनात् अनवच्छिन्न-कोटिविशेषः)। ऐसी दोलायमान स्थिति का अवसान किसी एक संभाव्य विकल्प के पक्ष या विपक्ष में मानसिक क्रिया से हो सकता है जिसे ऊहा कहते हैं (किन्तु इसे अनुमान के सम्बन्ध में तर्क नामक ऊहा से पृथक् रखना चाहिए), जो संशय को दूर

---

1 साधारणा! कृतेर्द्रष्ट्याऽनेकाकार ग्रहात्तथा।
विपश्चितां विवादाच्च त्रिधा संशय इष्यते ॥

—प्रज्ञा परित्राण, में परिशुद्धि में उद्धृत, पृ० 62

कर अनुमान की ओर ले जाती है।[1] अनंतार्य, जो रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन लेखक हैं, संशय का और प्रकार से वर्णन करते हैं कि संशय मन की वह स्थिति है जिसमें सामने कुछ है इतना ही दीखता है, किन्तु उसका विशिष्ट गुण, रूप या लक्षण नहीं दिखाई देता (पुरोवृत्तिमात्रम् अगृहीत-विशेषणम् अनुभूयते)। केवल दो विकल्प ही (उदाहरणार्थ वृक्ष या ठूँठ और पुरुष) ही याद आते हैं। स्वार्थ सिद्धि के अनुसार हमारे सामने किसी का सदोष निरीक्षण उसके अनुरूप संस्कार जाग्रत करता है जो बारी से उन संस्कारों को जाग्रत करता है जिससे दो संभाव्य विकल्पएक ही स्मरण में युगपद् याद आ जाते हैं जिनमें से किसी को भी निश्चत नहीं किया जाता।[2] इस सम्बन्ध में, लघु और बहुमतवादियों के बीच यह मतभेद का विषय हैं, अल्मतवादी मानते है कि हमारे सामने किसी पदार्थ का अनुभव, संस्कारों को जाग्रत करता है जो बारी से दो भिन्न संस्कारों को जाग्रत करता है, जिससे एक स्मरण, दो विकल्पों से युक्त हो जाता है, और बहुमतवादी यह मानते हैं कि हमारे सामने उपस्थित पदार्थ अविलम्ब ही दो विकल्पों की स्मृति उत्पन्न करता है जो संशय अर्थ में लिया जाता है। पहला मत, दो स्मृतियों को एक ज्ञान से जोड़ता है और दोलायमान स्थिति को निर्णय का एक कर्म मानता है इसलिए वे ऐसा मानते हैं कि संशय में भी एक निर्णय की जगह दूसरा भूल से निवेश होता है, जो अन्यथा ख्याति के अनुसार है। पिछला मत, जो यह मानता है कि दो सम्भव विकल्पों की दो भिन्न स्मृतियां हैं, वह रामानुज को ज्ञान यथार्थवाद का मानने वाला समझता है या इस मत को कि जो कुछ भी जाना जाता है या अनुभव में आता है उसका एक उद्देश्य और सच्चा आधार है।

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम और संशय

वेंकटनाथ के अनुसार भ्रम, जब एक या अधिक असंगत (विरोधी) लक्षण किसी वस्तु में, उनकी असंगति या विरोध को जाने बिना, निर्दिष्ट किए जाते हैं, तब उत्पन्न होता है। यह सामान्यतः, दोषयुक्त प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित, मिथ्या मानसिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है, जैसे कि सीप को पीला अनुभव करना, एक बड़े चन्द्र को छोटा एवं दो देखना, एक ही वस्तु में विरोधी गुणों का अनेकान्त प्रतिपादन करना या शंकर मतवादियों का जगत् को सत् और असत् दोनों कहना है।[3] संशय, दूसरी ओर, तब उपस्थित होता है, जब अनुभूत लक्षण जो व्याचावर्तक और आपस में विरोधी दीखते हैं, दो या अधिक पदार्थों में स्वीकार किए जाने पर विरोध उत्पन्न नहीं करते हैं, और जो इसीलिए, दोनों एक ही समय स्वीकृत नहीं किए जा सकते। इसलिए, इस अवस्था को कुछ लोग मन की एक दशा से दूसरी दशा पर दोलायमान

---

1 ऊहस्त प्राय: पुरुषेणानेन भवितव्यम् इत्यादि रूप एककोटिसहचरितभूयोधर्मदर्शनाद् अनुभूतान्य-कोटिक: स एव।

—न्याय परिशुद्धि, पृ०68, चौखम्भा।

2 पुरोवृत्यनुभव-जनित-संस्कारेण कोटि द्वयोपस्थिति-हेतु-संस्काराभ्याम् च युगपदेक-स्मरणं संशय- स्थले स्वीक्रियतइति सर्वार्थसिद्वौ उक्तम्।

—अनंतार्य का ज्ञान यथार्थवाद, गव. ओ० हस्त० सं० 4884।

3 देखो न्यायपरिशद्धि, पृ० 54-55।

होना कहते हैं। निश्चय तब ही होता है जब मन एकार्थ हो, एक ही विषय पर दृढ़ निश्चय करता है, संशय बहुअर्थी दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है, जैसाकि आत्मसिद्धि में बताया है। मन की दिशा में दृढ़ता की अनुपस्थिति, मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण है जिससे विरोधी विकल्प को आवश्यक रूप से त्याग देना पड़ता है। भट्टारक गुरु, इसी विचार को 'तत्व रत्नाकर' में दोहराते हैं जब वे संशय को, किसी एक वस्तु के साथ दो विरोधी या विपरीत गुणों का सम्बन्ध जोड़ना कहते हैं। वेंकटनाथ के अनुसार संशय दो प्रकार के हैं, समान धर्म और विप्रतिपत्ति से, अर्थात् जब दो भिन्न सूचनाएँ दो या अधिक निष्पति को सूचित करती हों, और इन सूचनाओं का अपेक्षित बल निश्चित न किया जा सके। पहले उदाहरण में संशय की दशा अनिश्चितता है जो इस घटना के कारण है कि दो विपरीत विकल्प जिनका सापेक्ष बल, कुछ समान गुणों के कारण निश्चित नहीं किया जा सकता है वे स्वीकृति देने के लिए बाध्य करते हैं (समान धर्म-विप्रतिपत्तिम्याम्)। इस प्रकार, जब हम अपने सामने कुछ ऊँची वस्तु देखते हैं तब दो सम्भाव्यताएँ खड़ी हो सकती हैं-ऊँची वस्तु पुरुष या खम्भा हो सकता है- क्योंकि वे दोनों ही ऊँचे होते हैं। जबकि ज्ञान के भिन्न (प्रमाणों) उद्गमों का सापेक्ष बल, उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष, भ्रम, अनुमान शब्द इत्यादि भिन्न निष्कर्ष को ग्रहण करने में (अगृह्यमाणबल तारतम्य) निश्चित नहीं करा पाते और दोनों ही एक ही वस्तु या निष्कर्ष को स्वीकार करने पर बाध्य करते हैं तब संशय उत्पन्न होता है कि किसे स्वीकार किया जाय। इस प्रकार जब कोई दर्पण में अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखता है, जो स्पर्श द्वारा प्रमाणीकृत नहीं होता है तब प्रतिबिम्ब की सचाई के विषय में संशय उत्पन्न होता है। पुनः संशय पर्वत में अग्नि है इसके बारे में दो अनुमानों से उत्पन्न हो सकता है, धूम्र है, इसलिए अग्नि है और प्रकाश है इसलिए सम्भवतः अग्नि नहीं है। पुनः उपनिषदों में कुछ पाठ ऐसे हैं जो कुछ तो एकत्ववादी हैं और दूसरे द्वैतवादी हैं, इसलिए संशय हो सकता है कि कौनसा उपनिषद् का मत सच्चा है इत्यादि। संशय दो विरोधी विवादों से उत्पन्न हो सकता है जैसेकि परमाणुवादी और उपनिषदकारों के बीच इस विषय में कि इन्द्रियां भूत से उत्पन्न हुई हैं या अहंकार से। वह सामान्य जनों की दो विरोधी प्रतिज्ञाओं से भी उत्पन्न हो सकता है, प्रत्यक्ष (सीप को भ्रमयुक्त पीला देखना) और यह अनुमान कि सीप पीली नहीं हो सकती, आत्मा का ज्ञान कि वह देह-युक्त है और शास्त्र प्रमाण कि वह अणु है, भी संशय के विषय हैं।

संशय, जगत् अणुरूप है इस अनुमित ज्ञान और शास्त्रोक्त ज्ञान कि ब्रह्म ही जगत् का मूल आधार है, के बीच उत्पन्न हो सकता है। नैयायिक तो ऐसा भी सोचते हैं कि दो विरोधी पक्षों के भिन्न मतों के बारे में भी संशय उत्पन्न हो सकता है।[1] वेंकटनाथ बताते हैं कि 'न्याय-सूत्र' और प्रज्ञा परित्राण' दोनों का यह कहना कि संशय उत्पन्न

---

1 समानानेक धर्मोपपत्तो विप्रतिपत्तोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशय। न्यायसूत्र, 1.1.23

उद्योतकार इसका यह अर्थ करते हैं कि प्रत्येक संशय की अवस्था में तीन बातें होती हैं, जैसे|कि (1) सामान्य गुणों का ज्ञान (2) विशिष्ट गुणों का ज्ञान और (3) विरोधी प्रतिपादन तथा कोई भी विपरीत संभाव्यताओं के विषय में निश्चित करने की कमी के

करने में समान धर्म और अनेक धर्म का ज्ञान, स्वतन्त्र कारण है, गलत है।[1] अनेक धर्म से उत्पन्न संशय के बारे में यह निरूपण किया गया है कि जैसे गंध का लक्षण अनित्य पदार्थों में नहीं होता, अतःहम इसलिए, पृथ्वी को नित्य पदार्थों में सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं और पुनः यह गंध का लक्षण किसी भी अनित्य पदार्थों में नहीं पाया जाता इसलिए पृथ्वी को अनित्य पदार्थों में भी सम्मिलित करने को अग्रसर हो जाते हैं। किन्तु यहाँ संशय अनेक गुण के ज्ञान से नहीं होता, बल्कि मन के व्यतिरेकी गुण के निश्चय करने में विलम्ब होने से उत्पन्न होता है, जिससे वह एक को दो में से किसी एक में समाविष्ट न कर सके। गंधत्त्व स्वयं, अनित्यता या नित्यता की अनिवार्य उपाधि नहीं है। इसलिए नित्य या अनित्य द्रव्यों में समान गुणों के बारे में जिज्ञासा उत्पन्न होती है जो गंधमय पृथ्वी में उपस्थित हों जिससे वर्गीकरण किया जा सके। यहाँ संशय इस कारण नहीं है कि गंध पृथ्वी का विशेष गुण है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी में ऐसे गुण हैं जो नित्य पदार्थों में हैं और कुछ लक्षण ऐसे हैं जो अनित्य पदार्थों में हैं। जब यह भी कहा जाय कि गंधत्व, पृथ्वी को नित्य और अनित्य पदार्थों से विविक्त करता है और यही संशय का कारण है तो यह बताया जा सकता है कि संशय, इस व्यावर्तक गण के कारण नहीं है, किन्तु इस कारण है कि पृथ्वी में नित्य और अनित्य पदार्थों के समान गुण हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सोचते हैं कि विप्रतिपत्ति (अर्थात् विवादी पुरुषों में युक्ति-संगत प्रतिपादनों के कारण अनिश्चितता) की दशा से संशय को भी समान धर्म (सामन गुणों का अनुभव) के कारण है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि विरोधी प्रतिपादनों में आपस में यह साम्य है कि विवादी पुरुष उन सबों को सत्य मानते हैं। वेंकटनाथ इससे सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि यहाँ संशय केवल इस तथ्य के बल पर नहीं होता कि विवादी पुरुषों द्वारा विरोधी प्रतिपादन सत्य माने गए हैं, किन्तु इस कारण है कि हम इन प्रतिपादनों के समर्थन में विभिन्न तर्कों को याद करते हैं जब हम इन तर्कों की संभावनाओं की सापेक्ष शक्ति की प्रमाणता निश्चित नहीं कर पाते। इस प्रकार, विप्रतिपत्ति को संशय का स्वतंत्र उद्गम मानना पड़ेगा। संशय, सामान्यतः, दो संभाव्य विकल्पों के बीच उत्पन्न होता है, किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं, जिनमें दो संशय मिलकर

कारण विवाद करने वालों की अनिश्चित मानसिक स्थिति का ज्ञान और व्यावर्त्तक के गुण जानने की तीव्र इच्छा। उद्योतकार सोचते हैं कि, संशय ज्ञान की विप्रतिपत्ति के ही कारण उत्पन्न होता है ऐसा नहीं है किन्तु विवादी पुरुषों के मतों में विप्रतिपत्ति से भी होता है, यहां विप्रतिपत्ति का अर्थ वे वादी-विप्रतिपत्ति से लेते हैं। यह मत वरद विष्णु मिश्र भी 'प्रज्ञा परित्राण' में प्रतिपादन करते हैं जो निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है।

साधारणाकृतेर्दृष्टयानेकाकारग्रहात् तथा,
विपश्चितामं विवादाच्च त्रिधा संशय इष्यते ॥

—प्रज्ञा परित्राण, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ. 61। वेंकटनाथ इसे न्याय मत को अंध होकर स्वीकारना कहते हैं।

1 वात्स्यायन सादृश्य गुणों के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न संशय का उदाहरण देते हुए मनुष्य और खम्भे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसमें ऊँचाई इत्यादि सामान्य गुण दृष्टि-गोचर होते हैं किन्तु असाधारण गुण नहीं दीखते। विशेष गुणों के प्रत्यक्ष से संशय

एक हो जाते हैं और एक संकीर्ण संशय के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जबकि ऐसा जानते हैं कि दो में से एक व्यक्ति चोर है, किन्तु कौन, यह नहीं जानते, तब संशय हो सकता है 'यह व्यक्ति चोर है या वह'। ऐसी परिस्थिति में दो संशय उपस्थित हैं, 'यह पुरुष चोर है या नहीं हो सकता,' और 'वह पुरुष चोर है या नहीं हो सकता,' और ये दो एक होकर संकीर्ण रूप से प्रकट होते हैं (संशय द्वय समाहार)। संकीर्ण संशय में मानने की आवश्यकता तभी लुप्त हो सकती है जबकि हम चोर होने के गुण को दो में से एक पुरुष के विषय में शंका करते हैं। संशय स्वयं में भी स्वीकारात्मक पहलू उपस्थित करता है क्योंकि इसमें यह अर्थ निहित है कि अगर एक विकल्प का निरास किया जाता है तो दूसरा आवश्यक रूप से स्वीकृत हैं। किन्तु, जबकि यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि किसे निराश किया जाय, तो संशय उत्पन्न होता है। संशय और स्वीकार भाव में कोई भी विरोध नहीं है, क्योंकि संशय का यही अर्थ है कि शंकित गुण दो विकल्पों में से किसी एक में ही है।[1]

किन्तु ऐसी परिस्थितियां भी हो सकती हैं जिनमें दो विकल्प ऐसे हों कि शंकित गुण सचमुच दोनों में से किसी में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है, और यह उन परिस्थितियों से भिन्न है जिसमें ऐसे विकल्प हैं कि शंकित गुण का अगर एक से निषेध किया जाता है तो दूसरे में वस्तुतः स्वीकार्य है। इन दृष्टिकोणों से हमें संशय का द्विधा विभाजन प्राप्त होता है। इस प्रकार जब घास के ढेर से उठती हुई धुएँ की राशि, इस संशय का विषय होती है कि वह पर्वत है या हाथी, इस अवस्था में एक विकल्प का निषेध दूसरे की स्वीकृति नहीं बताता। अनिश्चितता (अनध्यवसाय, 'अर्थात् इस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है?') मन की स्वतंत्र दशा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसे भी सशय की स्थिति माना जा सकता है जिसमें वृक्ष के सम्बन्ध में अनेक संभाव्य नामों की अनिश्चताता है। ऐसा लगता है कि वेंकटनाथ उन मतों का संतोषकारक निरास नहीं कर सके हैं जो अनिश्चितता या जिज्ञासा को मन की एक पृथक् अवस्था मानते हैं। ऊहा (संभाव्यता के अर्थ में, जैसेकि 'यह पुरुष ही होना चाहिए') में दो विकल्पों के बीच दोलायमान स्थिति नहीं होती हैं, किन्तु मन का वह भाव होता, जिसमें, एक तरफ की संभाव्यता अधिक बलशाली होने के कारण उस विकल्प को अधिक निश्चित रूप से स्वीकार करने की स्थिति उत्पन्न करती है, इसलिए संशय के साथ वर्गीकरण नहीं किया जाता है तो उसे प्रत्यक्ष ही कहा जाता है और जब यह अनुमान द्वारा स्वीकृत होता है तो उसे अनुमान कहा जाता है।

वेंकटनाथ, रामानुज का अनुसरण करते हुए, तीन प्रमाणों को मानते हैं, जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। रामानुज गीता की टीका में, योगि प्रत्यक्ष का भी एक

का उदाहरण पृथ्वी का गंधवान होना देते हैं कि गंध द्रव्य का विशेष गुण नहीं है, न कर्म और गुण है, इससे संशय उत्पन्न होता है कि पृथ्वी को द्रव्य, कर्म या गुण कहा जाय। उसी प्रकार पृथ्वी में गंध का विशेष गुण होने से यह संशय उत्पन्न हो सकता है कि वह नित्य है या अनित्य क्योंकि किसी भी नित्य या अनित्य वस्तु में यह गुण नहीं पाया जाता।

1 सर्वस्मिन् अपि संशये धर्म्यांशादौ निर्णयस्य दुस्त्यजत्वात्। —न्याय परिशुद्धि, पृ. 66।

2 जात्यक्षमिन्द्रिय-लिंगागम-योगजो वस्तु निश्चयः। —गीता भाष्य, 15-15।

स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं, किन्तु वेंकटनाथ मानते हैं कि उसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट करना चाहिए और उसे पृथक् इसलिए माना है कि वह प्रत्यक्ष के विशिष्ट इसका पहलू को प्रकट करता है।[1] सच्ची स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए। स्वतन्त्र प्रमाण में वर्गीकरण नहीं करना चाहिए, किन्तु इसका समावेश प्रमाण के अन्तर्गत करना चाहिए जिसके कारण स्मृति होती है (उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष)।[2]

मेघनादारि, स्मृति को प्रमाण मानने के विषय में विवाद करते कहते हैं कि स्मृति प्रमाण की उस आवश्यक उपाधि को संतुष्ट करती है कि उसे प्रकट होने के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्मृति, सहज होने से, किसी अन्य पर प्रकट होने के लिए आश्रित नहीं है। यह निस्संदेह सत्य है कि स्मृति में विषय का प्रकट होना इस तथ्य पर आश्रित है कि उसे पहले अनुभव किया हो किन्तु स्मृति-व्यापार, बिना संदेह के सहज ही है।[3] किन्तु ऐसा तर्क किया जा सकता है कि स्मृति द्वारा प्रकट किए विषय, यदि उन्हें पहले अनुभूत नहीं किया गया हो तो उनका कभी भी स्फुरण नहीं हो सकता, स्मृति, जो कि अंशतः अपने व्यापार के सम्बन्ध में ही प्रमाण है वह विषय के स्फुरण में अप्रमाण है क्योंकि वह पूर्व अनुभव पर आश्रित है और इसलिए इसे सहज स्फुरण, जो कि प्रमाण के लिए आवश्यक उपाधि है, नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर मेघनादारि यह कह कर देते हैं कि यह समीक्षा ठीक नहीं है। क्योंकि सहज स्फुरण तत्क्षण स्मृत विषय का प्रकट होना ही है और इसलिए स्मृत विषय का प्रकट होना किसी अन्य उपाधि पर आश्रित नहीं है। स्मृति, इसलिए, अपने स्वयं को एवं विषय को प्रकट करने में प्रमाण है। इस सम्बन्ध में यह बताया जा सकता है कि ज्ञान का प्रकट होना आवश्यक रूप से, विषय के प्रकट होने का भी अर्थ रखता है। इसलिए, विषय का प्रकट होना, किसी अन्य उपाधि पर आश्रित है, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह ज्ञान प्रकट होने पर सहज ही प्रकाशित होता है।[4]

दर्शन के कई सम्प्रदायों में प्रमाण की व्याख्या में यह कहा गया है कि प्रमाण वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत ग्रहण किया हुआ विषय पहले कभी भी ज्ञात नहीं हुआ हो अर्थात् प्रमाण द्वारा ही सर्वप्रथम ज्ञात किया गया हो (अनधिगतार्थ गंतृ), क्योंकि दर्शन-शास्त्र की इन शाखाओं में स्मरण शक्ति को प्रमाण के स्तर से पृथक् माना गया है। मेघनादरि इस पर आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि जो उपाधि लगाई गई है वह यह

---

[1] विष्णुचित भी अपने 'प्रमेय संग्रह' में कहते हैं कि रामानुज तीन ही प्रमाण मानते थे।

[2] इस मत का भट्टारक गुरु अपने 'तत्त्व रत्नाकर' में समर्थन करते हैं। वरद विष्णु मिश्र, अपने 'प्रज्ञा परित्राण' में, दिव्य (ईश्वर की कृपा से साक्षात् ज्ञान) और स्वयं सिद्ध (स्वाभाविक सर्वज्ञता) को स्वतंत्र प्रमाण में समाविष्ट करते हैं किन्तु ये सब प्रत्यक्ष के प्रकार ही हैं।

[3] वस्स्फुरणे प्रमाणान्तर सापेक्षत्वाभावात् विषय स्फुरण एवहि स्मृतेः पूर्वानुभूत भावापेक्षा।
—मेघनादारि न्याय द्युमणि।

[4] ज्ञान-स्फुरित्वाद् विषयस्यापि स्फूर्तिः।
—वही।

स्पष्ट नहीं करती कि जिस विषय के ज्ञान का बहिष्कार किया गया है, यह ज्ञाता के सम्बन्ध में कहा गया है या किसी अन्य पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है। नित्य पदार्थों का जहाँ तक प्रश्न है जैसे कि आत्मा या आकाश, ये सब तो बहुतों ने अनुभव किए हैं तो भी प्रस्तुत ज्ञाता के प्रत्यक्ष या अनुमान की प्रमाणता अस्वीकार नहीं की जाती।[1] यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैध प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय ऐसा होना चाहिए कि वह प्रस्तुत ज्ञाता द्वारा पहले नहीं देखा गया हो, क्योंकि जब कोई एक विषय को, जो उसने पहले जाना था और अब देखता है, उसे ढूँढना चाहता है तो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रमाण्य हो जाएगा, और उसी तरह, जब आँख से देखा गया कोई विषय, फिर से स्पर्श द्वारा ज्ञात होता है तो स्पर्श-ज्ञान अप्रामाण्य होगा।[2] उत्तर जो बहुधा दिया जाता है, (उदाहरणार्थ, धर्मराजाध्वरंद्रे ने वेदान्त परिभाषा में) कि, जब ज्ञात विषय फिर से देखा जाता है, उसमें नये काल का धर्म होता है इसलिए उसे नया माना जा सकता है। मेघनादारि की इसके प्रति आलोचना यह है कि अगर काल का नया लक्षण विषय को नवीन बनाता है तो प्रत्येक विषय और स्मृति भी नए होंगे। इस प्रकार कोई भी ऐसी वस्तु न रहेगी जिसका इस उपाधि द्वारा निष्कासन नहीं किया जा सकता कि वस्तु नवीन होनी चाहिए (अनधिगतार्थ गंतृ)।

अन्य लोग भी जो मानते हैं कि किसी प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुमान की प्रमाणता, इस तथ्य पर आश्रित है कि वह अन्य इन्द्रियों के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित होती है, जैसेकि चाक्षुष प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा प्रमाणित होता है। ये दार्शनिक समर्थन या अविसंवादित्व को प्रमाण की वैधता की आवश्यक उपाधि मानते हैं। मेघनादरि इसकी आलोचना करते हुए बताते हैं कि इस मत के अनुसार प्रत्येक प्रमाण की प्रमाणता को किसी अन्य के आश्रित रहना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था स्थिति उत्पन्न होगी।[3] इसके अतिरिक्त बौद्धों के सविकल्प ज्ञान को, जो अविसंवादी है, उपरोक्त मत से प्रमाण मानना ही पड़ेगा।

वेंकटनाथ से विपरीत, मेघनादारि यह मानते हैं कि रामानुज पाँच प्रमाण को मानते थे, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति।

वेंकटनाथ प्रत्यक्ष की व्याख्या 'साक्षात्कारि प्रमा' करते हैं। यह विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (जाति रूप) या विशिष्ट उपाधि रूप है। यह स्वरूप से अवर्णनीय है और विशिष्ट स्व चैतन्य रूपी प्रत्यक्ष से अनुभव किया जाता है (ज्ञान-स्वभाव-विशेष-स्वात्म-साक्षिकः)। इसे निषेधात्मक रूप से ऐसा ज्ञान कहा जा सकता है जो अन्य ज्ञान से

---

1 स्थायित्वेनाभिमताकाशादेः पूर्वैश्वगतत्वसम्भवात् तद्विषयानुमानादेरप्रामाण्यप्रसंगात्। —वही।

2 स्वविदितस्यार्थस्य सत्वानेषणे प्रत्यक्षादेरप्रामाण्य-प्रसंगाच्चक्षुषा दृष्ट-विषये द्रव्ये स्पर्शनस्याप्रामाण्य-प्रसंगात्। —मेघनादारि की 'नयद्युमणि'।

3 प्रमाणान्तरस्थाप्यविसंवादार्थं प्रमाणान्तरान्वेषणेनानवस्था। —वही।

उत्पन्न नहीं होता है जैसाकि अनुमान, शब्द या स्मृति में होता है।[1] वरदविष्णु, अपने 'मान याथात्म्य निर्णय' में प्रत्यक्ष को विशद और सजीव कहकर व्याख्या करते हैं (प्रमाया आपरोक्ष्यं नाम विशदावभासत्वम्) विशदता और सजीवता से उनका अर्थ, पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणों का प्रकाशन से है, जो शब्द और अनुमान में दीखने वाले जाति-लक्षणों से भिन्न हैं।

मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं (अर्थ परिच्छेदक साक्षाज् ज्ञानम्)। यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणों पर आश्रित नहीं है। यही इसका साक्षात्व है। यह निस्संदेह, सत्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, इन्द्रियों के व्यापार पर आश्रित है किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ सामान्य कारण हैं, जो अनुमान में भी हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए साधन रूप से क्रियाशील हैं।[2] अनुमान से भिन्न, प्रत्यक्ष ज्ञान का साक्षात्व, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान अन्य प्रमाणों के माध्यम से उत्पन्न होता है।[3] मेघनादारि वरद विष्णु की 'प्रत्यक्ष विशदावभास है' इस परिभाषा का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि अवभासत्व सापेक्ष पद है, और अनुमान में भी भिन्न कोटि का अवभासत्व होता है। बुद्धि की स्पष्टता (धी-स्फुटता) भी प्रत्यक्ष की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक धी स्फुट ही है जहाँ तक उनका ज्ञान होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा ज्ञान के रूप में की जाय तो भी आक्षेपयुक्त है, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह केवल निर्विकल्प ज्ञान को ही उपयुक्त होगी, जिसमें इन्द्रियों के व्यापार से विषय के विशिष्ट लक्षण अंकित हुए हैं, परन्तु जो सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आगे नहीं लाए जा सके हैं।

वेंकटनाथ और मेघनादारि दोनों यह मानते हैं कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा कभी भी शुद्ध विषयगत द्रव्य, बिना लक्षण या सामान्य धर्मों के, अनुभव नहीं किया जाता। रामानुज का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि विषय, हमेशा जब भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तब पहले ही क्षण में कुछ लक्षणों सहित ग्रहण किए जाते हैं, नहीं तो यह समझाना कठिन हो जाता है कि वे उत्तर क्षणों में किस प्रकार विभिन्न लक्षणों सहित ग्रहण किए जाते हैं। अगर वे पहले क्षणों में ग्रहण नहीं किए जाते तो वे पूर्ण रूप से

---

1 ज्ञानकरणज-ज्ञान-स्मृति रहिता मतिरपरोक्षम्। न्याय परिशुद्धि। वेंकटनाथ पृ० 70-71। वेंकटनाथ ने इस मत का समर्थन 'प्रभेय संग्रह' और 'तत्त्व रत्नाकर' में भी किया है।

2 इन्द्रियाणां सत्ता-कारणत्वेन करणत्वाभावात्। —'नयद्युमणि'।

3 साक्षात्व शब्द, कोई, स्वरूप धी (स्वयं की जाग्रति या ज्ञान) से समझाते हैं। किन्तु यह अर्थ आक्षेप-पूर्ण है, क्योंकि अनुमित ज्ञान भी, विषय के कुछ लक्षण प्रकट करता है। अगर स्वरूप का अर्थ यह लिया जाय, 'विषय के स्वरूप से अन्यथा कुछ नहीं' तो यह परिभाषा प्रत्यक्ष को भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल विषय को ही प्रकट नहीं करता किन्तु अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध को भी प्रकट करता है और इस प्रकार यह विषय जैसा भी है इस मर्यादा को अतिक्रमण करता है।

सम्बन्ध-सहित, उत्तर क्षणों में कभी भी नही जाने जाएँगे। इसलिए, यह मानना ही पड़ता है कि वे सब, पहले ही क्षणों में जाने गए हैं किन्तु वे पहले क्षण के छोटे फैलाव में पूर्णता से अपने को प्रकट न कर सके। रामानुज के 'वेदार्थ संग्रह' में, सारे प्रत्यक्षों की निर्विकल्पता, पहले क्षण के अनुभव में, सामान्य धर्मों के ग्रहण द्वारा उद्धृत की गई है। इससे कुछ टीकाकार ऐसा समझने लगे कि प्रत्यक्ष के पहले क्षण में, विशिष्ट धर्मों के ज्ञान का ग्रहण होना, केवल सामान्य धर्मों को ही लक्ष्य इसलिए करता है कि इसमें एक ही वेग में अनेक पदार्थों का ग्रहण करना होता है जो पहले ही क्षण से प्रारम्भ होना चाहिए जिससे वे उत्तर क्षण में पूर्णतया प्रकट हो सकें। किन्तु, मेघनादारि मानते हैं कि रूप इत्यादि अन्य लक्षणों के भी ग्रहण में जबकि विषय निकट या दूर हो, तब विशिष्ट भेद होता है। इसमें, एक ही वर्ण के प्रत्यक्षीकरण में वर्ण की विभिन्न आभाओं को ग्रहण किया जाता है और इसलिए वे ही प्रत्यक्ष के पहले क्षण में उन्हीं के समान कारणों से होते हैं जिनके द्वारा पहले क्षण में, सामान्य धर्मों का ग्रहण होना स्वीकार किया गया है।

ऐसा आक्षेप किया गया है कि समस्त ज्ञान का सविकल्पत्व या विशिष्टत्व न बुद्धिगम्य है और न परिभाष्य है। दो ही तत्त्व की सत्ता है, वह जिसके साथ सम्बन्ध है और सम्बन्ध स्वयं। सम्बन्धत्व उनसे अभिन्न एवं भिन्न दोनों नहीं हो सकता, क्योंकि हम, जिससे सम्बद्ध हैं और सम्बन्ध इससे भिन्न सम्बन्धत्व को एक पदार्थ के रूप में नहीं जानते। सम्बन्धत्व एक ही ज्ञान-व्यापार में दो तत्त्वों का प्रकट होना या दो ज्ञान-व्यापार में दो तत्त्वों का प्रकट होना या दो ज्ञान-व्यापार का बिना अवकाश के दीखना भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक वास्तविक निर्दिष्ट उदाहरण में, जैसेकि 'घड़ा और बर्तन' के ज्ञान में यद्यपि, बिना अवकाश के दो अनुभूतियाँ उपस्थित हुई हैं तो भी उन्होंने अपनी विलक्षण पृथकता नहीं खोई है। इस प्रकार सम्बन्धत्व के प्रत्यय को जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से भिन्न जाना जा सके, ऐसा कोई रास्ता नहीं है।

मेघनादारि इसका उत्तर देते हैं कि 'एक सफेद गाय लाओ' ऐसे वाक्य में, क्रिया, विशिष्ट प्राणी 'सफेद गाय' को लक्ष्य करती है, 'सफेदपन' और 'गाय' के भिन्न तत्त्वों को नहीं करती। जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध, दोनों का सविकल्प ज्ञान में समावेश होता है जो 'सफेद गाय' है। स्पर्शात्मक प्रत्यक्ष में, जैसे कि 'छड़ी वाला पुरुष' स्पर्श सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। सविकल्प (विशिष्ट) वस्तु का प्रत्यय, जिससे सम्बन्ध है और सम्बन्ध से, भिन्न नहीं है, किन्तु, उसे अनुमित करता है। इस प्रकार, सम्बन्ध और जिससे सम्बन्ध है मिलकर निर्दिष्ट वस्तु का ज्ञान कराते हैं।[1] सविकल्पत्व का संयोजक गुण, गौण वस्तु नहीं है किन्तु इस तथ्य को प्रकट करता है कि जगत् में सारी वस्तुएँ सम्बन्ध द्वारा विशिष्ट होने के लिए, एक दूसरे से अपेक्षित हैं और वस्तुओं की यह सापेक्षता उनकी एकता है जिससे वे सविकल्प ज्ञान में सम्बद्ध रूप से दीखती हैं।[2] पदार्थों की यह सापेक्षता से ही उनका अनुभव से सम्बन्धित ज्ञान उत्पन्न होता है

---

1 न च प्रत्येकं विशिष्टता-पातः मिलितानामे व विशिष्टत्वात्। —नयद्युमणि।

2 एक बुद्धि विषयताहार्णां पदार्थानाम् अन्योन्य सापेक्ष-स्वरूपत्वं मिलितत्वम्। —वही।

जो उससे युगपद है, इन दोनों के बीच न कोई माध्यम है, न विचारों की रोक है।[1] वह सामान्य अनुभव है कि हमारे सारे प्रत्यक्ष, विचार एवं प्रत्यय सर्वदा सम्बन्धित और संयुक्त दीखते हैं। भाषाबद्ध सारी अभिव्यक्तियां, हमेशा वाणी का आशय, सम्बन्धित और संयुक्त रूप से प्रकट करती हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान अशक्य हो जाता है।

निर्विकल्प ज्ञान में, विषय के कुछ ही सारभूत लक्षण देखे जाते हैं और अन्य कई लक्षणों का विस्तार विशदता से नहीं होता।[2] सविकल्प ज्ञान में, दूसरी ओर, अनेक गुण और लक्षणों, तथा साथ ही साथ उन विशिष्ट गणों का ज्ञान होता है जिससे अन्य पदार्थों से उसका भेद किया जाता है।[3]

चाक्षुष प्रत्यक्ष के सादृश्य से अन्य इन्द्रियों का प्रत्यक्ष समझाया जा सकता है। नैयायिक द्वारा माने हुए समवाय सम्बन्ध को रामानुज, इस कारण नहीं मानते कि उसकी व्याख्या करना या उसे एक पृथक् पदार्थ मानना कठिन है। विभिन्न सम्बन्ध, जैसाकि आधार और आधेय, संसर्ग इत्यादि, पदार्थ से सम्बन्धित होने के लिए परस्पर विभिन्न दिशाओं में हो रही परीक्षा के अनुसार अनुभव में प्रकट होते हैं, और ये इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होने वाले भिन्न सम्बन्धों के स्वरूप को निश्चित करते हैं।[4]

---

1 विशिष्टत्व-धी-विषयत्वे च तेषां सापेक्षत्वं च यौगपद्यात् तत्र विरामाप्रतीतेः सापेक्षता सिद्धा च। —वही।

2 निर्विकल्पकम् च घटादेरनुल्लेखितानुवृत्ति-धर्मघटत्वादि-कतिपय-विशेषण-विशिष्टतयार्थावच्छेदकम् ज्ञानम्। —वही।

3 उल्लेखितानुवृत्याद्धिर्मकानेक विशेषण विशिष्टतया साक्षाद् वस्तु व्यवच्छेदकं ज्ञानम् सविकल्पकम्। —वही।

वेंकटनाथ तो, सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान की इस प्रकार परिभाषा देते हैं, 'स प्रत्ययवमर्श-प्रत्यक्षं सविकल्पकम्' और 'तद्रहितंप्रत्यक्ष निर्विकल्पकम्'। —न्यायपरिशुद्धि पृ० 77।

4 अतस्तत्सम्बन्धाद् वस्तुत उपाधितो वाधाराधेय भाव-वस्त्वन्तरमेव। एवं च कल्पना लाघवम्। सचगुणादि भेदादनेकः नचतत्सम्बन्धस्समबंधनो स्सम्बन्धान्तर कल्पनायाम् अनवस्था। अन्योन्य सापेक्ष-स्वरूपत्वरूपोपाधि-व्यतिरेकणार्थान्तराभावात्। —नयद्युमणि हस्त०।

निर्विकल्प ज्ञान में कुछ भाव-लक्षणों का समावेश होता है तथा वे इन्द्रियों के व्यापार से प्रत्यय के प्रथम क्षण में संस्कारों को जाग्रत करते हैं। सविकल्प ज्ञान में स्मृति के व्यापार से होने वाले भेदों के ज्ञान का समावेश होता है। इनकी, विष्णुचित्त, इस प्रकार व्याख्या करते हैं। संस्कारोद्बोध सहकृतेन्द्रिव्य जन्यं ज्ञानं सविकल्पकम् इति एक जातीयेषु प्रथमपिण्ड ग्रहणम् द्वितीयादि-पिण्ड-ग्रहणेषु प्रथमाक्षसन्निपातजम् ज्ञानम् निर्विकल्पम् इति।

और तत्व रत्नाकर में इस प्रकार है—

विशेषणानां स्वयोग व्यावृत्तिरविकल्पके,
सविकल्पेऽन्य योगस्य व्यावृत्तिः संज्ञिना तथा। —न्याय परिशुद्धि, पृ० 82।

वेंकटनाथ भी बताते हैं कि वही सामग्री जो द्रव्य और गुण का भान कराती है, सम्बन्ध का भी भान कराती है, क्योंकि अगर सम्बन्ध प्रत्यक्ष के प्रथम क्षण में ग्रहण नहीं होता है तो, वह दूसरे क्षण में, शून्य में से, नहीं उत्पन्न हो सकता। सम्बन्धत्व पदार्थों का लक्षण होने से, पदार्थों की जानकारी का अर्थ, आवश्यक रूप से, सम्बन्ध की भी जानकारी से है।

रामानुज सम्प्रदाय के उत्तरकालीन अनुयायियों द्वारा किए गए स्पष्टीकरण की दृष्टि से प्रत्यक्ष

रामानुज और उनके अनुयायी केवल तीन ही प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। जिस ज्ञान का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष है (साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि वह ज्ञान, अन्य ज्ञान के माध्यम से नहीं है (ज्ञानाकरणकज्ञानत्वम्)। प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है ईश्वर-प्रत्यक्ष, योगि-प्रत्यक्ष और साधारण मनुष्यों का प्रत्यक्ष। योगियों के प्रत्यक्ष में मानस प्रत्यक्ष और आर्ष प्रत्यक्ष का समावेश होता है, और योगि-प्रत्यक्ष योग साधना द्वारा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है। साधारण प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा है, सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निश्चित ज्ञान है जिसमें विषय को पहले अनुभव किए हुए देश और काल के सम्बन्ध का समावेश होता है। इस प्रकार जब हम घड़ा देखते हैं, हम यह सोचते हैं कि हमने इसे और जगह और दूसरे समय देखा था, और घड़े का अन्य समय और जगह का यह उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित स्मृतियाँ जो इस उल्लेख के अन्तर्गत हैं, वह ऐसे प्रत्यक्ष के निश्चित लक्षण का निर्माण करती हैं, जिसकी वजह से वह सविकल्प कहलाता है।[1] प्रत्यक्ष, जो पदार्थ के विशिष्ट गुण को उससे सम्बन्धित स्मृतियों का त्वरित उल्लेख न करते हुए—घड़े को घड़ा रूप में प्रकट करता है उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं।[2] निर्विकल्प ज्ञान की यह परिभाषा रामानुज के निर्विकल्प ज्ञान के मत को, भारतीय दर्शन में माने गए अन्य मतों से पृथक् करती है।

अब यह स्पष्ट है कि रामानुज दर्शन के अनुसार सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान दोनों, स्वरूप से गुण-युक्त एवं विविक्त हैं क्योंकि वे पदार्थों के गुणों (विशिष्टता) को लक्ष्य करते हैं (उभयविधम् अपि एतद् विशिष्ट-विषयम् एव)।[3] वेंकटनाथ कहते हैं कि नैयायिकों के मतानुसार, प्रथम क्षण में निर्विकल्प या अविशिष्ट ज्ञान की सत्ता का कोई भी प्रमाण या साक्ष्य नहीं है, क्योंकि हमारा अनुभव इससे विपरीत है और बालकों का भी ज्ञान, एवं गूंगे और निम्न जाति के पशुओं का ज्ञान, नाम और प्रत्यय-रहित होता है, तो भी वह किसी प्रकार सविकल्प है क्योंकि पदार्थ उनके लिए, उनकी

---

1 तत्रानुवृत्ति विषयकं ज्ञानं सविकल्पकम्, अनुवृत्तिश्च संस्थानरुपजात्यादे रनेक व्यक्ति वृत्तिता, साच कालतो देशतश्च भवति।

—रामानुज सिद्धान्त संग्रह हस्त० सं० 4988।

2 एकस्यां व्यक्तौ घटत्व प्रकारकमयं घट इति यज्ज्ञानं जन्यते तन्निर्विकल्पकम्। —वही।

3 न्याय परिशुद्धि। पृ० 77।

रुचि-अरुचि तथा उनकी इच्छा या भय का संकेत रूप है।[1] क्योंकि अगर इन पशुओं का तथाकथित निर्विकल्प ज्ञान सचमुच सर्वथा निर्विशिष्ट हो तो वे किस प्रकार अनुकूल रुचिकर एवं द्वेषात्मक व्यवहार कर सकते हैं? नैयायिक कहते हैं कि समस्त द्रव्यगुण-युक्त ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान के पहले, गुणों के मौलिक तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु यह उसी हद तक ही ठीक है, जैसाकि प्राप्त किया हुआ प्रत्यक्ष। मैं चन्दन के एक टुकड़े को सुगन्धित देखता हूँ, सुगन्ध देखी नहीं जा सकती, किन्तु चन्दन के रूप इत्यादि का देखना और उसकी ऐसी प्रत्यभिज्ञा, सुगन्ध के संस्कारों को जाग्रत करती है जो दर्शन से तत्काल सम्बन्धित हो जाती है। यहाँ पहले, चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा चन्दन के गुण का ज्ञान होना आवश्यक है, जो घ्राणेन्द्रिय से सम्बंधित सुगन्ध के संस्कारों को जाग्रत करता है और अन्त में आँख से देखे गुणों से सम्बन्ध जोड़ता है। किन्तु द्रव्य गुण के ज्ञान में, सम्मिश्रण (मिश्रज्ञान) को बनाने वाले तत्त्वों के इस क्रम को मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि गुण का ज्ञान कराने वाले तत्त्व और वे जो द्रव्य का ज्ञान कराते हैं, इन्द्रियों को एक साथ ही दिए जाते हैं और वे दोनों एक ही हैं (एक सामग्री वैद्यविशेषणेषु तन्निरपेक्षत्वात्)।[2] विवाद का मूल विषय यह है कि सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञान होता है या नहीं। अगर सम्बन्ध को द्रव्य और गुण का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है तो, सचमुच, दर्शन के प्रथम क्षण में ही ज्ञान, द्रव्य और गुण के साथ ही, आवश्यक रूप से देखा जाना चाहिए। अगर गुण का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध है तो यह, एक पदार्थ होने के कारण, चक्षु द्वारा ग्रहण होना शक्य है और क्योंकि यह द्रव्य और गुण को जोड़ने वाली मुख्य वस्तु है, तो इस तथ्य से, कि वह द्रव्य और गुण के साथ आँख द्वारा गृहीत है, हमें विश्वास हो जाना चाहिए कि द्रव्य और गुण का सम्बन्ध भी नेत्र द्वारा ग्रहण होता है। क्योंकि अगर यह माना जाता है कि समवाय का ग्रहण होता है तो वह, स्वयं ही, गुण द्रव्य को विशिष्ट करता है। इस प्रकार के द्रव्य गुण के ग्रहण के अपवाद को हटा देता है। गुण और द्रव्य की तरह, सम्बन्ध जो उन्हें जोड़ता है वह भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है (धर्मवद् धर्मीवच्च तत्सम्बन्ध-स्याषग्रैन्द्रियकत्वाविशेषेण ग्रहणसम्भवात्)।[3] क्योंकि, अगर सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा, वस्तु और विषय के ज्ञान होने के समय, ग्रहण नहीं किया जा सकता तो वह दूसरे समय किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया जा सकता।

सविकल्प ज्ञान में, संस्कार, चक्षु और अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में जाग्रत किए

---

1 बाल मूक तिर्यगादि ज्ञानानां अन्न कंटक वह्निव्याघ्रादि शब्द वैशिष्ट्या नव ग्राहित्वेऽपि इष्टद्वैष्टता वच्छेदकान्नत्वा कंटकत्वादि प्रकारावगाहित्वम् अस्ति।

—न्याय सार, न्याय परिशुद्धि पर टीका, श्री निवास, पृ० 78।

2 न्याय परिशुद्धि, पृ० 78। सुरभि चन्दनम् सोऽयम् घट इत्यादिज्ञानेषु सोरभतांशे चक्षुषः स्वविजातीय-संस्कारजन्यायाः स्मृतेर्विशेषण-प्रत्यासत्तितया अपेक्षणेऽपि चक्षुर्मात्रजन्ये घटज्ञाने अपेक्षाया अभावात्। —न्यायसार पृ० 78।

3 वही. पृ० 79।

जाते हैं, और वे, इन्द्रियों द्वारा दिए हुए पदार्थों के विश्लेषण और एकीकरण, समीकरण और पृथक्करण की अन्तर-क्रिया उत्पन्न करने में, और सविकल्प ज्ञान में होने वाले समान प्रत्ययों के पारस्परिक तुलना करने में सहयोग देते हैं। इसे स्मृति से भिन्न करने वाला तथ्य यह है कि स्मृति, चित्त के केवल संस्कार जाग्रत होने से उत्पन्न होती है, जबकि निर्विकल्प ज्ञान, इन्द्रिय-व्यापार के साथ कार्य करते हुए संस्कार से उत्पन्न होता है।[1] सविकल्प ज्ञान में, जाग्रत किए संस्कार, इन्द्रियों के साथ सहकार करते हैं, तो भी सविकल्प, योग्य रीति से, एक खरा प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह बताया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय में भेद को एक स्वतन्त्र एवं पृथक् तत्त्व नहीं माना है किन्तु वह जिन दो वस्तुओं के बीच भेद से प्रकट है, केवल उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही गृहीत होता है। यह ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिसमें एक को स्वीकार करना दूसरे के स्वीकार को वर्जित करता है, भेद का यही सार है।[2]

वेंकटनाथ, शंकर मतानुयायियों द्वारा मान्य उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष का बलपूर्वक निरास करते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित होते हुए भी ज्ञान, शास्त्र (नियम) निर्देश के रूप में, श्रवणेंद्रिय के बल पर किया जाता है। इस प्रकार, जब दसों में से प्रत्येक पुरुष, अपने को गणना से दूर रखकर दस के बजाय नौ पुरुषों की गणना करता था, तब बाहर से दूसरे प्रेक्षक ने गणना करने वाले को यह बताया कि वह स्वयं दसवां पुरुष है। शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि यह प्रतिज्ञा या वाक्य "तू दसवां है" यह साक्षात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष का दृष्टान्त है। किन्तु वेंकटनाथ यह बताते हैं कि यद्यपि 'तू' इस शब्द से संकेत की हुई वस्तु साक्षात् प्रत्यक्ष होती है, तो भी वाक्य स्वयं साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, किन्तु सुनाई देने पर उस पर विचार किया जा सकता है, क्योंकि, अगर जो कुछ भी सुना है वह प्रत्यक्ष किया जा सकता है, तो हम ऐसे तर्क वाक्यों के अर्थ, तुम धर्मवान् हो, (धर्मवान्त्वम्), को भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं या साक्षात् परिचय कर सकते हैं। किसी तर्क वाक्य के अर्थ को ग्रहण किया है इससे यह अर्थ नहीं होता कि वह साक्षात् प्रत्यक्ष किया है। यह मत, शंकर के मत का किस प्रकार निरास करता है यह सरलता से समझा जा सकता है, जिसके अनुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ का अनुभव, प्रत्यक्ष द्वारा, आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का साक्षात् परिचय है।[3]

---

1 स्मृताविव सविकल्पके संस्कारस्य न स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् येन प्रत्यक्षत्वं न स्यात् किन्तु इन्द्रिय-सहकारितया तथा चेन्द्रिय-जन्यत्वेन प्रत्यक्षम् एव सविकल्पकम्।

—न्याय सार, पृ० 80।

2 यद् ग्रहो यत्र यदारोप-विरोधी स हि तस्य तस्मात् भेदः।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० 86।

3 अतएव तत्त्वमसि आदि शब्दः स्वविषय-गोचर-प्रत्यक्ष-ज्ञान जनकः इत्याद्यनुमानानि निरस्तानि।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० 89।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चयात्मक ज्ञान से है जिसमें समान वस्तुओं की स्मृति का समावेश नहीं है और सविकल्प प्रत्यक्ष से उस निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ है जिसमें पूर्वकालीन स्मृति के सहचार का समावेश है (अनुवृत्तिविषयक ज्ञान)। यह अनुवृत्ति या भूतकालीन स्मृति को लक्ष करना, केवल निश्चयात्मक ज्ञान का अर्थ नहीं प्रतिपादित करता (उदाहरणार्थ, घट का घटत्व धर्मयुक्त ज्ञान-घटत्व प्रकारकम् अयं घटः) किन्तु पूर्व में अनुभव किए अन्य समान पदार्थों के प्रति ज्ञानपूर्वक लक्ष करने से है। सविकल्प प्रत्यक्ष में, द्रव्य और सम्बन्धत्व और सम्बन्धित गुणों के संकीर्ण (मिश्रण) बनाने वाले विशिष्ट गुणों का नेत्रों द्वारा, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं है कि इसमें किसी सामान्य या जातिवाचक प्रत्यय का ग्रहण होता है जिसमें, ऐसे समान प्रत्यय या पदार्थों का सम्बन्ध भी समाविष्ट है। इस प्रकार, सविकल्प और निर्विकल्प में समान रूप से नेत्र इन्द्रियां व्यापार करती हैं, किन्तु पहले में, पहले अनुभव किए अन्य समान पदार्थों को, ज्ञानपूर्वक लक्ष्य किया जाता है।

सर्वव्यापी या जातिवाचक प्रत्यय को, जो सविकल्प प्रत्यक्ष में ग्रहण होते हैं, स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें केवल समान धर्मों का समीकरण मानना चाहिए। इस प्रकार, हम समान धर्म वाली, दो या अधिक गायों का उल्लेख करते हैं, ये समान धर्म जो प्रत्येक गाय में पाए जाते हैं जिनके कारण ही हम उन पशुओं को गाय कहते हैं। इसलिए, इन सामान्य धर्मों से अलग जो कि प्रत्येक पशु में है, और किसी अन्य पदार्थ में नहीं है इसे जाति या सर्वव्यापी प्रत्यय कहा जा सकता है। सामान्यता (अनुवृत्ति) सादृश्यता से है (सुसदृशत्वम् एव गोत्वादीनाम् अनुवृत्तिः)।[1] सदृश्य पुनः वह असाधारण कारण है जो उन दो वस्तुओं में पृथक् रूप से रहता है और जो आपस में एक दूसरे को निश्चित करता है और जिससे हम उन्हें समान कह सकते हैं। सामान्य नाम का उपयोग दो वस्तुओं को सदृश कहने का संक्षिप्त मार्ग है। यह सादृश्य दो प्रकार का है, धर्म-सादृश्य, जैसाकि द्रव्यों में, और स्वरूप सादृश्य, जैसाकि गुण इत्यादि अद्रव्य पदार्थों में होता है।[2]

प्रत्यक्ष में, दो प्रकार से इन्द्रिय-संसर्ग माने गए हैं, विषय या अर्थ से सम्बन्ध (संयोग) और अर्थ के गुणों से इन्द्रिय संसर्ग (संयुक्ताश्रय)। इस प्रकार घड़े से पहले प्रकार का सम्बन्ध है और उसके गुणों से दूसरे प्रकार का संसर्ग है।[3]

---

1 अयं साष्णादीमानययपि साष्णादीमानिति साष्णादिरेव अनुवृत्त व्यवहार विषयो दृश्यते।
—रामानुज सिद्धान्त संग्रह। हस्त० सं 4988।

2 हस्त० सं० 4988।

3 दूरस्थ विषयों से नेत्र और श्रवणेन्द्रिय का सन्निकर्ष एक रहस्यमय व्यापार वृत्ति द्वारा हो सकता है। ऐसा माना गया है कि इन्द्रियाँ मानों उनके विषय द्वारा लम्बी हो जाती है (आप्यायमान)।
—वही।

वेंकटनाथ का अनुमान पर विवेचन

रामानुज मतानुसार, अनुमान बहुत अंश में नैयायिक मत जैसा ही है। अनुमान परामर्श का सीधा परिणाम है, अथवा तर्क-सम्मत ज्ञान की स्थिति है, अर्थात् शंका और संदेह-रहित विशुद्ध विषय है जो अनुभव-सम्मत है।[1] अनुमान एक प्रक्रिया है जिसमें एक सामान्य (सर्वव्यापी) वाक्य से, जिसमें समस्त विशेष उदाहरणों का समावेश होता है, हम एक विशेष उदाहरण को स्वीकार कर सकते हैं।[2] अनुमान, इसलिए, उन्हीं उदाहरणों के विषय में होना चाहिए जिनके बारे में सर्वव्यापी वाक्य, गोचर पदार्थों से उत्पन्न अनुभव के आधार पर सामान्य वाक्य प्रतिपादन किया गया है और वह अतींद्रिय अतीत विषय के बारे में नहीं है—इसी कारण से रामानुज और उनके अनुयायी, ईश्वर की सत्ता को अनुमित नहीं कर सकते, क्योंकि ईश्वर अतींद्रिय है। (अतएव च वयम् अत्यंतातींद्रिय-वस्त्वनुमानम् नेच्छाम:)।[3]

जैसाकि सम्प्रदाय के मत में प्रतिपादन किया गया है, व्याप्ति सिद्धांत के अनुसार, जो देश या काल की मर्यादा में या तो बराबर है या दूसरे से न्यून है, व्याप्य या हेतु कहा जाता है, वह जो देश और काल की परिधि में सम है या बड़ा है व्यापक या लिंग कहा जाता है।[4] किन्तु इस मत के अन्तर्गत सभी प्रमाणित व्याप्ति के उदाहरण नहीं आते। देश और काल के (सहचार) सह-अस्तित्व के उदाहरण जो दिए गए हैं वे हैं; ताड़ का रस और मिठास (गुड़) या पुरुष की छाया और सूर्य का निर्दिष्ट स्थान, किन्तु ऐसे देश काल के सह-अस्तित्व के उदाहरण सभी प्रसंगों को पूरा नहीं करते। जैसेकि सूर्यास्त और समुद्र में लहर उठना। इस कारण, उत्तरकालीन अनुयायियों ने व्याप्ति की कठोर परिभाषा की, जो निरुपाधिक रूप से नियत सम्बन्ध है, व्याप्ति (निरुपाधिकतया नियत: सम्बन्धो व्याप्ति:)।[5]

उद्गमन की रीति से सामान्यीकरण या व्याप्ति के सम्बन्ध में हम 'तत्त्व रत्नाकर' जैसे पुराने प्रामाणिक ग्रन्थ में पाते हैं कि व्याप्ति का प्रथम परामर्श, जो विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ है, वह सर्वव्यापि वाक्य (सामान्य) के प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है।[6] किन्तु वेंकटनाथ कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता और व्याप्ति के विषय में सामान्य वाक्य के प्रतिपादन करने के लिए, व्याप्ति का विशद अनुभव आवश्यक है।

---

1 परामर्शजन्य प्रमितिरनुमिति:। —वहीं।

2 परामर्श का अर्थ "व्याप्ति-विशिष्ट पक्षधर्मता-ज्ञानम् सर्व विशेष संग्राही सामान्य-व्याप्ति-धीरपि विशेषानुमिति-हेतु:" है। —न्याय परिशुद्धि, पृ० 97।

3 वही।

4 देशत: कालतो वाऽपि समो न्यूनोऽपिवा भवेत्।
स्वव्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्यधिकोऽपि वा।। —वही, पृ० 100।

5 न्याय परिशुद्धि।

6 संबंधोऽयम् सकृद् ग्राह्य: प्रतीति-स्व-रसात्तथा।
प्रतीतयो हि स्वरसाद् धर्माधर्म्यवधीन् विदु:।। —तत्त्व रत्नाकर। हस्त०।

एक महत्त्वपूर्ण विषय, जिसमें रामानुज मत का नैयायिकों से भेद है, वह रामानुज की 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' की अस्वीकृति है जिसे नैयायिक मानते हैं। इस प्रकार, 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' में, (जैसे, पृथ्वी गंधमय होने से अन्य तत्त्वों से भिन्न है) नैयायिक ऐसा तर्क करते हैं कि पृथ्वी का अन्य तत्त्वों से भेद, गंधवती होने के कारण है और यह गुण अन्य तत्त्वों में नहीं है—अतः यह भेद, ऐसे वाक्य से, सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो अन्वय द्वारा प्राप्त है। इस मत का रामानुज-सम्प्रदाय के पूर्वकालीन तार्किक, जैसेकि वरद विष्णु मिश्र और भट्टारक गुरु, (तत्त्व रत्नाकर में) द्वारा समर्थित पाया गया है ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु वेंकटनाथ (अपनी न्याय परिशुद्धि में) और सिद्धान्त संग्रह के रचयिता रामानुज दोनों यह बताते हैं कि जब यामुन अपने आत्म-सिद्धि के व्याख्यान में 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' को अस्वीकार करते हैं, तो यह मानना ठीक होगा कि उक्त पूर्वकालीन ग्रन्थकारों ने 'केवल व्यतिरेकी' का उल्लेख किया है जिसका अर्थ यह नहीं है कि उक्त ग्रन्थकारों ने केवल व्यतिरेकी को अनुमान का एक प्रकार माना है किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि उन्होंने नैयायिकों की मान्यता में इसकी केवल गणना की है।[1] सिद्धान्त संग्रह के लेखक रामानुज बताते हैं कि इस अनुमान को, अन्वय-व्यतिरेकी के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इस प्रकार हम तर्क कर सकते हैं कि देह, पृथ्वी जैसी है क्योंकि उसमें गन्ध है, क्योंकि जो गंधवान् है वह पृथ्वी जैसा है और जिसमें गंध नहीं है वह पृथ्वी जैसा नहीं है। इसलिए इसे अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान के तर्क के आकार में इस प्रकार रखा जा सकता है। गंधत्व को हेतु बताया जा सकता है जिसकी उपस्थिति पृथ्वी जैसी होना निश्चित करता है और अनुपस्थिति पृथ्वी जैसी न होना उससे भेद प्रकट करता है।

रामानुज-न्याय में अनुमान के लिए तर्क (अर्थात् परस्पर अपेक्षित संभावनाओं के बीच वैकल्पिक निष्कर्ष का ज्ञान) की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। अनुमान के अवयवों के बारे में, वेंकटनाथ कहते हैं कि पाँच अवयव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, ऐसा नहीं है। किस प्रकार अनुमान किया गया है उस पर यह आश्रित है कि कितने अवयव आवश्यक हैं। ऐसा हो सकता है कि अनुमान करने के समय, दो, तीन, चार या पाँच अवयव आवश्यक हैं ऐसा सोचा गया हो। हम 'तत्त्व-रत्नाकर' में ऐसा कथन पाते हैं कि यद्यपि पाँच अवयव, पूर्ण प्रतिपादन के लिए पर्याप्त हैं, तो भी अनुमान के लिए

तत्त्व रत्नाकर के रचियता प्रतिपादन करते हैं कि जब जाति प्रत्यय (धूमधूमत्व) किसी भी एक उदाहरण से सम्बन्धित है (जैसे धूम), तो धूम और अग्नि की व्याप्ति का अनुभव का अर्थ यह होगा कि धूमत्व का अग्नित्व (दाहकत्व) से व्याप्ति ज्ञान हो गया है। इसलिए एक विशेष पदार्थ और उसके जाति-प्रत्यय के अनुभव से, हम उस जाति-प्रत्यय से सम्बन्धित अन्य विशेष पदार्थों को भी जानते हैं—सन्निहित-धूमादि-व्यक्ति-संयुक्तस्य इन्द्रियस्य तदाश्रित-धूमत्वादिः संयुक्ताश्रितः, तदाश्रयत्वेन व्यक्त्यंतराणि संयुक्तानि इत्यादि।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० 105 (चौखम्भा)।

[1] न्याय परिशुद्धि और रामानुज सिद्धान्त संग्रह।

अवयवों की संख्या के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है ।[1]

वेंकटनाथ कहते हैं कि अनुमान प्रत्यक्ष विषय में मर्यादित है । जो विषय इंद्रियातीत हैं वे अनुमान द्वारा ज्ञात नहीं हो सकते । अनुमान, जोकि, अबाध रूप से प्रत्यक्ष से सम्बन्धित है, इस कारण, वह प्रत्यक्ष का एक प्रकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान हमेशा अपरोक्ष है । अनुमान स्मृति-जनित है, यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमान नवीन ज्ञान प्राप्त कराता है । आगे, उसे साक्षात्कार का प्रकार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान चित्त के संस्कारों को जाग्रत करके कार्य करता है, क्योंकि ऐसे संस्कार प्रत्यक्ष में भी क्रियाशील होते पाए जाते हैं और उसी सादृश्यता के आधार पर प्रत्यक्ष को भी साक्षात्कार कहा जा सकता है ।

व्याप्ति उसे कहना चाहिए जिसमें, साध्य का क्षेत्र, देश और काल की दृष्टि से, हेतु से, कम नहीं हो, (अन्यून-देशकाल-वृत्ति) और हेतु, वह है जिसका क्षेत्र, साध्य से कभी भी अधिक नहीं है (अनधिक-देशकाल-नियत व्याप्यम्) । देश और काल के यौगपद्य के उदाहरण के तौर पर, वेंकटनाथ, शक्कर और उसकी मिठास का उदाहरण देते हैं । कालिक यौगपद्य के लिए छाया का मान और सूर्य की स्थिति का उदाहरण देते हैं । केवल देशिक यौगपद्य के लिए ताप और उसके प्रभाव का उदाहरण देते हैं । कभी-कभी देश और काल में पृथक् वस्तुओं में भी साहचर्य पाया जाता है, जैसे ज्वार-भाटा और सूर्य-चन्द्र का सम्बन्ध ।[2]

हेतु और साध्य के बीच ऐसी व्याप्ति, अनेक उदाहरणों के निरीक्षण द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है (भूयो दर्शन गम्य), एक उदाहरण द्वारा नहीं, जैसाकि धर्म राजाध्वरिंद्र द्वारा शंकर वेदान्त में प्रतिपादन किया गया है । भट्टारक गुरु, अपने तत्त्व रत्नाकर में, व्याप्ति ग्रहण करने के व्यापार को समझाते हुए, कहते हैं, कि जब हेतु और साध्य की व्याप्ति प्रचुर उदाहरणों से देखी जाती है तब ऐसे निरीक्षणों का परिणाम, साध्य और हेतु के समस्त उदाहरणों की सार्वभौम व्याप्ति के पक्ष में, संस्कार रूप से संग्रह होता है, और तब व्याप्ति के निरीक्षण का आखरी उदाहरण, चित्त में, सभी साध्य और सभी हेतुओं में व्याप्ति का विचार, पहले अंकित हुए संस्कारों की जाग्रति की मदद से, उत्पन्न करता है । जहाँ निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त हैं वहाँ वेंकटनाथ अन्वय व्यतिरेकी और केवलान्वयी विधि से व्याप्ति प्राप्त होती है ऐसा मानते हैं । सामान्यतः, व्यतिरेकी विधि यह सिद्ध करके, व्याप्ति के प्रत्यय में योगदान देती है, कि प्रत्येक घटना, जिसमें साध्य नहीं है, उसमें हेतु भी नहीं है, किन्तु केवलान्वयी व्याप्ति में, जिसमें निषेधात्मक उदाहरण अप्राप्त होते हैं उन निषेधात्मक उदाहरणों में, हेतु का अभाव (अनस्तित्व) नहीं बताया जा सकता । किन्तु ऐसे उदाहरणों में निषेधात्मक

---

1 वही ।

2 वेंकटनाथ ने व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की है : अत्रेदं तत्वं यादृग् रूपस्य यद् देश काल वर्तिनो यस्ययादृग् रूपेण यद् देशकाल वर्तिना येनाविनाभावः तद् इदम् अनिना भूतं व्याप्यम् तत् प्रतिसम्बन्धि व्यापकम् इतिः ।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ० 101–102 ।

उदाहरणों का न होना ही, केवलान्वयी व्याप्ति को ग्रहण कराने में पर्याप्त है। केवलान्वयी व्याप्ति की प्रमाणता इस बात से सिद्ध है कि अगर हेतु अपरिवर्तित रहता है तो विपरीत साध्य की पूर्व मान्यता व्याघातक ठहरती है (व्याहत-साध्य-विपर्ययात्), और यह इसे, कुलार्क द्वारा, महाविद्या के सिद्धान्त के प्रतिपादन में उपयोग में लाए गए केवलान्वयी तर्कों से पृथक् करता है।

रामानुज स्वयं इस बात पर अनिश्चित हैं कि कितने प्रकार के अनुमान माने जाएँ, क्योंकि उन्होंने इस विषय में कोई निश्चित विचार नहीं दिया है। इसलिए, उनके आशय का, उनके अनुयायियों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है, इस प्रकार, मेघनादारि अनुमान का वर्गीकरण तीन प्रकार से करते हैं (1) कार्य से कारण, (कारणानुमान), (2) कारण से कार्य (कार्यानुमान) और (3) मानसिक सहचार से अनुमान (अनुभवानुमान) यथा कृत्तिका नक्षत्र से रोहिणी के उदय का अनुमान। वैकल्पिक वर्गीकरण इस प्रकार है, (1) अन्वय व्यतिरेकी, (2) केवलान्वयी और (3) केवल व्यतिरेकी। भट्टारक गुरु और वरद विष्णु मिश्र ने भी, जो रामानुज न्याय की संगति पूर्ण रचना करने में वेंकटनाथ के पूर्वगामी थे, तीन प्रकार के अनुमान माने हैं ऐसा दीखता है, जैसेकि, अन्वयी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी, जो 'तत्त्व रत्नाकर' और 'मानयाथात्म्य निर्णय' के उद्धरणों से स्पष्ट है। वेंकटनाथ तो उन्हें नगण्य मानते हैं और केवल व्यतिरेकी अनुमान को खण्डन करने का बड़ा कष्ट करते हैं।[1] उनका दावा यह है कि निषेधात्मक व्याप्ति से कोई अनुमान नहीं प्राप्त हो सकता, जो वैध रूप से किसी विशेष लक्षण को स्वीकार करने के लिए अग्रसर नहीं करता, जब किसी भी लक्षण को स्वीकार करने वाला वाक्य (प्रतिज्ञा) नहीं है। अगर कोई ऐसा स्वीकारात्मक वाक्य, निषेधात्मक वाक्य से अनुमित किया मान लिया जाता, तब भी, केवल निषेधात्मक वाक्य से अनुमान प्राप्त हो सकता है, यह विरोध विफल होता है। अनुमान की प्रमाणता की एक शर्त यह है कि हेतु सपक्ष में रहना चाहिए (अर्थात् वे सब उदाहरण जिनमें साध्य है) किन्तु व्यतिरेकी अनुमान में, उपस्थित उदाहरण के सिवाय दूसरे भावात्मक उदाहरण नहीं होते जिनमें हेतु और साध्य है, तो उपरोक्त शर्त निष्फल रहती है।[2] विरोधी पक्ष यह कह सकता है कि इसी सादृश्य के आधार पर, केवलान्वयी अनुमान का भी निषेध होता है, क्योंकि यहाँ निषेधात्मक उदाहरण पाए जाते हैं (अर्थात् इदं वाच्यम् प्रमेयत्वात्) उत्तर यह होगा कि केवलान्वयी अनुमान की प्रमाणता इस बात से सिद्ध होती है कि उसमें विरोधी निष्कर्ष की मान्यता, व्याघातक है। विरोधी पक्ष का अगर यह आग्रह है कि हेतु के विषय की, साध्य के निषेध के साथ सर्वव्यापि व्याप्ति, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात को अनुमित करती है तो हेतु और साध्य का सन्निपात दोनों के विरोधियों

---

1 वेंकटनाथ बताते हैं कि यामुनाचार्य ने जो रामानुज के माने हुए गुरु थे सिद्धि त्रय में केवल व्यतिरेकी को अनुमान का प्रकार नहीं स्वीकारा था।

2 व्यतिरेकी अनुमान का अच्छा उदाहरण यह है: अनुभूतिरनुभाव्य: अनुभूतित्वात्, यन्नैवम् तन्नैवम् यथा घट:। पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गंधवत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा जलम्। उपरोक्त उदाहरण में अननुभाव्यत्व (न जानना) केवल प्रत्यक्ष अनुभूति में हैं। यहाँ अनुभूति का साक्ष, जहाँ पहले अननुभाव्यत्व पाया गया था, वह नहीं है।

का भी सन्निपात अनुमित करेगा। इससे यह अर्थ निकलेगा कि केवलान्वयी अनुमान में, हेतु और साध्य के पूर्ण सन्निपात से, उनके विरोधियों का सन्निपात सिद्ध होता है, यह अयुक्त है।[1] इस प्रकार नैयायिक, जो केवलान्वयी अनुमान को मानते हैं, केवल व्यतिरेकी अनुमान की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार से व्यर्थ प्रयास नहीं कर सकते। पुनः इसी विधि को लेकर, कोई तर्क कर सकता है कि घड़ा स्वप्रकाश है क्योंकि वह घड़ा है (घटत्वात्), क्योंकि अस्वप्रकाशत्व, अघटत्व में पाया जाता है जैसेकि कपड़ा, जो असम्भव है। (यन्नवैम् तन्नवैम् यथा पटः)। इस प्रकार, दो निषेधों की व्याप्ति से, उनके विरोधी की व्याप्ति प्रतिपादन नहीं की जा सकती। पुनः उपरोक्त उदाहरण में, 'अनुभूतिरननुभाव्या अनुभूतित्वात्' (अनुभूति अनुभव का विषय नहीं हो सकती क्योंकि वह अनुभव का विषय है) अननुभाव्यत्व का अस्तित्व (अनुभव का विषय न होना) शंकास्पद है, क्योंकि वह उपस्थित दृष्टांत के सिवाय कहीं नहीं देखा जाता और इसलिए, केवल अननुभाव्यत्व के निषेध की अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से अननुभाव्यत्व का प्रतिपादन अयुक्त है। इसके अतिरिक्त, जब कोई कहता है कि अनुभाव्य तात्कालिक अनुभूति नहीं है, तो निषेधात्मक सम्बन्ध की मात्र स्वीकृति, अनुभूति को निषेधात्मक सम्बन्ध में अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बना देता है, जो इस निष्कर्ष को बाध्य करता है कि अनुभूति अनुभाव्य नहीं है। अगर पुनः व्यतिरेकी अनुमान द्वारा, जो लक्षण अनुमित किया जाता है वह पक्ष में है यह पहले से ही जाना हुआ है, तो अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती। अगर वह कहीं अन्य जगत् में विद्यमान है ऐसा ज्ञान है, जो जबकि सपक्ष[2] विद्यमान है तो वह केवल व्यतिरेकी अनुमान नहीं है। अगर, हेतु और साध्य के निषेध की व्याप्ति द्वारा साध्य, हेतु के निषधात्मक दृष्टान्तों के बाहर कहीं अन्य जगह रहता पाया जाता है तो भी उपस्थित दृष्टान्त में उसकी उपस्थिति सिद्ध नहीं हो सकेगी। पुनः, उपरोक्त दृष्टान्त में, अगर, अननुभव्यत्व के निषेध की, अनुभूति के निषेध के साथ व्याप्ति से, यह तर्क किया जाता है, कि अवेद्यत्व लक्षण कहीं विद्यमान रहना चाहिए, तो ऐसा निष्कर्ष व्याघात दोष से पूर्ण होगा, क्योंकि अगर ऐसा ज्ञात है कि कोई ऐसा पदार्थ है जो अनुभव का विषय नहीं है, तो वह उसी तर्क से अनुभव का विषय (अनुभाव्य) बन जाता है। यदि केवल एक को छोड़कर, सभी क्षेत्रों से अस्तित्ववान् एक विद्यमान पदार्थ को निकाल दिया जा सकता है तो वह अवशिष्ट क्षेत्र की बात हो जाती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि 'संकल्प, अस्तित्वमय गुण होने से, आत्मा को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह उसमें (आत्मा) आवश्यक रूप से है, ऐसा अर्थ करने पर भी, व्यतिरेकी अनुमान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सचमुच यह दृष्टान्त अन्वय का है, और इसे अन्वय रूप से

---

[1] इदं वाच्यं प्रमेयत्वात् (यह व्याख्या योग्य है क्योंकि जाना जा सकता है) इस मान्यता से, वाच्यता और प्रमेयत्व की व्याप्ति से अवाच्यत्व और अप्रमेयत्व सिद्ध हो सकते हैं, जो सर्वथा दोषपूर्ण है क्योंकि ऐसे उदाहरण नहीं जाने गए हैं।

[2] सपक्ष, वे दृष्टांत हैं (उपस्थित दृष्टान्त के बाहर) जहां हेतु साध्य के एक साथ विद्यमान होता है।

अन्वय सिद्धान्त के सूत्र रूप से स्पष्ट किया जा सकता है, जैसेकि, 'एक अस्तित्वमय पदार्थ, जो एक को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है, इसलिए वह आवश्यक रूप से उस बचे हुए क्षेत्र में है।' पुनः ऐसे दृष्टान्तों में जैसाकि, सर्ववित्व (सब कुछ जानना) सभी ज्ञात क्षेत्रों में अनुपस्थित होने के कारण, कहीं भी विद्यमान होगा, क्योंकि हम ऐसा सोचते हैं, इसलिए कोई एक पदार्थ अवश्य होगा जिसमें वह विद्यमान है, और ऐसा पदार्थ ईश्वर है 'यह सुविख्यात सत्ता-विषयक तर्क है जो व्यतिरेकी प्रकार का है। ऐसे अनुमान के विरुद्ध में, न्याय-दृष्टि से यह विवाद किया जा सकता है कि शश-विषाण का विचार जो सभी क्षेत्रों में अनुपस्थित है किसी अनुभूत वस्तु में अवश्य विद्यमान होना चाहिए, यह स्पष्ट ही मिथ्या है।

यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर व्यतिरेकी अनुमान नहीं माना जाता है तो यह सभी व्यावर्तक लक्षणों का निषेध सरीखा हो जाता है, क्योंकि व्यावर्तक लक्षण, परिभाषा किए जाने वाले पदार्थ को छोड़कर सभी में अनुपस्थित है और इस प्रकार परिभाषा या व्याख्या स्वरूपतः व्यतिरेकी अनुमान है। इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि परिभाषा, किसी पदार्थ के विशिष्ट गुणों के अनुभव से, जो गुण उस पदार्थ के व्यावर्तक गुण विज्ञापित किए गए हैं, उत्पन्न होती है, इसलिए, इसका व्यतिरेकी अनुमान से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] यह भी तर्क किया जा सकता है कि व्यावर्तक गुण अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं, व्यतिरेकी द्वारा नहीं, जैसा कि प्रतिपक्षी कहते हैं। ऐसे दृष्टान्तों में जहाँ वेदत्व (जानना) की, जो जानने में आ सकता है ऐसी व्याख्या की गई है, वहाँ अभाव-सूचक दृष्टान्त नहीं पाए जाते तो भी वह परिभाषा बनी रहती है। परिभाषा की व्याख्या यही है कि व्यावर्तक गुण उसी में विद्यमान है जिसकी परिभाषा देना है, और वह अन्य कहीं भी विद्यमान नहीं है (असाधारण-व्यापको धर्मो लक्षणम्)।[2] उन दृष्टान्तों में जहाँ पदार्थ के वर्ग या जाति की व्याख्या की जाती है, वहाँ, व्यवच्छेदक जाति लक्षण, वे होंगे जो उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति में होने चाहिए, और अन्य जाति के व्यक्ति में अनुपस्थित होने चाहिए। किन्तु, जहाँ व्यक्ति आप ही अकेला है (जैसे ईश्वर), जब इसकी व्याख्या की जाती है, यहाँ जातिगुण नहीं पाए जाते, किन्तु केवल विशेष लक्षण ही होते हैं जो उस व्यक्ति में ही है और जाति में नहीं हैं। ऐसे दृष्टान्तों में भी, व्यवच्छेदक गुण, उस व्यक्ति को दूसरे से (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) भिन्न करते हैं, जिनके साथ, यह, आंशिक समानता के कारण संकीर्ण किया जा सकता है। इस प्रकार परिभाषा, किसी पदार्थ में लक्षणों की स्वीकृति का दृष्टांत है और निषेध का नहीं है, जैसाकि व्यतिरेकी अनुमान से इसे संकीर्ण करने वाले मानते हैं। इसलिए, केवल व्यतिरेकी अनुमान का किसी भी तर्क से समर्थन नहीं होता।

अवयव के विषय में, वेंकटनाथ मानते हैं कि, सभी अनुमानों के लिए पाँच ही

---

1 अर्था-साधारणाकार-प्रतिपत्ति-निबंधनम्,
सजातीय-विजातीय-व्यवच्छेदेन लक्षणम्।
—तत्त्व रत्नाकर, न्याय परिशुद्धि में उद्धृत, पृ० 143।

2 न्याय परिशुद्धि, पृ० 145।

अवयव होने चाहिए, इसका कोई भी नियम नहीं है। इसलिए भिन्न तार्किकों में अवयव की संख्या के विषय में, विवाद निरर्थक है, क्योंकि अनुमान में अवयव उतने ही लाए जायँ, जितने वह व्यक्ति को अनुमान ग्रहण होने के लिए पर्याप्त समझता है। इस प्रकार जिस सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है उसके अनुसार, तीन, चार या पाँच अवयव हो सकते हैं।

अनुमान के अतिरिक्त वेंकटनाथ, शब्द या शास्त्र-प्रमाण को भी मानते हैं। शब्द-प्रमाण की विशद व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका निरूपण, अन्य दर्शनों जैसा ही है। यह स्मरण रहे कि शब्द और वाक्यों का अर्थ बोधन करने के विषय में नैयायिक यह मानते थे कि, वाक्य का प्रत्येक पद, जैसेकि सामान्य शब्द (प्रतिपादिक) या प्रत्यय, अपना स्वतन्त्र और पृथक् अर्थ रखता है इन अर्थों में, दूसरी विभक्तियों के लगाने के कारण, अर्थ में वृद्धि होने से रूपान्तर होता है। इस दृष्टि से देखते हुए, वाक्य के घटक तत्त्व अणु रूप होते हैं, जो परप्रत्ययों के सम्बन्ध से संकलित होकर धीरे-धीरे, वाक्य को पूर्ण अर्थ तक पहुँचाते हैं। इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं। विरोधी मत अन्विताभिधानवाद है, जोकि मीमांसकों का है, इसके अनुसार किसी भी वाक्य का विश्लेषण, एक दूसरे के सम्बन्ध के बिना जो धीरे-धीरे संग्रह होता जाता है, अर्थों के रूढ़ तत्त्वों में नहीं किया जा सकता। वाक्य का, कितनी ही रूढ़ अवस्था तक विश्लेषण किया जाय, तो भी उसका अतिरूढ़ अंश किसी क्रियापद या पूर्ण अर्थ से सामान्य सम्बन्ध रखेगा। उपसर्ग और विभक्तियों का कार्य, प्रत्येक शब्द के सामान्य सम्बन्ध को मर्यादित या अवरोध करना होता है। वेंकटनाथ, अभिहितान्वयवाद के विरोध में, अन्विताभिधानवाद को, इस आधार पर मानते हैं कि, पिछला मत, अतिरूढ़ शब्द तत्त्वों के अर्थ का, उसके परप्रत्यय के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए, या परप्रत्यय सहित शब्दों में आपस में सम्बन्ध जोड़ने के लिए और वाक्य का अर्थ प्रकट करने के लिए आपस के सम्बन्ध को जोड़ने के लिए, पृथक् विशेष शक्ति की अनावश्यक कल्पना ग्रहण करता है।[1] अन्विताभिधान की स्वीकृति, रामानुज मत के लिए हितकर थी, क्योंकि वह विशिष्टार्थ की स्थापना करता है।

रामानुज स्वयं ने, अपने दर्शन के अनुरूप अपने न्याय के मतों का निरूपण करने वाली कोई पुस्तक नहीं लिखी। किन्तु नाथमुनि ने 'न्याय तत्त्व' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने गौतम के न्याय मत का खण्डन किया और उनका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार परिशोध किया। विष्णु चित्त ने 'संगतिमाला' और 'प्रमेयसंग्रह', उसी दिशा में लिखे, भट्टारक गुरु ने 'तत्त्व रत्नाकर' लिखा और वरद विष्णु मिश्र ने भी 'प्रज्ञापरित्राण' और 'मान याथात्म्य निर्णय' विशिष्टाद्वैत न्यायानुसार लिखे। वेंकटनाथ ने इन्हीं रचनाओं के आधार पर, अपनी 'न्याय परिशुद्धि' लिखी जिसमें उन्होंने कभी उनके मतों को और कभी उनसे कुछ विस्तार में भिन्न मत को स्पष्ट किया। किन्तु, सर्वांग रूप से, उपरोक्त लेखकों से उन्होंने विशिष्टताद्वैत न्याय के मतों को स्वीकार

---

1 अभिहितान्वये हि पदानाम् पदार्थे पदार्थानाम् वाक्यार्थे पदानां च तत्र इति शक्तित्रय-कल्पना-गौरवम् स्यात्।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० 369।

किया है। इसलिए, इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता बहुत मर्यादित है। मेघनादारि, वेंकटनाथ से अधिकांश रूप में भिन्न है क्योंकि वे उपमान और अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण के रूप में मानते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष के निरूपण में भी कुछ बड़े अर्थपूर्ण योग दिए हैं और अनुमान के निरूपण में तो, वे वेंकटनाथ से व्यतिरेकी अनुमान को मानकर, पूर्ण विरोधी रहे हैं।

मेघनादारि, उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार उपमान वह प्रमाण है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष पदार्थ का अप्रत्यक्ष पदार्थ के साथ सादृश्य का ज्ञान किया जा सकता है, जबकि अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के साथ सादृश्य का ज्ञान पहले प्राप्त है। इस प्रकार, जब किसी को यह ज्ञान है कि अनुभूत गाय गवय जैसी होती है, और फिर पीछे, जंगल में घूमते हुए, वह गवय को देखता है तो वह तुरन्त ही विचार करता है कि जो गाय वह इस समय नहीं देखता है, वह अभी दिखाई देते वन वृषभ जैसी है। यह ज्ञान, मेघनादारि कहते हैं. प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हुआ है, क्योंकि गाय देखने वाले के समक्ष नहीं है, वह स्मृतिजनित भी नहीं है, क्योंकि सादृश्य का ज्ञान, गाय की स्मृति होने से पहले ही उदय होता है। मेघनादारि मानते हैं कि भेद के लिए कोई पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भेद का ज्ञान, सादृश्य का निषेध मात्र है। उपमान का यह निरूपण, न्याय से भिन्न है, जहाँ इसे, सादृश्य के आधार पर, शब्द का पदार्थ के साथ सम्बन्ध माना है, जैसे कि यह पशु गवय कहलाता है जो गाय के सदृश है। यहाँ सादृश्य के आधार पर गवय शब्द, उस पशु से सम्बन्धित है। मेघनादारि, इसे प्रत्यभिज्ञा के व्यापार द्वारा समझाने की कोशिश करते हैं, और इसे पृथक् प्रमाण मानने का विरोध करते हैं।[1] वे अर्थापत्ति को भी पृथक् प्रमाण के रूप में मानते हैं। अर्थापत्ति को साधारणतया, निहितार्थ शब्द से अनूदित किया गया है, जहाँ एक प्राक् कल्पना का, जिसे मान्यता न देने पर अनुभव का गूढ़ विषय नहीं समझा जा सकता, निरीक्षण की नई अनुभूति घटना समझाने के लिए, चित्त पर लाने का आग्रह होता है। इस प्रकार, जब कोई, यह स्वतन्त्र आधार पर जानता है कि देवदत्त जीवित है, यद्यपि वह घर पर नहीं मिला तो, चित्त में स्वाभाविक प्राक् कल्पना का उदय होता है कि वह घर से बाहर रहता होगा, क्योंकि नहीं तो, वर्तमान समय में, उसका घर पर न होना मिथ्या है या, पूर्व ज्ञान, कि वह जीवित है यह मिथ्या होगा। वह जीवित है और घर पर नहीं है, इसे, इस प्राक्कल्पना द्वारा ही समझाया जा सकता है कि वह घर से बाहर कहीं है। इसे अनुमान का एक प्रकार नहीं माना जा सकता, "क्योंकि कहीं रहता हुआ देवदत्त घर पर विद्यमान नहीं है, वह कहीं अन्य स्थान पर है, क्योंकि कहीं अन्य जगह रहते हुए पदार्थ जो अपने स्थान पर नहीं है कहीं अन्य स्थान पर, मेरी तरह, जीवित होंगे।" इस प्रकार का अनुमान व्यर्थ है, क्योंकि एक स्थान पर अस्तित्व रखती हुई वस्तु का न होना, दूसरे शब्दों में उसका कहीं अन्य स्थान पर होना ही है। इसलिए, वस्तु का एक स्थान पर न होने को उस निष्कर्ष पर पहुँचने का हेतु नहीं बनाना चाहिए (उसका अन्य स्थान पर होना) जो उससे भिन्न नहीं है। अर्थापत्ति को इस प्रकार, स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ता है।

---

1 देखो हस्त० नयद्युमणि, उपमान प्रकरण।

मेघनादारि तथा अन्य के अनुसार रामानुज दर्शन की ज्ञानमीमांसा

वेंकटनाथ, अपनी 'न्याय परिशुद्धि' में (रामानुज दर्शन के अनुसार) न्याय या नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करने का प्रयत्न करते हैं जिस पर रामानुजवाद का दर्शन आधारित है। वे इस क्षेत्र में मौलिक नहीं थे। किन्तु उन्होंने, विशिष्टाद्वैत न्याय को, जैसाकि यामुन के आचार्य, नाथ मुनि ने अपने 'न्याय तत्त्व' नामक ग्रन्थ में और पराशर भट्ट के इस विषय के ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैत न्याय का प्रतिपादन किया है, उसका उन्होंने अनुसरण किया है : एवं उसे विशद रूप दिया है। गौतम प्रतिपादित न्याय के सम्बन्ध में, वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप यह है कि यद्यपि बादरायण ने गौतम के सिद्धांतों को, शिष्ट पंडितों के लिए अयोग्य कह कर टाल दिया है, तो भी, उन्हें इस प्रकार समझाया जा सकता है कि वे विशिष्टाद्वैत के सच्चे सिद्धान्तों के साथ संगत हो सकते हैं। किन्तु, वात्स्यायन द्वारा गौतम-न्याय की व्याख्या उसे सच्चे मार्ग से दूर ले जाती है इसलिए वह खण्डन के योग्य है। जो कुछ भी हो, वेंकटनाथ, विष्णुचित्त की तरह, गौतम के उन सिद्धान्तों को स्वीकार करने को उत्सुक हैं जो वेदान्त मत के विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार, पदार्थों के सोलह संख्या में वर्गीकरण के विषय में मतभेद हो सकता है। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि कुछ पदार्थ न्याय-दृष्टि से प्रमाण हैं, क्योंकि अगर नैयायिक प्रमाणता अस्वीकार की जाती है तो न्याय स्वयं निराधार हो जाता है। हमारा समस्त अनुभव, कुछ दृष्ट तत्त्वों या विषयों को मानकर चलना है, जिन पर वह आधारित है। इन दृष्ट विषयों की सामान्य स्वीकृति, अनुभव की नींव को ही उखाड़ देती है। जब इन दृष्ट विषयों के अस्तित्व को सामान्य रूप से मान लिया जाता है तभी उनके विशेष स्वरूप के विषय में खोज की जा सकती है। अगर, सब कुछ ही अप्रमाण है तो प्रतिपक्षी का आक्षेप भी अप्रमाण होगा। अगर सब कुछ ही संशयास्पद है तो यह भी स्वबाधित हो जाएगा। संशय के विषय में संशय नहीं किया जा सकता, और संशय के अस्तित्व को एक निश्चित निष्कर्ष के रूप में मानना ही पड़ेगा। इसलिए, पूर्ण रूप से संशय का अनुसरण किए जाने पर भी निश्चित निर्णय की सम्भावना को मानना अनिवार्य हो जाता है।[1] इसलिए बौद्धवादियों का विवाद, कि कुछ भी प्रामाण्य नहीं है और ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी निश्चितता स्वीकार की जा सके, यह अस्वीकार्य है। अगर इसलिए, कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनका निश्चित एवं प्रामाण्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो ज्ञान के साधन, जिनसे ऐसा प्रमाण-ज्ञान उपलब्ध

---

1 व्यवहारो हि जगतो भवत्या लम्बने क्वचित्,
न तत्सामान्यतो नास्ति कथन्ता तुपरीक्ष्यते,
सामान्य निश्चितार्थेन विशषे तु बुभुत्सितम्
परीक्षा हि उचिता स्वेष्ट प्रमाणात्पादनात्मिका...

....

सर्वं संदिग्धमिति ते निपुणस्यास्ति निश्चयः,
संशयश्च न संदिग्धः संदिग्धा द्वैत वादिनः।

—न्याय परिशुद्धि, पृ० 31 (चौखम्भा)।

हो सकता है उसके विषय में स्वाभाविक ही गवेषणा उदित होती है। प्रमाण शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण का प्रथम अर्थ सही ज्ञान है और प्रमाण का दूसरा अर्थ वह प्रकार है जिसके द्वारा सही ज्ञान होता है। पहला अर्थ प्रमा से है, दूसरा अर्थ प्रमा उत्पन्न करने वाले साधन से है। वेंकटनाथ, पहले अर्थ में प्रमाण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जो ज्ञान, वस्तु अनुगुण है या यथार्थ वस्तु का अनुभव कराने योग्य व्यवहार को उत्पन्न करता है वह प्रमा है (यथावस्थित-व्यवहारानुगुणम्)।[1] यह परिभाषा व्यवहार को अनिवार्य उपाधि के रूप में इस प्रकार समावेश करती है कि अगर किसी दृष्टांत में व्यवहार सचमुच उत्पन्न न भी हो तो भी वह प्रमाण होगा, यदि ज्ञान ऐसा हो कि जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो।[2] जिसमें व्यवहार उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो वह ज्ञान और जो यथार्थ वस्तु के अनुगुण हो ऐसे प्रमाण की परिभाषा में स्मृति का समावेश सहज ही हो जाता है। रामानुज-दर्शन में अबाधित स्मृति को, इस प्रकार प्रमाण माना है।[3] वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि भ्रम की नियत उपाधि के रूप में नियम विरुद्ध स्मृति को, प्रविष्ट करना अयुक्त है, क्योंकि पीली सीप के भ्रम-युक्त ज्ञान में, स्मृति के उद्भव होने का प्रकट अनुभव नहीं है। सीप साक्षात् पीला ही दीखता है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तों में, जो नियत रूप से उपाधि-परिपूर्ण होते हैं एक वस्तु दूसरी दीखती है जिसे पारिभाषिक शब्दों में अन्यथाख्याति कहा है। किन्तु इसका आग्रह किया जा सकता है कि रजत सीप के भ्रम में, सीप का रजत रूप से दीखने का कारण, दूकान में देखे रजत के संस्कारों और चमकते हुए पदार्थ के बीच भेद का अग्रहण है, जो अख्याति कहलाती है। इस प्रकार, भ्रम के सभी दृष्टान्तों में, जब एक वस्तु दूसरी दीखती है तब वहाँ, स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के बीच भेद न ग्रहण करने की दशा उपस्थित रहती है। अगर भ्रम को इस दृष्टि से देखा जाय, तो वह प्रधान एवं साक्षात् रूप से, उपरोक्त मनो-वैज्ञानिक तथ्य है जो अख्याति कहलाता है। इस प्रकार, भ्रम के ये दोनों वाद, रामानुज ने, इन दोनों दृष्टिकोणों से स्वीकार किए हैं। जबकि, अख्याति, भ्रम के मनोवैज्ञानिक कारणों का विश्लेषण और तर्क का परिणाम है।[4] दूसरा यथार्थ-ख्यातिवाद, जो भ्रम को भी सच्चा ज्ञान, इस आधार पर मानता है कि पंचीकरण के अनुसार, सभी वस्तु, सभी भूतों के प्राकृत मिश्रण का परिणाम है, वह न तो मनोवैज्ञानिक है और विश्लेषणात्मक ही है, किन्तु तात्विक है और ऐसा होने से, भ्रम के स्वरूप को नहीं समझाता। इस मत के अनुसार, भ्रम में, सीप में ऐसे रजत को ग्रहण करना माना है जो गृह-उपयोग या आभरण बनाने के काम

---

1 न्याय परिशुद्धि वेंकटनाथ कृत, पृ० 36।

2 अनुगुण पदं व्यवहार जननस्वरूप योग्य परं तेनाजनित व्यवहारे यथार्थ ज्ञान विशेषे ना व्याप्ति :।

—न्याय परिशुद्धि पर श्रीनिवास का न्यायसार, पृ० 36।

3 स्मृति मात्रा प्रमाणत्वं न युक्तम् इति वक्ष्यते, ...
अबाधित स्मृते र्लोके प्रमाणत्व-परिग्रहात्। —न्याय परिशुद्धि, पृ० 38।

4 इदं रजतमनुभवामि इति एकत्वेनैव प्रतीयमानायाः प्रतीतेर्ग्रहणस्मरणात्मकत्वम् अनेकत्वं च युक्तिः सिद्धयमानं न प्रतीतिपथमारोहति। —न्यायसार, पृ० 40।

में लाया जा सकता है, जबकि तात्विक विवरण सभी वस्तुओं, के तत्त्वों के सामान्य मिश्रीकरण में, रजत के कुछ प्राकृत तत्त्व देखने का समर्थन करता है।

बौद्धों द्वारा माने हुए, भ्रम के आत्म-ख्यातिवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि अगर विज्ञानवादी बौद्ध एक मूलचैतन्य पर भिन्न चेतनाओं के आरोपण की प्रमाणता को स्वीकार कर सकते हैं तो, उसी सादृश्य के आधार पर, अनुभूत पदार्थों की प्रमाणता भी, मानी जा सकती है। अगर अविषयगत और विषयगत भिन्न चेतनाओं को नहीं माना जाता तो सारे अनुभव, एक अभिन्न चेतना बन जाएँगे और वह बौद्धों के प्रमाणवाद से स्पष्ट रूप से विरुद्ध है। बौद्धों का यह मानना कि जो पदार्थ एक साथ अनुभव किए जाते हैं, वे एक हैं, यह अयुक्त है। ज्ञान और उसके अर्थ स्पष्ट रूप से भिन्न जाने जाते हैं इसलिए उनका तादात्म्य प्रतिपादन करना, अनुभव विरुद्ध है। माध्यमिक-वादी बौद्ध पुनः मानते हैं कि, जिस प्रकार, दोष के मिथ्या होने पर भी भ्रम होता है, इस प्रकार किसी अधिष्ठान के या नित्य वस्तु के मिथ्या होने पर भी, भ्रम एक भास के रूप में, बिना आधार के दीख सकता है। ऐसे मत के विरोध में, वेंकटनाथ कहते हैं, कि लोग जिसे है या नहीं है ऐसा मानते हैं, वह किसी सत्ता को लक्ष्य करके ही ऐसा कहते हैं और सत्ता के आधार बिना कोई घटना हो, वह हमारे अनुभव की समझ के बाहर है। इसलिए, माध्यमिक बौद्धों का पूर्ण आभासवाद पूर्णतः अनुभव विरुद्ध है।[1] जब लोग कोई वस्तु अस्तित्व नहीं रखती ऐसा कहते हैं, तब वे देश काल का विशेषण लगाकर ही ऐसा कहते हैं। इस प्रकार, जब लोग कहते हैं कि पुस्तक नहीं है तो वे, इस अभाव को यहाँ या वहाँ और 'अभी' या 'कभी' ऐसा कहकर विशिष्ट करते हैं। किन्तु शुद्ध अविशिष्ट अनस्तित्व तो सामान्य अनुभव के बाहर हैं।[2] पुनः पदार्थों के सभी भावात्मक अनुभव, देश धर्म से विशिष्ट हैं (जैसेकि यहाँ घड़ा है), अगर यह देश की उपाधि को माना जाता है, तो यह नहीं माना जा सकता कि भ्रम निरधिष्ठान होता है (निरधिष्ठान-भ्रमानुपपत्तिः)। यदि, यहाँ और वहाँ की उपाधि को स्वीकार नहीं किया जाता, तो कोई भी अनुभव सम्भव नहीं है (अप्रतीतेरपह्नव एवं स्यात्)।

वेदान्तियों के, भ्रम के अनिर्वचनीयवाद का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि जब शंकर मतवादी सभी वस्तुओं को अनिर्वचनीय कहते हैं तो 'अनिर्वचनीय' शब्द कुछ निश्चित गुण का अर्थ रखने वाला होना चाहिए, उस दशा में वह अनिर्वचनीय नहीं रहेगा, या विशेष प्रकार से व्याख्या करने में निष्फल रहेगा, जिस दशा में शंकर मतवादी भी रामानुज-मतानुसार जगत् के स्वरूप को स्वीकार कर सकते हैं। पुनः जब शंकरमतवादी सत् असत् व्यतिरेकी रूप, स्वबाधपूर्ण पदार्थ को स्वीकारने को उद्यत हैं, तो वे वस्तु हैं और नहीं हैं, इन दोनों रूपों से, जैसाकि अनुभव बताता है, क्यों नहीं स्वीकार करते? स्वबाधता दोनों में एकसी ही रहेगी। अगर उनका सत् असत् रूप

---

1 लोके भावाभाव शब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव वस्तुनः अवस्था विशेष गोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। प्रकारान्तरस्य च लोक सिद्ध प्रमाणा विषयत्वादिति अर्थः।

—न्याय सार, पृ० 46।

2 सर्वोऽपि निषेधः सप्रतियोगिको नियत देश कालश्च प्रतीयते। निरुपाधिर्नियत देशकाल प्रतियोगी विशेषण रहितो निषेधो न प्रतीयते इति। —वही, पृ० 46।

जगत् का वर्णन यह सिद्ध करने के हेतु है कि वह तुच्छ और ब्रह्म दोनों से भिन्न है, तो रामानुज वादियों को उनसे कोई झगड़ा नहीं है, आगे, जगत् का मिथ्यात्व अनुभवयुक्त नहीं है, अगर ऐसे मिथ्यात्व को आधार रहित न्याय पर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसी न्याय-मुक्ति को लेकर ब्रह्म को भी स्वबाधयुक्त सिद्ध किया जा सकता है। पुनः जगत्-प्रपंच असत् है क्योंकि नाशवान् है, यह निश्चयात्मक रूप से कहना निराधार है, क्योंकि उपनिषद् ब्रह्म जीव और प्रकृति को नित्य कहते हैं। शंकर मतवादी भी नाश और व्याघात को उलझा देते हैं। (न चैक्यं नाश बाधयोः) ।[1]

पतंजलि के अनुयायी, भाषा-व्यवहार द्वारा जिसमें हम अविद्यमान (अभावात्मक, पदार्थों को भ्रमपूर्वक ग्रहण करते हैं ऐसे भ्रम के विषय का प्रतिपादन करते हैं। इसे निर्विषय ख्याति कहते हैं। इस प्रकार, जब हम 'राहु का शीश' कहते हैं, तब हम ऐसा सोचते हैं कि राहु अपने सिर से पृथक् अस्तित्व रखता है, और यह राहु में षष्ठी के प्रत्यय को अनुगमन करते भाषा-व्यवहार के कारण ग्रहण होता है, किन्तु वेंकटनाथ आग्रह करते हैं, कि ऐसे अनुभवों को समझाने के लिए एक पृथक् मत को स्वीकारना अनावश्यक है, क्योंकि ऐसा भ्रम अख्याति या अन्यथाख्याति द्वारा भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है और वे तर्क करते हैं कि उन्होंने दूसरे ख्यातिवादों की असम्भवता को पहले ही सिद्ध कर दिया है।

मेघनादारि, तो, प्रमाण को ऐसा ज्ञान कहते हैं जो वस्तु को दूसरे प्रमाणों के आश्रय बिना, निश्चित करता है जैसेकि स्मृति।[2]

यद्यपि ज्ञान स्वप्रकाश्व है (स्वमूर्तावपि स्वयमेव हेतुः) और यद्यपि निद्रा में या मूर्च्छा में चेतना की निरन्तरता है, तो भी चेतना इन अवस्थाओं में विषय को प्रकट नहीं कर सकती। यह तभी शक्य है जब ज्ञान प्रमाण-व्यापार द्वारा उत्पन्न होता है। जब हम ज्ञान की स्वप्रमाणता के विषय में कहते हैं, तब हम ज्ञान ग्रहण किए गए अर्थ (अर्थ परिच्छिन्नं प्रमाणम्) से प्रमाणित होता है ऐसा कह सकते हैं। किन्तु जब हम उसके विषय में प्रत्यक्ष की दृष्टि से या ज्ञान के विषय के प्रमाणित होने के दृष्टिकोण से कहते हैं, तो हमें ज्ञान को अर्थ-निर्धारक (अर्थ-परिच्छेदक) रूप में निर्धारित करना पड़ता है, न कि यह वह उससे निश्चित होता है। ज्ञान, इस प्रकार, ज्ञाता की दृष्टि से स्वतः प्रमाण्य है। स्वतः प्रमाण्यता उस अर्थ को लक्ष्य करता है जो ग्रहण किए गए विषयों से निश्चित होता है। इसे ज्ञान-ग्रहण करने के सभी प्रसंगों में और जगत् में हमारे व्यवहार के लिए, विषय-दृष्टि से भी देखना पड़ता है, तब ज्ञान एक साधन दीखता है जिसके द्वारा, हम विषय के धर्म को निश्चित करते हैं और तदनुरूप व्यवहार करते हैं। अर्थ धर्म के परिच्छेदक के रूप में ज्ञान की जो परिभाषा (अर्थ परिच्छेदकारी ज्ञानम् प्रमाणम्) जो मेघनादारि ने दी है, वह वेंकटनाथ से कुछ भिन्न है, वे ज्ञान का यथार्थ विषय को अनुभव कराने वाला व्यवहार या उसके अनुगुण है, ऐसी व्याख्या करते हैं।

---

1 न्याय परिशुद्धि, पृ० 48-51 :

2 तत्रान्यप्रमाणानपेक्षम् अर्थ-परिच्छेदकम् ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थ-परिच्छेदेऽन्य-प्रमाण-सापेक्ष स्मृतावतिव्याप्तिपरिहारेऽन्य प्रमाणनपेक्षम् इति।

—नयद्युमणि, मद्रास, गव० आरि० हस्त०।

(यथावस्थित-व्यवहारानुगुणम्)। वेंकटनाथ के अनुसार, ज्ञान व्यवहार का साधन है, और व्यवहार यथार्थता के स्वरूप को निश्चित करता है। मेघनादारि की परिभाषा में व्यवहार और यथार्थता के सारे प्रश्न एक तरफ भुला दिए जाते हैं या कम से कम उन्हें पीछे तो धकेल दिया जाता है। उन्होंने विषय को निश्चित करने में, ज्ञान के व्यापार पर बल दिया है। यहाँ सम्भवतः यह कल्पना है कि, भूल या भ्रम के दृष्टान्तों में भी यथार्थ वस्तु देखी जाती है और अन्य बातों की अवगणना के कारण, भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु जिसके यथार्थ ज्ञान से भ्रम असम्भव हो जाता है। हम जान चुके हैं कि रामानुज के यथार्थ ख्यातिवाद के अनुसार, प्रत्येक वस्तु के अणु प्रत्येक वस्तु में हैं, जो उपनिषद् के त्रिवृत् करण-सिद्धान्त के आधार पर है जिसका कि पंचीकरण में विशदीकरण हुआ है। इसलिए, भ्रम में (रजत-सीप) नेत्र इन्द्रिय, रजत के अणु के सम्पर्क में होती है जो सीप के एक अंश को बनाता है। रजत का यह अंश, निस्संदेह ही, सीप के बहुत ही बड़े अंश की तुलना में अत्यन्त ही छोटा है। किन्तु नेत्र के क्षणिक दोष के या क्षोभ उत्पन्न करने वाली दूसरी परिस्थितियों के कारण, सीप के ये बहुत बड़े अंश नहीं देखे जाते। परिणाम यह होता है कि केवल रजत का ही ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे आँखें सम्पर्क में थीं और जबकि सीप का अंश, ग्रहण होने से पूर्णतः हट गया था। इसलिए मात्र एक रजत अंश का प्रत्यक्ष हुआ, ऐसा मान लिया गया था और इस प्रकार भ्रम उत्पन्न हुआ। किन्तु, ऐसे भ्रम में भी, रजत का ज्ञान होना, भूल नहीं है। भूल, बहुत बड़े अंश-सीप का अग्रहण होना है। इस प्रकार, भ्रम के ज्ञान में भी, निःसन्देह, यथार्थ विषय ही देखा जाता है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार, भ्रम में, एक वस्तु में उन गुणों या लक्षणों को समावेश किया जाता है जो उसमें नहीं हैं। अप्रकट रूप से, यथार्थ ख्यातिवाद में, यह वाद समाविष्ट है क्योंकि यहाँ भी, सामने उपस्थित पुनरावर्ती वस्तु में दिए गए गुण (रजत), उसमें नहीं हैं, यद्यपि भ्रम का यह मूल कारण नहीं है, और यहाँ प्रत्यक्ष का सचमुच भ्रम नहीं है। मेघनादारि, इस प्रकार, मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान, इस अर्थ में सत्य है कि उसके अनुरूप हमेशा विषय रहता है, या जैसाकि अनंताचार्य ने और भी निश्चित रूप से वर्णन किया है—कि समस्त ज्ञान लक्षण (भ्रमयुक्त या अन्य) सर्वसाधारण रूप से ज्ञान के विषय के रूप में, यथार्थ पदार्थों को लक्ष्य करता है।[1] हमने देखा है कि वेंकटनाथ ने भ्रम के विषय में तीन दृष्टिकोणों से तीन वाद माने हैं, अन्यथाख्याति, अख्याति और यथार्थख्याति। मेघनादारि के ग्रंथों में इसका समर्थन नहीं मिलता, क्योंकि वे यथार्थ ख्यातिवाद ही केवल भ्रम का वाद है इसे सिद्ध करने में और अन्य प्रतिस्पर्धी वादों का खण्डन करने में, कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ते हैं। मेघनादारि के अन्यथाख्यातिवाद के खण्डन की प्रधान धारा इस मत में रही है—जब ज्ञान को, जिस विषय का ज्ञान होता है, उसे ही लक्ष्य करना चाहिए, इसलिए यह शक्य नहीं है कि वह विषय, ऐसा ज्ञान उत्पन्न करे कि जिसका अर्थ नितान्त भिन्न हो, क्योंकि तब वह किसी भी विषय को लक्ष्य न करेगा और इस प्रकार तुच्छ होगा। अगर ऐसा तर्क किया जाता है कि विषय अन्य स्थान पर विद्यमान है, तो आक्षेप किया जा सकता

---

1 तत्तद् धर्म-प्रकारक-ज्ञानत्व-व्यापकं तत्तद् धर्मवद्-विशेष्यकत्वमिति यथार्थं सर्वविज्ञानमिति।
—अनन्ताचार्यः ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०)

है कि जबकि विषय की उपस्थिति ज्ञान के अर्थ द्वारा ही निश्चित की जाती है और जबकि ऐसे विषय का, भ्रम के दृष्टान्तों में निषेध किया गया है, जहाँ ऐसा ज्ञान है' तो विश्वास कैसे हो कि विषय अन्य दृष्टान्तों में उपस्थित रहेगा ? ऐसे दृष्टान्तों में भी, ज्ञान ही वस्तु की उपस्थिति को निश्चित करेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर ज्ञान ही अनुरूप विषय का विश्वास कराने वाला है तो यह कहना ठीक नहीं है कि दो दृष्टान्तों में जहाँ ऐसा ज्ञान होता है, एक दृष्टान्त में विषय विद्यमान है और दूसरे में नहीं है।[1]

मेघनादारि, अनिर्वचनीय ख्याति का खण्डन करते हुए कहते हैं, कि अगर ऐसा माना जाता है कि भ्रम में अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है जो सच्चे रजत के रूप में मूल में ग्रहण किया जाता है, यह अन्यथा ख्यातिवाद सरीखा ही है। क्योंकि यहाँ भी एक वस्तु दूसरे रूप से ग्रहण होती है। इसके अतिरिक्त, यह समझना कठिन हो जाता है कि ऐसे अनिर्वचनीय रजत का ज्ञान, किस प्रकार उसे उठाने की सच्ची इच्छा उत्पन्न करेगा, जो सच्चे रजत के ज्ञान से ही शक्य है। इच्छा जो यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हो सकती है वह भ्रमयुक्त विचार से कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती। केवल एक भ्रमयुक्त विचार और सच्चे चमकते पदार्थ—रजत में समानता भी नहीं हो सकती।[2] तथाकथित अनिर्वचनीय रजत या तो सत् असत् स्वरूप या, या सत् असत् से भिन्न माना जाएगा, जो दोनों ही, व्याघातात्मक नियम और मध्याभाव-नियम के अनुसार असम्भव है। अगर तर्क देने के लिए यह मान भी लिया जाय, कि ऐसा तर्कातीत पदार्थ शक्य है, तो यह समझना कठिन हो जायगा कि रजत जैसी भावात्मक वस्तु के साथ उसकी समानता कैसे हो सकती है ? यह माना नहीं जा सकता कि यह सत् असत् रूप वस्तु, शून्य स्वरूप है, क्योंकि तब भी, इस शून्य पदार्थ और सच्चे रजत के बीच समानता समझना असम्भव हो जाएगा।[3]

---

[1] न च तद्वज्ज्ञाने स्त्वति वाच्यं। तदाकारस्य सत्यत्वे भ्रांतित्वानुपपत्तिः असत्वे तु न तस्य ज्ञानाकारता। तुच्छस्य वस्त्वाकारतानुपपत्तेः। तदा कारत्वे च ख्यातिरेव तुच्छेऽति शुक्तिकादौ न रजतार्थाप्रवृत्तिः।

—मेघनादारि नयद्युमणि (हस्त०)

मेघनादारि के आशय की मुख्य विचारधारा, अनन्ताचार्य के शब्दों में उनके ज्ञान यथार्थवाद (हस्त०) में इस प्रकार संक्षेप से कही जा सकती है, 'तथा च रजतत्वं शुक्तिनिष्ठा विषयता वच्छदेकत्वा भाववत् शुक्ति अवृत्तित्वात् यो यद् अवृत्तिः स तन्निष्ठ धर्म निरूपिता वच्छेदकत्वा भाववान् इति सामान्य व्याप्तौ दण्ड निष्ठ कारणता वच्छेदकत्वा भाववद् दण्डावृत्ति घटत्वादिकम् दृष्टान्तः।'

[2] 'तस्याऽनिर्वाच्य-रजततया ग्रहणाद् विपरीतख्याति-पक्षपातः''''संम्यग् रजत-धीर्हि प्रवृत्ति-हेतुः''''तस्य प्रतीत्यात्मक वस्त्वात्मक योर्भास्वरत्वादि सादृश्या-भावात्।'

—वही।

[3] एकस्य युगपत्सदसदात्मकाविरुद्ध-धर्मवत्वानुपपत्तेः। तदुपपत्तावपि सादृश्यानुपपत्तेश्च''''शून्य-वस्तूनि प्रमाणाभावात्। तत्सद्भावेऽपि तस्य रजत-सादृश्या भावाच्च ततो न प्रवृत्तिः।

—वही।

पुनः ऐसा कहा जाता है कि भ्रम स्वरूप रजत, इसलिए अनिर्वचनीय कहा जाता कि वह आत्मा जैसी शुद्ध सत्ता जो अनुभव में कभी बाधित नहीं होती, उससे भिन्न है (आत्मनो बाधायोगात्) और शशविषाण जैसी तुच्छ वस्तु से भी भिन्न है जो ज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकती। किन्तु, इसके उत्तर में, यह बराबर कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अगर आत्मा ज्ञान का विषय है तो वह जगत् की तरह मिथ्या होगी, और अगर वह ऐसी नहीं है तो उसकी कोई सत्ता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी सत्ता, सत्ता के जातिवाचक प्रत्यय से सम्बन्ध होने के कारण है, जबकि आत्मा एक है, ऐसा माना गया है इसलिए जाति उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।[1] पुनः परिवर्तनशीलता का अभाव, सत्ता का गुण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ज्ञात विषय परिवर्तनशील होने के कारण असत् है तो ज्ञाता स्वयं परिवर्तनशील विषय और अपरिवर्तनशील सम्बन्धों के साथ सहचार के कारण, मिथ्या हो जायगा। पुनः सत्ता, जैसा माना जाता है उतनी सर्वव्यापी नहीं है, क्योंकि वह, जिन पदार्थों से मानी गई है (घड़ा इत्यादि) उससे भिन्न है और अभाव से भी भिन्न है।[2] (अभाव को भाव पदार्थ मानने वाले मत में)। अगर आत्मा स्वयं प्रकाश माना जाता है, तब यह आक्षेप किया जा सकता है कि ऐसी स्वयं प्रकाशता प्रमाण से सिद्ध होनी चाहिए, और यह भी आग्रह किया जा सकता है कि जब तक आत्मा की सत्ता ऐसे सिद्ध नहीं की जाती, उसका स्वयं प्रकाश लक्षण भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।[3]

पुनः अख्यातिवाद, दो तरह से समझाया जा सकता है जिन दोनों में वह कुछ अर्थ में यथार्थ ख्याति कहा जा सकता है। पहले अर्थ में, भ्रम इस प्रकार उत्पन्न होना समझा गया है : नेत्र इन्द्रिय हमारे सामने किसी चमकते हुए से प्रभावित होती है, और यह चमकीलापन, रजत जैसा होने से रजत का चमकीलापन याद दिलाता है और क्योंकि चमकीलापन रजत में है या किसी और में है, यह स्पष्ट करना शक्य नहीं होता, और जबकि, सामने उपस्थित पदार्थ ऐसे अस्पष्ट चमकीलेपन से सम्बन्धित होता है, इसलिए, चमकीलापन अपने में से ही खड़ा किया हुआ विचार है ऐसा नहीं माना जा सकता,

---

1 तस्य दृश्यत्वानभ्युपगमे शशविषाणादि-साम्यम्। आत्मनः प्रमेयता च नेष्टेति, न ततस्तत्सत्ता-सिद्धि। तदभ्युपगतौ च प्रपंचवन्मिथ्यात्वं····आत्मव्यक्तेरेकत्वाभिमानात् तद्-व्यतिरिक्त-पदार्थस्यासत्वाभिमानाच्च सत्ता-समवायित्वानुपपत्तेः।
—मेघनादारि, नय द्युमणि।

2 अथ घटपटादि-भेदानां व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यम्····आत्मनोऽपि घटपटादि-सर्व-पदार्थेभ्यो व्यावर्तमानत्वान्मिथ्यात्वापत्तिः···· अभिव्यंजका पारमार्थ्येऽभिव्यंग्यापारमार्थ्यम् न च सत्वस्यैव समस्त-पदार्थेषु अनुवर्तमानं परमार्थ्यम्। घटादयोऽपि तदपेक्षया व्यावर्तन्ते····अभावस्य पदार्थान्तर-भावेऽपि तव सत्तानभ्युपगमात् सर्व-पदार्थानुवृत्त्य भावात्।
—वही।

3 न च तस्य स्वयं प्रकाशत्वान्न प्रमाणाऽपेक्षेऽति स्वयं प्रकाशत्वस्याऽपि प्रमाणाधीनत्वात् प्रमाणान्तर-सिद्धात्मनः स्वयं प्रकाशत्वस्य साध्यात्वच्च। नहि धर्म्यप्रसिद्धौ धर्म-साध्यता।
—वही।

किन्तु उसका सच्चा स्थान, उसमें है जो हमारी आँखों के सामने है ऐसा मानना पड़ता है, इस प्रकार रजत का विचार सच्चे ज्ञान का परिणाम है। अगर सीप, रजत रूप से ग्रहण किया जाता तो वह मिथ्या ज्ञान होता, किन्तु ऐसे ज्ञान में, सीप नहीं, किन्तु जो सामने है 'यह' वह रजत रूप से जाना जाता है। सामान्य उक्ति यह है कि विचार, जो विशेष व्यवहार से अनुगुण है, उसे, ऐसे व्यवहार में अनुभूत पदार्थ का सच्चा प्रतिनिधि मानना चाहिए (यदर्थ व्यवहारानुगुणा या धीः सा तदर्था)। यह उक्ति यहाँ इस तरह लागू होती है कि, सामने जो 'यह' है वह व्यवहार में ऐसा अनुभव किया जा सकता है, और रजत लक्षण भी सच्चे रजत को ठीक तरह लक्ष्य करते हैं। इसलिए 'यह रजत' विचार को, दो विचारों का समाहार (मिश्रण), 'यह' और 'रजत' का मिश्रण मानना चाहिए। इस प्रकार, उपरोक्त अर्थ में, ज्ञान, अख्यातिवाद के अनुसार सच्चा ज्ञान है। उपरोक्त स्पष्टीकरण के विषय में, यह आक्षेप किया जाता है कि जिस प्रकार गुण और धर्म के दोनों विचार, एक ही प्रत्यय में आ सकते हैं, तो एक ही भ्रमयुक्त-ज्ञान—'यह' 'रजत' में दो भिन्न विचारों की न्याययुक्त एकता ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं आ सकती। ऐसा एकीकरण (मिश्रण), यहाँ दो विचारों के एक ही क्षण में उत्पन्न होने से और दोनों के बीच अवकाश नहीं होने के कारण, शक्य है। यह अन्यथा ख्यातिवाद से भिन्न है, जिसमें एक पदार्थ दूसरा दीखता माना जाता है। इस मत के विरुद्ध पहला आक्षेप यह है कि, दोष, एक वस्तु को दूसरी वस्तु में परिणत नहीं कर सकता, दूसरा यह है कि, अगर भ्रम, एक वस्तु का दूसरा होकर दीखना माना जाता है तो, ऐसे दृष्टान्तों में, जिन्हें सच्चा ज्ञान माना जाता है, उनमें भी ऐसे भय को स्थान है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान शंकास्पद हो जायगा और यह हमें संदेहवाद के घाट उतारेगा। अगर, इसलिए, ऐसा सूचन किया जाता है कि भ्रम, सीप की उपस्थिति और रजत की स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के बीच का भेद का अग्रहण है, तो वह भी असंभव होगा। क्योंकि अगर भेद का अर्थ दो भिन्न वस्तु है (भेदो वस्तुस्वरूपमेव), तो भेद का अग्रहण (जो इस मत में भ्रम का मूल कारण माना है) प्रत्यक्ष और स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के तादात्म्य का ज्ञान होगा और वह विशेषण-युक्त प्रत्यय को नहीं समझा पायगा, जहाँ, एक विचार (रजत) दूसरे विचार ('यह' आँखों के सामने) को विशिष्ट करता दीखता है। तदुपरान्त, अगर दो स्वतन्त्र विचार, जो द्रव्य गुण रूप से सम्बन्धित नहीं है, एक ही प्रत्यय के रूप में मिथ्या ग्रहण किए जाते हैं, तो कोई भी विचार किसी से इस प्रकार एक किया जा सकता है, क्योंकि स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब जो हमारे भूतकाल के अनुभव में संगृहीत हैं, वे असंख्य हैं। पुनः रजत, जो भूतकाल में अनुभव किया गया था, वह जिस देश में विद्यमान था उस विशेष सम्बन्ध के साथ अनुभव किया गया था, और रजत की प्रत्यभिज्ञा और स्मृति भी उस देशिक गुण से सम्बन्धित होगी। यह द्रष्टा के सामने जो वस्तु है उसके साथ मिथ्या सम्बन्ध जोड़ना, दोनों में देशिक भेद होने के कारण, असम्भव कर देगा। अगर ऐसा विवाद किया जाय कि दोष के प्रभाव के कारण, स्मृति-जीवन-प्रतिबिम्ब का देशिक गुण बदल जाता है, तो वह अन्यथा ख्याति हो जायगी जो अख्यातिवाद में अमान्य रहेगा। पुनः जबकि दृश्य गुणों को किसी प्रकार के देशिक गुणों से सम्बन्धित होना आवश्यक है, चाहे फिर मूल देशिक गुण बदल जांय या परिणत हो जांय, तो ऐसे देशिक प्रतिबिम्ब को, द्रष्टा के सामने है ऐसा प्रतीत होने का कोई

कारण नहीं होना चाहिए। यह भी कहना आवश्यक है, स्मृति-प्रतिबिम्ब और प्रत्यक्ष के बीच विशिष्ट भेद को अवश्य ही देखा जायगा, क्योंकि अगर ऐसे विशिष्ट भेद नहीं देखे जाएँ, तो स्मृति-प्रतिबिम्ब, रजत-प्रतिबिम्ब से भिन्न जानी नहीं जा सकेगी। यह नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि प्रत्यक्ष, स्मृति-प्रतिबिम्ब से भिन्न किया जा सकता है किन्तु स्मृति-प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवेक लक्षण दोनों में एक ही है, जो सफेद चमकीलेपन से अन्य और कुछ नहीं है। अगर ऐसा आग्रह किया जाता है कि देशिक तथा अन्य विशिष्ट गुण स्मृति-प्रतिबिम्ब में आलेखित नहीं किए जाते, वह केवल प्रतिबिम्ब रूप से दीखती है, तो आक्षेप किया जा सकता है कि प्रत्येक स्मृति-प्रतिबिम्ब वर्तमान प्रत्यक्ष से संकीर्ण किया जा सकता है और एक पत्थर भी रजत दीख सकता है।

जबकि अनिर्वचनीय ख्याति और अख्याति दोनों ही, कुछ अर्थ में, यथार्थ ख्याति हैं. इसलिए मेघनादारि ने इन दोनों भ्रम के वादों का खण्डन किया और यह बताने का प्रयास किया कि इन मतों में यथार्थ ख्याति प्रतिपादित नहीं रहती। अब वे यह बताने का प्रयास करते हैं कि यथार्थ ख्याति के अन्य सभी सम्भावित अर्थ अप्रमाण हैं। यथार्थ ख्याति की मूल मान्यता यह है कि सभी ज्ञान, सच्चे ज्ञान की तरह, यथार्थ वस्तु के अनुरूप होने चाहिए।[1] इस प्रकार, दूसरे अर्थ-बोधनों में, यथार्थ ख्याति या आनुरूप्य सिद्धान्त का यह अर्थ हो सकता है कि ज्ञान, यथार्थ वस्तु से, या दृष्ट प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है या अर्थ हो सकता है कि वह अबाधित अनुभव है, पहला विकल्प प्रतिपादित नहीं किया जा सकता क्योंकि रजत सीप के भ्रम में भी रजत का विचार, यथार्थ वस्तु से उत्पन्न हुआ है। दूसरा मत भी अयोग्य है, क्योंकि दूसरे मतानुसार रजत के भ्रम युक्त ज्ञान के अनुरूप, वस्तु, वहाँ सीप में सचमुच उपस्थित नहीं है और जहाँ तक, भूत-काल में अनुभूत रजत की स्मृति-जनित प्रतिबिम्ब के व्यापार का प्रश्न है (पूर्वानुभूत-रजत-संस्कार द्वारा) उसका कारणत्व सच्चे और भ्रम-युक्त ज्ञान दोनों में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरा विकल्प, भी अमान्य है, क्योंकि बाधता का सम्बन्ध, ज्ञान से या विभावन से है वस्तु से नहीं है। अगर यह कहा जाता है कि ज्ञान, भ्रम के प्रत्यक्ष को लक्ष्य करता है, और इसलिए भ्रम-युक्त वस्तु ही जो बाहर (सामने) विद्यमान है वही ज्ञान का विषय है, तो स्पष्ट आक्षेप यह होगा कि ज्ञान, फिर, द्रष्टा के सामने अभ्रमयुक्त किसी वस्तु को लक्ष्य करता है और वह खण्डन नहीं किया जा सकता। अगर ज्ञान का विषय अभ्रमयुक्त कुछ वस्तु है, तो यह कहना व्यर्थ होगा कि भ्रमयुक्त प्रत्यक्ष आकार मात्र ही ज्ञान का विषय हो सकता है और अन्य नहीं हो सकता।

यह भी नहीं कह सकते कि भ्रम के ज्ञान का कोई विषय नहीं है (निर्विषय-ख्याति) और उसे ज्ञान इस कारण कहते हैं कि, यद्यपि वह सच्चे ज्ञान की तरह प्रवृत्ति उत्पन्न तो नहीं कर सकता, किन्तु प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकता है ऐसा भास उत्पन्न करता है; इसी में सच्चे ज्ञान से इसका साम्य है। यह इसी प्रकार है जैसे शरद् ऋतु के बादल

1 विप्रतिपन्नः प्रत्ययो यथार्थः प्रत्ययत्वात्,
सम्प्रतिपन्नप्रत्ययवदिति। —नय द्युमणि, (हस्त०) पृ० 140

वर्षा नहीं ला सकते किन्तु बादल अवश्य कहलाते हैं। भ्रमयुक्त ज्ञान का विषय, न केवल भ्रम ही है किन्तु 'यह' रूपी अभ्रम विषय है जिसे वह दृश्य रूप एवं विशेषण रूप से लक्ष्य करता है। सत्य तो वास्तव में यह है, ज्ञान को दृश्य रूप होने के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वस्तु के सभी गुण प्रत्यक्ष ही दीखें, अगर कोई भी लक्षण प्रकट हैं, तो वे ही केवल, ज्ञान के लिए, उस वस्तु की दृश्यता स्थापित करने को पर्याप्त हैं। वस्तुस्थिति इसलिए यह है कि सारे ज्ञान दृश्य जगत् के, विशेष पदार्थ के अनुरूप हैं और उन्हें लक्ष्य करते हैं, और तत्त्व–मीमांसायुक्त विश्वमीमांसावाद की पूर्व मान्यता से पृथक् किसी अन्य वाद से समझाया जा सकता है, जो होमोयमेरीया (HOMOIOMERIAE) वाद के निकट है।

अनन्ताचार्य, अपने 'ज्ञान-यथार्थवाद' में, मेघनादारि के दिए तर्कों की न्यूनाधिक रूप से पुनरावृत्ति करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान कभी भी दृश्य विषय के अनुरूप संबंध पर आधारित हुए बिना, शक्य नहीं हैं। इसलिए ज्ञान के अर्थ को दृश्य वस्तु के अनुरूप होना चाहिए जिसे वह लक्ष्य करता है। इस प्रकार, जबकि रजत का ज्ञान होता है (रजत सीप भ्रम में) तो उसे उसके अनुरूप दृश्य अधिष्ठान को लक्ष्य करना ही चाहिए।[1] भ्रम स्मृति प्रतिमा और प्रत्यक्ष के अविवेक युक्त ज्ञान से उत्पन्न होता है ऐसा मीमांसकों का ख्याल भी गलत है, क्योंकि ऐसी दशा में हमें रजत याद आता है ऐसा अनुभव होना चाहिए और न कि उसे, हमारे सामने दृश्य वस्तु के रूप में देखना।[2] मेघनादारि और अनन्ताचार्य यह सिद्ध करने का बड़ा परिश्रम करते हैं कि उनकी परिभाषा, सभी प्रकार के भ्रम के दृष्टान्तों और स्वप्न के भी उपयुक्त है। इस विषय का विस्तृत वर्णन करना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए आवश्यक है।[3]

ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त

प्रमाण, वस्तु का, यथार्थ ज्ञान है, (तथा भूतार्थ-ज्ञानं हि प्रमाणमुच्यते), और अप्रमाण या झूठा ज्ञान, वस्तु का अयथार्थ ज्ञान है (अतथा-भूतार्थ-ज्ञानं हि अप्रमाणम्)। ऐसी प्रमाणता मेघनादारि कहते हैं, ज्ञान द्वारा स्वयं प्रकट होती है (तथात्वावधारणांतमकं प्रामाण्यमात्मनैव निश्चीयते)। इस परिभाषा से यह आलोचना नहीं सिद्ध होती कि ज्ञान निष्क्रिय है अतः उसी समय सक्रिय नहीं माना जा सकता और इसलिए उसका प्रमाण निश्चित नहीं है (न च कर्म-कर्तृता-विरोध), क्योंकि जब वह पदार्थ का स्वरूपतः विश्वस्तः प्रतिनिधि है, इसलिए अपने स्वरूप को जैसा है वैसा प्रकट करना ही अपनी प्रमाणता को स्थापित करना है। अगर ज्ञान में अपनी प्रमाणता प्रकट करने की

---

[1] तथा च रजत तत्त्वं शुक्ति-निष्ठ-विषयतावच्छेदत्वाभाववत् शुक्त्यवृत्तित्वात् यो यदवृत्तिः स सन्निष्ठ-धर्म-निरूपितावच्छेदकत्वाभाववानिति।

—ज्ञान यथार्थवाद, हस्तलिखित।

[2] रजतस्मरणे इदं-पदार्थ-ग्रहण-रूप-ज्ञान-द्वय-कल्पने रजतम् स्मरामीति तत्रानुभव-प्रसंगः, न तु रजतं पश्यामीति, साक्षात्कारत्वव्यंजक-विषयतायाः स्मरणेऽभावात्।

—वही।

[3] वही। तथा मेघनादारि नय द्युमणि।

शक्ति नहीं है, तो प्रमाणता प्रकट करने का कोई भी रास्ता नहीं रहेगा क्योंकि कोई अन्य अन्तर्वर्ती व्यापार द्वारा, या किसी अन्य साधन के द्वारा, उसकी प्रमाणता की स्वीकृति हमेशा वही प्रश्न खड़ा करेगी कि उन व्यापारों या साधनताओं का साक्षित्व (प्रमाणता) किस प्रकार स्वीकार किया जाय। ऐसी मान्यता के अनुसार जबकि ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं है, प्रत्येक ऐसे प्रमाण को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण आवश्यक होगा, और इसके लिए और कोई दूसरा, इस प्रकार अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है।

मेघनादारि, अन्य मतों का खण्डन करते हुए, बताते हैं कि अगर प्रमाणता, ज्ञान के सामूहिक कारणों से मानी जाती है (जिससे, आत्मा, इन्द्रियाँ और पदार्थ का समावेश है) तो पदार्थ को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, और फिर कोई प्रमेय नहीं रहेगा। अगर, स्वीकृति चेतना स्वरूप मान ली जाती है तो स्मृति-ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वह चेतना स्वरूप है। आगे, अगर प्रमाण की स्वीकृति एक प्रकार की शक्ति है, तो ऐसी शक्ति अनुभवगम्य न होने के कारण उसे किसी अन्य प्रमाण द्वारा प्रकट करना पड़ेगा। यदि, पुनः प्रमाणता, ज्ञान के कारणों द्वारा उत्पन्न होती मानी जाती है, तो स्वतः प्रमाणता का सिद्धान्त त्याग देना पड़ेगा। निर्बाध व्यवहार भी, प्रमाणता की व्याख्या नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी अवस्था में स्मृति को भी स्वतः प्रमाण मानना पड़ेगा। इसे केवल ज्ञान ही है ऐसी परिभाषा भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि ज्ञान, अपनी प्रमाणता जानने के लिए पीछे नहीं देख सकता, इसलिए उसे किसी पर आश्रित होना पड़ेगा, तो इसका अर्थ यह रहेगा हमने परतः प्रमाणता स्वीकार कर ली है। पुनः उन दृष्टान्तों में,जहां भ्रम का कारण ज्ञात है, ज्ञान, मिथ्या होते हुए भी (अप्रतिहत) बिना प्रतिरोध के हमारे सामने प्रकट होता है, जैसे सूर्य की गति। प्रत्येक ज्ञान अपनी प्रमाणता से सम्बन्धित है, यह मान्यता, इन दृष्टान्तों में उपयुक्त नहीं होती। यदि पुनः, ऐसा माना जाता है कि जब कभी पिछला ज्ञान पहले ज्ञान को अस्वीकार करता है, तब हमारे पास पहला ज्ञान, पिछले क्षण के ज्ञान से किस प्रकार खंडित होता है उसका एक स्पष्ट दृष्टान्त होता है। ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि जब, किसी वस्तु का जातिगत ज्ञान, उसके सामान्य ज्ञान को हटाता है तब एक ज्ञान दूसरे का स्थानापन्न है ऐसा दृष्टांत हमारे पास होता है यद्यपि यहां पहले ज्ञान की आलोचना नहीं होती।

भाट्ट मतानुसार, जहां, विषय, उसके विशिष्ट ज्ञान लक्षण की अवस्था को पहुंचता है तब उसका ज्ञान, एक आन्तरिक व्यापार के रूप में अनुमित किया जाता है, तो यहां प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों, विषय पर ही आश्रित होनी चाहिए। किन्तु, यह आग्रह किया जाता है कि प्रमाणता, साधनों एवं ज्ञान की उपाधियों की दोष रहितता में पाई जाती है तो वह परतः प्रमाण बन जाएगा। प्रभाकर के मत में, हमें एक अधिक सुन्दर दृष्टान्त मिलता है जिसमें ज्ञान ही, ज्ञाता, विषय और ज्ञान को एक साथ प्रकट करता हुआ माना है, क्योंकि यहां ज्ञान को किसी बाह्य वस्तु पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। इस दृष्टान्त के अनुसार स्मृति स्वतः अप्रमाण हो सकती है जो पूर्व अनुभव पर आश्रित है। इस पर न्याय का आक्षेप यह है कि जबकि स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान

है, और जबकि सब ज्ञान स्वयं प्रकाश हैं, तो प्रभाकर मतवादियों को न्याय-संगति से (अविरुद्ध ही) स्मृति की स्वतः प्रमाणता माननी चाहिए ।

मेघनादारि मानते हैं कि ज्ञान की स्वतः प्रमाणता के विरुद्ध ये सब आक्षेप झूठे हैं, क्योंकि अगर ज्ञान की प्रमाणता को अन्य ज्ञान पर आधारित रहना पड़ता है तो अनवस्था दोष आता है । यदि, अनवस्था दोष दूर करने के लिए, किसी पीछे आने वाले ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लिया जाता है तो वह स्वतः प्रमाणता मान लेने के बराबर हो जाता है (अनवस्था परिहाराय कस्यचित् स्वतस्त्वांगीकारे च न परतः प्रामाण्यम्) । यह कहा जा सकता है कि हम प्रमाणता के ज्ञान से, कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु, प्रमाणता की सम्भावना से प्रवृत्त होते हैं जो हमारे विषय के प्रति प्रवृत्ति से परीक्षण (आज्ञाततया ज्ञाततयैव) किया जाता है । किन्तु ऐसी धारणा में प्रतिपक्षियों का परतः प्रमाणता पर झुकना निरर्थक है, क्योंकि ऐसी धारणा, इस मत पर खड़ी हुई है कि हमारी प्रवृत्ति ज्ञान की प्रमाणता को, पहले निश्चय किए बिना ही उत्पन्न होती है । जब हम यह देखते हैं कि एक व्यक्ति, वस्तु को देखकर, उसके प्रति प्रवृत्त होता है, हमारा स्वाभाविक तौर से यही मानना होता है कि उसे अपनी प्रवृत्ति के आधार पर अपने ज्ञान की प्रमाणता का अनुभव है, क्योंकि उसके बिना यत्न या प्रयास नहीं हो सकता । ऐसे दृष्टान्तों में प्रमाणता के ज्ञान बिना ही ज्ञान प्रमाण है, ऐसा विवाद करना नितान्त अर्थहीन है । सत्य तो यह है कि प्रमाण और उसकी प्रमाणता एक ही वस्तु है । प्रमाणता, उपस्थित ज्ञान के क्षेत्र के बाहर अन्य किसी में हैं, ऐसा सोचना गलत है । जब हम आग देखते हैं तो आग के विचार के साथ ही उसके दाहक गुण को भी ग्रहण करते हैं, किसी अदृष्ट शक्ति या आग की दाहक शक्ति को ग्रहण करने की राह नहीं देखते हैं । दाहक वस्तु के रूप में अग्नि के ज्ञान में ही, उसका दाहक शक्ति के साथ सम्बन्ध भी समाविष्ट है । दाहक शक्ति अकेली का ज्ञान हमें किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं करेगा, क्योंकि हम पदार्थ के ज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, उनकी शक्तियों से नहीं होते। इसलिए, पदार्थ को उसकी शक्ति से जुदा करना और शक्ति को हमारे प्रयास का कारण कहना गलत है । इसलिए, प्रमाण के ज्ञान में, उसकी प्रमाणता समाविष्ट होती है । इस प्रकार प्रमाणता को विषय-ज्ञान से भिन्न नहीं किया जा सकता ।[1] आगे. प्रमाणता की अव्याहतता के रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि अगर परीक्षण प्रत्येक ज्ञान पर किया जाए तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न हो जाएगी

---

1 वेंकटनाथ के मामा, रामानुजाचार्य एक आक्षेप की प्रतीक्षा करते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वस्तु को ही प्रकट करता है । ऐसी वस्तु का प्रकट होना ज्ञान सम्बन्ध को भी संकलित नहीं करता, जो आवश्यक रूप से अति भिन्न प्रकार का हो, क्योंकि ज्ञान का वस्तु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है । वस्तु मात्र का प्राकट्य बिना विशिष्ट ज्ञान-सम्बन्ध के इसलिए, विभावना का समावेश नहीं करता, यद्यपि, इस वस्तु की सत्यता, दूसरे क्षण में निश्चित की जा सकती है जब यह 'मैं इसे जानता हूँ' इस विभावना रूप से घटाया जाता है, वस्तु के प्रकट होने के क्षण में, उसकी प्रमाणता निर्धारित करने की कोई सम्भावना नहीं है । इसके उत्तर में रामानुजाचार्य कहते हैं कि वस्तु का प्रकट होना, आवश्यक रूप से ज्ञान सम्बन्ध को सामान्य रूप से समावेश करता है, और इसलिए विशेष क्षण में प्राकट्य के प्रकार से वस्तु को ग्रहण करने

किसी अनुभव की प्रमाणता के ज्ञान को, साधन और अनुभव की उपाधियों की दोष-रहितता या योग्यता पर आश्रित रहना पड़ता है तो, जबकि ऐसे ज्ञान की प्रमाणता को साधन एवं उपाधि की दोष रहितता के दूसरे ज्ञान पर आश्रित रहना पड़ेगा और उसे दूसरे पर, तो इस तरह स्पष्ट ही की अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है। जबकि ज्ञान साधारणतः विषय के अनुगुण है तो साधारणतया, ऐसे ज्ञान की उपाधि और कारणों की सदोषता से मूल (भ्रम) उत्पन्न होने का कोई भय नहीं रहना चाहिए, यह तो कोई विशेष उदाहरण में ही ऐसी शंका उत्पन्न होती है, और तब ज्ञान के साधन और उपाधि की सदोषता या योग्यता के विषय में परीक्षण करना पड़ता है। अगर प्रत्येक ज्ञान की प्रमाणता का परीक्षण होता है तो हम संदेहवाद के ग्रास हो जाएँगे। इस प्रकार, प्रमाणता यह अर्थ रखती है कि वस्तु का किसी प्रकार से प्रकट होना, किसी अन्य प्रमाण से दृढ़ीकरण की अपेक्षा नहीं रखता (प्रमाणान्तरानपेक्षयार्थावच्छिन्नत्वम्), और प्रमाणता में ऐसा विश्वास प्रमाण के साथ ही प्रकट होता है। स्मृति, तो पूर्वानुभव पर आधारित है, और इसलिए उसकी प्रमाणता में विश्वास, पूर्व ज्ञान की प्रमाणता पर आश्रित है, इसलिए इसे स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता।

वेंकटनाथ के मामा और आचार्य रामानुजाचार्य, इस आक्षेप का पूर्ण ग्रहण करते हैं कि अगर ज्ञान की स्वतः प्रमाणता स्वीकार की जाती है, तो किसी भी अनुभव के बारे में शंका उपस्थित नहीं हो सकती।[1] रामानुजाचार्य का उत्तर है कि सारे ज्ञान स्वतः प्रमाणता के सामान्य विश्वास से सम्बन्धित हैं, किन्तु इससे कोई विशेष दशा में संशय उत्पन्न होने से नहीं रुकता। इस मत के अनुसार स्वतः प्रमाणता का अर्थ यह है कि सभी ज्ञान स्वतः ही प्रमाणता के विषय सामान्य विश्वास उत्पन्न करते हैं यद्यपि ये विशेष दिशा में भ्रम का निष्कासन नहीं करते।[2]

वेंकटनाथ के अनुसार रामानुज सम्प्रदाय के सत्तामूलक पदार्थ

(क) द्रव्य

वेंकटनाथ ने, अपने 'न्यायसिद्धांजन' और 'तत्त्व-मुक्त-कलाप' में, रामानुज दर्शन में स्वीकृत या माने गए भिन्न पदार्थों का सरल वर्णन देने का प्रयास किया है, जिन्हें रामानुज ने, पाठकों के समक्ष प्रमुख रूप से नहीं रखा था। मुख्य विभाजन, द्रव्य और अद्रव्य

के साथ-साथ ही, किसी विशेष क्षण में विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध का प्रकार, भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार जबकि वस्तु का प्रकट होना, विशिष्ट ज्ञान सम्बन्ध को निर्दिष्ट करता है, तो सारे ज्ञान अव्यक्त रूप से विभावना जैसे माने जा सकते हैं और ज्ञान की स्वतः प्रमाणता पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

अगर ज्ञान और वस्तु सर्वथा पृथक् माने जाएं, जैसाकि उन्हें होना चाहिए, और अगर ज्ञान-सम्बन्ध वस्तु के साथ अव्यक्त रूप से नहीं दिया जाता, तो समस्त ज्ञान वस्तु-रहित हो जाएंगे, और इस प्रकार, भविष्य में उन्हें सम्बन्धित करना असम्भव हो जाएगा। —न्याय कुलिश (हस्त.)।

1 सामान्यस्य स्वतोग्रहेणाभ्यास-दशोत्पन्न-ज्ञाने तत्संशयो न स्यात्।
—तत्त्वचिन्तामणि (ए. एस. बी.), पृ० 184।

2 न्याय कुलिश, पृ० 27 (हस्त०)।

का है। द्रव्य वह है जिसमें दशाएं (दशावत्) हैं और जो विकार और परिणामशील है। द्रव्य को मानकर वे—बौद्ध मत, कि 'द्रव्य नहीं हैं, सारे पदार्थ केवल पृथक् तत्त्वों का क्षणिक समाहार है जो एक क्षण अस्तित्व रखते हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं,' इस मत का खण्डन करने का प्रयास करते हैं। वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि रूप, रस, स्पर्श और घ्राण ये चार मूल गोचर तत्त्व हैं, जो स्वयं गुण हैं और ये स्वयं किसी के गुण नहीं हैं। ये हमारी विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं।[1] वात्सी पुत्रीय सम्प्रदाय शब्द को, एक पृथक् गोचर तत्त्व के रूप में समावेश करता है जो श्रवणेन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है। इसके विरोध में वेंकटनाथ कहते हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुभव में, हमें ऐसा लगता है कि जिसे हम देखते हैं उसे हम स्पर्श करते हैं; यह अनुभव मिथ्या नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसी भावना नियत है और अनुभव में अबाधित है (स्वारसिक-बाधा-दृष्टेरनन्यथासिद्धेश्च)। ऐसा अनुभव, दृश्य क्षेत्र में एक नित्य पदार्थ के विचार की प्रत्यभिज्ञा को अनुमित करता है, जो अपरिणामी नित्य द्रष्टा द्वारा अनुभव किया जाता है और यह भी कि, दो गोचर गुण एक ही पदार्थ को लक्ष्य करते हैं। यह केवल रूप की संवेदना से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि रूप-संवेदना को अनुमित नहीं करती, न वह केवल स्पर्श को लक्ष्य करती है क्योंकि उसका रूप से सम्बन्ध नहीं है। प्रत्यक्ष, इसलिए, एक ही वस्तु को लक्ष्य करता है जिसमें स्पर्श और रूप के गुण हैं। प्रत्यभिज्ञा का ऐसा अनुभव, तत्त्वों के संघात के बौद्ध मत का भी खण्डन करता है। क्योंकि ऐसा मत स्वाभाविक ही प्रश्न खड़ा करता है कि संघात, तत्त्व जो एकीकृत होते हैं उनसे भिन्न हैं या एक ही हैं। पिछले विकल्प के अनुसार, पदार्थ एक ही है, जिसमें स्पर्श और रूप के गुण दोनों ही हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। पहले विकल्प में, जब संघात एकीकृत तत्त्वों से बाहर माना जाता है, ऐसा संघात भावात्मक या निषेधात्मक होना चाहिए। पहला विकल्प, द्रव्य को मान लेने के बराबर होता है, क्योंकि केवल संयुक्त गुणों के अस्तित्व की धारणा अस्वीकार्य की गई है, क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो, न तो द्रव्य हो या न गुण हो या न विशिष्ट करता हुआ सम्बन्ध ही हो। दूसरे विकल्प में, अगर संघात अस्तित्व नहीं रखता, तो वह प्रत्यभिज्ञा भी उत्पन्न नहीं कर सकता। अगर संघात, दृष्ट लक्षणों के बीच, अवकाश की अनुपस्थिति है ऐसा कहा जाता है तो भी, जब एक-एक गुण उसके योग्य इन्द्रियों का ही अनुसरण करते हैं तो यह असम्भव है कि दो इन्द्रियों द्वारा दो भिन्न इन्द्रिय-गुणों का अनुभव एक ही सामान्य पदार्थ को इंगित करे। संघात की देशिक एकता कहकर भी व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि, उसे संघात का विचार उत्पन्न करने के लिए कालिक एकता को भी साथ लेना पड़ेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि देश और काल दोनों एक ही हैं, क्योंकि ऐसा मत जो क्षणिकवाद के अनुसार सत्य है, क्षणिकवाद के खण्डन द्वारा मिथ्या है, ऐसा आगे बताया जायगा। देश भी आकाश के स्वरूप जैसा नहीं हो सकता, जो बौद्ध मतानुसार अनवरोध स्वरूप है और भावात्मक प्रत्यय नहीं है। देश की इन्द्रियगुणों के साथ भौतिक एकता

---

[1] एवं आहुर्वैभाषिकाः निराधारा निधर्मकाश्च रूपादयश्चत्वारः पदार्थाः।
तत्वमुक्ताकलाप।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 8।

भी नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न इन्द्रिय-गुण, भिन्न क्षणों के लक्षण माने गए है ।[1] अगर यह अर्थ है कि भिन्न इन्द्रियों के पीछे केवल एक ही पदार्थ है तो द्रव्य को मानना होता है ।[2] अगर, इन्द्रिय, गुण एक ही भौतिक पदार्थ में अस्तित्व रखने के कारण संघात रूप माने जाते हैं, तो भौतिक पदार्थ को, उसके मूल तत्त्व का अस्तित्व किसी अन्य पदार्थ में हैं, इस कारण संघात है ऐसा वर्णन करना पड़ेगा, और वह पुनः किसी अन्य पदार्थ में है और इस प्रकार अनवस्था दशा प्राप्त होती है । यह भी आग्रह नहीं किया जा सकता कि स्पर्श-संवेदना रूप-संवेदना से अनुमित की जाती है, क्योंकि ऐसा अनुमान, रूप और स्पर्श गुणों की व्याप्ति के ज्ञान को, उसकी पूर्व उपाधि के रूप में परिग्रहण करेगा, जोकि जब तक दोनों गुण एक ही पदार्थ में हैं ऐसा ज्ञान नहीं होता अशक्य है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्पर्श और रूप गुण दोनों आपस में सम्बन्धित हैं, यह इस भावना को उदय करता है कि जिसे हम देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं, क्योंकि ये दो संवेदनाएं स्वरूप से भिन्न जानी गई हैं और भिन्न इन्द्रियों से उत्पन्न हैं । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श करते हैं, ऐसा हमारा अंतः प्रत्यक्ष, वासना के व्यापार से है, इसलिए मिथ्या है, क्योंकि इसी सादृश्यता को लेकर और योगाचार के मत का अनुसरण करते हुए, हम बाह्य वस्तु का भी निषेध कर सकते हैं । अगर ऐसा कहा जाता है कि इन्द्रिय-गुण अनुभव में बाधित नहीं होते, और इस प्रकार विज्ञानवाद-मत मिथ्या है, तो यह अच्छी तरह बताया जा सकता है कि हमारा यह विचार कि हम पदार्थ का अनुभव करते हैं जिसमें स्पर्श और रूप गुण हैं ऐसा कहते हैं, यह भी अनुभव में बाधित नहीं होता । अगर ऐसा कहा जाता है कि यह अनुभव तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, तो समान प्रबलता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि बाह्य इन्द्रिय-गुणों के अस्तित्व को भी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । इसलिए, हमारा सामान्य अनुभव कि पदार्थ एक द्रव्य है जिसमें भिन्न इन्द्रिय–गुण हैं इसे अप्रमाणित नहीं किया जा सकता । वायु को छोड़कर अन्य चार तत्त्व स्वयं भिन्न लक्षण वाले हैं, और इसलिए वे रूप और स्पर्श गुण-युक्त इत्यादि देखे जाते हैं और वे भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं, यह भी मिथ्या है, क्योंकि यह आवश्यक रूप से इस धारणा का परिग्रहण नहीं करता कि वे भिन्न गुणों के आधार हैं, क्योंकि अनुभव यह बताता है कि पदार्थ, गुण-युक्त है ऐसा ही साक्षात् ज्ञान होता है (अनुभूति)। कोई भी घड़े को केवल दृश्य गुणके रूप में नहीं देखता, किन्तु उसे गुण युक्त पदार्थ ही देखता है । यह भी असंभव हैकि एक अगुण वस्तु के दो भिन्न स्वभाव हों, क्योंकि एक वस्तु, दो भिन्न स्वभाव वाली नहीं हो सकती । अगर ऐसा कहा जाता है कि एक ही पदार्थ में दो भिन्न गुण रह सकते हैं तो यह द्रव्य को मानने के बराबर हुआ जिसमें भिन्न गुण रहते हैं । यह भी मानना मिथ्या है कि रूप और स्पर्श गुण, एक साथ ग्रहण होते हैं इसलिए दोनों का एक स्वरूप है, क्योंकि एक ही भ्रम के दृष्टान्त में जहाँ सफेद सीप पीली दीखती है, तब सीप उसके सफेद गुण बिना ग्रहण होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे पीला रंग उसके अनुरूप पदार्थ के बिना ग्रहण होता है और यह नहीं कहा जा सकता कि, एक पीली सीप वहां पृथक् रूप से नईउत्पन्न

1 न चोपदानरूप: स्पर्शरूपादना भिन्न स्वलक्षणोपादानत्वाभ्युपगमा ।
....सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 9 ।

2 एकोपादानत्वे तु तदेव द्रव्यम् ।
—वही ।

होती है, क्योंकि ऐसा मत इस अनुभव से साक्षात् बाधित होता है कि हम पीला रंग देखते हैं और स्पर्श द्वारा उसका सीप के साथ तादात्म्य प्रतिपादन करते हैं। इसलिए, अनुभव युगपद् होने से, पदार्थ में गुण का समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है, तादात्म्य नहीं।

इसके अतिरिक्त, बौद्ध मतवादी भी यह सिद्ध नहीं कर सकते कि स्पर्श और रूप की संवेदना एक साथ होती है। अगर ऐसा होता है तो दो भिन्न इन्द्रियों का साक्ष्य स्वाभाविक ही दो भिन्न लक्षणों को सूचित करता है। जब पदार्थ समीप होता है तो उसका स्पष्ट ज्ञान होता है और वह जब दूर होता है तब उसका अस्पष्ट ज्ञान होता है। यह स्पष्टता और अस्पष्टता केवल इंद्रिय-गुणों को लक्ष्य नहीं करती क्योंकि तब उनका पदार्थ के रूप में भेद नहीं जाना जाएगा। वह परिणाम को भी लक्ष्य नहीं कर सकता, क्योंकि परिमाण का विचार बौद्ध मतवादी मिथ्या मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में, यह मानना पड़ेगा कि ऐसे प्रत्यक्ष पदार्थ को ही लक्ष्य करते हैं।

बौद्धमतवादी ऐसा आग्रह करते हुए देखे गए हैं कि अगर गुण द्रव्य से भिन्न माने जाते हैं, तो पूछा जा सकता है कि इन धर्मों के और भी आगे धर्म हैं या धर्म-रहित हैं। पिछले विकल्प में, धर्म-रहित होने से वे परिभाषित नहीं हो सकते या शब्दों में प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। पहले विकल्प में, अगर धर्म में और भी आगे धर्म हैं, तो दूसरी कक्षा के धर्मों को अन्य धर्मों द्वारा जानना पड़ेगा, और फिर उनको अन्य के द्वारा, और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। पुनः धर्मत्व स्वयं धर्म बन जायगा और यह नहीं कहा जा सकता कि धर्मत्व, धर्म का स्वरूप ही है, क्योंकि कोई भी वस्तु उसे ही लक्ष्य करके नहीं समझाई जा सकती। अगर धर्मत्व धर्म से भिन्न है तो ऐसा प्रत्यक्ष हमें अनवस्था स्थिति पर ले जाएगा। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि सारे धर्म धर्मरहित नहीं हैं। कुछ दृष्टान्तों में धर्म स्वयं विशेषित होता दीखता है, जो कि अनुभव से प्रमाणित है। उन दृष्टान्तों में जहाँ, धर्म निर्देश द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, जैसेकि, 'यह धर्म ऐसा है' (इत्थं भाव), वहाँ वह अपने ज्ञान के लिए अन्य धर्म पर आश्रित नहीं रहता। ऐसे गुणों के दृष्टान्त अमूर्त गुण एवं सामान्य के द्वारा दिए जा सकते हैं और उनसे विपरीत धर्मों के दृष्टान्त, विशेषण रूप गुणों द्वारा दिए जा सकते हैं जैसाकि 'सफेद घोड़ा' सफेद घोड़ा इस वाक्य में सफेद घोड़े के सफेदपन का आगे और विशिष्ट निर्देश हो सकता है, जबकि शब्द 'सफेदपन' स्वयं सिद्ध है और उसके बारे में विशेष निर्देश की जिज्ञासा अस्वीकार्य होती है। न्याय-दृष्टि से इन दोनों ही दृष्टान्तों में और अधिक विशिष्ट निर्देश की माँग की जा सकती है और अनवस्था दोष का भय भी हो सकता है, परन्तु अनुभव में ऐसा नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त हम, अभिज्ञा की अभिज्ञा होना आवश्यक है ऐसा समझने पर

---

1 उदाहृतेषु नियता-नियत-निष्कर्षक-शब्देषु जाति-
गुणादेः प्रधानतया निर्देशेऽपि सन्ति केचित्
यथा प्रमाणम् इत्थंभावाः त्वयाऽपि हेतु
साध्यादिधर्माणां पक्षधर्मत्वादि-धर्माः
स्वीकार्या अनवस्था च कथंचिद् उपशमनीया।
—तत्त्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 16।

अनवस्था स्थिति की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु यह केवल तर्क की पराकाष्ठा है, क्योंकि अभिज्ञा, अपने को प्रकट करने में, अपने बारे में ज्ञान होने के लिए सभी कुछ को प्रकट करती है और इस अनवस्था-क्रम को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार एक धर्म में और धर्म होना माना जा सकता है।[1] पुनः यह प्रतिपादन कि यदि धर्म स्वयं निर्धर्मी है तो वे अवाच्य हैं तो यह बौद्ध मतवादियों को स्वयं को महान् संकट में ला देगा, जब वे पदार्थ को स्वलक्षण्य निर्धर्मी और यदि जिसमें गुण नहीं है उसका वर्णन नहीं हो सकता, तो उसे स्वलक्षण कह कर विशेष निर्देश देना भी असम्भव है।[2]

ऐसा आग्रह किया जाय कि धर्म उसमें रहते हैं जो निर्धर्मी है या जिसमें धर्म है। पहले विकल्प का अर्थ यह होगा कि वस्तु अभाव रूप से अस्तित्व रखती है जो असम्भव है, क्योंकि सब कुछ सर्वत्र अस्तित्व रखेगा और तुच्छ वस्तु भी जो कहीं भी अस्तित्व रखती नहीं मानी गई है, वह भी अस्तित्व रखती मानी जाएगी। दूसरे विकल्प में, एक धर्म दूसरे धर्म में रहेगा, जो आत्माश्रय होने से, निरर्थक प्रत्यय है। वेंकटनाथ का इस पर यह उत्तर है कि वे ऐसा नहीं मानते हैं कि धर्म अभाव (निषेध) के प्रतियोगी में रहता है या उसमें है जिसमें वह अब भी है, किन्तु यह मानते हैं कि एक विशेषित पदार्थ में धर्म, विशिष्ट पदार्थ होने के नाते नहीं है किन्तु उससे पृथक् स्वीकार करने के कारण है।[3] यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि यह वास्तव में, अभाव प्रतियोगी में, धर्म का अस्तित्व मानने का पुराने आक्षेप को अनुमित करेगा। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विशिष्ट पदार्थ का विशेष रूप, उसके किसी अवयवों में नहीं रहता, और किसी भी अवयवों के गुण, अवयवी में न भी रहें।[4] अगर अतितर्कमूलक पद्धति से, विशिष्ट पदार्थ में धर्म के अस्तित्व के प्रकार की आलोचना की जाती है तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यय, बिना पर्याप्त आधार के है या स्वबाधित है या ऐसा प्रत्यय स्वयं अस्वीकार्य है। ये सब मत निरर्थक हैं, क्योंकि प्रतिपक्षी की प्रचंड आलोचना भी, अपने तर्क-साधनों में यही विशिष्ट पदार्थ के प्रत्यय का उपयोग करेगी। इसलिए, यह मानना पड़ता है कि धर्म, विशिष्ट धर्मों में अनुसक्त है, और यह अनुसक्ति अनवस्था दोष उत्पन्न नहीं करती।

(ख) प्रकृति की सत्ता के स्थापक सांख्य तर्कों की आलोचना

वेंकटनाथ, भौतिक मत के रूप में प्रकृति के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं, किन्तु वे यह सोचते हैं कि ऐसा सिद्धांत केवल शास्त्र प्रमाण से ही स्वीकारा जा सकता है, अनुमान

---

1 स्वीकृतं च संवेदनासंवेदने शब्द-शब्दादौ स्व-पर-निर्वाहकत्वम्। --वही।

2 किंच स्व लक्षणादीनां जात्यादीनां च संवृत्ति-सिद्धानां निर्धर्मकत्वेऽपि कथंचिद् अभिलाषार्थत्वं त्वयापि ग्राह्यम्। —वही।

3 वस्तुतस्तद् विशिष्टे विशेष्ये तद्विशिष्ट वृत्यभावे तच्छून्ये वृत्ति स्याद एव।
—वही, पृ० 17।

4 न च घटवती भूतले वर्त्तमानानां गुणादिनां घटेऽपि वृत्ते रदृष्टेः
—तत्त्वमुक्ता कलाप, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 18।

द्वारा नहीं। इसलिए, वे सांख्य के अनुमान की निम्न प्रकार से आलोचना करते हैं; न तो प्रकृति, और न उसके विकार, महत्, अहंकार, तन्मात्र इत्यादि प्रत्यक्ष द्वारा जाने जा सकते हैं, न वे अनुमान द्वारा ही जाने जा सकते हैं। सांख्यकार मानते हैं कि कार्य में वही गुण हैं जो कारण में होते हैं। कार्य रूप यह जगत्, सुख-दुःख मोहात्मक है, इसलिए, उसका कारण भी सुख-दुःख और मोहात्मक स्वरूप होना चाहिए। इस पर स्वाभाविक प्रश्न, कारण गुणों का कार्य के साथ सम्बन्ध में खड़ा होता है। वे एक नहीं हो सकते--कपड़े का श्वेतपन तंतु से जिसका कि वह बना है, अभिन्न नहीं है, पदार्थ रूप से कार्य, कारण गुणों से एक नहीं है, क्योंकि सफेद और कपड़ा दोनों एक नहीं हैं। आगे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कार्य और कारण का तादात्म्य केवल यह अर्थ रखता है कि कार्य कारण के अधीन है, जैसे जब कोई कहता है कि कपड़ा कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध से रहता है, अन्य किसी रूप से नहीं (अदृष्टेरेव तंतु-समवेतत्वात् पटस्य तंतुगुणत्वोक्तिः), क्योंकि स्पष्ट उत्तर यह है कि सांख्य स्वयं समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता, अवयव और अवयवी या पूर्ण और अंश में नितान्त भेद नहीं मानता। अगर ऐसा कहा जाता है कि अन्त में कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण में रहता है तो यह सूचन किया जा सकता है कि ऐसी स्वीकृति मात्र से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि इससे, कारण प्रकृति में कार्य पदार्थ जैसे गुण क्यों होने चाहिए, यह नहीं समझाया जा सकेगा (न कारणावस्थस्य सुख-दुःखाद्यात्मकत्व-सिद्धि)। अगर यह माना जाता है कि कार्य में, कारण जैसे गुण होते हैं तब भी यह इस सामान्य मान्यता के विरुद्ध है कि कार्य गुण कारण गुण से जनित हैं, और इसके अतिरिक्त, इस मान्यता का यह अर्थ होगा कि कार्य में कारण गुणों के सिवाय और कोई गुण नहीं होने चाहिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य कारण का सजातीय है (सजातीय गुणवत्वम्), क्योंकि सांख्यकार महत् का, कारण रूप प्रकृति से अस्तित्व भिन्न मानते हैं, एक भिन्न पदार्थ के रूप में मानते हैं (विलक्षण-महत्वाद्यधिकारणत्वाद्)। अगर ऐसा माना जाता है कि कार्य में केवल कारण के सदृश्य ही गुण होने चाहिए, तो इस स्वीकृति से ही यह माना जाएगा कि कार्य में वैसे ही गुण हैं जो कारण में हैं, तो कार्य कारण में भेद नहीं रहेगा। यदि पुनः यह माना जाता है कि कुछ ही विशेष गुण, जो कारण के अयोग्य नहीं हैं वे कार्य में स्थानान्तरित होते माने जा सकते हैं, और गुणों का, कारण से कार्य में संचारण का सम्बन्ध, कारण के मुख्य गुण के विशिष्ट निरीक्षण से मर्यादित किया जा सकता है, तो ऐसे दृष्टान्त जिसमें जड़ गोबर से जीवित मक्खी उत्पन्न होती है, वे कार्य कारण के दृष्टान्त के रूप में नहीं समझे जा सकेंगे।[1]

सांख्यकार तर्क करते हैं कि यदि शुद्ध चैतन्य स्वभावतः जगत् के पदार्थों के प्रति झुकता है तो मुक्त होने का कोई अवसर ही न रहेगा। इसलिए, उसका सम्बन्ध किसी

---

1 मृत सुवर्णादिवत् कार्ये विशेष व्यवस्थापक कारण स्वभाव साजात्य विवक्षायां गोमयं भक्षिकादि आरब्ध वृश्चिका दिषु व्यभिचारात्।

—तत्त्व मुक्ता कलाप, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 22।

अन्य मध्यस्थ पदार्थ द्वारा ही मानना पड़ेगा। यह इन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि मनस् उनके बिना भी जगत् के पदार्थों की कल्पना कर सकता है। जब मनस्, निद्रा में निष्क्रिय रहता है तब भी—वह अनेक पदार्थों के स्वप्न देख सकता है और इससे अहंकार तत्त्व की पूर्व मान्यता ग्रहण करनी पड़ेगी और गाढ़ निद्रा में, जब अहंकार का कार्य स्थिर माना जाय, तब भी श्वासप्रश्वास की क्रिया रहती ही है, जो एक दूसरे तत्त्व मनस् की, पूर्व मान्यता, की ओर ले जाती है। किन्तु जबकि इसका व्यापार सीमित है तो यह किसी अन्य कारण की पूर्व कल्पना को उपस्थित करती है, अगर इस कारण को भी सीमित माना जाता है तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न होती है। सांख्यकार, इसलिए इस पूर्व मान्यता पर रुक जाते हैं कि महत् का कारण असीम है और वह प्रकृति या अव्यक्त है। वेंकटनाथ का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का, जगत् के विषयों के साथ सम्बन्ध, कर्म के साधनत्व से है। विचार-व्यापार की सम्भावना के कारण मनस् की एक पृथक् तत्त्व के रूप में अस्तित्व का अनुमान करना भी अशक्य है। क्योंकि मनस् की पूर्व कल्पना भी विचार-व्यापार को नहीं समझा सकेगी, क्योंकि मनस्, विचार स्वयं उत्पन्न कर सकता है जिसके विचार-रूप विकार हैं ऐसा नहीं माना जा सकता। स्वप्नावस्था में भी, स्वप्न समझाने के लिए अहंकार की सत्ता को एक पृथक् तत्त्व के रूप में मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह मनस् को संस्कार के साथ रहकर कार्य-व्यापार से भी अच्छी तरह समझाया जा सकता है। गाढ़ निद्रा में श्वास-प्रश्वास-क्रिया, भी सामान्य जीव-पेशीय व्यापार से समझाई जा सकती है, और इसलिए, महत् की पूर्व कल्पना आवश्यक नहीं है।

यह भी सोचना मिथ्या है कि कारण, कार्य से अधिक अमर्यादित होना चाहिए, क्योंकि यह सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं है, जिसमें एक बड़ा घड़ा, मिट्टी के छोटे परिमाण के पिण्ड से बनाया जाता है। यह भी सोचना मिथ्या है कि जो कुछ भी कार्य में रहता पाया जाता है वह कारण में भी होना चाहिए (नहि यद् येनानुगतं तत्तस्य कारणमिति नियमः), क्योंकि गाय में जो भिन्न लक्षण पाए जाते हैं वे उसके कारण नहीं माने जाते। इसी मान्यता का यदि अनुसरण किया जाय तो हमें एक पृथक् कारण की अपेक्षा करनी पड़ेगी और प्रकृति के इस पृथक् कारण को प्रकृति के सामान्य गुणों तथा कार्य के विभिन्न विकारों की कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थात् ऐसी स्थिति में प्रकृति स्वयं का अलग कारण प्रतिपादित करना पड़ेगा। (व्यक्ताव्यक्त-साधारण-धर्माणां तदुभय-कारण-प्रसंगात् तथा च तत्त्वाधिक्य-प्रसंगः)। इस प्रकार यह तर्क कि कार्य में कारणगत वे गुण-तत्त्व अवश्य होने चाहिए, जो उसमें अनुगत हैं, यह मिथ्या है। मिट्टीपन जो घड़े में अनुगत है, वह घड़े का कारण नहीं है। पुनः यह तर्क कि जो पदार्थ कार्य-कारण-भाव से सम्बन्धित है उसका एक ही आकार होता है, यह भी गलत है, क्योंकि यदि यह सादृश्य तादात्म्य का अर्थ रखता है तो कार्य-कारण में भेद नहीं किया जा सकता। अगर सादृश्य का अर्थ कुछ सादृश्य गुणों से है, तो ऐसा सादृश्य किसी अन्य पदार्थ से भी हो सकता है (जो कार्य-कारण रूप नहीं हैं)। पुनः, इसी उपमान का सांख्य के पुरुष के सिद्धान्त पर प्रयोग करके (पुरुषों में चैतन्य का सामान्य गुण माना गया है), हम सांख्यकार को पुरुष का भी एक

कारण मानने के लिए कह सकते हैं। आगे, दो घड़े गुण में एक समान हैं इसी कारण से, वे एक ही मृत्पिण्ड से नहीं बने, और दूसरी ओर, हमारे पास ऐसे दृष्टान्त हैं, जिनमें, नितान्त भिन्न कारण से कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे गोमय से कीट। इस प्रकार, हमारे सुख-दुःख और मोहात्मक अनुभव से यह अनुमित नहीं होता कि सुख, दुःख और मोह के लक्षणों का एक सामान्य कारण होना चाहिए, क्योंकि ये अनुभव, किसी एक निर्दिष्ट दृष्टान्त में, निश्चित कारण द्वारा समझाए जा सकते हैं, और इसलिए, त्रिगुण के लक्षणों का एक सामान्य कारण स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि, साधारण सुख-दुःखात्मक अनुभवों को समझाने के लिए कारणरूप, एक सुख-दुःख-मिश्र-तत्त्व को कारण के रूप में स्वीकारा जाता है, तो इस मिश्र-तत्त्व के बारे में फिर प्रश्न खड़ा हो सकता है, जो अनवस्था की ओर ले जाएगा। यदि, तीन गुण जगत् के कारण माने जाते हैं, तो यह हमें, जगत् एक कारण से उत्पन्न है इसके स्वीकारने को बाध्य नहीं करेगा, क्योंकि यद्यपि, तीन गुण साम्यावस्था में हों, तो भी वे भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करने में निर्दिष्ट योग देते माने जा सकते हैं। इस प्रकार त्रिगुण या सांख्य की प्रकृति अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। शास्त्र ही एक मार्ग है जिससे यह सिद्धान्त जाना जा सकता है। तीन गुण प्रकृति में स्थित हैं, और सत्व, रजस् और तमस् की क्रमिक प्रधानता के अनुसार, तीन प्रकार के महत् उत्पन्न होते हैं। इन तीन महत् से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न होते हैं। पहले (सात्विक) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्तिम (तामसिक) अहंकार से, तन्मात्र (या भूतादि) उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार का अहंकार (राजसिक) ग्यारह इन्द्रियाँ और भूतादि उत्पन्न करने में सहायक रूप से कार्य करता है। कुछ ऐसा भी कहते हैं कि कर्मेन्द्रियाँ राजसिक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। यह स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि यह शास्त्र-विरुद्ध है। तन्मात्र, तामस अहंकार और भूत की स्थूल तात्विक अवस्था के विकास की सूक्ष्म अवस्था है।[1] शब्द तन्मात्र (शब्द शक्ति) भूतादि से उत्पन्न होता है, और उससे स्थूल शब्द तत्त्व उत्पन्न होता है। पुनः रूप तन्मात्र (प्रकाश ताप-शक्ति) भूतादि या तामस अहंकार से उत्पन्न होता है और उससे स्थूल ताप-प्रकाश तत्त्व उत्पन्न होते हैं इत्यादि। लोकाचार्य कहते हैं कि तन्मात्र और भूत की उत्पत्ति के विषय में दूसरा मत भी है जिसका शास्त्र में भी समर्थन प्राप्त होता है, इसलिए, वह उपेक्षा का पात्र नहीं है। वह इस प्रकार है, शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होते हैं और आकाश शब्द तन्मात्र से उत्पन्न होता है, आकाश पुनः स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न करता है और इससे वायु उत्पन्न होती है, तेजस् से रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे जल उत्पन्न होता है। जल से, पुनः गन्ध तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और इससे पृथ्वी।[2]

---

1 भूतानां व्यवहित-सूक्ष्मावस्था-विशिष्टं द्रव्यम् तन्मात्रं दधिरूपेण परिणममानस्य पयसो मध्यमावस्थावद् भूतरूपेण परिणममानस्य द्रव्यस्य ततः पूर्वाकाचिद् अवस्था तन्मात्रा।
—न्याय सिद्धांजन, पृ० 25।

2 यह मत विष्णु पुराण में माना गया है, 1–3–66 इत्यादि। यहाँ स्पष्ट कहा है कि आकाश भूतादि स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करते हैं। वरवर, लोकाचार्य-रचित

यह मत वरवर द्वारा इस मान्यतानुसार समझाया गया है, जैसे एक बीज, तुष-सहित होने पर ही अंकुर उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार तन्मात्र भी भूतादि के कोष में रहकर ही विकार उत्पन्न कर सकते हैं।[1]

उपरोक्त बोधार्थ के अनुसार विकासक्रम निम्न प्रकार है : भूतादि से शब्द तन्मात्र उत्पन्न होता है। फिर ऐसे शब्द तन्मात्र से स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो शब्द तन्मात्र को आवृत्त करते हैं। शब्द तन्मात्र द्वारा आवृत्त स्पर्श तन्मात्र, आकाश की आवश्यक सहायता से वायु उत्पन्न करते हैं। फिर इस स्पर्श तन्मात्र से रूप तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। रूप तन्मात्र, बारी से, स्पर्श तन्मात्र को आवृत्त कर रूप तन्मात्र, वायु की सहायता से तेजस् उत्पन्न करता है। पुनः रूप तन्मात्र से रस तन्मात्र उत्पन्न होते हैं जो रस तन्मात्र को आवृत्त करते हैं। रूप तन्मात्र से आवृत्त रस तन्मात्र से तेज की सहायता से अप उत्पन्न होता है जो पुनः रस तन्मात्र से आवृत्त हो, पानी की सहायता से पृथ्वी उत्पन्न करता है।[2]

वरवर कहते हैं कि 'तत्त्व निरूपण' में उत्पत्ति का दूसरा विकास-क्रम निम्न प्रकार दिया है। शब्द तन्मात्र भूतादि से उत्पन्न होता है उसकी स्थूल अवस्था से आकाश उत्पन्न होता है। भूतादि, शब्द तन्मात्र और आकाश को आवृत्त करता है। भूतादि से आवृत्त स्थूल आकाश की सहायता द्वारा परिणत शब्द तन्मात्र से, स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है और ऐसे स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न होती है। शब्द तन्मात्र फिर स्पर्श तन्मात्र और वायु, दोनों को आवृत्त करता है और वायु की सहायता द्वारा, परिणत स्पर्श तन्मात्र से, रूप तन्मात्र उत्पन्न होता है। रूप तन्मात्र से उसी प्रकार तेजस् उत्पन्न होता

'तत्त्वत्रय' पर अपनी टीका में यह बताना चाहते हैं कि पराशर की टीका के अनुसार इसे तन्मात्र से तन्मात्र की उत्पत्ति के रूप में समझाया है, यद्यपि यह विष्णु पुराण के व्यक्तार्थ का विरोध करता है जबकि उसमें भूतादि से तन्मात्र की उत्पत्ति मानी है। वे आगे और सूचित करते हैं कि महाभारत (शान्ति पर्व मोक्ष धर्म, अ० 30) में 16 विकार और आठ कारण (प्रकृति) का वर्णन है। किन्तु, इस सोलह विकारों की गणना में (11 इन्द्रियाँ और पाँच पदार्थ-शब्द इत्यादि) पंच तन्मात्र और पंच-भूत में पृथक्कता नहीं की गई है, क्योंकि इन दोनों में, स्थूल, सूक्ष्म की अवस्था होने के कारण, मूल भेद नहीं है (तन्मात्राणां भूतेभ्यः स्वरूप-भेदाभावादवस्था-भेद-मात्रत्वात्)। इस बोधार्थ के अनुसार, आठ प्रकृति से तात्पर्य प्रकृति, महत् अहंकार और पाँच भूत स्थूल रूप से है। सोलह विकारों में समाविष्ट पाँच पदार्थ तन्मात्र हैं, जो भूतों की मूल अवस्था के परिणाम माने हैं।

1 यथा त्वक्-शून्य बीजस्यांकुर-शक्तिर्नास्ति,
तथा वरण शून्यस्योत्तर-कार्य-शक्तिर्नास्तीतिभानात्
कारण गुणं विनोत्तरोत्तरगुणविशेषेषु····
स्व विशेष्योऽक्त-गुणातिशयानुपपत्तेः।

—'तत्त्वत्रय' पर वरवर का भाष्य, पृ० 38।

2 'तत्त्वत्रय' पर वरवर का भाष्य, पृ० 39।

है, इत्यादि । इस मत में, स्पर्श और अन्य तन्मात्रों की उत्पत्ति के लिए पूर्वगामी भूतों की सहायता आवश्यक पायी गई है ।

वेंकटनाथ इस मत को स्वीकारते हैं कि आकाश का स्थूल भूत, पिछले भूतों को उत्पन्न करने में सहायक का कार्य करता है, इसलिए वे, तन्मात्रों के सहयोग से स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है, ऐसे सांख्य मत की आलोचना करते हैं ।[1] सांख्यकार पुनः सोचते हैं कि प्रकृति से भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति, अंतःस्थित हेतु के कारण है, पृथक् कारकों के व्यापार से नहीं है । वेंकटनाथ, रामानुज के निष्ठावान् अनुयायी होने से, इसका खण्डन करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रकृति का परिणाम-क्रम, स्वयं ईश्वर के प्रेरक व्यापार द्वारा ही हो सकता है ।

(ग) अवयवी और अवयव के सम्बन्ध में न्याय परमाणुवाद का खंडन

अवयव एक दूसरे से सम्बन्धित रहकर अवयवी को बनाते हैं, और अन्त में अविभाज्य परमाणु संयुक्त होकर एक अणु बनाते हैं, न्याय के इस मत का खण्डन करने में, वेंकटनाथ निम्न तर्कों का प्रयोग करते हैं । अवयवों के संयोग द्वारा (अणु से आरम्भ होकर) अवयवी का अवयवों के साथ संयोग का जहां तक प्रश्न है, वेंकटनाथ को इस पर कोई आक्षेप नहीं है । उनका आक्षेप, अणु के बनाने में, परमाणु के संयोग की सम्भावना के विरोध में है । यदि परमाणु अपने अवयव द्वारा संयुक्त होते हैं तो इन अवयवों के अन्य अवयव होने की कल्पना की जा सकती है और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है । यदि वे अवयव, अवयवी से भिन्न नहीं माने जाते हैं, तो भिन्न परमाणु, उसी अणु के देश में रहते हैं, ऐसा भली प्रकार माना जा सकता है, और इस प्रकार, वे घटक परमाणु से अधिक वृहत्तर परिणाम की राशि उत्पन्न नहीं करेंगे । और यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि अवयव की उपस्थिति के बिना अवयवी कैसे बन सकता है । इसी तर्क को लेकर, यदि परमाणु का संयोग, बृहत्तर परिमाण की उत्पत्ति को नहीं समझा सकता, तो राशिभूत होकर भिन्न परिमाण के पदार्थ (पर्वत, या राई का बीज) की सम्भावना समझ के बाहर ही हो जाएगी । यदि ऐसा कहा जाता है कि अवयव, परमाणु के भिन्न पार्श्वों को लक्ष्य करते हैं, तब भी, यह भी कहा जा सकता है अवयव-रहित परमाणु में पार्श्व हो नहीं सकते ।

ऐसा माना गया है कि, ज्ञान, एक होते हुए भी अनेकों को लक्ष्य कर सकता है, यद्यपि वह अखंड है । इस सम्बन्ध में यह आग्रह किया जा सकता है कि, यदि वह सभी पदार्थों को एक साथ लक्ष्य करता है तो घटक तत्त्व पृथक् रूप से लक्षित नहीं होंगे, और वह पदार्थों को भी पृथक् अंशों में लक्ष्य नहीं करेगा, क्योंकि तब बुद्धि स्वयं अखण्ड (निरवयव) न होगी । नैयायिक भी इसी सादृश्य को लेकर आग्रह कर सकते हैं कि

---

1 सांख्यस्तु पंचापि तन्मात्राणि साक्षात्तमसाऽहंकारोत्पन्नानि तत्र शब्द तन्मात्रं आकाशारम्भकमितराणि तु तन्मात्राणि पूर्व-पूर्व-तन्मात्र-सहकृता-न्युत्तरोत्तर-भूतारम्भकानित्याहुः, तदसत् । आकाशात् वायुरित्याद्यन्यथा सिद्धापादान-क्रम-विशेषाभिधान-दर्शनात् ।
——न्याय सिद्धांजन, पृ० 25–26 ।

आदर्शवादी इस कठिनाई का जो भी हल कर पाएँगे, वह परमाणुवाद के भी उपयुक्त होगा। इस पर आदर्शवादी का स्पष्ट उत्तर यह कि ज्ञान के विषय में, अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह एक और अखण्ड होते हुए भी अनेकों को लक्ष्य कर सकता है, पर नैयायिकों के पक्ष में ऐसा कोई लाभ नहीं है, क्योंकि नैयायिक यह नहीं मानते कि अवयवी कभी भी बिना अवयव के संयुक्त हो सकता है। बौद्ध मत के संघातवाद के प्रति यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि संघात संयोग से नहीं बनता है। परिच्छिन्न का विभु के साथ सम्बन्ध के विषय में नैयायिक आक्षेप तो करते देखे जा सकते हैं, किन्तु ऐसा सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि नहीं तो आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि आत्मा या आकाश का पदार्थों के साथ सम्बन्ध समझाया नहीं जा सकेगा, यह भी नहीं माना जा सकता कि विभु पदार्थ के अवयव हैं। इसलिए अन्ततः यह मानना पड़ता है कि अखण्ड विभु पदार्थ का परिच्छिन्न वस्तु से सम्बन्ध है, और यदि उनकी प्रक्रिया मान ली जाती है, तो वही अवयव-रहित परमाणु के संयोग को भी समझा सकता है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि विभु का परिच्छिन्न पदार्थों के साथ सम्बन्ध का दृष्टान्त हमारे सामने तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हमने अवयवी में कुछ निर्दिष्ट गुणों के खण्डन की कोशिश की होती, किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य नैयायिकों की इस असंगति को बताना है कि सभी अवयवी के संयोग, तथा-कथित निरवयव परमाणु के संयोग द्वारा होने चाहिए। वास्तव में, भूल, निरवयवी परमाणु की मान्यता में रही है। यदि ऐसा माना जाता है कि अणु का विभाजन अन्त में, अवयव-रहित परमाणु पर ही हमें ले जाएगा, तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि अवयवों के विभाजन से हम निरवयव पर नहीं जा सकते, और अच्छा यही होगा कि सरेणु को ही सबसे छोटे अंश के रूप में मान लिया जाय। अगर ऐसा कहा जाता है कि सारे त्र्यसरेणु ही परमाणु हैं, तो वह अदृश्य होगा, स्पष्ट उत्तर यह है कि परमाणुत्व और अदृश्यता में साधारणतया ऐसी व्याप्ति नहीं है। अच्छा उपाय यही है कि त्रसरेणु को ही भूत का अन्त्य परमाणु मान लिया जाय। इसलिए, द्व्यणुक को भी मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

वेंकटनाथ, और आगे, अवयव से अवयवी के बनने के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं, और बताते हैं कि यदि इसे स्वीकारा जाता है तो पदार्थ का भार परमाणु के भार से होना चाहिए, किन्तु नैयायिकों के अनुसार परमाणु में भार नहीं माना गया है। योग्य मत, इसलिए, यह है कि कार्य, या तथाकथित अवयवी, अवयव की परिणत या विकार अवस्था मानी जाय। इस मत के अनुसार कारण-व्यापार का कारण पदार्थ की दशा में परिवतन करना न्याययुक्त हो जाता है और कार्य में या अवयवी में नया पदार्थ उत्पन्न करना युक्त नहीं होता, जैसाकि नैयायिक मानते हैं। पुनः अवयव से अवयवी उत्पन्न होने के विषय पर विचार करते समय जब तन्तु पट का कार्य माना जाता है तो यह देखा जा सकता है कि उत्पत्ति के क्रम में एक तन्तु के बाद दूसरे के संयोग द्वारा कई नई विभिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। ऐसे प्रत्येक योग से एक नया अवयवी बनता है, जबकि क्रम कहीं भी समाप्त किया जा सकता है, और ऐसे मत में दूसरा अवयवी उत्पन्न करने के लिए अवयवी में अवयवों का योग करना पड़ता है।

यह स्पष्ट ही न्याय मत से विरुद्ध है, जो उस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करेगा जिसके अनुसार अवयव का अवयवी से जोड़ करने से ही दूसरा अवयव उत्पन्न होता है। नैयायिक आग्रह करते हैं कि यदि अवयवी को अवयव से पृथक् नहीं माना जाएगा और अवयवी परमाणु के संयोग से अन्य कुछ नहीं है यह समझा जाएगा, तो परमाणु अदृश्य होने से अवयवी भी अदृश्य रहेगा। स्थूल अवयवी के उत्पादन की अस्वीकृति से तथा-कथित यह स्पष्टीकरण, कि परमाणु में स्थूलता का भ्रम है, भी अस्वीकृत हो जाएगा।[1] प्रश्न अब यह है कि स्थूलता का क्या अर्थ है। अगर इसका अर्थ नया परिणाम है तो वह रामानुज मत में स्वीकृत है, जिसमें पृथक् अवयवी की उत्पत्ति नहीं मानी है, क्योंकि जिस प्रकार परमाणुवादी, परमाणु से नए अवयवी का उत्पन्न होना सोचेंगे, उसी प्रकार रामानुज भी नए परिमाण की उत्पत्ति मान लेंगे। यदि नैयायिक इस पर आक्षेप करते हैं और यह आग्रह करते हैं कि परमाणु से नया परिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता तो उनसे पूछा जा सकता है कि वे फिर पृथक् पदार्थों के समाहार के बहुत्व के प्रत्यय को किस प्रकार समझाएँगे, जिनमें से प्रत्येक स्वयं में एक माना जा सकता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि बहुत्व के रूप में संख्या का प्रत्यय विविधता को ग्रहण करना, मन की दोलायमान स्थिति से उत्पन्न होता है, तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि ऐसी दोलायमान स्थिति के अभाव में पृथक्कता ग्रहण नहीं की जा सकती, जिससे स्थूल परिमाण का प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, इस तथ्य में कोई असंगति नहीं है कि यदि अवयव अदृश्य हो, पर अवयवी दृष्ट हो। यदि स्थूलता का अर्थ, पृथक् अवयव द्वारा अधिक देश वेष्टित करना है, तब भी यह अस्वीकृत है, क्योंकि छोटे अंशों के समाहार में वे भिन्न देशिक इकाई वेष्टित करते जाने जाते हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जब कोई पृथक् अवयवी उत्पन्न होते नहीं माने हैं इसलिए स्थूल परिमाण दृष्ट नहीं होता, तो स्पष्ट उत्तर यह होगा कि स्थूलता के ज्ञान का अवयवी के ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्व्यणुक की उत्पत्ति होने से पहले भी, संयोग करते परमाणु, अपने व्यक्तिगत रूप से समष्टि रूप से अधिक देश वेष्टित करते मानने पड़ेंगे, नहीं तो वे अपनी समष्टि से वृहत् परिमाण उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार, अवयव से पृथक् अवयवी की उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं है। तन्तु के विशिष्ट प्रकार के संयोग में, जिसमें नैयायिक सोचते हैं कि कपड़ा उत्पन्न होता है, रामानुजवादी सोचते हैं कि तन्तु उसी दशा में कपड़ा है और कोई पृथक् कपड़े की उत्पत्ति नहीं होती।[2] किन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि पदार्थ की

---

1 स्थूल-द्रव्याभावे चाणु-संहतौ स्थूलत्वाध्यासो न सिद्ध्येत।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 46।

2 यदि संसृष्टास्तंतव एव पटस्ततस्तन्तु राशि मात्रेऽपि पट धीः स्यादित्याह संसर्गादेरिति। नहि त्वयाऽपि तंतु संसर्ग-मात्रम् पटस्यासमवायि-कारण-मिष्यते तथा सति कुविन्दा-दि-व्यापार-नैरपेक्ष्य-प्रसंगात् अतो यादृशा संसर्ग विशेषादवयवी तवोत्पद्यते तादृश-संसर्गविशिष्टास्तन्तवः पर इति क्वातिप्रसंगः।

—क्वाति प्रसंगः, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 48।

दशा में थोड़े से भी परिवर्तन से वह नया पदार्थ बन जाएगा, जहाँ तक कि वह पदार्थ पर्याप्त रूप से इतना अपरिवर्तित है कि वह वैसा ही है, ऐसा व्यवहार दृष्टि से जाना जाता है। रामानुजवादियों के अनुसार कारण-व्यापार, वर्तमान में अस्तित्व रखने के कारण पदार्थ में, केवल दशा और अवस्था का नया परिणाम ही लाता है। यह इस प्रकार सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है, जिसके अनुसार कार्य, कारण-व्यापार के होने से पहले ही, कारण में रहता है, वेंकटनाथ इसलिए सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं।

(घ) सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन

सांख्य, कार्य, (घड़ा) कारण (मिट्टी) में पहले से ही विद्यमान रहता है ऐसा सोचने में गलती करते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो कारण-व्यापार निरर्थक होता है। सांख्य यह अवश्य कह सकता है कि कारण-व्यापार, कारण में जो अव्यक्त है उसे प्रकट करता है, कारण-व्यापार का कार्य, इस प्रकार प्रकट करना है, उत्पन्न करना नहीं है। यह तो मिथ्या है, क्योंकि प्रकटीकरण (व्यंग) और कार्य ये दो भिन्न प्रत्यय वाले, दो भिन्न शब्द हैं। व्यंग, व्यक्त करने वाले कारक के व्यापार में ही केवल, सहकारी के सहयोग से, पदार्थ को, किसी देश में, किसी विशिष्ट इन्द्रिय के लिए प्रकट कर सकता है, जहाँ प्रकट करने वाला कारक अस्तित्व रहता है।[1] यह पहले सिद्ध किया जाएगा कि पूर्व विद्यमान कार्य व्यक्त होता है उत्पन्न नहीं होता, तभी कारण-व्यापार की उपाधियों के विषय में यह जिज्ञासा उपयुक्त होगी कि वे व्यंजक, कारक की आवश्यक उपाधियां संतुष्ट करती हैं या नहीं। किन्तु सांख्य ऐसा सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते। सांख्यकार कहते हैं कि कार्य, कारण-व्यापार के पहले ही अस्तित्व रखता है, किन्तु कारण-व्यापार स्वयं ही कार्य है, और यदि उनका पहला कथन सत्य है तो वह जब कार्य अव्यक्त था तब अविद्यमान था। यदि कारण-व्यापार, कारण के अस्तित्व के समय भी था, तो कार्य भी, कारण में व्यक्त रूप से उपस्थित रहा होगा। सांख्य कहते हैं, असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और इससे यह अर्थ निकलता है कि वस्तु सत् है क्योंकि वह उत्पन्न की जा सकती है, जो, स्पष्ट रूप से स्वबाधित है। कार्य, कारण में पूर्व से ही सत् है यह मत, अन्तिम आश्रय के रूप में मान लिया जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अन्यथा सिद्ध के रूप में उत्पत्ति के प्रसंग को भलीभांति समझा जा सकता था यदि अन्य मत उपलब्ध न होते, किन्तु कारण का सामान्य विचार, नियत अन्यथासिद्ध के रूप में उत्पत्ति के प्रसंग को भलीभांति समझा जा सकता है। इसलिए, ऐसे निरर्थक सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनः कार्य, कारण से, अव्यक्त शक्ति से अन्यथा कुछ नहीं है ऐसा मानने के बदले, यह कहना और अच्छा होगा कि कारण में ऐसी शक्ति है कि

---

1 कार्य-व्यंग्य-शब्दौ च व्यवस्थित-विषयौ लोके दृष्टौ कारक-व्यंजक-भेदाश्च कारकं समग्रमपि एकमुत्पादयति व्यंजकंतु सहकारि-सम्पन्नं समानेंद्रिय-ग्राह्यम् समानदेश-स्थानि तादृशानि सर्वाण्यपि व्यनक्ति।
— वही, पृ० 55–56।

जिससे वह विशिष्ट दशाओं में कार्य उत्पन्न कर सकता है।[1] पुनः उपादान और सहकारी कारण के विषय में सोचा जाय कि यदि वे प्रयत्न प्रेरित करते हैं, जैसाकि वे सचमुच करते हैं तो उन्हें भी कार्य की अव्यक्त स्थिति के रूप में स्वीकारना चाहिए। किन्तु, सांख्यकार इसे नहीं स्वीकारते, क्योंकि उनके अनुसार उपादान कारण ही अव्यक्त कार्य माना गया है। नहीं तो, पुरुष भी, जो प्रयोजनवत्ता की दृष्टि से, जगत् का उपादान कारण माना गया है, उसे प्रकृति का अंश मानना पड़ेगा। पुनः नष्ट करने वाले कारक देखिए। क्या नष्ट करने वाले कार्य नष्ट करने वाले कारण में पहले से हैं ? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वह उसे नष्ट नहीं कर सकता।[2] यदि ऐसा नहीं है और यदि वह नाशक से नष्ट हो जाता है, तो सब कुछ सब कुछ से नष्ट हो सकता है।

उपादान कारण के कार्य के बारे में यह बताया जा सकता है कि जिसमें से कार्य उत्पन्न किया जाता है (तज्जन्यत्व) ऐसी उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि तब निमित्तकारण का भी उपादान में समावेश हो जाएगा। उसे विकार भी नहीं कहा जा सकता (तद्विकारत्व), क्योंकि तब कार्य, कारण का केवल गुण ही होगा, और कार्य और कारण में भेद न रहेगा। किन्तु हम देखते हैं कि पट तन्तु से भिन्न है।[3] यदि कार्य कारण से अभिन्न इस कारण माना जाता है कि यद्यपि कार्य कारण में कोई संयोग नहीं हो सकता तो भी पहला दूसरे से कभी बाह्य नहीं है, तो उत्तर यह है कि जिस मत के अनुसार कार्य पदार्थ नहीं है तो वहाँ संयोग आवश्यक नहीं है और यदि वह कारण का गुण है तो वह कभी उसके बाहर नहीं है।[4] कार्य एक अभिव्यक्ति है इस मत पर, यह पूछा जा सकता है कि ऐसी अभिव्यक्ति नित्य है या स्वयं भी कार्य है। पहले विकल्प में, अभिव्यक्ति के लिए कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरे विकल्प में, यदि अभिव्यक्ति, एक पृथक् कार्य माना जाता है तो यह सत्कार्यवाद का अंश में त्याग के समान होगा। यदि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए, कारण-व्यापार आवश्यक है, तो अनवस्था स्थिति उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त, अभिव्यक्ति को ही कार्य माना जाता है, तो जबकि वह पहले नहीं था उसका उत्पन्न होना सत्कार्यवाद का त्याग होगा।

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि कार्य की उत्पत्ति कार्य जैसे स्वरूप से नहीं है, क्योंकि हमेशा यही कहा जाता है कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार,

---

1 यथा सर्वेषु द्रव्येषु तिला एव तैल गर्भाः स्वकारण शक्त्या सृज्यंते
तथा तत्तत् कार्य नियत पूर्व भावितया तत्तद् उत्पादका स्वभावास्ते ते
भावास्तथैवेति स्वीकार्यम्। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 59।

2 नाशकेषु च नाश्य-वृत्तिरस्ति न वा। अस्ति चेत् षह्नौ तूलवद् विरोधः, न चेत् कथं तदैव तस्य नाशकम्। —वही, पृ० 60।

3 तद्धर्मत्व-हेतूक्त-दोषादेव उभयत्र पटावस्था तंत्वात्भा नभवति तन्तुभ्यो भिन्नत्वात् घटवदिति प्रतिप्रयोगस्य शक्यत्वाच्च। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 60।

4 तादात्म्य विरहेऽपि अन्यनरस्या द्रव्यत्वात् संयोगाभावः तद्धर्म-स्वभाव-त्वादेव अप्राप्ति-परहारादिति अन्यथासिद्धस्य असाधकत्वात्। —वही, पृ० 61।

कार्य उत्पत्ति से भिन्न है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर कार्य व्यक्त हो सकता है इसे मान लेने में क्या कठिनाई है? यदि उत्पत्ति शब्द अधिक न्याय-युक्त समझा जाता है, तो उसके विषय में भी यही प्रश्न हो सकता है कि उत्पत्ति उत्पन्न की जाती है या व्यक्त होती है, पहले अर्थ में अनवस्था दोष उत्पन्न होता है और दूसरे में कारण-व्यापार की अनावश्यकता। अभिव्यक्ति के विषय में भी वही कठिनाई है कि वह उत्पन्न की जाती है या व्यक्त और दोनों अवस्था में अनवस्था दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति का अर्थ कारणों का व्यापार है और यदि वह व्यापार पुनः अपने कारण घटक के व्यापार से उत्पन्न माना जाता है और वह दूसरे से, तो निस्सन्देह अनवस्था ही आती है, किन्तु वह दोष-युक्त नहीं है और सभी को स्वीकृत भी है। जब, धागे में विशिष्ट प्रकार का चालन होता है तब कपड़ा बनता है या अधिक अच्छी तरह कहा जाय कि ऐसे हलचल के पहले ही क्षण में जब धागे की कपड़े जैसी अवस्था प्राप्त होती है, हम कहते हैं कि कपड़ा उत्पन्न होता है।[1] इसी कारण हम कह सकते हैं कि कार्य उत्पन्न किया जाता है। ऐसी उत्पत्ति में फिर धागे की उत्पत्ति नहीं है।

(ङ) बौद्ध क्षणिकवाद का खण्डन

बौद्ध मतवादी मानते हैं कि अर्थ-क्रिया-कारित्ववाद यह सिद्ध करता है कि जो कुछ भी अस्तित्ववान् है वह क्षणिक है, क्योंकि वही कारण क्षमता बार-बार उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसलिए, प्रत्येक अर्थ-क्रिया या कार्य की उत्पत्ति के अनुसार, एक पृथक् पदार्थ मानना पड़ता है। जबकि क्षमता (अर्थ क्रिया कारित्व) दो भिन्न क्षणों में एक ही नहीं हो सकती, तो उन्हें उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी एक नहीं होंगे। जबकि एक ही पदार्थ में भिन्न लक्षण, भिन्न क्षमता को लक्ष्य करते हैं, तो उनका एक ही पदार्थ में आरोपण करना भी मिथ्या है। इसलिए, एक क्षण में जितने भिन्न धर्म हैं उतने ही पदार्थ भी हैं। (यो तो विरुद्ध-धर्माध्यासवान् स स नाना)। इस पर वेंकटनाथ का यह उत्तर है, पदार्थ, भिन्न विरोधी धर्म से सम्बन्धित नहीं है और यद्यपि कुछ दृष्टान्तों में, जैसेकि बहती नदी, या दीप-शिखा जैसे परिवर्तनशील पदार्थ अपरिणामी पूर्णता का भास उत्पन्न करते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिनमें हम अनुभव करते हैं कि एक ही वस्तु को हम देखते भी हैं और स्पर्श भी करते हैं ऐसी खरी प्रत्यभिज्ञा होती है। ऐसे दृष्टान्तों में, संस्कार कार्य करते हों, इस तथ्य की इतनी अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए कि हम प्रत्यभिज्ञा को केवल स्मृति-व्यापार ही मानने लग जाएँ। प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष का आधिक्य है या नीचे स्तर पर हम उसे स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों का संगठित कार्य कह सकते हैं। स्मृति प्रत्यभिज्ञा को दूषित कर देती है यह आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि प्रत्येक स्मृति मिथ्या नहीं होती। यह भी कहना ठीक नहीं है कि स्मृति केवल व्यक्तिगत (स्वगत) व्यापार है, इसलिए बाह्य पदार्थ का निश्चय नहीं करा सकती, क्योंकि स्मृति केवल व्यक्तिगत नहीं है किन्तु किसी वस्तु के भूतकाल के बाह्य लक्षी काल-धर्म को निर्दिष्ट करती है। पुनः बौद्ध मतवादी कहते हैं कि एक वस्तु में अनेक धर्मों का संयोग

---

1 यदाहि तंत्वादयः व्याप्रि यन्ते तदा पट उत्पाद्यते इति व्यवहरन्ति आद्यक्षणा वच्छिन्न-पटत्वास्थैववा पटोत्पत्तिरुच्चयते सैव तदवस्थस्योत्पत्तिरिति भाष्यमपि तदभिप्रायमेव।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 62।

मिथ्या है। क्योंकि प्रत्येक धर्म बिन्दु, क्षणिक तत्त्व का कार्य (अर्थ क्रिया कारित्व) सूचित करती है, और इसलिए प्रत्यभिज्ञा में अनेक धर्मों का संयोग सदोष है। इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि यदि प्रत्यक्ष क्षणिक इकाई, स्वयं ही कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है, तो उसे यह अपने स्वभाव से ऐसा करना चाहिए, और दूसरे सहयोगियों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसी सादृश्य का अनुसरण करते हुए किसी भी एक क्षणिक इकाई की स्वलक्षणता, किसी अन्य क्षण की अन्य स्वलक्षणता से एक नहीं होगी, और इस प्रकार तादात्म्य का विचार असम्भव हो जाएगा और हमें शून्यवाद पर ले आएगा। इसलिए, प्रत्येक धर्म, तत्त्व के अनुरूप पृथक् वस्तु होना चाहिए यह सोचना भूल है।[1] बौद्ध मतवादी ऐसा आगे आग्रह करते पाए गए हैं कि प्रत्यभिज्ञा का अनुभव, भूतकाल के क्षण का वर्तमान से तादात्म्य करता है, जो असम्भव है। वेंकटनाथ का उत्तर है कि यद्यपि भूतकाल को वर्तमान से जोड़ना अनर्थक है, किन्तु उन्हें, भूतकाल में जो वस्तु रह चुकी है, और जो वर्तमान में विद्यमान है, उससे सम्बन्धित करना असंगत नहीं है।[2] यह सत्य है कि भूतकाल को वर्तमान में स्वीकार करना स्वविरोधी है, किन्तु प्रसंग का सच्चा रहस्य यह है कि एक ही काल भिन्न उपाधियों से अनेक दीखता है। ऐसे प्रसंगों में, एक दूसरे द्वारा उपाधिगत काल लक्षणों को भिन्न उपाधियों से सम्बन्धित करना व्याघात उत्पन्न करना है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भिन्न उपाधि और काल का उल्लेख अस्वीकार्य है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो, क्षणों की अनुक्रम-परम्परा का विचार भी अस्वीकार्य होगा, जबकि क्षण-परम्परा का विचार पूर्व और अपर को अनुमति करता है और वह किसी न किसी प्रकार, भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ जोड़ देता है। यदि यह स्वीकारा नहीं जाय तो क्षणिकत्व का सिद्धान्त त्याग देना पड़ेगा।[3] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि क्षण-सम्बन्धित का अर्थ कोई भी वस्तु की अपने आप की स्वलक्षणता है, तो उससे कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार, भूतकाल का वर्तमान से सम्बन्ध, कालिक विरोध की ओर नहीं ले जाता।

पुनः बौद्ध ऐसा आग्रह करते देखे गए हैं कि प्रत्यक्ष, वर्तमान क्षण का ही लक्ष्य करता है। यह हमें भूतकाल का ज्ञान नहीं दे सकता। इसलिए हमारा यह भ्रम है कि विद्यमान वस्तु ही वर्तमान में प्रवृत्त हो रही है, क्योंकि यह वासना व्यापार के कारण है जो भूत और वर्तमान में भेद नहीं करता, और वह सीप में रजत की तरह भूत में वर्तमान को आरोपित करता है। वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष वर्तमान

---

1 विरुद्धानां देशकालाद्यसमाहित-विरोधत्वेन स्वलक्षणस्यापि विरुद्धशत क्षुण्णतया नानात्वे तत्क्षोदानां च तथा-तथा क्षोदे किंचिदपि एक न सिध्येत् तदभावे च कुतो नैकम् इति माध्यमिक मतापातः। —सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 66।

2 काल-द्वयस्याऽन्योन्यस्मिन्नभावेऽपि तदुभय-सम्बन्धिनि वस्तुन्यभावाभावात्यस्तु तस्मिन् वस्तुन्यसम्बन्ध कालः तस्य तत्र सद्भावं न ब्रूमः। —वही, पृ० 68

3 पूर्वापर काल योगो हि विरुद्धः स्वेनोपाधिनाऽवच्छिन्नस्यैकस्य कालस्यावान्तरोऽपाधिभिर्नानात्वेऽपि तत्तदुपाधिनामेव ततदवान्तर काल-द्वयान्वय-विरोधः अन्यापेक्षया पूर्वापरकालयोरन्यस्य विरुद्धत्वे क्षण कालस्यापि अन्यापेक्षया पौर्वापर्यात् तत्काल-वर्तित्वम् अपि वस्तुनो विरुद्ध्येत्। —वही।

क्षण में, वस्तु के अभाव के विरोध के रूप में ही केवल वस्तु की उपस्थिति सिद्ध करता है, किन्तु इस कारण वह वस्तु की भूतकाल की सत्ता का निषेध नहीं करता। जिस प्रकार 'यह' वर्तमान क्षण में वस्तु की उपस्थिति बताता है, प्रत्यक्ष अनुभव 'वह यह है' वस्तु के भूत और वर्तमान में स्थायित्व को सिद्ध करता है।[1] यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष, अपने विषय को वर्तमान पदार्थ के रूप में प्रकट करता है, तो बौद्धों का यह मत कि प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, और वह वस्तु को, काल-धर्म से विशिष्ट वर्तमान वस्तु के रूप में प्रकट नहीं कर सकता, खण्डित होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि प्रत्यक्ष प्रकटीकरण के क्षण में, वस्तु की सत्ता प्रकट करता है, तब भी यह बौद्ध मतानुसार असम्भव है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ जो इन्द्रिय से सम्बन्धित था, वह ज्ञान होने के समय पहले ही नष्ट हो गया है। इसलिए, किसी भी प्रकार बौद्ध मतवादी मानें, वह यह सिद्ध नहीं कर सकते कि प्रत्यक्ष वस्तु को वर्तमान के रूप में प्रकट कर सकता है, रामानुज मत में जबकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष, उससे सम्बन्धित पदार्थ और उससे सम्बन्धित काल-क्षण निरन्तर हैं और मानसिक अवस्था भी निरन्तर है और इसलिए, प्रत्यक्ष जिस वस्तु से इन्द्रिय-सम्बन्ध था उसे ही प्रकट करता है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष का अन्त होने पर भी, जिस पदार्थ से इन्द्रिय सन्निकर्ष था, उसके ज्ञान को सूचन करती, मानसिक दशा जानी जाती है।[2]

पुनः, यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि जो कुछ भी किसी से नियत रूप से उत्पन्न होता है वह कारण-व्यापार की अपेक्षा बिना, निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होना चाहिए, तो ऐसा कहना चाहिए कि जब पत्ते और फूल उगते हैं तब वे बिना उपाधि के उगते हैं, जो निरर्थक हैं। इसके अतिरिक्त जब क्षणिक पदार्थों की श्रेणी में एक पदार्थ दूसरे का अनुसरण करता है तो कारण की अपेक्षा रखे बिना ही ऐसा करना चाहिए, तब एक तरफ जबकि पूर्ववर्ती तत्त्व को पदार्थ को कोई विशिष्ट कार्य नहीं पूर्ण करना पड़ता तो वह अर्थ-क्रिया-रहित रहेगा और इसलिए नहीं सा होगा, और दूसरी तरफ जबकि प्रत्येक उत्तरगामी तत्त्व, किसी कार्य की अपेक्षा बिना उद्भव होता है, वह पूर्व क्षण में भी उत्पन्न हो सकता है, यदि ऐसा है तो परम्परा नहीं रहेगी। पुनः ऐसा तर्क किया जाता है कि जब जो कुछ उत्पन्न होता है वह अवश्य नष्ट होता है, इसलिए विनाश निरुपाधिक है, और बिना अपेक्षा के होता है। निषेध (अभाव) निरुपाधिक तभी हो सकता है जब वह भावत्व से अनुमित है जो वास्तव में उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु वह प्रत्येक भावत्व से सम्बन्धित है (जैसे, गाय, घोड़े का अभाव अनुमित करती है)। किन्तु जो अभाव उत्पन्न होते हैं वे उन्हें जिस प्रकार, एक कारण-भाव पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार अभाव भी उत्पन्न होने के लिए उन पर आश्रित है जैसाकि लकड़ी के प्रहार से घड़े के नष्ट होने का दृष्टान्त है। अगर ऐसा तर्क किया

---

1 यथा इदमिति तत्काल-सत्ता गृह्यते तथा तदिदमिति काल-द्वय-सत्वमपि प्रत्यक्षेणैव गृहीतम्।
—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 69।

2 अस्मन्मते त्विन्द्रिय-सम्प्रयोगस्य तद्विशिष्ट वस्तुनस्तदुपहित कालांशस्य च स्थायित्वेन धी-क्षणानुवृत्तौ तद्-विषयतया प्रत्यक्षोदयात् सम्प्रयोगान्तरक्षणे धीरपि निवर्त्यते।
—वही, पृ० 70।

जाता है कि लकड़ी का प्रहार कोई भी नाश उत्पन्न नहीं करता, किन्तु घड़े के टुकड़ों के रूप में अस्तित्व की एक नई परम्परा उत्पन्न करता है तो ऐसे भी अनेक दृष्टान्त हैं (दीप शिखा का बुझा देना) जिनमें नई परम्परा से उदय होने का कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि तर्क किया जाता है कि निषेध (अभाव) कुछ भी नहीं है (शून्य) है और तुच्छ पदार्थ की तरह किसी कारण पर आश्रित नहीं है, जैसे आकाश-पुष्प, ऐसा स्पष्टीकरण निरर्थक रहेगा, क्योंकि अभाव या विनाश अस्तित्ववान् पदार्थ की तरह काल से मर्यादित है, इसलिए तुच्छ पदार्थ से भिन्न है (प्रतियोगिवदेव नियत-कालतया प्रमितस्य अत्यंत तुच्छता योगात्)। यदि अभाव को तुच्छ के बराबर माना जाए तो अभाव उतना ही अनादि हो जाएगा जैसा तुच्छ पदार्थ है, और यदि ऐसा हो तो सभी अनादि होने के कारण कोई भाव पदार्थ न रहेगा। यदि अभाव तुच्छ है, तब भी अभाव के समय भाव पदार्थ रह सकता है, क्योंकि अभाव तुच्छ होने से किसी को मर्यादित नहीं कर सकेगा और यह पदार्थों को नित्यता के बराबर होगा जो बौद्ध क्षणवादियों को अस्वीकार रहेगा। यदि अभाव केवल विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म रहित ही है तब वे स्वलक्षण पदार्थ के समान हो जाएँगे जो विशिष्ट निर्दिष्ट धर्म रहित हैं। यदि वे सर्व-धर्म-रहित होते (सर्व-स्वभाव-विरह) तो ऐसी प्रतिज्ञा (विभावना) जिसमें विधेय रूप से उनका स्वीकार किया जाता है, उसमें उनका कोई स्थान नहीं रह सकेगा। यदि यह कहा जाता है कि अभाव वास्तव में धर्मवान् है, तो उसमें यह धर्म होने से उसमें कोई धर्म नहीं है ऐसा नहीं होगा। यदि ऐसे अभाव पूर्वकाल में अस्तित्व नहीं रखते तो उनकी उत्पत्ति किसी कारण-व्यापार पर आश्रित रहेगी। यदि पूर्वकाल में उनका अस्तित्व है, तो कोई भाव पदार्थ न रहेगा (प्राक् सत्वे तु भावापह्नवः)।

यदि आग्रह किया जाता है कि कार्य-क्षण, कारण-क्षण के युगपद् है, तो भाव-पदार्थ और उसका नाश एक ही क्षण में होगा, और यदि ऐसा है तो फिर नाश, भाव पदार्थ के पहले क्यों न होवे। यदि विनाश, भाव पदार्थ की उत्पत्ति के उत्तर क्षण में होना माना जाता है तो नाश निरुपाधिक न रहेगा। यदि भाव-पदार्थ और उसके नाश का क्रम, भाव-पदार्थ से सम्बन्धित है और उसकी उत्पत्ति से नहीं है, तब अस्तित्ववान् पदार्थ नाश का कारण होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि नाश अपने भाव से ही मर्यादित है, क्योंकि उसका अन्य सहकारी कारणों पर आश्रित होना, खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसा तर्क नहीं किया जा सकता कि क्षण की उत्पत्ति, उसका नाश भी है, क्योंकि यह स्वबाधित होगा। ऐसा कभी-कभी माना जाता है कि भेद का अर्थ नाश नहीं है, और इसलिए दूसरे धर्म वाले क्षणों के उदय होने का अर्थ पूर्व क्षणों का नाश होना नहीं है। इस प्रकार, क्षण का नाश एक पृथक् तथ्य मानना पड़ेगा, और इसलिए यह, क्षण की उत्पत्ति में ही समाविष्ट है और स्वभावज है।[1] इसका उत्तर यह है कि भिन्न धर्मयुक्त पदार्थ को भी पूर्व भावी पदार्थ का नाश मानना चाहिए, नहीं तो ऐसे भिन्न धर्म वाले पदार्थ का उदय का कारण देना असम्भव हो जायगा। यदि, पुनः नाश

---

[1] यद् यतो भिद्यते न तत तस्य ध्वंशः यथा रूपस्य रसः ध्वंस्तु कस्यचिद् एव भवति इति तदात्मकः अतः स्वो त्पत्तावेष स्वात्मनि ध्वंसे सन्निहिते कथम् क्षणान्तरम् प्राप्नुयात्।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 72।

पदार्थ का स्वरूप है, तो यह स्वरूप, वर्तमान पदार्थ के उदय होने के समय प्रकट हो सकता है और वह उसे अभाव की स्थिति पर ला देगा तो सभी वस्तु का सर्वव्यापी अभाव हो जायगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि एक पदार्थ अपना नाश स्वतः ही उत्पन्न करता है, तो नाश निरपेक्ष है यह मानना निरर्थक रहेगा कि वह अन्य किसी उपाधि पर आश्रित नहीं है, और यदि यह सोपाधिक है तो यह मानना निरर्थक है कि यह किसी अन्य अवस्था पर निर्भर नहीं करता क्योंकि इसे जानने का कोई साधन नहीं है। यदि यह मान लिया जाता है कि पदार्थ अपना स्वयं नाश, सहकारी की सहायता से उत्पन्न करता है, तो क्षणिकवाद (खण्डित) व्यर्थ हो जाता है। यह पहले भी बताया गया है कि क्षणिकवाद का स्वीकार, स्पष्ट रूप से, प्रत्यभिज्ञा के प्रसंग में बाधित होता है, जैसाकि हम विस्तार-सहित कह चुके हैं। पुनः जब क्षणिकवादी कहते हैं कि सभी वस्तु क्षणिक है, तो वे, कार्य-क्षण कारण-क्षण द्वारा उत्पन्न होता है, इसे किस प्रकार समझा सकते हैं? यदि कारणता का अर्थ अनन्तर अनुक्रम से है, तो एक विशिष्ट क्षण में जगत्, पूर्व क्षण के जगत् से उत्पन्न होगा। समस्या यह है कि अनुक्रम का यह आनन्तर्य, स्वयं कार्यक्षण को उत्पन्न करने में शक्तिमान् है या वह काल और देश रूप सहकारी की आवश्यकता रखता है। यदि ऐसे सहकारी अनावश्यक हैं, तो दैशिक सह-अस्तित्व या व्याप्ति से (जैसा धूम्र और आग में है) अनुमान ग्रहण नहीं होना चाहिए। यदि ऐसे सहकारी को अपेक्षा है तो इसका अर्थ यह होगा कि जो कोई भी जिस देश की इकाई में उत्पन्न होता है उसका कारण भी उसी देश की इकाई और उसी काल की इकाई में रहा है। इस मत के अनुसार, कार्य-क्षण, कारण के देश काल में होगा, और इस प्रकार: कारण-देश या कारण-काल, दो क्षणों में सह-अस्तित्व करेंगे। यदि यह मान लिया जाता है, तो क्षणिकवादी यह भी मान सकते हैं कि कारण दो क्षणों में प्रवृत्त रहता है। इसलिए क्षणिकवादी जो प्रवृत्त काल और देश को नहीं मानता, वह यह भी नहीं मान सकता कि परम्परा क्षण से मर्यादित है। यदि यह कहा जाता है कि कारण-क्षण अपना कार्य उसी देश और काल में आरम्भ करता है जिसमें वह स्थित रहता है, तो कारण कार्य-श्रेणी में ऐक्य नहीं रहेगा, और मान्यतानुसार दोनों की अपनी भिन्न क्षण-परम्पराएँ हैं। यहाँ एक दूसरे पर अध्यास हो सकता है किन्तु परम्परा की एकता नहीं हो सकती। यदि परम्परा की एकता नहीं मानी जाती है, तो यह अपेक्षा कि जिस प्रकार कपास के बीज को रंगने पर वह लाल हो जाता है और उसी प्रकार, नैतिक स्तर में जहाँ वासना है तहाँ-तहाँ उसका विपाक है, यह मान्यता निष्फल हो जाती है। कारण-क्षण और कार्य-क्षण के सह-अस्तित्व में साधारण कार्य-कारण के सम्बन्ध में जो एकता की अपेक्षा की जाती है, वह एकता अनुमित नहीं होती और इसलिए यह कहना कठिन होगा कि इस कार्य का यह कारण है, क्योंकि क्षणिकवाद, कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध को स्थापित नहीं कर सकता।

अब हम क्षणिकवाद के प्रत्यय का विश्लेषण करेंगे। इसके अर्थ ये हो सकते हैं— (1) एक पदार्थ, क्षण से सम्बन्धित है (क्षण-सम्बन्धत्व), या (2) काल-क्षण से संबंध (क्षण-काल-सम्बन्धत्वम्) या (3) क्षण मात्र तक ही अस्तित्व (क्षण-मात्र-वर्तित्व) या (4) दो क्षणों से सम्बन्ध का अभाव (क्षण-द्वय सम्बन्ध-शून्यता) या (5) काल क्षण से अभिन्नता, (क्षण-कालत्वं) या (6) क्षण-धर्म से निश्चित होना (क्षणोपाधित्वं)।

पहला विकल्प अस्वीकार्य है, क्योंकि जो स्थायी पदार्थों को मानते हैं, वे भी, क्योंकि पदार्थ काल में स्थायी रहता है, इसलिए वह किसी एक क्षण से सम्बन्धित है यह स्वीकार करते हैं। दूसरा विकल्प भी अस्वीकार्य है, क्योंकि बौद्धवाद काल को क्षण से एक पृथक् पदार्थ नहीं मानते।[1] ऐसा मानने पर भी क्षण से पर काल को एक पदार्थ के रूप में वास्तव में मानना पड़ता है जो क्षणवाद को बाधित करता है। तीसरा विकल्प, प्रत्यभिज्ञा के अनुभव से बाधित होता है जो यह प्रमाणित करता है कि हम जिसे देखते हैं उसे स्पर्श भी करते हैं। चौथा विकल्प भी उन्हीं कारणों से अनुभव द्वारा बाधित होता है, और यदि कोई तथाकथित पदार्थ जो स्वयं क्षण नहीं है, वह दो काल क्षणों से सम्बन्धित नहीं है, तो वह केवल तुच्छ रूप से ही अस्तित्व कर सकता है, और अचम्भे की बात है कि बौद्ध-मतवादी बहुधा सभी अस्तित्ववान् पदार्थों की तुच्छ से तुलना करते हैं।[2] पांचवाँ विकल्प भी अमान्य है, क्योंकि जैसेकि एक पदार्थ एक देश में रहता हुआ उससे एक (अभिन्न) नहीं हो सकता, उसी प्रकार, वह काल से भी एक नहीं हो सकता जिसमें वह अस्तित्व रखता है और यह साक्षात् अनुभव से भी बाधित है। छठा विकल्प भी अस्वीकार्य है, इस कारण कि, यदि पदार्थ अपने स्वरूप में, काल की उपाधि से मर्यादित है तो काल-क्रम को समझाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है।[3] और हमारे सारे अनुभव जो ऐसे क्रम पर आधारित हैं वे बाधित हो जाएँगे। यदि पदार्थ काल में नहीं रहते हैं और चिह्न छोड़े बिना नष्ट हो जाते हैं (निरन्वय-विनाश), तो जगत् का साधारण अनुभव, जिसमें हम फल प्राप्ति के लिए करते हैं, समझाया नहीं जा सकेगा। जिस मनुष्य ने कुछ कर्म किए हैं वह फल के लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नहीं करेगा। रामानुज मत में आत्मा का स्थायित्व स्वचैतन्य से ठीक तरह से समझाया गया है। यह मत कि ऐसा स्वचैतन्य आलय विज्ञान परम्परा में उत्पन्न, केवल उत्तरोत्तर क्षणों को लक्ष्य करता है, यह तो केवल वाद ही है जिसकी सिद्धि नहीं है, और ऐसा मत, सुप्रमाणित उक्ति से अचिरात् बाधित होता है कि एक व्यक्ति का अनुभव दूसरे के द्वारा स्मरण नहीं किया जा सकता (नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः)। आलय विज्ञान परम्परा के क्षणों का ऐच्छिक प्रत्ययों से सम्बन्ध जोड़ने का भी कोई रास्ता नहीं है।

यदि पदार्थों की क्षणिकता से अर्थ यह है कि वे क्षण से मर्यादित या विकृत होते हैं तब भी प्रश्न उठता है कि यदि वे स्वयं क्षणिक नहीं हैं तो वे क्षण उपाधि युक्त कैसे हैं? यदि क्षण उपाधि से यह अर्थ है कि कारण (संहति) समन्वय, केवल कार्य के पूर्वगामी क्षण का प्रतिनिधित्व करते है (कार्य प्रागभाव समन्वित) तो प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि कारणों का एकीकरण (समाहार) एकीकृत होने वाले पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न, यह आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों प्रसंगों में, जबकि पदार्थ, रामानुज-मत में, स्थायी होगा, इसलिए वह क्षण को उपाधि युक्त नहीं करेगा। उत्तर

---

[1] कालमेवानिच्छतस्ते कोऽसौ क्षणकालः कश्च तस्य सम्बन्धः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 74।

[2] यस्मिन् नित्यता नास्ति कार्यतापि न विद्यते तस्मिन् यथा खपुष्पादाविति शक्यं हि भाषितुम्।

—वही, पृ० 75।

[3] यदा हि घटादयः स्वरूपेण क्षणोपाधयः स्युः काल-तारतम्यः धीः कुत्रापि न भवेत्।

—वही।

यह है कि एकीकरण न तो सम्बन्ध है और न सम्बन्धित पदार्थ हैं, क्योंकि शब्द 'एकीकरण' निर्दिष्ट रूप से प्रत्येक पदार्थ के लिए नहीं प्रयुक्त हो सकता, और इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी उपाधि से संगृहीत कारण पदार्थ ही एकीकरण हैं। यदि ये पदार्थ उपाधिक्षण को निश्चित करते माने जाते हैं, तो उन्हें अवश्य ही स्थायी होना चाहिए। यदि ऐसा कहा जा सकता है कि एकीकृत करने वाली उपाधि, क्षण उपाधि है तो उत्तर यह है कि उत्पत्ति सम्बन्ध करने वाली उपाधियां और निर्दिष्ट एकत्रित पदार्थ, दोनों के व्यापार से होनी चाहिए। इनमें सम्बन्ध करने वाली उपाधियां क्षणिक नहीं हैं, और जबकि एकत्रित होने वाले पदार्थ सम्बन्धित होने तक वर्तमान रहेंगे, वे भी क्षणिक नहीं होंगे। इसलिए, ऐसा दीखता है कि क्षण की उपाधि, अन्तिम सहकारी या व्यापार है जो पूर्व पदार्थों या व्यापार को अपने साथ जोड़ती है, जिससे वह कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण की उपाधि की तरह बर्तनी है। इस प्रकार कुछ भी क्षणिक नहीं है। काल, स्वरूप से अमर्याद होने से उसे क्षणों के टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता। तथाकथित क्षण किसी व्यापार या अस्तित्ववान् पदार्थ में ही, किसी व्यावहारिक कार्य के लिए, विशेष दशा या उपाधि के निर्दिष्ट करने के लिए ही, आरोपित किया जा सकता है, किन्तु पदार्थ जो अस्तित्व रखता है, वह काल में अस्तित्व रखता है इसलिए पूर्व और उत्तर क्षण की मर्यादा से ऊपर उठता है। इसलिए, यद्यपि काल की निर्दिष्ट इकाई, क्षण कही जा सकती है, अस्तित्ववान् पदार्थ, इसलिए, अपनी सत्ता के स्वरूप से क्षणिक नहीं है। क्योंकि बौद्ध, काल को नहीं मानते, इसलिए उनके क्षणिक समय को जिसमें पदार्थ विद्यमान रहते हैं, क्षणिक कहना अनुचित है। प्रकृति स्वयं प्रत्येक क्षण में परिवर्तित होती है उनका यह मानना भी अनुचित है, क्योंकि वास्तव में यह स्थायी पदार्थ के अस्तित्व को मानना होगा, जिसमें विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

अतः बौद्धों की यह मान्यता गलत है कि वस्तु का पूर्ण नाश होता है और वस्तु के किसी अंश का अस्तित्व नहीं रहता, (निरन्वय विनाश) जैसे दीप शिखा के बुझने पर उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि अनेक उदाहरणों से जैसे घट और पट के दृष्टान्तों द्वारा यह अनुभव होता है कि नाश से तात्पर्य केवल वस्तु की स्थिति का परिवर्तन मात्र है। अतः निरन्वय-विनाश अर्थात् पूर्ण नाश की मान्यता असिद्ध है। दीपशिखा के उदाहरण में भी दीपशिखा का पूर्ण विनाश नहीं होता किन्तु उसका दृश्य स्वरूप अदृश्य रूप में केवल बदल जाता है। जब दीपशिखा बुझ जाती है तब भी शिखा (बत्ती) के गरम होने का अनुभव विद्यमान रहता है और शिखा की यह गर्मी दीपशिखा द्वारा धारण किए गए ऊँचे तापमान का अवशिष्ट ताप मात्र है। यदि निरन्वय-विनाश का सिद्धान्त माना जा सकता है तो इस प्रकार अवशेष तापमान की स्थिति का कोई अर्थ ही नहीं है। यदि इस उत्तर स्थिति से इन्कार किया जा सकता है तो उसकी पूर्व स्थिति के अस्तित्व को भी अस्वीकारा जा सकता है, और इस प्रकार इस तर्क से सामान्य अनस्तित्व की स्थिति हो जायगी।

---

1 सर्व-क्षणिकत्वं साधयितुमुपक्रम्य स्थिर-द्रव्य-वृत्ति-क्षणिक-विकारवदिति कथं दृष्टांतयेम तेषु च न त्वदभिमतं क्षणिकत्वं प्रदीपादिवदाशुतर-विनाशित्व-मात्रेण क्षणिकतोक्तेः।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 77।

(च) कारणतावाद के विरुद्ध चार्वाकों की आलोचनाओं का खण्डन

कारणत्व की समस्या, सहज ही, कार्य और कारण के बीच काल-सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित करती है, अर्थात्, कार्य, कारण के पूर्व है या कारण कार्य के पूर्व है या दोनों युगपद् हैं। यदि कार्य कारण के पूर्व है तो वह अपने अस्तित्व के लिए कारण-व्यापार पर आश्रित न रहेगा और वह आकाश की तरह नित्य पदार्थ हो जाएगा। यदि वह असत् है, तो किसी भी प्रकार से सत् नहीं किया जा सकता क्योंकि असत् की उत्पत्ति अशक्य है। यदि कार्य कारण के पूर्व उत्पन्न होता है तो वह तथाकथित कारण उसका कारण न होगा। यदि कार्य-कारण युगपद् हैं तो यह निश्चित करना कठिन होगा कि कौन कार्य है और कौन कारण है। यदि कारण कार्य के पूर्व है तो पुनः यह पूछा जा सकता है कि कार्य पहले विद्यमान था या उसके साथ था। यदि वह पहले विद्यमान है, तो कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं है और जो उत्तरकाल में होने वाला है तो जो पूर्व क्षण में उपस्थित था उससे सह अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यदि कार्य का कारण से सह-अस्तित्व नहीं है, तो एक विशेष कारण एक विशेष कार्य उत्पन्न करे और दूसरा नहीं, इसे निश्चित करने वाला कौनसा सम्बन्ध होगा? जबकि उत्पादन और उत्पादक समानार्थ नहीं हैं तो वह उससे भिन्न होना चाहिए। वह भिन्न होने से यह कहा जा सकता है कि उत्पादन का फिर आगे उत्पादन होना चाहिए, और फिर उससे दूसरा, और इस तरह यह अनवस्था पर पहुंचाएगा।

इन आक्षेपों के प्रति वेंकटनाथ का उत्तर है कि निषेध का स्वीकार से विरोध, एक ही देशकाल की इकाई के ही सम्बन्ध में युक्त हो सकता है। इसलिए, पूर्व क्षण में कार्य के अभाव का, उसके उत्तर क्षण के भाव से विरोध नहीं हो सकता। पूर्व क्षण के कारण का सम्बन्ध उत्तर क्षण के कार्य के साथ है यह साक्षात् अनुभव-गम्य है। ऐसा सम्बन्ध संयोग नहीं है किन्तु एक का दूसरे पर पूर्वापर रूप से निर्भर है जैसाकि अनुभव में देखा जाता है। उत्पादन, एक पृथक् तत्त्व होने से, उससे आगे उत्पादन की मांग करता है, इत्यादि, इस प्रकार की तार्किक आलोचना रामानुज-मत पर नहीं की जा सकती, यहां कार्य को, केवल कारण की परिणत अवस्था या दशा माना है। कार्य कारण पर इसी अर्थ में आश्रित है कि वह कारण की अवस्था के रूप में कारण से एक है।[1] तादात्म्य, से यहाँ अभिन्नता का अर्थ नहीं किन्तु भिन्न होते हुए भी अभिन्न स्थिति से है। भेद में कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, यह आक्षेप, हमारे कार्य-कारण-अनुभव से बाधित होता है, तथा अनेक अन्य दृष्टान्तों में बाधित होता है जैसेकि जब एक वक्ता अपने से भिन्न श्रोताओं में विश्वास उत्पन्न करने की कोशिश करता है। कारण में, कुछ व्यापार करने के गुण (किंचित्कर) होने से ही कारण कहलाता है और उस, कारणत्व के व्यापार के प्रति उसे दूसरा व्यापार उत्पन्न करना चाहिए और इस प्रकार अनवस्था दोष है, यह आक्षेप अप्रमाण्य है, क्योंकि कार्य उत्पन्न करने में, अनेक व्यापारों का अस्तित्व (जैसा अनुभव में देखा जाता है) अनवस्था दोष उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि

---

1 नहि वयमभिव्यक्तिं वा कारण-समवायादिकं वा जन्मेति ब्रूमः। किन्तूपादानावस्था-विशेषं तस्य कार्यावस्था-सामानाधिकरण्य-व्यपदेशः तादात्म्येन तदाश्रय-वृत्तेः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 80।

उन्हीं व्यापारों को स्वीकारा जा सकता है जो अनुभव में प्रकट है, सहज उत्पत्ति के प्रसंग में (द्वारान्तर निरपेक्ष) व्यापार-परम्परा मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि, कारण, नियत पूर्ववर्त्ती के रूप में साक्षात् अनुभवगम्य है। कारण क्योंकि कार्य उत्पन्न करता है इसीलिए कारण है, यह विचार कार्य की पूर्वसत्ता अनुमित करता है अतः कारण-व्यापार निरर्थक है यह आक्षेप अप्रामाण्य है, क्योंकि कारणत्व का अर्थ कार्य के उत्पन्न होने के लिए अनुगुण व्यापार का होना है।[1] यह कार्य के पूर्व अस्तित्व को समाविष्ट नहीं करता क्योंकि कार्य उत्पन्न करने वाले व्यापार का होना, कार्य को, एक सत् तथ्य के रूप में नहीं, किन्तु निरीक्षक चित्त में, पूर्व कल्पित तथ्य के रूप में, लक्ष्य करता है, (कुर्वत्व-निरूपणं तु भाविनापि कार्येण बुद्ध्या-रोहिणा सिद्धेः)। यदि कार्य कारण के स्वरूप जैसा था तो वह पहले से वही होना चाहिए, और यदि वह नहीं था तो वह कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, यह आक्षेप भी, संबंध नियत (स्वभावतः) एक रूप है इस कल्पना के कारण (नियत-प्रतिसम्बन्धिक स्वभावता एव) अयुक्त है। कार्य-पदार्थ, कारण से संख्या एवं धर्म की दृष्टि से भिन्न है, किन्तु तो भी वे, पहला, दूसरे के साथ, एक दूसरे को निश्चित करते हुए आपस में संबंधित हैं (अन्योन्य निरूप्यतया)। कारण-संहति में पृथक् तत्व कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते, इसलिए पूर्णरूप से संहति भी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती, यह आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि व्यक्तिगत तत्वों की कार्य-क्षमता, उनके संयुक्त उत्पादन की क्षमता के रूप में समझी गई है (समुदितानां कार्य-करत्वमेव हि प्रत्येकमपि हि शक्तिः)। यह एक और आक्षेप कि कारण, कार्य उत्पन्न करने में नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह स्वयं नष्ट होता है, इसलिए उसे कार्य उत्पन्न नहीं करना चाहिए, यह भी अयुक्त है, क्योंकि कार्य के उत्पादन के लिए केवल कारण के पूर्व क्षण में अस्तित्व की ही आवश्यकता है, (पूर्वक्षण-सत्वमेव हि कारणस्य कार्योपयोगि)।

पुनः ऐसा आग्रह किया जाता है कि नियत-पूर्ववर्ती का प्रत्यय जो कारणत्व को निश्चित करता है, वह स्वयं अनिश्चयात्मक है, क्योंकि अवस्थिति के रूप में काल में कोई अपना गुण नहीं है। इसलिए, पूर्वापरता अन्य उपाधि द्वारा निश्चित की जानी चाहिए और कारण-घटना को ही ऐसी उपाधि माना जा सकता है। यदि ऐसा है तो पूर्वापरता, जो इसमें कारण उपाधि से उत्पन्न होती मानी जाती है वह निश्चित करती नहीं मानी जाएगी। पुनः यदि उपाधि, अवस्थिति के रूप में काल को, परम्परा में विभक्त कर देती है, तो जबकि काल को विविक्त नहीं माना गया है, तो मानी हुई उपाधियों को पूर्वकाल को ही लक्ष्य करना होगा तो, इस प्रसंग से परम्परा न रहेगी। इसके अतिरिक्त, उपाधियाँ विशेष अवयवों को लक्ष्य करती हैं, तो पहले विविक्त काल को मानना पड़ेगा।[2] उपरोक्त आक्षेप का यह उत्तर कि यदि उपरोक्त तर्क के बल पर

---

1 भावी कार्यानुगुण व्यापार वत्वमेव कारणस्य कुर्वत्वम्। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 81।

2 काले च पूर्ववत्वमुपाधि-कृतं सच उपाधिर्यद्ययमेव तदा तदधीनं कालस्य पूर्व तत्वं कालधीनञ्चोपाधे रित्यन्योन्याश्रयः। अन्यापेक्षायां चक्रकमनवस्थापि कालस्य क्रमवदुपाधि-सम्बन्ध भेदाद् भेदश्च कृत्स्नैक-देश विकल्प-दुःस्थ इति।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 82।

काल, परम्परा के रूप में स्वीकारा नहीं जाता, तो यदि वस्तुएँ काल में हैं तो वे नित्य हैं और यदि नहीं हैं, तो वे तुच्छ हैं, अनर्थक हैं। आक्षेप करने वाला फिर कह सकता है कि सभी सामान्य, नित्य सत्तावान् होने से, पूर्वापरता कभी भी आपस में भी व्यक्तिगत रूप में उससे संबंधित नहीं की जा सकती। जहाँ रोहिणी नक्षत्र, कृत्तिका नक्षत्र के उदय से अनुमित किया जाता है, वहाँ पूर्वापरता इन दोनों के बीच नहीं है। इसका उत्तर अनुभव के आधार पर दिया जा सकता है कि विशेष धर्म रखने वाले तत्त्व, ऐसे अन्य विशिष्ट धर्म तत्त्व से उत्पन्न होते हैं जहाँ सामान्य और विशिष्ट मिलकर एक संयुक्त पूर्णता बनाते हैं—जो विशिष्ट तत्त्व हैं।[1] निर्दिष्ट कार्य से निर्दिष्ट कारण-संबंध, उनमें नियत पूर्ववर्ती प्रसंग के बहुत से अनुभवों से जाना जाता है, और यह, निर्दिष्ट कारण का निर्दिष्ट कार्य की एक रूपता संबंध के विचार के विरोध को खण्डित करता है। कारण-बहुलता का विचार भी इसलिए इसी कारण से खण्डित होता है। जहाँ एक कार्य भिन्न कारणों से उत्पन्न होता देखा जाता है, वहाँ अनिरीक्षण या मिथ्या-निरीक्षण से ऐसा होता है। आप्त पुरुषों का सूक्ष्म निरीक्षण यह प्रकट करता है कि यद्यपि कुछ कार्य एक से दीखते हैं तो भी उनके व्यक्तिगत स्वरूप में विशिष्टता है। इस निर्दिष्टता के कारण, उन्हें प्रत्येक के निश्चित कारण से संबंधित किया जा सकता है। प्रागभाव स्वयं कार्य को निश्चित करता नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह अभाव अनादि होने से, कार्य उत्पत्ति के प्रसंग को नहीं समझा सकता। इसके अतिरिक्त, ऐसे अभाव, किसी न किसी रूप में, अपने घटक के रूप में, उत्पन्न करने वाले कार्य को अनुमित करते हैं, नहीं तो वह कार्य का प्रागभाव नहीं कहा जायगा। यदि, एक कार्य, बिना कारण के विद्यमान रहता है, तो वह नित्य हो जायगा, और यदि वह बिना कारण असत् है तो वह तुच्छ है। यदि कार्य असंगत रूप से उत्पन्न होता है, तो उसका अव्यवहित पूर्ववर्ती से, नियत एक रूप आश्रय नहीं समझाया जा सकेगा। इस प्रकार कारणत्व का सिद्धान्त चार्वाक द्वारा किए गए आक्षेपों से निर्दोष ठहरता है।

(छ) वेंकटनाथ के अनुसार इन्द्रियों का स्वरूप

नैयायिक सोचते हैं कि चाक्षुष इन्द्रिय के आठ तत्त्व उपादान कारण हैं, क्योंकि वह यद्यपि अन्य इन्द्रिय-सामग्री को नहीं देख सकती, तो भी रूप को दीप की तरह ग्रहण कर सकती है। इसी प्रकार तर्क करते हुए वे मानते हैं कि स्पर्श इन्द्रिय वायु तत्त्व से बनी है, रसनेन्द्रिय जल तत्त्व से, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी तत्त्व से और श्रवणेन्द्रिय आकाश तत्त्व से बनी है। वेंकटनाथ का मुख्य आक्षेप, इस मत से है कि यहाँ इन्द्रियों को अपने अनुगुण प्रत्यक्ष का विशिष्ट और अति महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है, वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान में, ज्ञाता, विषय, प्रकाश, इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-सन्निकर्ष, अवरोधों का अभाव और अन्य सहकारी, इस प्रकार एक साथ योग देते हैं कि केवल इन्द्रिय को ही महत्त्वपूर्ण कारण निर्दिष्ट करना असंभव है। इन्द्रिय-शक्ति को इन्द्रियों से भिन्न भी माना जाय तो भी उन्हें अहंकार का विशिष्ट प्रकार माना जा सकता है और इसके

---

1 एतद्धर्मकादेतद्धर्मकमुपजातमिति जात्युपाधि-क्रोडीकृत-रूपेण व्यक्तिषु नियत-सिद्धेः।
—वही, पृ० 83।

लिए शास्त्र-समर्थन भी है। चक्षु-इन्द्रिय रूप देख सकती है केवल इसी आधार पर यह तर्क करना कि यह इन्द्रिय-शक्ति, रूप-तत्त्व की बनी है यह मिथ्या है, क्योंकि केवल चाक्षुष इन्द्रिय-शक्ति के कारण ही रूप का ज्ञान नहीं होता। चक्षु-इन्द्रिय का रूप ज्ञान में अन्य सहकारी से अधिक प्राबल्य, जिससे कि उसकी रूप तत्त्व से समानता बतायी जा सकती है, सिद्ध किया नहीं जा सकता।

वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि जिन कारणों से पाँच ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकारा जाता है वे ही पंच-कर्मेन्द्रियाँ और मनस् को भी स्वीकारने पर अग्रसर करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य एक विशिष्ट प्रकार का माना गया है, जिससे इन्द्रियाँ, विशिष्ट प्रकार से निर्दिष्ट दशा में व्यापार कर सकती हैं, यही तर्क कर्मेन्द्रियों के लिए भी स्वीकृत है। वे सूक्ष्म शरीर से उतनी ही संबंधित हैं जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और कर्मेन्द्रियाँ, इस शरीर के साथ उत्पन्न हुई हैं और इसके नाश के साथ वे भी नष्ट हो जाएँगी, यह यादव प्रकाश का मत मिथ्या है।[1] मनस्, प्रकृति के विकार का एक विभाग होने से, सर्वव्यापी नहीं हो सकता। जो नित्य होता हुआ, किसी पदार्थ का उपादान नहीं है, वह सर्वव्यापी है, यह तर्क मिथ्या है, क्योंकि यह शास्त्र-प्रमाण द्वारा बाधित होता है और रामानुज मतानुसार, परमाणु पदार्थ के चरम घटक नहीं हैं। पुनः यह भी तर्क कि जो विशिष्ट धर्म-रहित है, जैसे काल, वह सर्वव्यापी है यह भी अमान्य है, क्योंकि रामानुज-मतानुसार, कुछ भी विशिष्ट गुण-रहित नहीं है। इस प्रकार तर्क करना कि मनस् अति दूरस्थ अनुभवों को स्मरण कर सकता है इसलिए सर्वव्यापी है, यह भी दोषयुक्त है। क्योंकि ऐसा स्मरण, मन का निर्दिष्ट संस्कारों से संबंध होने के कारण है।

इन्द्रियों को सूक्ष्म या अणु मानना पड़ता है और तो भी अपने व्यापार से या दूसरी वस्तु से सम्बन्धित होकर, वे व्यापक रूप से कार्य कर सकती हैं।[2] इसी कारण, भिन्न मान के प्राणियों के देह में, वे ही इन्द्रियाँ इस व्यापार द्वारा, छोटे या बड़े क्षेत्र पर फैल सकती हैं, नहीं तो हमें उन्हें वे जिस शरीर में कार्य करती हैं, उनके मान के अनुसार, छोटी या बड़ी हो जाती हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि मनस् विभु है, या यदि वह शरीर के मान में व्यापक है, तो पाँचों इन्द्रियाँ एक ही क्षण में उदय हो जाएंगी, वेंकटनाथ इन्द्रियों का स्थान अन्तःकरण मानते हैं जहां से वे अपनी-अपनी तंत्रिकाओं में से विशिष्ट इन्द्रियों की ओर गमन करती हैं।

इन्द्रियाँ वृत्तियों द्वारा कार्य करती हैं जो लगभग प्रकाश की गति से चलती हैं और विषय को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार, वृत्तियाँ एक जगह से दूसरी जगह क्रम से कार्य करती हैं और उनकी तीव्र गति के कारण निकट और दूरवर्ती पदार्थों के सम्बन्ध में कार्य करती दीखती हैं, इससे ज्ञान युगपद् होता दीखता है। यही क्रम श्रवण ज्ञान के लिए भी युक्त है। जबकि रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार इन्द्रियाँ अभौतिक हैं इसलिए

---

[1] न्याय सिद्धांजन, पृ० 24।

[2] सिद्धेऽपि ह्यणुत्वे विकास तया वृत्ति विशेष द्वारा व्यापक प्रचयाद्वा पृथुत्वम् अंगीकार्यम्।
—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 98।

उनके व्यापार भी अभौतिक वर्णन किए गए हैं।[1]

(ज) वेंकटनाथ के अनुसार आकाश का स्वरूप

वेंकटनाथ, हमारे सुप्रमाणित अनुभवों के आधार पर, जैसाकि, संध्या समय नील या लाल आकाश तथा उसमें पक्षियों की गति देखते हैं—इस तथाकथित तथ्य को सिद्ध करने का विशद रूप से प्रयत्न करते हैं कि आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वे इस मत को अस्वीकार करते हैं कि आकाश केवल हलचल द्वारा ही अनुमित किया जा सकता है, क्योंकि आकाश का अस्तित्व मोटी दीवारों में भी रहता है जहाँ हलचल असम्भव है। आकाश निरी शून्यता नहीं है, पशुओं की, उसमें अप्रतिहत गति से आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। कुछ बौद्ध और चार्वाक तर्क करते हैं कि केवल चार ही तत्त्व हैं, आकाश केवल आवरणाभाव है। हम दीवार में आकाश नहीं देखते, किन्तु जब वह तोड़ दी जाती है तब हम कहते हैं कि हम आकाश देखते हैं। ऐसा आकाश, अवरोध के अभाव के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह नहीं स्वीकारते तो कहीं भी अवरोध का अभाव न होगा, ऐसे सभी प्रसंग आकाश की मान्यता द्वारा ही समझाए जाएँगे। यह अवरोध का अभाव, निरी शून्यता ही, मृगतृष्णा जैसी भावरूप वस्तु का भ्रम उत्पन्न करता है। ये अनुभव, इन प्रसंगों में ठीक तरह से उद्धृत किए जा सकते हैं जहां दुःख का अभाव सुख के रूप में, और प्रकाश का अभाव नीले अंधकार के रूप में अनुभव होता है। हम इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि भाषा-प्रयोग, कभी-कभी, वस्तु-शून्य विचार उत्पन्न करता है जैसेकि जब कोई कहता है "शश के पैने सींग।"

इस पर वेंकटनाथ उत्तर देते हैं कि पदार्थों का अस्तित्व अनुभव द्वारा ही समर्थित किया जा सकता है, और हमें सबको आकाश का भाव रूप अनुभव है। जिसे हम अभाव कहते हैं वह भी भाव पदार्थ है। यह कहना व्यर्थ है कि निषेधात्मक प्रत्यय, भावसूचक प्रत्ययों से भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रत्येक निर्दिष्ट पदार्थ का निर्दिष्ट प्रत्यय रहता है, और ऐसा तर्क करना व्यर्थ है कि विशेष पदार्थ का अपना विलक्षण प्रत्यय क्यों होना चाहिए।[2] अभाव, जिसका अभाव स्वीकारा जाता है उसका प्रतियोगी है। आकाश की भावात्मकता, उसके भावात्मक अनुभव से सिद्ध है। किसी से व्याप्त जगह में आकाश नहीं है यह मत अयुक्त है, क्योंकि जब आवृत्त पदार्थ तोड़ दिया जाता है तब हम आकाश देखते हैं और हम उसके आवृत्त होने के अभाव को स्वीकारते हैं। इस प्रकार

---

1 सांख्य मतानुसार जिसमें भी इन्द्रियाँ अभौतिक मानी गई हैं, वहाँ, वृत्ति, वस्तु से सम्बन्ध नहीं जोड़ती किन्तु वस्तु का आकार ग्रहण करती है। योग मत के अनुसार जैसाकि भिक्षु ने समझाया है, चित्त इन्द्रियों में से जाता है और विषय के संयोग में आता है और इन्द्रियों से सम्बन्धित हो विषय के आकार में परिणत होता है। इसलिए परिणाम केवल चित्त का ही नहीं है किन्तु चित्त और इन्द्रियाँ दोनों का होता है।

2 नागावयस्य निःस्वभावता अभावं-स्वभावतयैव तत्सिद्धेः स्वान्यस्वभावतया सिद्धिस्तु न कस्यापि, न चस्वेन स्वभावेन सिद्धस्य परस्वभावविरहादसत्व-मतिप्रसंगात्।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 113।

आवरणाकाश, भावात्मक आकाश में उसके उद्देश्य के रूप में स्वीकारा जाता है, क्योंकि हमारे आकाश के अनुभव से हम यह जानते हैं कि आकाश में आवरण नहीं है (इहावरणां नास्ति)। यदि यह नहीं स्वीकारा जाता, तो यहाँ कोई वस्तु है यह ज्ञान समझाया नहीं जा सकेगा, क्योंकि "यहाँ" शब्द का कोई अर्थ न रहेगा यदि वह केवल अभाव की अनुपस्थिति है। यदि, पुनः, आकाश, आवृत्त करने वाली वस्तु में अनुपस्थित है तो आकाश ऐसे पदार्थ की अनुपस्थिति है, ऐसी आकाश की व्याख्या करना अयुक्त होगा, जबकि कोई अपने आप में अस्तित्व नहीं रखता, तो उपरोक्त उपमा से प्रत्येक वस्तु अपना अभाव हो जायगी।[1] किसी समय आकाश में सतह का भ्रम उत्पन्न होता है यह भी इस कारण होता है कि वह एक वस्तु है जिस पर कुछ गुणों का अध्यास किया जाता है। यदि वह शून्य ही होता, तो उस पर मिथ्या गुणों का आरोपण नहीं हो सकता था। जब यह कहा जाता है कि दुःख का अभाव भ्रम से सुख माना जाता है, तब खरी बात यह है कि तथाकथित अभाव एक प्रकार की भावात्मकता ही है।[2] तुच्छ वस्तु के उदाहरण में जैसेकि शश के पैने सींग, यहाँ शश में सींग स्वीकारे जाते हैं, और जब सींग ज्ञात होते हैं तब हमारे मन में विचार होता है कि तीखेपन का प्रत्यय सच है या झूठ। तीखेपन का स्वीकार इसलिए केवल निषेध नहीं है। जब किसी में मिथ्या तुच्छ विशेषण का निवेश किया जाता है, तब भी उस विशेषण को किसी उद्देश्य के रूप में स्वीकारा जाता है जो सचमुच उसमें नहीं होता और इस प्रकार, ऐसे विचार में निरा शून्यत्व या मिथ्यात्व नहीं होता। जब कोई कहता है यहाँ कोई आवरण नहीं है, उसे, जहां आवरण नहीं है, या उसका निषेध किया जाता है उस निधान (केन्द्र) को बताना होगा, क्योंकि निषेध, प्रतियोगी को अनुमित करता है। आवरण के निषेध का विधान शुद्ध आकाश होगा। यदि आवरण के निषेध का अर्थ नितान्त अभाव है (अत्यन्ताभाव) तो हम शून्यवाद में पड़ते हैं। यदि आवरण कहीं अस्तित्व रखता हो या कहीं हो, तो दोनों प्रसंगों में आवरण की उत्पत्ति और विनाश को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत् वस्तु न तो उत्पन्न ही की जाती है और न नष्ट की जाती है और असत् वस्तु भी कभी न उत्पन्न की जाती है और न नष्ट। इस प्रकार, इन तथा अन्य कारणों से, आकाश को, जो, न तो नित्य है और न विभु है, भाव पदार्थ मानना पड़ेगा, केवल आवरण का अभाव नहीं। दिक् या आकाश की दिशाएँ, उत्तर, दक्षिणादि को पृथक् तत्त्व नहीं मानना चाहिए, किन्तु वे आकाश हैं, जो द्रष्टा और दृष्ट देश सम्बन्ध की निम्न उपाधियों के सम्बन्ध के कारण, भिन्न प्रकार के दिक् दिखाई देते हैं।

(झ) वेंकटनाथ के अनुसार काल का स्वरूप

काल नित्य और अनादि है, क्योंकि कोई भी प्रत्यय जिसमें काल की उत्पत्ति के बाबत विचार प्राप्त होता है यह अर्थ निकलता है कि काल, उत्पत्ति के पहले अविद्यमान

---

1 न त्वाकाशमात्रमावरणेस्वविद्यमानतया तदाभाव आकाश इति चायुक्त सर्वेषां स्वस्मिन्नविद्यमानतया स्वाभावत्व-प्रसंगात्। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 114।

2 दुःखाभावे सुखारोपात् अभावस्य भावान्यत्वमात्रमेव ह्यसत्वं सिद्धं तेन च स्वरूप-सन्नेवासौ। —वही।

था। इस दृष्टि से यह अनुभव सहज है कि इसमें पौर्वापर्य का विचार समाविष्ट है, और इस प्रकार यह माना जा सकता है कि काल की पूर्व-कल्पना के बिना, काल की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। काल, सभी दृष्ट पदार्थों के गुण के रूप में, साक्षात् अनुभव-गम्य है। यदि काल को अनुभव-गम्य माना जायगा, तो जबकि वह, सभी दृष्ट वस्तुओं से निकट रूप से सम्बन्धित है, तो प्रत्यक्ष द्वारा काल की अनुपलब्धि का अर्थ यह होगा कि दृष्ट वस्तु भी साक्षात् ग्रहण नहीं होती है, किन्तु अनुमान-गम्य ही है। जो काल की पृथक् सत्ता नहीं मानते, वे भी इसे सूर्य की गति के सम्बन्ध से जनित असत् प्रत्यय के रूप में समझाते हैं। इस प्रकार, काल-प्रत्यय, चाहे सत् या असत् माना जाय, वह दृष्ट वस्तु का प्रकार या गुण ही समझा जाता है और साथ ही अनुभव किया जाता है। हमारे अनुभव के प्रकार के रूप में, जो कुछ भी पूर्वापर रूप से सोचा जाता है उससे अतिरिक्त कोई दूसरा काल है ही नहीं। यह तर्क किया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त, हमारे समस्त अनुभव वर्तमान से सम्बन्धित हैं, और इसलिए, विषयों के प्रत्यक्ष अनुभव में पूर्वापर का विचार उपस्थित नहीं होता, जो काल का स्वरूप है इसलिए काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इस पर यह विवाद सूचित किया जा सकता है कि जब विषयों का ज्ञान होता है तब वे वर्तमान हैं या नहीं ऐसा ज्ञान होता है या नहीं या वर्तमान का ज्ञान किसी भी वस्तु के बिना संयोग के होता है। ऐसा मत, मैं यह देखता हूँ, इस अनुभव से खंडित होते हैं, यहाँ वस्तु, वर्तमान काल में देखी जाती है, यही बात सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष, इस प्रकार वस्तु एवं उसके वर्तमान काल-धर्म, दोनों को लक्ष्य करता है। यह नहीं कहा जाता है, क्योंकि इस प्रसंग में कम से कम, यह बताना पड़ेगा कि काल-धर्म कहीं तो अनुभव किया गया था या स्वतन्त्र रूप से जाना गया था। ऐसा तर्क किया जाता है कि इन्द्रिय-लक्षण, वर्तमान रूप से जाने जाते हैं, और यह वर्तमान का विचार भ्रम से काल पर थोपा जाता है। इस पर यह उत्तर दिया जा सकता है कि क्षणिक इन्द्रिय-लक्षणों की गतिमान् परम्परा में, किसी को 'वर्तमान' कहकर इंगित करना असम्भव है, क्योंकि वे पूर्व और पर रूप से ही जाने जाते हैं, किसी को 'वर्तमान' कहने तक वह भूत हो जाता है। इसलिए वर्तमान रूप से कालक्षण सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि वर्तमान के रूप में, काल किसी इन्द्रिय-लक्षण में स्वीकारा जाय, तो उसे काल में ही स्वीकारने में क्या हर्ज है? यदि काल अविद्यमान है तो फिर उसके आरोपण की पूर्व कल्पना करने से, क्या अर्थ है? यदि ऐसा माना जाता है कि काल का अध्यास केवल जिसमें उसे स्वीकारा जाता है उस वस्तु के बिना ही होता है, तब वह शून्यवादियों का अन्य दृश्याभासवाद ही होगा। रामानुज मतानुसार, किसी न किसी प्रकार, काल में वर्तमान लक्षण देने की सम्भावना है, जिस प्रकार कि वह इन्द्रिय-गुणों के विषय में भी स्वीकृत है। यह नहीं कहा जा सकता कि काल इन्द्रियगम्य पदार्थों का ही लक्षण है, इन इन्द्रियगम्य पदार्थों से अन्य कोई और काल नहीं है : क्योंकि इन्द्रियगम्य पदार्थों का वर्तमान रूप कालगत धर्म, इसी प्राक् कल्पना से शक्य है कि वर्तमान काल जैसा कोई तत्त्व है। यदि 'वर्तमान' को अस्वीकारा जाता है, तो वह सर्वव्यापी अभाव हो जाएगा, क्योंकि भूत और भविष्य तो ज्ञात होते ही नहीं हैं। तदुपरान्त वर्तमान को भूत और भविष्य से भिन्न या असम्बन्धित और स्वतन्त्र है ऐसा नहीं सोचा जा सकता। यदि भूत और भविष्य से वर्तमान

का अस्तित्व है, ऐसा माना जाता है, तो हमारे अनुभव का सम्बन्ध केवल भूत और भविष्य से होगा, और हमारे वर्तमान क्लेशों की कोई सम्भावना नहीं होगी। वर्तमान को इस प्रकार, व्यापार की परम्परा मानना चाहिए, जो आरम्भ हो चुकी है किन्तु उसका अन्त विपाक में नहीं हुआ है।

यद्यपि काल एक और नित्य है किन्तु अन्य पदार्थों की तरह, जो एक ही कहने पर भी, विभिन्न उपाधि सम्बन्ध के कारण, अवस्थांतर होने से, एक होते हुए भी अनेक दीखते हैं उसी प्रकार, काल भी मर्यादित और अनेक दीख सकता है। यद्यपि यह विचार मर्यादित काल को समझाने के लिए पर्याप्त समझा जाय, तो भी अन्य लोग सोचते हैं कि जहाँ तक काल, क्षणों का बना हुआ नहीं माना जाता, जिन क्षणों द्वारा परिवर्तनशील काल जाना जाता है वहाँ तक मर्यादा का विचार समझाने के लिए उपाधि सम्बन्ध असम्भव होगा। क्योंकि ऐसा सम्बन्ध काल में मर्यादा की वास्तविकता की पूर्व कल्पना ग्रहण करता है जिस पर ही केवल उपाधियों का सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार, यादव प्रकाश मानते हैं, कि काल आदि और अनन्त है, और वह क्षण द्वारा निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, जिनके द्वारा काल का घंटे, रात और दिन में विभाजन हो सकता है, और जिनके द्वारा पुनः, परिवर्तनशील पदार्थों के परिणाम नापे जा सकते हैं।[1] इस मत में, उपाधि प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण से अपेक्षित है, व्यक्ति अतिक्रमण करते काल का संग्रह करता है और अपनी आवश्यकतानुसार, अपनी गणना की दृष्टि से, क्षण, घंटे और दिन का विचार बनाता है। एक युक्त आक्षेप इस मत के विरुद्ध किया जा सकता है, जब यह बताया जाय कि अविभक्त काल में, उपाधि-गुणों के सम्बन्ध में जो आलोचना की गई थी, वह इस मत के विरुद्ध भी की जा सकती है, क्योंकि यहाँ भी काल को क्षण रूपी अवयवों का बना माना है। क्योंकि यह बराबर कहा जा सकता है कि अवयव, उपाधि-गुणों से सम्बन्धित होने के लिए, और अवयवों की आवश्यकता रखेगा और यदि ऐसा है तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और यदि ऐसा नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि पूरे क्षण की, उपाधि-गुण के सम्बन्ध के लिए अवयवों की निश्चितता की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि पूरे क्षण को, ऐसे सम्बन्ध के लिए, अवयवों की निश्चितता आवश्यक नहीं रहती, तो फिर पूरे ही काल की आवश्यकता क्यों होगी? द्रव्य में गुण के सम्बन्ध की उपमा के आधार पर उपाधि-गुण का यह स्पष्टीकरण (अविभक्त) भेद-रहित काल को भी उपयुक्त है। वेंकटनाथ बताते हैं कि विभिन्न उपाधि-गुणों के कारण, यद्यपि, क्षणों की कल्पना आगन्तुक है तो काल स्वयं नित्य है। नित्य का अर्थ कभी नष्ट न होना है। काल का इस प्रकार ईश्वर से सह-अस्तित्व है। अपने विकारों के सम्बन्ध में वह एक उपादान कारण है और अन्य सभी के सम्बन्ध में निमित्त कारण है। ईश्वर सर्वव्यापी है यह शास्त्र कथन की संगति, काल का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व मानकर, काल के सर्वव्यापी गुण से साधी जा सकती है।

---

[1] यादव प्रकाशैरप्यभ्युपगतोऽयं पक्षः कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्र-क्षण-परिणामी मुहुर्त्ता-होरात्रादि-विभाग-युक् सर्वेषां परिणाम-स्पंद-हेतुः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 148–149।

(ट) वेंकटनाथ के अनुसार जीव का स्वरूप

वेंकटनाथ, पहले जीव की शरीर से भिन्नता, प्रतिपादन करने की कोशिश करते हैं और इस सम्बन्ध में सुविख्यात चार्वाक तर्कों का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार जीव को शरीर से भिन्न नहीं माना है। वेंकटनाथ के तर्कों का मुख्य बल, हमारे उस अनुभव की साक्षी पर निर्भर है जिसमें हमें हमारा सारा शरीर और उसके अंग 'मैं' के अधीन है ऐसा अनुभव होता है, जैसे, जब हम कहते हैं 'मेरा शरीर' 'मेरा सर' इत्यादि। वे कहते हैं कि यद्यपि हमारे एक शरीर के अनेक अंग हैं, और यद्यपि उनमें से कुछ नष्ट भी हो जांय, तो भी, इन परिवर्तनों के होते भी वे एक नित्य इकाई, आत्मा के अधीन माने जाते हैं जो सभी काल में स्थायी रहता है। यदि अनुभव अंगों का धर्म होता तो, किसी अंग के नाश से, उस अंग से सम्बन्धित अनुभव स्मरण नहीं किए जा सकते, क्योंकि यह माना नहीं जा सकता कि एक अंग के अनुभव का दूसरे में संचारण होता है। माता के अनुभव का भ्रूण भी अंश भागी नहीं हो सकता। यह भी नहीं सोचा जा सकता कि भिन्न अंगों के अनुभव किसी भी प्रकार से, संस्कार के रूप में, हृदय या मस्तिष्क में संगृहीत होते हैं, क्योंकि इसका साक्षात् ज्ञान भी नहीं हो सकता, और न कोई आधार है जिससे यह अनुमान भी लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त हृदय और मस्तिष्क में संस्कारों का अनवरत संग्रह होता है, ऐसा संघात प्रत्येक क्षण में, घटक रूप संस्कारों के क्षय और संग्रह के कारण, भिन्न होगा और इसलिए, ऐसे परिवर्तनशील तत्त्व द्वारा स्मृति को समझाना असम्भव हो जाएगा।[1]

व्यक्ति का एकीकृत आचरण, चेतना के व्यक्तिगत इकाई की संख्या के सहयोग से है, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे प्रसंग में प्रत्येक का विशिष्ट हेतु होना चाहिए जो संघर्ष उत्पन्न करेगा, यदि हेतु नहीं है तो वे आपस में क्यों सहयोग दें। यदि ऐसा माना जाता है कि ये व्यक्तिगत चेतन घटक तत्त्व, स्वभाव से ही ऐसे हैं कि बिना संघर्ष उत्पन्न किए, एक दूसरे का अर्थ साधन करते हैं, तो अधिक सामान्य सम्भवता यह होगी, कि उनमें स्वाभाविक राग और द्वेष न होने से वे कार्य न करेंगे और इसके परिणामस्वरूप पूर्ण व्यक्ति के सारे कार्य बन्द हो जाएंगे। पुनः जब कभी पशु जन्मता है तो ऐसा देखा जाता है उसमें कर्म के प्रति कुछ सहज प्रवृत्ति होती है, जैसे, स्तनपान करना, जो उस दिशा में राग सिद्ध करती है और पूर्व जन्म के ऐसे अनुभव की मान्यता स्थापित करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा, देह और उसके अंगों से भिन्न और विविक्त है। पूर्व जन्म के अनुभव और संस्कार बौद्धिक शक्ति की विभिन्नता, अभिरुचि और प्रवृत्ति को समझाते हैं।[2]

यह भी नहीं माना जा सकता कि शरीर के भिन्न अंगों की चेतना की इकाइयां

---

[1] सर्वबोधैश्चे हृत्कोशे संस्काराधानमित्यपि, न दृष्टं न च तत् क्लृप्तो लिंगं किमपि दृश्यते। न च संस्कार कोशस्ते संघातात्मा प्रतिक्षणं प्रचयापचयाभ्यां स्याद् भिन्नः स्मर्तान्न को भवेत्।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 153।

[2] एवं मनुष्यादि-शरीर-प्राप्ति-दशायामदृष्ट-विशेषात्वपूर्वजन्मानुभव-संस्कार भेदैरेवम-भिरुचि-भेदाश्च युज्यन्ते।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 153–154।

इतनी सूक्ष्म और अव्यक्त हैं कि वे अपने व्यक्तिगत सामर्थ्य से व्यक्त नहीं हो सकतीं, तो भी वे पूर्ण व्यक्ति की चेतना के अभिव्यक्त करने में मिलकर सहयोग दे सकती हैं, क्योंकि छोटे से छोटे अणुरूप जीव में भी कर्म-प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अतिरिक्त यदि, शरीर के भिन्न अंगों से उद्भूत चेतना-इकाइयाँ केवल अव्यक्त ही मानी जाती हैं तो यह मानना अनर्थक होगा कि वे केवल संगत रूप होने पर ही सचमुच चेतना उत्पन्न कर सकेंगी।

पुनः चेतना एक गुण है जिसे किसी आधार की आवश्यकता होती है जिसमें वह रह सके, किन्तु जिस मत में चेतना को भौतिक माना जाता है, वहाँ द्रव्य और गुण का मूल भेद नहीं देखा जाता है।[1] यह भी नहीं माना जा सकता है कि चैतन्य कुछ शारीरिक तत्त्वों का विशिष्ट विकार मात्र है, क्योंकि यह तो केवल एक मत ही है, जो किसी भी अनुभव से प्रमाणित नहीं हो सकता। पुनः जो चार्वाक, अनुमान की प्रमाणता मानते हैं, उनसे आग्रह किया जा सकता है कि शरीर एक भौतिक संघात है और इन्द्रिय गुणों का केवल समाहार होने से, यह अन्य भौतिक पदार्थों जैसा भौतिक ही है, जबकि चेतना, स्वयं चेतन होने के कारण, शरीर से सर्वथा भिन्न होने से इससे भी भिन्न है। आत्मा को देह से संकीर्ण करता सामान्य भ्रम कई प्रकार से समझाया जा सकता है। आक्षेप करने वाला कह सकता है कि यदि 'मेरा शरीर' 'मेरा हाथ' इन विचारों से यह तर्क किया जाय कि आत्मा शरीर से भिन्न है, तो 'मैं स्वयं' इस अभिव्यक्ति से यह तर्क भी किया जा सकता है कि आत्मा की कोई और आत्मा है। इस पर वेंकटनाथ का उत्तर है कि 'मेरा हाथ' 'मेरा सर' ये कथन उसी प्रकार के हैं जैसेकि 'मेरा घर' और 'मेरी लकड़ी' है जहाँ दो वस्तुओं में भेद का स्पष्ट ग्रहण होता है। 'मैं स्वयं' ऐसे कथन एक भाषा-प्रयोग है जिसमें षष्ठी का प्रयोग कल्पना से ही समझाया जा सकता है, यह द्रष्टा के चित्त में, उस समय कहीं दो वस्तुओं के बीच काल्पनिक भेद प्रकट करता है, जिस पर वह उपाधिग्रस्त दृष्टिकोण से बल देता है। वेंकटनाथ मानते हैं कि चार्वाक और भी तर्क कर सकते हैं जिसका उपयुक्त उत्तर दिया जा सकता है।[2] तर्क और प्रति तर्कों

---

[1] ननु चैतन्यमिति न कश्चिद् गुणः, यस्याधारो पेक्ष्यः किन्तु या सौ युष्माकं चैतन्य सामग्री सैव चैतन्य पदार्थः स्यात्। —वही, पृ० 154

[2] चार्वाक के और तर्क इस प्रकार हैं—

जब कोई कहता है, 'मैं एक मोटा आदमी जानता हूँ' तब यह कहना कठिन होता है कि मोटापन शरीर में है और जानना किसी और में है। यदि कथन 'मेरा शरीर' का अर्थ यह है कि शरीर भिन्न है, तो 'मैं मोटा हूँ' यह कथन शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध करता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव में है उसे खण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसे प्रसंग में, आग को भी ठंडा अनुमित किया जाएगा। प्रत्यक्ष शास्त्र-प्रमाण से अधिक बलवान् हैं इसलिए अपने अनुभव पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है : इसलिए प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिए अनुमान को लाने का कोई प्रयोजन नहीं है। सांख्य का तर्क, कि संघात का परिणाम, किसी अन्य पदार्थ को अनुमित करता है जिसके लिए यह संघात है (खाट सोने वाले को अनुमित करती है) निरुपयोगी है, क्योंकि दूसरे स्तर का पदार्थ जिसके लिए पहले स्तर का

की परम्परा देने के बजाय, अति फलदायक मार्ग, शास्त्र-प्रमाण को स्वीकारना होगा, जो अपने स्वतः प्रामाण्य में, निश्चित रूप से एवं अर्थापत्ति द्वारा, शरीर से भिन्न, नित्य आत्मा की सत्ता प्रतिपादन करता है। शास्त्र की प्रमाणता, केवल कल्पित तर्क द्वारा खण्डित नहीं हो सकती।

ऐसा भी एक मत है कि चेतना इन्द्रियों का धर्म है, और भिन्न इन्द्रियों द्वारा ज्ञान उसी शरीर में एकीकृत होता है, और इसी कारण आँखों से देखा पदार्थ भी, वही है, जो स्पर्श द्वारा ग्रहण किया गया है ऐसा अनुभव शक्य है। दूसरा मत यह है कि ज्ञान इन्द्रियों का धर्म है, इन्द्रिय ज्ञान से संबंधित सुख-दुःख की संवेदनाएँ, एक व्यक्ति को, पृथक् पदार्थ के रूप में व्यवहार करने के लिए आकर्षित या प्रतिक्षिप्त कर सकती हैं जो दृश्य पदार्थ द्वारा आकर्षित या प्रतिक्षिप्त होता है। वेंकटनाथ ऐसे सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं कि यह हमारे इस मानसिक अनुभव को नहीं समझा सकते जिसमें हमें लगता है कि हम उसी पदार्थ को स्पर्श करते हैं जिसे हमने देखा है। इससे यह अनुमित होता है कि कोई एक पदार्थ है जो दो इन्द्रियों के ज्ञान से भी अतिरिक्त है, क्योंकि चक्षु और स्पर्शेन्द्रियों की मर्यादा, अपने निर्दिष्ट इन्द्रियगुणों को ग्रहण करने तक ही है, और दोनों में से एक भी, भिन्न इंद्रिय-गुणों द्वारा, वस्तु की एकता प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। वेंकटनाथ आगे कहते हैं, कि यह मत कि भिन्न इंद्रियों के संस्कार हृदय में इकट्ठे होते हैं और हृदय में अनुभवों के ऐसे एकीकरण द्वारा, वास्तविक व्यक्ति दीखता है, यह अयुक्त है, क्योंकि शरीर के अन्दर संस्कारों के एकीकरण का ऐसा केन्द्र हमें जानने में नहीं आता है, और यदि, शरीर में ऐसा केन्द्र स्वीकारा जाता है तो पृथक् आत्मा को, जिसमें संस्कार समाविष्ट हैं, मानने में कोई हानि नहीं है।[1]

चेतना को भी आतमा नहीं माना जा सकता क्योंकि चेतना अनुभव है और इसलिए वह किसी व्यक्ति में उसके पृथक् और विविक्त रूप में होनी चाहिए। गतिशील

संघात उपयोगी है, उसके लिए अन्य तीसरा पदार्थ भी हो सकता है, और उसके लिए फिर कोई और, इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। इस अनवस्था को रोकने के लिए, सांख्यकार सोचते हैं कि पुरुष को अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। किन्तु पुरुष को चरम पदार्थ मान लेने के बजाए, शरीर पर ही रुक जाना अच्छा है, और शरीर को अपना हेतु मान लेना चाहिए। जीवित शरीर में आत्मा होनी चाहिए क्योंकि वह जीवित है यह तर्क अयुक्त है, क्योंकि शरीर से भिन्न मानी हुई आत्मा का हमें अन्य साधनों से अनुभव नहीं है। कोई यह भी कह सकता है कि जीवित शरीर में खपुष्प होना चाहिए क्योंकि वह जीवित है। चार्वाक अन्त में अपने तर्क को पूरा करते हैं और कहते हैं कि शरीर एक स्वचालित यन्त्र है जो किसी पृथक् तत्त्व के अधीक्षण की अपेक्षा बिना, अपने आप कार्य करता है, और वह एक विशिष्ट भौतिक परिणाम है (अनयाधिष्ठित स्वयं-वाहक-यन्त्रन्यायाद् विचित्र-भूत-परिणति-विशेष-सम्भवोऽयं देहयंत्रः)। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 157।

[1] त्वादिष्ठ संस्कार कोशे मानाभावात्, अनेकेषामहयर्थानां मे शरीर योगे च ततश्च वरन् यथोपलम्भमेकस्मिन्नहम् अर्थे सर्वसंस्काराधीनम्।

—सर्वार्थ सिद्धि, पृ० 160।

चेतनावस्थाओं में ऐसा कुछ भी नहीं है जो चिरस्थायी है, जो अपने में भूत और वर्तमान अवस्थाओं को एकीकृत कर सके और द्रष्टा या व्यक्ति का विचार उत्पन्न कर सके। इसलिए, यह मानना चाहिए कि स्वचेतन अहं है जिसमें समस्त ज्ञान और अनुभव समाविष्ट हैं। ऐसा अहं, इस अर्थ में, स्वप्रकाश है कि अपने द्वारा स्वयं प्रकट है, वह केवल ज्ञान का अधिष्ठान ही नहीं है। ऐसा स्वप्रकाश्य अहं गाढ़ निद्रा में भी विद्यमान है और हमारे 'मैं सूखपूर्वक सोया' इस उत्तरकाल के स्मरण से प्रमाणित होता है और वह किसी अनुभव से बाधित नहीं होता। जब कोई किसी को 'तुम' या 'यह' कहकर पुकारता है, तब भी, उत्तरकाल में अहं 'मैं' के रूप में स्वप्रकट है। ऐसा अहं आत्मा को लक्ष्य करता है, जो सच्चा कर्त्ता, सुख-दुःख का अनुभविता और ज्ञाता है और सच्चा नैतिक कर्त्ता है, और इसलिए वह, अपनी जैसी दूसरी आत्मा से, निर्दिष्ट कर्म और उनके फल की ओर ले जाते विशिष्ट प्रयत्नों के कारण भिन्न है। व्यक्ति के प्रयास, पूर्व-जन्म के कर्म के फलों से पूर्व-निश्चित होते हैं, और ये उससे पूर्व जन्म के कर्मों से। जो यह कहते हैं कि प्रयास, अप्रयास की ओर ले जाता है, वे अपना ही विरोध करते हैं क्योंकि व्यवहार, कर्म, प्रयास की सफलता पर आश्रित हैं। वे ही प्रयत्न, जो असंभव की प्राप्ति की ओर या उन पदार्थों की ओर किए जाते हैं जिसमें प्रयास की आवश्यकता नहीं है, वे ही केवल, निरुपयोगी हैं, जबकि और सब प्रयत्न फल देते ही हैं।

ब्रह्म एक ही है, वह भिन्न चित्तों के संबंध से नाना रूप दीखता है, वेंकटनाथ की दृष्टि से कि ऐसा मत अयुक्त है, क्योंकि हम जानते हैं कि एक ही व्यक्ति, पुनर्जन्म में अनेकों देहों के संसर्ग में आता है, और भिन्न शरीरों से ऐसा संसर्ग व्यक्ति में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता और यदि ऐसा है, अर्थात् भिन्न देह से संबंध, व्यक्ति में भेद नहीं उत्पन्न करता तो एक ही ब्रह्म भिन्न चित्तों के संबध से नाना रूप क्यों हो जायगा इसका कोई कारण नहीं दीखता। पुनः, जिस मत में जीव, यद्यपि एक दूसरे से सचमुच भिन्न है किन्तु शुद्ध सत्ता-ब्रह्म के मात्र अंग होने के कारण अभिन्न है यह मत भी अयुक्त है, क्योंकि यदि ब्रह्म जीव से इस प्रकार अभिन्न है, वह भी सभी दुःख और अपूर्णताओं का भागी होगा, जो निरर्थक है।

ब्रह्मदत्त मानते थे कि ब्रह्म ही नित्य और अजात है, व्यक्तिगत आत्मा उसमें से उत्पन्न हुई है। वेंकटनाथ इसकी आलोचना करते हैं, और इस वाद का प्रतिपादन करते हैं कि सभी आत्मा अज और असृष्ट हैं। उन्हें चिर और नित्य मानना चाहिए, क्योंकि यदि वे, शरीर में रहते हुए परिवर्तनशील माने जाँय, तो सहेतुक प्रवृत्ति की निरन्तरता नहीं समझाई जा सकेगी। यदि शरीर के साथ उनका नाश होता है तो कर्मवाद और नैतिक उत्तरदायित्व में विश्वास त्यागना पड़ेगा।

आत्मा, बिभु (सर्वव्यापी) नहीं है, क्योंकि उपनिषदों में ऐसा कहा है वह शरीर से बाहर जाता है। नैयायिक, आत्मा के विभुत्व के बारे में इस प्रकार तर्क देते हैं— पाप और पुण्य प्रत्येक आत्मा से सम्बन्धित हैं और वे भौतिक जगत् में और दूर स्थानों में भी एसे परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं जो उस आत्मा को सुख-दुःख दे सकते हैं, पुण्य और पाप तो विशिष्ट आत्मा से सम्बन्धित हैं, इसलिए वे दूरस्थ स्थान पर परिवर्तन नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा और उनके (पाप-पुण्यों के) स्थानों में

सह-अस्तित्व नहीं है। यह मत रामानुजवादियों पर नहीं लागू होता, क्योंकि उनके अनुसार पाप और पुण्य का अर्थ, व्यक्ति के कर्मानुसार उस पर अनुग्रह या कोप है और ईश्वर के अनुग्रह और कोप का व्यापार अमर्याद है।[1]

प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण से, आत्मा को विभु भी मान लिया जाय, तो भी वह भले-बुरे फलों का होना नहीं समझा सकेगा, क्योंकि आत्मा का उन दूरस्थ स्थानों में सह-अस्तित्व भी हो, तो भी उसके अदृष्ट उसकी समस्त व्यापक आत्मा में कार्य नहीं करते, केवल अंशभाग में ही करते हैं, और इसलिए, जबकि वह, जिस स्थान में कर्म-फल उत्पन्न होता है उससे सह-अस्तित्व में नहीं है, वह इसे ठीक तरह नहीं समझा सकता।

(त) वेंकटनाथ के अनुसार मुक्ति का स्वरूप

वेंकटनाथ कहते हैं कि कुछ लोग ऐसा आक्षेप करते हैं कि यदि जीव अनादि काल से बन्धन में था तो कोई कारण नहीं है कि उसे भविष्य में क्यों मुक्त होना चाहिए? इसके उत्तर में सर्वमान्य आशा है कि किसी न किसी समय, अनुकूल सहकारियों का ऐसा पुंज आयगा और हमारे कर्म इस प्रकार फलित होंगे कि वे, विवेक-दृष्टि और सभी सुखों से विरक्ति उत्पन्न कर, हमें बंधन से मुक्त कर देंगे, जिससे ईश्वर को अपना अनुग्रह दिखाने का अवसर मिल सके। इस प्रकार, यद्यपि प्रत्येक जीव अनादि काल से बंधन में है तो भी उन सबों को, क्रम से, मुक्ति पाने का योग्य अवसर मिलता है। इस प्रकार ईश्वर, केवल उन्हीं पर मुक्ति की कृपा करते हैं जो अपने कर्म द्वारा उसके योग्य होते हैं और इस विचार-दृष्टि से सम्भव हो सकता है कि कोई एक ऐसा समय होना चाहिए जब सभी मुक्त हो जाएंगे और संसार चक्र का अंत हो जायगा। ऐसे संसार क्रम का अंत, ईश्वर की स्वेच्छा से होगा, और इस प्रकार, ऐसी अवस्था में, ईश्वर की स्वतंत्र और सहज प्रवृत्ति में बाहर से बाधा उत्पन्न हो जायगी, इस प्रकार भय के लिए लेश मात्र भी स्थान नहीं है। मनुष्य, दुःख के अनुभवों से मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, जो इस जगत् के सुखों को नहीं-सा कर देता है। वह समझता है कि सांसारिक सुख अल्प व अस्थिर है और दुःख से संबद्ध हैं। ऐसी मुक्ति ईश्वर-भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, यहाँ भक्ति से, राग सहित ध्यान या स्मरण समझा गया है।[2] ऐसी भक्ति से ज्ञान भी उत्पन्न होता है, और ऐसे ज्ञान में भक्ति का भी समावेश है।[3] भक्ति का अर्थ यहाँ ध्रुवानु स्मृति से है, और इसलिए इसका अनवरत अभ्यास होना चाहिए। मुक्ति केवल ज्ञान से ही प्राप्त है, यह शंकर अनुयायियों का मत मिथ्या है। उपनिषद् में ज्ञान को ध्रुवानुस्मृति कहा गया है, और इसका अभ्यास होते रहना चाहिए, तभी वह उपासना कही जा

---

[1] इह हि धर्माधर्म-शब्दः कर्म-निमित्तेश्वर-प्रीति-कोप-रूप-बुद्धि-द्योतकः।
अस्ति ही शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते सौ परमः शरीरी इति।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 179।

[2] महनीय-विषये प्रीतिर्भक्ति प्रीत्यादयश्च ज्ञानविशेषा इति वक्ष्यते स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिः।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 190।

[3] भक्ति साध्यं प्रापकज्ञानमपि भक्ति-लक्षणोपेतम्। —वही, पृ० 191।

सकती है, जो भक्ति ही है।[1]

विहित कर्म सच्चे ज्ञान के उदय में प्रतिबंधक कर्मों के बुरे अभावों का निवारण करके, भक्ति के अर्थ में, ज्ञान उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार शास्त्रोक्त कर्म, भक्ति के साथ-साथ नहीं करने चाहिए, और वे दोनों मिलकर मुक्ति का कारण नहीं हैं, किन्तु विहित कर्म, विरोधी कर्मों के प्रतिबन्धक प्रभावों का निवारण करने में सहायक हैं ऐसा समझना चाहिए।[2] यज्ञादि शास्त्रोक्त कर्म का, भक्ति-साधना से विरोध नहीं है, क्योंकि जिन देवताओं का वेद में उल्लेख है वे ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं और ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म ही वैष्णवों के एकमात्र देव भगवान् है। भक्त को नित्य और नैमित्तिक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि केवल स्वधर्म का अन्त हो जाना कोई अर्थ नहीं रखता, कर्म-रहित होने का सच्चा अर्थ निस्वार्थ होकर कर्म करना है। यह मानना मिथ्या है कि दुनिया को छोड़कर संन्यासी बन जाते हैं वे ही मुक्ति पाते हैं, क्योंकि किसी भी वर्ण का मनुष्य क्यों न हो और किसी आश्रम में क्यों न हो, यदि वह अपने सामान्य वर्णोचित धर्म का पालन करता है और ईश्वर के प्रति ध्रुवानुस्मृति-युक्त है तो वह अवश्य मुक्ति पायगा।

यहाँ पर यह बताना उपयुक्त होगा कि इस सम्बन्ध में धर्म तीन प्रकार के माने गए हैं। जो नितान्त आवश्यक हैं, उन्हें नित्य कर्म कहा है। उन्हें करने से न कोई पुण्य या लाभ होता है, किन्तु न करने से दुष्परिणाम होता है। जो विशेष प्रसंगों में करना आवश्यक है उन्हें नैमित्तिक कहा है। यदि इन्हें विशिष्ट परिस्थितियों में न किया जाय तो पाप लगता है किन्तु उनके करने से कोई विशेष पुण्य नहीं मिलता। जो कर्म किसी सुख-कामना से किए जाते हैं, जैसेकि स्वर्गप्राप्ति, पुत्रोत्पत्ति इत्यादि, इन्हें काम्य कर्म कहते हैं। अब जो पुरुष मुक्ति पाना चाहता है उसे काम्य कर्म त्यागना चाहिए, शास्त्र-निषिद्ध कर्म न करना चाहिए और नित्य और नैमित्तिक कर्म करते रहने चाहिए। यद्यपि, नित्य और नैमित्तिक कर्म किसी प्रकार के फल से अवश्य ही सम्बन्धित हैं, क्योंकि वे न करने से होने वाले पापों का निवारण करते हैं, तो भी ये निषेधात्मक फल देते हैं और मुक्ति प्राप्त करने वालों के लिए वर्जित नहीं हैं। क्योंकि ऐसे लोगों के लिए केवल वे ही कर्म वर्जित हैं जो नियत फल देते हैं, इससे यह अर्थ नहीं है कि उसे ईश्वर को प्रसन्न करने वाले कर्म भी नहीं करने चाहिए, क्योंकि सकाम कर्म वे ही हैं जो अपने सुख की कामना से किए जाते हैं और ये हमेशा दुष्परिणामयुक्त रहते हैं।[3]

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि नैमित्तिक कर्म करने चाहिए, किन्तु इनमें से कुछ प्रायश्चित कर्म हैं. जिनसे हमारे कर्म के पाप का निवारण होता है। सच्चे भक्त

---

1 एकस्मिन्नेव विषये वेदनोपासन-शब्दयोः व्यतिकरेणोऽप्रक्रमोपसंहार दर्शनाच्च वेदनमेव उपासनतया विशेष्यते····सा मुक्ति साधनतयोक्ता हि वित्तिः भक्ति-रूपत्व-पर्वत-विशेषण-विशिष्टा।
····वही, पृ० 191-192।

2 वही, पृ० 194-195।

3 अनर्थाविनाभूतसुख-कामनातो निवृत्तं कर्म निष्कामम्।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 202।

को ये प्रायश्चित कर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि ईश्वर का ध्यान ही हमारे सभी पापों को धो डालने में समर्थ है, और साथ में पुण्यों को भी। क्योंकि पुण्यकर्म स्वर्ग-सुख उत्पन्न करते हैं इसलिए पाप कर्म की तरह, ये भी मुक्ति में बाधक हैं। जो कुछ भी चित्त को, संकुचित कामनाओं द्वारा संकुचित बनाता है वह पाप युक्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर तथाकथित पुण्य कर्म भी, मुक्ति की इच्छा रखने वाले, भक्त के लिए हानिकारक हैं।[1] धर्म का अर्थ सापेक्षता है, जो कर्म, सामान्य जनों के लिए धर्म्य है वह ही मुक्ति की इच्छा का 'उच्च' आदर्श रखने वाले पुरुष के लिए निषिद्ध हैं।[2] सच्चे भक्त के लिए, जिसने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो ईश्वर के ध्यान में लगा हुआ है, पाप और पुण्य कर्म निरुपयोगी हैं, क्योंकि पुराने कर्म ध्यान से भस्म हो जाते हैं और नए कर्म ज्ञानी से सम्बन्धित नहीं हो पाते।

रामानुज सम्प्रदाय परलोक विद्या के विषय में विचार, जैसाकि वेंकटनाथ ने समझाया है, यह है, सच्चे भक्त की आत्मा मूर्धन्य नाड़ी से बाहर निकलती है और क्रमानुसार अधिष्ठाता देवताओं द्वारा क्रम से मृतात्मा को ऊपर से ऊपर ले जाती हैं। क्रम यह है, अग्नि, दिवस, शुक्ल पक्ष, संक्रांति, वर्ष, वायु, सूर्य, चंद्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र और प्रजापति।[3] उपरोक्त क्रमानुसार अधिष्ठाता देवतागण मृतात्मा को एक स्तर से ऊपर उठाने हेतु परमात्मा द्वारा नियुक्त माने गए हैं।

पूर्ण मुक्तावस्था में बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यद्यपि यह अवस्था भक्ति-साधना से प्राप्त है, तो भी इसका नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह, पाप और पुण्य जो चित्त को संकुचित कर सकते हैं सभी कारणों से सम्बन्ध-विच्छेद का फल है। इसलिए इस अवस्था से च्युति नहीं है।

मुक्त पुरुष स्वेच्छा से शरीर धारण कर सकता है। उसका देह, बन्धन रूप नहीं हैं, क्योंकि वे ही बन्धन में गिरते हैं जिनका शरीर कर्म की उपाधि से युक्त है। मुक्तावस्था, ब्रह्म की नित्य प्राप्ति द्वारा पूर्ण सुखावस्था है, मुक्त ईश्वर का दास है। यह दास-भाव दुःख नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि दासता, पाप से सम्बन्धित होने पर ही दुःख ला सकती है। मुक्त पुरुष इस अर्थ में सर्व शक्तिमान् है कि भगवान् उसकी इच्छाएं कभी नहीं टालता।

मुक्त पुरुष, सभी वस्तुओं को, अंश रूप में, भगवान् में समाविष्ट मानता है, इसलिए संसार के कार्य उसे दुःखी नहीं करते, यद्यपि उसे यह ज्ञान भी हो कि भूतकाल में संसार की अनेक वस्तुओं ने उसे दुःख दिया था।

वेंकटनाथ जीवन्मुक्ति नहीं मानते क्योंकि मुक्ति की प्रत्येक परिभाषा मुक्ति का कर्म-जनित जीवन, इन्द्रियां और देह से पृथक्ता बताती हैं। इसलिए, हम, जब जीवन्मुक्ति के बारे में सुनते हैं तो अर्थ यह है कि उसकी अवस्था मुक्त जैसी है।

---

1 तदेवं धी-संकोचक कर्म-ध्वंसे धीविकासएव एव ब्रह्मानुभूतिः। —वही, पृ० 220।

2 स एव धर्मः सोऽधर्मस्तंतं प्रति नरं भवेत्।
पात्र-कर्म-विशेषेण देश कालावपेक्ष्यच ॥ —वही, पृ० 221।

3 सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 226-227।

अद्वैतवादियों का कहना कि ज्ञान के साथ मूल अविद्या नष्ट हो जाती है, तो भी उसकी आंशिक अवस्था, मुक्त पुरुष को शरीर के बन्धन में रख सकती है, यह मिथ्या है। क्योंकि यदि मूल अविद्या नष्ट हो गई है तो फिर उसकी अवस्थाएं कैसे रह सकती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि वे ज्ञान होने के उपरान्त रहती हैं, तो यह कल्पना करना असंभव हो जाता है कि वे किस प्रकार मुक्त पुरुष की मृत्यु के बाद नष्ट हो जायेंगी।

रामानुज दर्शन में ईश्वर का स्थान

हमने देखा कि रामानुज के मतानुसार ईश्वर की सत्ता शास्त्र-प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है, अनुमान द्वारा नहीं। वेंकटनाथ बताते हैं कि सांख्य मतानुसार, जगत् की उत्पत्ति, पुरुष के सान्निध्य द्वारा प्रकृति के व्यापार से होती है, यह मिथ्या है, क्योंकि उपनिषद् स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बनाती है उसी प्रकार ईश्वर जगत् की रचना करता है। उपनिषद् और आगे कहते हैं कि ईश्वर ने प्रकृति और पुरुष दोनों में प्रवेश किया और सर्जन के समय रचना कर्म उत्पन्न किया।[1] ईश्वर के सम्बन्ध में योग दर्शन का यह भी मत कि वही एक मुक्त पुरुष है जो हिरण्यगर्भ के शरीर में प्रवेश करता है या अन्य दूसरा शुद्ध शरीर धारण करता है, शास्त्र विरुद्ध है। यह सोचना व्यर्थ है कि जगत् रचना मुक्त पुरुषों के क्रिया व्यापार से होती है, क्योंकि यह जितना शास्त्र विरुद्ध है उतना ही सामान्य सम्भावना के भी विपरीत है, क्योंकि असंख्य मुक्त पुरुषों में इच्छा की ऐसी एकता नहीं हो सकती जो बिना अवरोधों के जगत् रचना को समझा सके। इस प्रकार शास्त्र प्रमाण के बल पर स्वयं ईश्वर ने, प्राणियों के हित के लिए या अपनी लीला के लिए, इस जगत् की रचना की है। लीला के आनन्द को नकारात्मक स्थिति अर्थात् आलस्य की क्लांति दूर करना, नहीं समझना चाहिए, किन्तु स्वयं को आनंदित करने वाला व्यापार समझना चाहिए।[2] जब कहा जाता है कि भगवान् रुष्ट है इससे यह समझना चाहिए कि वे निराश हुए हैं, क्योंकि वे स्वयं परिपूर्ण हैं और उन्हें कुछ भी पाना या खोना बाकी नहीं है। इसलिए ईश्वर के कोप को, जो दण्डनीय हैं, उन्हें दण्ड देना, समझना चाहिए।

रामानुज के मतानुसार जीव और जगत् ईश्वर की देह या 'शरीर' है। शेषार्य वंश के, अनन्ताचार्य, अपने 'न्याय सिद्धांजन' में, वेंकटनाथ के इस मत का अनुसरण करते हुए उसे और विशद करते हैं और ईश्वर के शरीर के प्रत्यय की सूक्ष्म विवेचना करते हैं, जो हमारे ध्यान देने योग्य है। इसे वे अस्वीकार करते हैं कि शरीर-प्रत्यय, जाति को अनुमित करता है क्योंकि यद्यपि शरीर-प्रत्यय, शरीर के सभी व्यापारों या क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होता है, तो भी, यह प्रत्यय किन्हीं न किन्हीं विशिष्ट दृष्टांतों से ही सम्बन्धित होता है इसलिए सामान्य स्वयम् शरीरत्व के प्रत्यय की सत्ता मानने को बाध्य नहीं करता। जो कुछ भी इस विषय में कहा जा सकता है वह यह कि शरीरत्व का सम्बन्ध व्यक्तिगत

---

1 प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ। —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ. 252।

2 क्रीडा-योगादरीत-योगः तदभावाद्वा तदभावः स्यात्, मैवं क्रीड़ा हि प्रीति-विशेष-प्रभवः स्वयं प्रियो व्यापारः। —वही, पृ० 255।

शरीरों से है ।[1] समस्त जाति-प्रत्यय, इसीलिए, समाहार रूप से, विशेष प्रकार के वर्ग से सम्बन्धित होते हैं और इस रूप में ये सेना इत्यादि समुदायवाचक नामों के निकट समझे जा सकते हैं ।[2] वात्स्य श्रीनिवास, अपने 'रामानुज सिद्धांत संग्रह' में जाति-प्रत्यय को, अन्योन्याश्रय वर्ग के निकट जैसे प्रत्यय पर आधारित मानते हैं । वे कहते हैं कि जब दो आश्रय वर्ग में, दोनों ही गाय कहलाते हैं, तब दो व्यक्तिगत आश्रय वर्ग से अन्य और कुछ नहीं दीखता । दोनों ही गाय कहलाते हैं इसका कारण दोनों वर्गों के बीच रहा वह सादृश्य है ।[3] इस प्रकार, समान वर्ग के विशिष्ट सादृश्यत से उत्पन्न जाति-प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है (तावद्विषयज्ञानरूपजातिविषयकत्वांगीकारेण) ।

अनन्तार्य 'रामानुज भाष्य' में शरीर की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, जो चैतन्य के हेतु या स्वार्थ के लिए पूर्णतया नियंत्रित या अधिकृत किया जा सके, और जो साध्य के साधन रूप हैं । (चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं शक्यं तच्चेष्टैक स्वरूपंच तत्तस्य स्वरूपम्) । 'श्रु तप्रकाशिका' के रचयिता, सुदर्शनाचार्य, इस परिभाषा का यह बोधार्थ करते हैं कि जब किसी चेष्टा, किसी चेतना की इच्छा या कल्पना द्वारा पूर्णतया नियमित होती है और इस प्रकार नियन्त्रित रहती है तब पहला दूसरे का शरीर कहलाता है (कृतिप्रयुक्तस्वीयचेष्टासामान्यकत्वरूपनियाम्यत्वं शरीरपदप्रवृत्तिनिमित्तम्)।[4] जब यह कहा जाता है कि यह शरीर इस जीव का है तब आधेयत्व का अर्थ यह होता है कि उस शरीर के साधारण व्यापार उस चेतन के कारण हैं,[5] इसी सादृश्य के आधार पर नौकर अपने स्वामी का शरीर नहीं कहा जा सकता । इस परिभाषा के अन्तर्गत पूर्व कल्पना यह है कि व्यक्तिगत जीव पशु और वृक्षादि की गति, और ईश्वर अधिष्ठित जड़ पदार्थों की गति यद्यपि हम उन्हें न देख पाते[6] तो भी उन विशिष्ट जीवों की इच्छा शक्ति से है ।

---

1 न चेदम् शरीरमनित्यनुगत प्रतीतिरेव तत्साधिका, अनुगताप्रतीते बाधक-विरहे जाति साधकत्वा दिति वाच्यम्, सिद्धान्ते अनुगत-प्रतीते संस्थान विषयकत्वेन तदरिक्त-जाति-साधकत्वासम्भवात् । —अनन्तार्य, शरीरवाद (हस्त.) ।

2 एक जातीयमिति व्यवहारस्य तत्तदुपाधि–विशेषेणोपपत्तेः राशि–सैन्य परिषदरण्यादिष्वैक्यव्यवहारादिवत्, उपाधिश्चायमनेकेषाम् एक स्मृति–समारोहः ।
—न्याय सिद्धांजन, पृ. 180

3 अथ सास्नादिमानयमपि सास्नादिमानिति सास्नादिरेव अनुवृत्त–व्यवहार–विषयो दृश्यते, अनुवृत्त–धी–व्यवहार-विषयस्तदतिरक्तो न कश्चित् अपि दृश्यते । तस्मादुभय–सम्प्रतिपन्न-संस्थानेनैव सुसदृशोपाधिवशादनुगत–धी–व्यवहारोपपता वतिरिक्त कल्पने मानाभावात्, सुशदृत्वमेव गोत्वादीनामनुवृत्तिः । —रामानुज सिद्धान्त संग्रह, हस्त. । वात्स्य श्रीनिवास सुसादृश्य को एक विशेष धर्म मानते हैं, जो भेदके होते भी सामान्यता के ग्रहण का कारण है । (प्रतियोगि–निरूप्य–प्रतिव्यक्ति–विलक्षण विषय–निष्ठ-सदृश व्यवहार साधारण कारण धर्म विशेषः सौसादृश्यम्) । इस सादृश्य के कारण हम समान पदार्थ को संज्ञा दे सकते हैं । जब यह दो पदार्थों में रहती है तब धर्म सादृश्य कहते हैं। जब वह अद्रव्य में होती है हम स्वरूप–सादृश्य कहते हैं ।

4 शरीरवाद (हस्त०) ।

5 एतज्जीवस्येदं शरीरमित्यादौ आधेयत्वं तस्य च शरीर पदार्थैकदेशे कृतौअन्वयाद्वा तज्जीव-निष्ठ–कृतिप्रयुक्त-स्वीय चेष्टा सामान्यकमिदम् इति बोधः । — वही ।

6 जीव शरीरे ईश्वर शरीरे पर्वतादौ सूक्ष्मस्य च तत्तत्कृति-प्रयुक्त-चेष्टा-विशेषस्य अंगीकारान्न शरीर-व्यवहार-विषयत्वानुपपत्तिः । —वही ।

शरीर की मनोजीव-विज्ञान-सम्बन्धी-क्रियाएँ अधिष्ठातृ शक्ति की सूक्ष्म इच्छा द्वारा होती है, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, इस आक्षेप को उठाकर 'रामानुज भाष्य' में शरीर की दूसरी परिभाषा दी गई है। इस परिभाषा के अनुसार जो चेतन की इच्छा द्वारा सम्पूर्ण रूप से नियंत्रित होकर गिरने से रोका जा सके, वही शरीर है।[1] तो भी इस परिभाषा पर आक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि यह जीव ईश्वर का देह है, इस प्रयोग को नहीं समझा सकती (यस्यात्मा शरीरम्)। जीव में भार परिमाण नहीं है। इसलिए यह सोचना निरर्थक है कि ईश्वर उन्हें पतन से रोकता है और ईश्वर का जीव से यही सम्बन्ध है। इसलिए परिभाषा में यहाँ तक परिवर्तन किया जा सकता है कि विशिष्ट जीव की इच्छा द्वारा, स्पर्श सम्बन्ध से पूर्णतया जो नियमन में है वही शरीर है।[2] इस परिवर्तन पर भी आगे और आक्षेप किया जा सकता है कि यह परिभाषा अब भी काल इत्यादि व्यापक पदार्थों का समावेश नहीं करती। अब, दो सर्वव्यापक पदार्थों के बीच संयोग, नित्य और सहज माना गया है। इसलिए, ईश्वर का काल इत्यादि से संयोग, ईश्वरेच्छा से होता है ऐसा नहीं माना जा सकता, और यदि इसे शरीर का व्यवच्छेदक धर्म माना जायगा तो काल इत्यादि ईश्वर का शरीर नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए शरीर की दूसरी ही परिभाषा देनी पड़ेगी कि शरीर, चेतन के अधीन और आश्रित एक द्रव्य है। परतंत्रता और अधीनता विशिष्ट उत्कृष्ट गुण के अर्थ में समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में चेतन में कारण या कार्यत्व का उत्कृष्ट गुण उत्पन्न होता है। जब ब्रह्म कारण माना जाता है तब वह (कारणत्व) जीव जीव और जड़ की सूक्ष्मावस्था से ब्रह्म के सम्बन्ध में समझा जा सकता है, और उसकी नाना जगत् के रूप में परिणामावस्था, सूक्ष्म तत्त्वों के स्थूल परिणाम के रूप में तथा जीवों के कर्म और पुनर्जन्म द्वारा पूर्णता को पहुँचने के प्रयास के रूप में समझा जा सकता है। जड़ और जीव के सम्बन्ध से रहित, ब्रह्म स्वयं न कारण और न कार्य कहा जा सकता है। उसे, जीव और जड़ की कार्य और कारणावस्था के सम्बन्ध में ही कारण और कार्य माना जा सकता है। इसलिए ये ईश्वर के शरीर कहलाते हैं क्योंकि वे अपनी ही अवस्थाओं द्वारा ब्रह्म को कारण और कार्य के रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं।

परिभाषा में और भी इस प्रकार परिवर्तन की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर का नियमन वह सम्बन्ध है, जो किसी काल में न होता हो ऐसा नहीं है। यह सम्बन्ध अपृथक् सिद्ध नहीं है, किन्तु वह जीव और शरीर का व्यावर्तक गुण है अर्थात् जहाँ तक दोनों सत्ता रखते हैं वहां तक नियामक नियंत्रित का सम्बन्ध रहता ही है (यावत्सत्त्वमसंम्बंधनार्थयो रेवापृथक्सम्बंधाभ्युपगमात्)।[3] इस प्रकार मुक्त जीव के भी शरीर है और ऐसा माना जाता है कि मृत्यु के बाद जीव से सम्बन्धित शरीर नष्ट हो जाता है,

---

[1] यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यम् सर्वात्मना धारयितुं शक्यं तत्तस्य शरीरमिति कृति-प्रयुक्त स्वप्रतियोगिक-पतन प्रतिबंधक-संयोग-सामान्य ब त्वं शरीर-पद-प्रवृत्ति निमित्तम्।
—वही

[2] पतन प्रतिबंधकत्वं परित्यज्य कृति-प्रयुक्त-स्वप्रतियोगिक संयोग-सामान्यस्य शरीरपद प्रवृत्ति निमितत्त्व स्वीकारेऽपि क्षति विरहात्। —शरीरवाद।

[3] शरीरवाद (हस्त०) पृ० 8।

तथाकथित मृत शरीर वह नहीं है जिसके साथ जीव का सम्बन्ध था।[1] किन्तु फिर आक्षेप किया जा सकता है कि जीव का गाढ़ सम्बन्ध होने से, वह शरीर के कार्य और प्रयत्नों को निश्चित करता है, इसलिए जीव (आत्मा) शरीर का शरीर का शरीर कहा जा सकता है। इस आक्षेप का निवारण करने के लिए परिभाषा में फिर परिवर्तन किया जाता है, ज्ञान उत्पन्न करने के सम्बन्ध में, कारणत्व या कार्यत्व को निश्चित करने वाला अपृथक् सम्बन्ध ही केवल शरीर की उपाधि कही जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि, शरीर आत्मा से अपृथक् रूप से सम्बन्धित होते हुए, ज्ञान उत्पन्न कराता है, और यही शरीर का व्यावर्तक धर्म मानना चाहिए।[2] शरीर की यह परिभाषा न्याय से भिन्न है जिसमें शरीर को चेष्टा, इन्द्रिय और भोग का आश्रय माना है।[3] क्योंकि ऐसी परिभाषा में, जबकि शरीर का दूर सीमान्त में भी व्यापार हो सकता है जिससे जीव की मूल इच्छा का निकट आश्रय (आधार) न हो, इसलिए आश्रय (आधार) के विचार को इतना विस्ततृ करना पड़ेगा कि जिससे सुदूरवर्ती अंगों का उन अंगों से सम्बन्ध समाविष्ट हो सके जो जीव से प्रेरित किए गए थे। परोक्ष सम्बन्ध के इस सिद्धांत का विस्तार करते हुए, हाथ में पकड़ी हुई वस्तु की क्रिया को भी इसमें समावेश किया जा सकता है और इस दशा में बाह्य वस्तु भी शरीर कहा जा सकता है, जो असम्भव है। नैयायिक इसके बचाव में, समवाय सम्बन्ध को लाते हैं जिसके द्वारा शरीर के अंग, दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा, भिन्न रूप से आपस में सम्बन्धित हैं। किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि रामानुज-मत में समवाय नहीं माना गया है।

ब्रह्मन् प्रकृति और जीवरूप शरीर द्वारा, जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत जीव, अपने कर्मों द्वारा, सुख-दुःख का निमित्त कारण है, ठीक उसी प्रकार, ब्रह्म उपादान का कारण होते हुए भी, निमित्त कारण है, और कर्म, जीव में होने से जीव उपादान कारण है। दूसरी ओर ईश्वर स्वयं, शरीर से पृथक्, नित्य अपरिणामी माना जा सकता है। इस प्रकार, इन दो दृष्टिकोणों से ईश्वर उपादान एवं निमित्त कारण माना जा सकता है और अपरिणामी कारण भी माना जा सकता है।

भास्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि ब्रह्म में दो अंश हैं चिदंश और अचिदंश वह अचिदंश द्वारा, परिणत होकर अचिद् परिणामों की उपाधियों से कर्म चक्र में प्रवृत्त होता है। भास्कर ऐसा मानता है कि उपाधियाँ, ब्रह्म के अंश हैं और प्रलयावस्था में भी वे सूक्ष्म रूप से रहती हैं, और उपाधियां, जो ब्रह्म को मर्यादित करती हैं वे केवल मुक्तावस्था में ही ब्रह्म में लय होती हैं। वेंकटनाथ सोचते हैं उपाधि के प्रत्यय द्वारा स्पष्टीकरण

---

1 मृत शरीरस्य जीव सम्बन्ध रहिततयापि अवस्थान-दर्शनेन यावत्सत्वम् असम्बन्धानर्हत्वविरहादिति चेत् न पूर्वशरीरतयावस्थितस्य द्रव्यस्य चेतना-वियोगान्तरक्षणे एवं नाशाभ्युपगमेन अनुपपत्ति विरहात्। —वही।

2 तच्चेष्टरौत्वं हि तन्निष्ठातिशयाधायकत्वं, प्रकृते चतन्निष्ठातिशयः कार्यत्व-कारणत्वान्यतत्रूपो ज्ञानावच्छिन्नानुयोगिताका पृथक् सिद्धि सम्बन्धावच्छिन्न कार्यत्व-कारणत्वान्यतरावच्छेदकत्वं शरीरपद प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्यर्थः। —वही।

जीव और जड़ की सूक्ष्मावस्था से युक्त, ब्रह्म कारण है, और जड़ और जीव की स्थूलास्था से युक्त, ब्रह्म कार्य है। जड़ और जीव की स्थूल सूक्ष्मावस्था, इस प्रकार ब्रह्म की कारण एवं कार्यावस्था निश्चित करती है। सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट-ब्रह्मणः कारणात्वात्स्थूलचिनचिद्विशिस्टस्य च तस्य कार्यत्वात् ब्रह्मनिष्ठ कार्यत्व-कारणात्वान्यतरावच्छेदकत्वस्य प्रपंच सामान्ये सत्त्वात् —वही।

3 चेष्टेंद्रियार्थाश्रयः शरीरम्। —न्यायसूत्र 1 1.2।

अनर्थ उत्पन्न करता है। यदि उपाधि संयोग से जीव को बनाती है तो फिर जबकि वे सब ईश्वर से सम्बन्धित हैं, तो ईश्वर को भी मर्यादित करेगी। यदि उपाधि को घटाकाश और मठाकाश की उपमा से समझा जाय, जहाँ आकाश निरन्तर रहता है और घट इत्यादि उपाधियुक्त पदार्थों की हलचल से ही उनमें आकाश मर्यादित दीखता है, तब मुक्ति और बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उपाधि के प्रत्यय को आधार और आधेय की उपमा से भी नहीं समझाया जा सकता, जैसेकि घड़े में पानी, क्योंकि ब्रह्म निरंतर और अविकल होने से, वह निरर्थक ठहरेगी। उपाधियां जीव का निर्माण नहीं कर सकतीं क्योंकि वे भौतिक हैं। यादव प्रकाश मानते हैं कि ब्रह्म सर्वात्मक सद्रूप है जिसमें चेतना, जड़ और ईश्वर रूप तीन शक्तियाँ हैं और वह इन शक्तियों द्वारा अनेक परिणाम करता है जो, सागर में फेन, तरंग इत्यादि की तरह, उसमें समाए हुए हैं और एक भी हैं। वेंकटनाथ कहते हैं कि जगत् को इन अस्थिर दृष्टिकोणों से समझाने के बजाय, शास्त्र का अनुसरण करना उत्तम है कि ब्रह्म, शरीर इन परिणामों से सम्बन्धित है। ईश्वर, जगत् और चैतन्य शुद्ध सत्ता के भासमान परिणाम हैं, जैसाकि कात्यायन कहते हैं, यह मानना भी गलत है।[1] क्योंकि शास्त्र निश्चित रूप से कहते हैं कि ईश्वर और अपरिणामी ब्रह्म एक ही हैं। यदि परिणाम, ब्रह्म शक्तियों के परिणाम द्वारा होता है तो ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता और न ये परिणाम, ब्रह्म की रचना ही कही जा सकती है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म अपनी शक्ति से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है, तो ऐसा मत जैन सिद्धांत की तरह सापेक्ष बहुत्वाद जैसा होगा। आगे एक और मत हैं कि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से यह जगत्, जीव और ईश्वर है यद्यपि ये भिन्न है, और यद्यपि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप उनमें समान एवं योग्य प्रकार से स्पष्ट नहीं प्रकट होता। वेंकटनाथ कहते हैं कि ऐसा मत अनुभव एवं शास्त्र विरुद्ध है। पुन: और एक मत है जिसके अनुसार, ब्रह्म चित् और आनन्द का सागर है और स्वानुभव आनन्द से वह अनेक रूप में परिणत होता है, वह एक छोटे अंश को जड़ बनाता है और उसके विकारों में चिदंश प्रेरित करता है। इस प्रकार, ब्रह्म, अनेक मर्यादित जीवों के रूप में परिणाम पाता है जो सुख-दु:ख अनुभव करते हैं कि यह सारा क्रम उसके लिए आनन्द का स्रोत हो जाता है। यह कोई दुर्लभ घटना नहीं है कि कुछ लोग अपने को दु:खी कर आनन्द लेते हैं। अवतार का प्रसंग इस विषय का समर्थन करता है, नहीं तो, वे अपनी स्वेच्छा से सुख-दु:ख अनुभव करते हैं यह निरर्थक ठहरेगा। वेंकटनाथ कहते हैं कि यह मत पूर्णरूप से खोखला है। ऐसे कुछ मूर्ख ही हो सकते हैं जो दु:ख-पूर्ण कर्मों को भूलकर उन्हें सुख के स्रोत समझें। किन्तु यह तो कल्पनातीत है कि ब्रह्म, जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है, ऐसा कार्य करे जिससे उसे तनिक भी दु:ख और वेदना हो। एक ही व्यक्ति की वेदना पर्याप्त पाप है, और जगत् के समस्त जीवों की वेदना अति असह्य होगी। इसलिए, ब्रह्म अपनी स्वेच्छा से इन सब दु:खों

---

1 ईश्वर व्याकृत प्राणैर्विराट सन्धुरिवोर्मिभिः।
यत् प्रनृत्य दिवा भाति तस्मै सद् ब्रह्मणे नमः।
—सर्वार्थ-सिद्धि में उद्धृत कात्यायन कारिका।

को हुए बिना क्यों उठाना पसंद करेगा ? अवतार कार्य को तो रंग-भूमि पर नाटक के रूप में ही समझना चाहिए। आगे, यह मत शास्त्र-प्रमाण को बाधित करता है। वेंकटनाथ सोचते हैं उनके संप्रदाय का मत इन सब आक्षेपों से मुक्त है, क्योंकि जीव और ब्रह्म न तो केवल अभिन्न ही है और न अभेद में भेद है, किन्तु यह द्रव्य गुण का सम्बन्ध है। गौण तत्त्व के दोष, द्रव्य को प्रभावित नहीं करते और न उनका संबंध द्रव्य रूपी ब्रह्मा को दूषित कर सकता है, क्योंकि सम्बन्ध कर्माश्रित हैं।[1]

धर्म पक्ष में वेंकटनाथ, पंचरात्र ग्रंथों में विस्तार से कहे गए सभी प्रमुख धार्मिक मतों को मानते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और पूर्ण है। वह आप्तकाम है इसका अर्थ यह है कि उसमें कोई इच्छाएँ नहीं हैं। अर्थ यह है कि उसकी इच्छाएँ निराशा उत्पन्न नहीं करतीं और उसके नियन्त्रण में हैं। हम जिन्हें पाप और पुण्य कहते हैं वे भी उसकी कृपा और रोष से होते हैं। उसका रोष दुःख या वेदना नहीं लाता। रोष का केवल अर्थ यह है कि ईश्वर की अभिवृत्ति हमें दण्ड देने की है या वह हम पर कृपा न करने की है।[2]

शास्त्रोक्त विधि उसकी आज्ञाएँ हैं। कर्म और उनके फल के बीच, अदृष्ट का अपूर्व जैसा कोई साधन नहीं है, जो कर्म समाप्त होने पर बना रहता है और कर्म के फल देता है। ईश्वर ही एक निरंतर सत्ता है, वह हमारे कर्मों से खुश है या रुष्ट है और वह अपनी इच्छानुसार कर्म-फल देता है।[3] शास्त्र केवल इतना ही बताते हैं कि कौन से कर्म उसे रुचते हैं और कौन से उसकी आज्ञा के विरुद्ध हैं। यज्ञों का उद्देश्य ईश्वर की पूजा है, और इन यज्ञों में जिन देवताओं की पूजा होती है वह ईश्वर स्वयं के भिन्न नाम हैं। इस प्रकार इस मत में, सारे धर्म और नीति को, ईश्वर की आज्ञा और उसकी पूजा का रूप दिया गया है। ईश्वर ही की कृपा से जब किसी की बुद्धि विशद हो जाती है तो उसे मुक्ति मिलती है, और ईश्वर के अनन्त स्वरूप के निरन्तर अनुभव से वह आनन्द के सागर में डूबा रहता है, जिसकी तुलना में सांसारिक सुख दुःखरूप हैं।[4] मनुष्य अपने प्रयासों से पुण्यशील या अधर्मी नहीं बन सकता, किन्तु ईश्वर अपनी खुशी और रोष से मनुष्य को धर्मी और अधर्मी बनाता है, और तदनुसार प्रतिफल या दण्ड देता है और पाप और पुण्य जैसाकि कहा गया है, मनुष्य के आत्मीय गुण नहीं हैं किन्तु ईश्वर के ही भाव प्रदर्शित करते हैं कि वह खुश है या रुष्ट। जिन्हें

---

1 अस्मन्मते तु विशेषणगता दोषा न विशेष्यं स्पृशन्ति, ऐक्य-भेदाभेदांगीकारात् अकर्मवश्य-संसर्गज-दोषाणामसम्भवाच्च।

—तत्त्वमुक्ताकलाप, पृ० 302।

2 आप्तकाम शब्दस्तावदीशितुरेष्टव्याभावमिच्छा-राहित्यं वा न ब्रूते-इष्टं सर्वमस्य प्राप्तं एव भवतीति तात्पर्यं ग्राह्यम्.....सर्व-कार्य-विषय-प्रतिहतानन्याधीने चावान् ईश्वरः, जीवस्तु न तथा।

—वही, पृ० 386।

3 तत्तत्कर्माचरण-परिणतेश्वर-बुद्धि-विशेष एव अदृष्टम्।

—वही, पृ० 665।

4 तत्त्व मुक्ताकलाप, पृ० 663-4।

वह ऊपर उठाना चाहता है उनसे उच्च कर्म कराता है और जिन्हें नीचे गिराना चाहता है उनसे पाप-कर्म कराता है। अन्तिम चुनाव और निर्णय उसी के हाथ में है, मनुष्य उसके हाथों में साधन मात्र है। मनुष्य के कर्म, स्वयं फल नहीं दे सकते, किन्तु अच्छे और बुरे फल ईश्वर की खुशी और रोष के अनुसार होते हैं।[1]

शंकर मत का द्वन्द्वात्मक तर्कानुसार खण्डन

जिन पाठकों ने अभी तक इस पुस्तक का अनुसरण किया है उन्हें पता चला होगा कि श्री वैष्णव सम्पदा के विरुद्ध मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी थे। दक्षिण भारत में, श्री वैष्णव, शैव और जैन मत के और भी विरोधी थे। श्री वैष्णव, शैव और जैन मत में परस्पर एक दूसरे का उत्पीडन एक साधारण ऐतिहासिक वृत्तान्त है। किसी स्थानीय शासक या आचार्य के अभाव से एक धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन करना भी होता रहता था। नारायण विष्णु या कृष्ण की, शिव से श्रेष्ठता तथा शिव की नारायण इत्यादि से श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले अनेक ग्रन्थ रचे गए। माधव और उनके अनुयायी भी श्री वैष्णव संम्प्रदाय के विरोधी थे, किन्तु कुछ लोग माधव के दर्शन को श्री वैष्णव सम्प्रदाय के लगभग निकट मानते थे, किन्तु लोग माधव के मत का बलपूर्वक खण्डन करते थे और महाचार्य का 'पाराशर्य विजय' और परकाल यति का 'विजयीन्द्र पराजय' नामक ग्रन्थ माधव के विरुद्ध इस विवाद के दृष्टान्त के रूप में दिए जा सकते हैं। श्री वैष्णवों ने भास्कर और यादव प्रकाश के मतों का खण्डन किया। उदाहरण के तौर पर, रामानुज का 'वेदार्थ संग्रह' या वेंकट नाथ का 'वादित्रय खण्डन' के नाम दिए जा सकते हैं। किन्तु श्री वैष्णव संप्रदाय के मुख्य विरोधी शंकर और उनके अनुयायी रहे। 'शतदूषणी', एक प्रकार वितंडावादी ग्रंथ है, जिसमें वेंकटनाथ शंकर-मत का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यह ग्रंथ सौ विवाद- ग्रस्त विषयों पर आधारित है जो अपने नाम से ग्रन्थ का अभिप्राय स्पष्ट करता है। किन्तु मूल-ग्रन्थ, जो श्री सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम् से छपा है उसमें केवल 66 विवादग्रस्त विषय हैं, यह इस लेखक को हस्तलिखित ग्रन्थ से पता चलता है। छपी हुई प्रति में, वाधूल श्री निवास के शिष्य, महाचार्य या रामानुज दास की टीका है। किन्तु ग्रन्थ 66 विवाद विषय पर पूर्ण होता है और दूसरी दो टीकाएँ भी खो गई लगती हैं। छपी पुस्तक में दो और विवाद के विषय हैं 65 और 66 जिनकी टीका उपलब्ध नहीं है और ग्रन्थ के सम्पादक पी० बी० अनन्ताचार्य कहते हैं कि ग्रन्थ 66 वें विवाद पर पूर्ण हुआ है (समाप्ता च शतदूषणी)। यदि सम्पादक का कथन प्रमाणिक माना जाय तो यह मानना पड़ता है कि 'शत दूषणी' में प्रयुक्त शत शब्द बहुवाचक आशय रखता है सौ नहीं। यह अनुमान करना कठिन है कि शेष 34 खण्डन वेंकटनाथ ने लिखे थे और अब खो गए हैं या उन्हें केवल 66 विवाद विषय

---

[1] स एवैनं भूतिं गमयति, स एनं प्रीतः प्रीणाति एष एव साधु कर्म कारयति तं क्षिपामि अजस्रं अशुभानित्यादिभिः प्रमाणशतैः ईश्वर-प्रीति-कोपाभ्यां रव धर्माधर्म-फल-प्राप्तिरवगम्यते ।

—वही, पृ० 670।

लिखे, जो अब उपलब्ध हैं। इसमें से बहुतों में कोई नया विचार नहीं मिलता और बहुत से विषय केवल सैद्धान्तिक एवं साम्प्रदायिक हित की दृष्टि से लिखे गए हैं उनमें से दार्शनिक एवं धार्मिक पक्ष कुछ भी नहीं है, इसलिए, उन्हें यहाँ त्याग दिया गया है, केवल 61 विवाद विषय ही दिए हैं। 62 वें विषय में, शंकर वेदान्त द्वारा, शूद्रों को ब्रह्मज्ञान से वर्जित करने को अयुक्त बताया है। 63 में, अधिकार-विवेक की चर्चा की हैं, 64 में शंकर-मत के सन्यासियों के पहनावे और संप्रदाय-चिह्न को अयुक्त बताया है। 65 में विशेष वर्ग के सन्यासियों से सम्बन्ध रखने का निषेध किया है। 66 में यह बताया है शंकर मत की ब्रह्मसूत्र से एकवाक्यता नहीं हो सकती।

पहला आक्षेप

निर्गुण ब्रह्म, इस बात का संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं कर सकता कि ब्रह्म शब्द किस प्रकार, उचित रूप से निर्गुण पदार्थ को निर्दिष्ट कर सकता है। क्योंकि यदि वह निर्गुण है तो वह ब्रह्म शब्द द्वारा प्रधान अर्थ में या लक्षणों द्वारा निर्दिष्ट नहीं किया जा सकेगा। यदि वह प्रधान अर्थ में निर्दिष्ट नहीं कर सकता, तो दूसरे अर्थ में भी असम्भव है, मुख्य अर्थ का जब कुछ अंश असम्भव होता है तभी लक्षणा उपयुक्त होती है। यह शास्त्र-प्रमाण से भी जानते हैं कि ब्रह्मन् शब्द, प्रधान अर्थ में, अनन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त महान् सत्ता के लिए प्रयुक्त किया गया है। बहुत से मूल पाठों में निर्गुण अंश का उल्लेख है, इसे आक्षेप के रूप में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इन्हें दूसरे अर्थ में भी समझाया जा सकता है और यदि कोई शंका उत्पन्न भी होती है तो प्रतिवादी इस तथ्य का दुरुपयोग नहीं कर सकता है कि ब्रह्म निर्गुण है। यह कहना भी कठिन है कि ब्रह्मन् शब्द केवल लक्षणा द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म को ही लक्ष्य करता है, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म शब्द के अर्थ का अनुभव, साक्षात् अपरोक्ष होता है। इसलिए ब्रह्म के विषय में प्रतिवादी के मत से ब्रह्म शब्द निरर्थक हो जायगा।

दूसरा आक्षेप

शंकर मतवादियों के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण अर्थ में, ब्रह्म के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं की जा सकती। शंकर कहते हैं कि ब्रह्म, सामान्य रूप से हमारी आत्मा के रूप में जाना जाता है, ब्रह्म की जिज्ञासा उसके विशेष स्वरूप के लिए होती है, अर्थात् वह चेतनायुक्त शरीर है, महेश्वर है, या शुद्धात्मा है या अन्य कोई वस्तु है जिसके बारे में मतभेद है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक यह कहते हैं कि यदि ब्रह्म की स्ववेद्यता अनादि है तो वह हमारी जिज्ञासा पर आश्रित है और वह कार्य होगा और इस अर्थ में ब्रह्म-साक्षात्कार एक कार्य होगा, जो निश्चित रूप से शंकर के आशय से विरुद्ध है। इस प्रकार, ब्रह्म के सामान्य एवं विशिष्ट रूप के विषय में जिज्ञासा, अपने सच्चे स्वरूप के लिए नहीं हो सकती। यदि, इसलिए, शंकर मतवादी यों कहें कि यह जिज्ञासा ब्रह्म के सत्य स्वरूप के विषय में नहीं है, किन्तु उपहित ब्रह्म के विषय में है, तो फिर इस जिज्ञासा से प्राप्त ज्ञान भी भ्रमरूप होगा और ऐसे मिथ्या ज्ञान से कोइ लाभ न होगा। पुन: जब ब्रह्म अविकल और स्वयं वैद्य है, तो उसे सामान्य या विशिष्ट रूप से जानने में कोई सार नहीं है, क्योंकि इसमें ऐसा भेद माना नहीं जा सकता। वह या तो पूर्ण रूप से जाना जायगा या सर्वथा नहीं जाना जायगा, इसमें अंश का भेद नहीं किया जा सकता जिससे ज्ञान की भिन्न कक्षाओं (स्तर) को अवसर

मिले। जिज्ञासा से तात्पर्य ही यह है कि वस्तु सामान्य रूप से जानी गई है, किन्तु उसे और विस्तृत रूप में जानना है, क्योंकि शंकर का निर्गुण अखंड ब्रह्म ऐसी जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता, इसलिए ऐसे ब्रह्म की खोज भी नहीं हो सकती। जिज्ञासा सगुण विषय के बारे में ही हो सकती है, जिसका सामान्य या विशिष्ट ज्ञान शक्य है। शंकर-मतवादी न्याय-दृष्टि से यह आग्रह नहीं कर सकते कि उनके मत में सामान्य और विशेष गुणों का भेद शक्य है, क्योंकि यह समर्थन किया जा सकता है कि यद्यपि ब्रह्म सामान्य रूप से जाना जा सकता है, तो भी उसे माया-प्रपंच से भिन्न स्वरूप से जानने को अवकाश रहता है, जबकि ब्रह्म में कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं है, इसलिए, उसे सामान्य रूप से नहीं जाना जा सकता (निर्विशेष सामान्य-निषेधः)। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान ही ब्रह्म का ज्ञान है, तो फिर वेदान्त और नागर्जुन के शून्य में कोई अन्तर न रहेगा।

तीसरा आक्षेप

इस आक्षेप में वेंकटनाथ, शंकर के इस मत के विरुद्ध हैं कि ज्ञान कर्मातीत है, वह ज्ञान कर्म-समुच्चयवाद के सिद्धान्त के पक्ष में बहुधा दोहराए गए तर्क देते हैं।

चौथा आक्षेप

वेंकटनाथ कहते हैं कि सारे भ्रम और मूल, जगत् प्रपंच मिथ्या है, इस ज्ञान से दूर नहीं हो सकते। शास्त्रोक्त कर्म, परम ज्ञान प्राप्त होने पर भी, अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। यह पीलिये से पीड़ित रोगी के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। पीलापन भ्रम है इस ज्ञान मात्र से पीला देखना नष्ट नहीं होता, औषधि-सेवन से ही वह नष्ट होगा। चरम मुक्ति, महान् देव-ईश्वर की आराधना और भक्ति से प्राप्त हो सकती है, केवल दार्शनिक ज्ञान के प्राकट्य से नहीं मिल सकती। यह भी असम्भव है कि अद्वैत ग्रन्थों के श्रवणमात्र से मुक्ति मिल सकती है, यदि ऐसा होता तो शंकर स्वयं मुक्त हो गए होते। यदि वे मुक्त थे तो वे ब्रह्म से एकरस हो गए होते, और वे अपने शिष्यों को अपने मत का उपदेश कर नहीं सकते थे। अद्वैत ग्रन्थों का अर्थ ग्रहण साक्षात्कार है, यह मत भी अमान्य है, क्योंकि हमारा साधारण अनुभव बताता है कि शास्त्र-ज्ञान, शब्द ज्ञान है और इसलिए वह साक्षात् और अव्यवहित नहीं कहा जा सकता।

पाँचवां आक्षेप

शंकराचार्य का उपरोक्त आक्षेप पर यह उत्तर है कि यद्यपि समस्त पदार्थों का आत्मा से तादात्म्य का चरम ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी जब तक यह शरीर नष्ट नहीं होता तब तक जगत्-प्रपंच का भ्रम कायम रहता है। वेंकटनाथ पूछते हैं कि यदि सत्य ज्ञान से अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर जगत् किस प्रकार वर्तता रहता है? यदि ऐसा कहा जाय कि अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी वासनाएँ रह सकती हैं, तो उसका उत्तर दिया जा सकता है कि यदि वासनाएँ अस्तित्व रख सकती हैं तो अद्वैतवाद का स्वतः खण्डन हो जाता है। यदि वासना ब्रह्म का अंग है तो वह उनके सम्बन्ध से दूषित हो जाएगा। यदि वासना अविद्याजनित है तो उसे अविद्या के साथ नष्ट हो जाना चाहिए। अविद्या नष्ट होने के बाद भी यदि वासना पुनः रहती है तो उसे किस प्रकार

नष्ट किया जाएगा ? यदि वह अपने आप नष्ट हो जाती है तो फिर अविद्या भी अपने आप नष्ट हो सकती है। इस प्रकार, अविद्या के नाश और ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के बाद वासना तथा तज्जनित जगत्-प्रपंच के रहने का कोई कारण नहीं है।

सातवां आक्षेप

शंकर और उनके अनुयायी कहते हैं कि वेदान्त-उपदेश के श्रवण के योग्य अधिकारी के चित्त में अद्वैत ग्रन्थ के कथन मात्र से साक्षात् और अचिर परमज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अद्वैत ग्रन्थों के श्रवण से, आत्मा ही ब्रह्म है, यह ज्ञान साक्षात् और अचिर उत्पन्न होता है यह मानना ही पड़ेगा, क्योंकि दूसरा और कोई रास्ता ही नहीं है जिससे इसे समझाया जा सके। इस पर वेंकटनाथ कहते हैं कि यदि शब्द-श्रवण की साधनता मात्र से ही साक्षात् ज्ञान होता है, इसे अद्वैत ग्रन्थों के आशय को अनुभव करने का एक विशिष्ट दृष्टान्त माना जाता है, क्योकि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है, तो अनुमान और अन्य शब्दों का ज्ञान भी साक्षात् अनुभव प्राप्त करा सकता है, क्योंकि उन्हें भी, उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान को प्रकट करने का कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि शब्द, ज्ञान के कारण विद्यमान है, तो उसके द्वारा जनित ज्ञान को किस प्रकार रोका जा सकता है, कारणों के समाहार से साक्षात् अनुभव किस प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है, जब वे उसे कभी उत्पन्न नहीं कर सकते। किसी विशेष समय में प्राप्त हुआ ज्ञान जो एक व्यक्तिगत चैतन्य का प्रकटीकरण है, उसे सभी पुरुषों और सभी काल के ज्ञान से अभिन्न है, ऐसा नहीं माना जा सकता और इसलिए ऐसे ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने वाला भी नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा माना जाता है कि, जो कुछ, चैतन्य का, विशिष्ट प्रकार से ज्ञान कराता है, उससे अतिरिक्त, शुद्ध चैतन्य का अनुभव कराने वाला अन्य कोई कारण नहीं है, तो यह सभी प्रमाणों के विषय में भी उपयुक्त होगा, इसलिए अद्वैत-ग्रन्थों के विषय को ऐसा एकीकृत अधिकार नहीं दिया जा सकता जो अनुमान और शब्द के विषय नहीं माने जाएँ, यह असम्भव है। 'तुम दसवें हो' इस वाक्य के दृष्टान्त में, यदि जिस व्यक्ति को यह निर्देश किया गया वह जान जाए कि वह दसवां है तो ऐसे वाक्य के अर्थ की समझ केवल उसे पहले जो अनुभव हुआ उसी की पुनरावृत्ति होगी, यदि वह यह नहीं समझा कि वह दसवां है, तो उसे इस वाक्य द्वारा कहा गया सत्य जिसका संज्ञापन शांकिक अभिव्यक्ति से किया गया है, साक्षात् अपरोक्ष नहीं कहा जा सकता। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान का विषय वही रह सकता है, तो भी जिसके द्वारा ज्ञान दिया गया है, उसके कारण भिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार, वही विषय कुछ अंश में प्रत्यक्ष रूप से और कुछ अंश में अप्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। पुनः ब्रह्म का साक्षात् अनुभव होता है इसे माना जा सकता है, किन्तु इसका तत्त्वमसि आदेश से प्रथम बार ग्रहण होना शब्द-ज्ञान है और दूसरे क्षण में साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव होता है। यदि प्रथम ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष न माना जाय, तो फिर दूसरा क्यों माना जाय ? पुनः शंकर का यह कहना कि जगत्-प्रपंच के मिथ्या-ज्ञान का विनाश किसी अन्य प्रकार से नहीं समझाया जा सकता, इसलिए अद्वैत-ग्रन्थों द्वारा प्राप्ति या ज्ञान अपरोक्ष मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व का सत्ता के साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव से निरास

होता है। किन्तु जगत् मिथ्या नहीं है, यदि इसे मिथ्या इसलिए माना जाता है कि वह जाना जा सकता है फिर तो ब्रह्म भी ज्ञेय है, अतः मिथ्या हो जाएगा। यदि पुनः जगत् प्रपंच मिथ्या माना जाता है, तो उसे सच्चे ज्ञान से नष्ट होने के लिए कहने में कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि जो कभी सत् न था उसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि जगत्-प्रपंच नष्ट नहीं होता, किन्तु उसके ज्ञान का अन्त होता है तो यह बताया जा सकता है कि मिथ्या ज्ञान का, मानसिक स्थिति के परिवर्तन से भी अन्त हो सकता है, जैसे कि गाढ़ निद्रा में मिथ्या रजत् का भ्रम चला जाता है, या उसे अनुमान इत्यादि ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है। यह अनुमान आवश्यक नहीं है कि भ्रमयुक्त ज्ञान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही हटाया जाना चाहिए। पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि जगत् प्रपंच के अन्त होने का अर्थ उसके कारण नष्ट होना है, तो उसका उत्तर यह है जब तक कि कारण स्वयं का किसी अन्य साधन द्वारा नाश नहीं करता, सत्ता का साक्षात् अनुभव असम्भव है। जहाँ तक आँखों की पुतली पर अंगुली का दबाव है वहीं तक चन्द्रमा दो दीखेंगे। इसलिए, जगत्-प्रपंच का मिथ्यापन साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान से ही नष्ट होने की बात सोचना निरर्थक है। यदि जगत्-प्रपंच के मिथ्यापन का निरसन यही अर्थ रखता है कि उसे बोध करने वाले ज्ञान का उदय हुआ है तो यह परोक्ष ज्ञान द्वारा भी किया जा सकता है जैसाकि द्विचन्द्र दर्शन का मिथ्या ज्ञान, दूसरे पुरुष की साक्षी से 'चन्द्र एक ही है,' इससे निरास किया जा सकता है। किन्तु जगत् मिथ्या नहीं है ऐसा ही नहीं है, और इसलिए नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु शब्द प्रमाण साक्षात् अनुभव दे सकता है यह नहीं माना जा सकता, यदि ऐसा वह कर भी सके, तो अन्य सहकारी उपाधियों का होना आवश्यक होगा, जैसेकि, चाक्षुष प्रत्यक्ष में, अवधान, सतर्कता और अन्य भौतिक परिस्थितियाँ सहकारी उपाधियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार शाब्दिक ज्ञान ही केवल साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव नहीं प्राप्त करा सकता। यह भी सोचना उचित नहीं है कि प्रत्यक्ष ज्ञान, अप्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि दीये की शिखा की निरन्तरता के विचार का निषेध इस समझ से होता है कि शिखा निरन्तर नहीं हो सकती और ऐसा जो दीखता है वह वास्तव में क्रमबद्ध, भिन्न शिखाओं की परम्परा है। इस प्रकार अद्वैत-ग्रन्थ के आशय का अनुभव, यदि, साक्षात् अनुभव का कारण भी समझा जाए, तो भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह अन्य ज्ञान द्वारा बाधित नहीं है।

दसवां आक्षेप

शुद्ध निर्विशेष चैतन्य की सत्ता का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि यदि ऐसी वस्तु विद्यमान थी तो वह अपनी सत्ता अपने आप प्रकट नहीं कर सकती थी, क्योंकि यदि वह प्रकट करती है तो वह अविकारी नहीं कही जा सकती, यदि वह सभी विशेषों का मिथ्यात्व स्थापित करती है तो ये विषय उसके अंग होंगे। यदि उसकी सत्ता अन्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित की जाती है, तो वह स्वप्रकाश नहीं थी, तब पुनः, यह पूछा जा सकता है कि यह शुद्ध चैतन्य किसे प्रकट करता है? शंकर मतवादियों का उत्तर है कि वह किसी व्यक्ति के सामने स्वयं नहीं प्रकट करती, अनुभव उसकी सत्ता का ही होता है। किन्तु यह उत्तर सामान्यतः अभिव्यक्ति शब्द से जो समझ में आता है,

उसकी अपेक्षा कहीं दूर है, क्योंकि अभिव्यक्त होना किसी व्यक्ति के लिए ही होना चाहिए। विशेष चैतन्य के विरोध में जो यह मुख्य आक्षेप है कि ऐसे चैतन्य का अनुभव नहीं हो सकता इसलिए उसकी श्रेष्ठता एवं पूर्व अस्तित्व या विषयों को प्रकट करने का सामर्थ्य, जो उस पर थोपा जाता है वह भी मान्य नहीं हो सकता। गाढ़ निद्रा में आनन्द के अनुभव का दृष्टान्त निरर्थक है, क्योंकि इस अवस्था में शुद्ध निर्विषय चैतन्य का अनुभव आनन्द के रूप में होता है तो किसी को आनन्द का स्वानुभव नहीं होगा, क्योंकि वह निर्विषय नहीं कहलाएगा। निद्रा से उठने के उत्तर काल का अनुभव द्रष्टा को यह नहीं बता सकता कि वह लम्बे समय तक निर्विषय चैतन्य का अनुभव करता रहा था, क्योंकि उसकी प्रत्यभिज्ञा नहीं है और प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का तथाकथित निर्विषयता से समीकरण नहीं किया जा सकेगा।

ग्यारहवां आक्षेप

निर्विकल्प ज्ञान की सत्ता का खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि तथाकथित निर्विकल्प ज्ञान सविशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है (निर्विकल्पकमपि सविशेष-विषयकमेव)। इन्द्रिय सन्निकर्ष के पहले ही क्षण में, इन्द्रियों द्वारा, पदार्थ ही सारा, अपने विभिन्न गुणों सहित, ग्रहण होता है और यही उत्तरकाल में बुद्धि-प्रत्यय के रूप में विशद किया जाता है। निर्विकल्प अवस्था का मुख्य रूप यह है कि ज्ञान की उस अवस्था में, पदार्थ के किसी पार्श्व या गुण पर बल नहीं दिया जाता। यदि ज्ञान के विषय सचमुच सविकल्प गुण नहीं जाने गए होते तो ज्ञान की उत्तर अवस्था में वे कभी भी नहीं जाने जा सकेंगे, और निर्विकल्प सविकल्प कोटि तक विकास नहीं कर सकेगा। लक्षण पहली अवस्था में गृहीत होते हैं किन्तु ये लक्षण उत्तरकाल में ऐसे समान लक्षणों की स्मृति होने के कारण सविकल्प रूप धारण करते हैं। इस प्रकार शुद्ध निर्विकल्प पदार्थ, प्रत्यक्ष का विषय कभी भी नहीं हो सकता है।

बारहवां आक्षेप

शंकर मतवादियों का विवाद यह है कि प्रत्यक्ष, साक्षात् शुद्ध सत्ता से सम्बन्धित है, और पश्चात् वह अज्ञान से नाना रूप से सम्बन्धित हो जाता है, और इसी सम्बन्ध के द्वारा ही वे प्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं ऐसा भासता है। वेंकटनाथ कहते हैं कि सत्ता और उसके गुण दोनों ही एक साथ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि वे हमारे ज्ञान को निश्चित करने वाले पदार्थ के अंग हैं। सामान्य भी हमारे साक्षात् ज्ञान के विषय हो सकते हैं, जब ये सामान्य उत्तरकाल में आपस में एक दूसरे से विवक्त किए जाते हैं तभी भिन्न क्रिया वाले पृथक् मानसिक व्यापारों की आवश्यकता रहती है! पुनः, यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्प सत्ता को ही लक्ष्य करता है, तो फिर विभिन्न पदार्थ और उनके आपस के भेद के अनुभव को कैसे समझाया जा सकेगा?

तेरहवां आक्षेप

भेद को पदार्थ या धर्म के रूप में ग्रहण करना मिथ्या है, शंकर मतवादियों के इस इस मत को खण्डन करते हुए वेंकटनाथ कहते हैं कि भेद का अनुभव सामान्य है, इसलिए उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अति विवादग्रस्त भेद का अभाव भी 'भेद' से भिन्न है, यह भेद के अस्तित्व को सिद्ध करता है। भेद को खण्डन करने

का कोई भी प्रयत्न, अभेद का भी खण्डन किए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं, और यदि भेद न हो, तो अभेद या तादात्म्य भी नहीं है। वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि वस्तु अपने स्वयं से अभिन्न है, और अन्य से भिन्न है, और इस प्रकार भेद और अभेद दोनों को मानना पड़ता है।

चौदहवां आक्षेप

शंकर के अनुयायी कहते हैं कि जगत्-प्रपंच ज्ञेय होने से रजत-शंख-शुक्तिका की तरह मिथ्या है। किन्तु जगत् मिथ्या है, इस प्रतिज्ञा का क्या अर्थ है? वह शशविषाण की तरह तुच्छ नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनुभव-विरुद्ध है और शंकर के अनुयायी भी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। इसका अर्थ यह भी नहीं हो सकता कि जगत् सत् और असत् दोनों से भिन्न है, क्योंकि ऐसा पदार्थ हमें मान्य नहीं है। यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि जगत् सत्य दीखता है तो भी उसका निरास हो सकता है, (प्रतिपन्नोपाधौ निषेध-प्रतियोगित्वम्), क्योंकि इस निषेध का यदि आगे निषेध नहीं है तो यह या तो, स्वरूप से ब्रह्मरूप होगा और इसलिए जगत्-प्रपंच की तरह मिथ्या होगा, या उससे भिन्न होगा। पहला विकल्प हमें इस अर्थ में स्वीकृत है कि जगत् ब्रह्म का अंश है। यदि जगत्-प्रपंच का निरास हो सकता है और यदि वह साथ ही साथ ब्रह्म से अभिन्न भी है, तो निरसन स्वयं ब्रह्म पर भी लागू होगा। यदि दूसरा विकल्प देखा जाय, तो उसकी सत्ता, जबकि, निषेध (अभाव) की व्याख्या से अनुमित है तो उसे स्वयं अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मिथ्यात्व का अर्थ, जगत् का, एक वस्तु में, जहाँ वह अस्तित्व नहीं रखती, न दीखना भास होना है—(स्वात्यंता-भावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वम्), क्योंकि जगत् का इस प्रकार से मिथ्यापन कि जहाँ वह प्रतीत होता है वहाँ वह नहीं है, प्रत्यक्ष से समझा नहीं जा सकता, और यदि आधार का ही प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर अनुमान असम्भव है। यदि सारे प्रत्यक्ष मिथ्या माने जाते हैं तो सारे अनुमान भी असम्भव हो जाएँगे। ऐसा कहा जाता है कि जगत्-प्रपंच मिथ्या है क्योंकि वह परम सत्ता ब्रह्म से भिन्न है। वेंकटनाथ इसके उत्तर में कहते हैं कि वे जगत् को ब्रह्म से भिन्न स्वीकार करते हैं, यद्यपि वह ब्रह्म से पृथक् नहीं हो सकता, और न वह स्वतन्त्र सत्ता रख सकता है। इतने पर भी यह आग्रह किया जाता है कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह सत्ता से भिन्न है, तो उत्तर वह है सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म ही केवल सत्य है और उसका निषेध आवश्यक रूप से मिथ्या होगा, तो उत्तर यह है कि यदि ब्रह्म सत्य है और उसका निषेध भी सत्य है। वेंकटनाथ मानते हैं जगत् की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध की जा सकती है (प्रामाणिका)। सत्य रामानुज की व्याख्या के अनुसार व्यवहारोपयोगी है (व्यवहार-योग्यता-सत्वम्), और जगत् मिथ्या है, इस कथन का मिथ्यात्व जगत् की सत्यता के वास्तविक अनुभव से समझा जाता है। पुनः, जगत् का मिथ्यात्व, न्याय-प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे जगत् के अन्तर्गत हैं और इसलिए वे स्वयं मिथ्या होंगे। पुनः यह कहा जाय कि ब्रह्म कुछ अर्थ में ज्ञेय है और उसी प्रकार जगत् भी; तर्क करने के लिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म परमार्थिक दृष्टि से ज्ञेय है, इसलिए जगत् उस दृष्टि से ज्ञेय नहीं है, क्योंकि

यदि ऐसा है तो, शंकर मतवादी उसे मिथ्या नहीं कह सकते। यदि ऐसा है तो, शंकर मतवादी कैसे तर्क कर सकते हैं कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह ज्ञेय है, उस प्रसंग में ब्रह्म भी मिथ्या होगा ?

सोलहवां आक्षेप

पुनः ऐसा तर्क किया जाय कि, जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि यद्यपि सत्ता वही रहती है किन्तु उसके विषय सर्वदा बदलते रहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि घड़ा है, कपड़ा है, किन्तु ये विद्यमान पदार्थ परिवर्तित होते रहते हैं, सत्ता केवल अपरिवर्तित रहती है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है, इस परिवर्तन का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ तादात्म्य का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में, ब्रह्म सभी पदार्थों से भिन्न होने से मिथ्या माना जा सकता है। यदि ब्रह्म मिथ्या जगत् से अभिन्न माना जाय, तो ब्रह्म स्वयं मिथ्या होगा, या फिर जगत्-प्रपंच, ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य हो जाएगा। देशिक व कालिक परिवर्तन, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकते, रजत-शंख-शुक्ति मिथ्या नहीं है क्योंकि वह और कहीं विद्यमान नहीं है। ब्रह्म स्वयं, इस अर्थ में परिणामी है कि वह असत् रूप से विद्यमान नहीं है या एक पदार्थ के रूप में, जो न सत् और न असत् है। परिणाम यहाँ विनाश के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि, जब रजत-सीप का भ्रम जान लिया जाता है, कोई ऐसा नहीं कहता कि रजत-सीप का नाश हो गया। (बाध-विनाशयोर्विविक्ततयैव व्युत्पत्तेः)। विनाश में वस्तु का लय हो जाता है, जबकि बाधा या व्याघात, जो देखा था उसका अभाव है। घड़ा विद्यमान है, कपड़ा विद्यमान है ऐसे वाक्यों में, सत्ता, घड़े और कपड़े को विशेषित करती है किन्तु घड़ा या कपड़ा सत्ता को विशेषित नहीं करता। पुनः यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र सत्ता रखता है, फिर भी वह हममें 'घड़ा है' या 'कपड़ा है' जैसे ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। पुनः सत्ता में काल-परिवर्तन, ऐसी ही सत्ता पर आधारित है, किन्तु वह किसी भी सत्ता को मिथ्या नहीं कर सकता। यदि किसी अप्रकट काल में होना, मिथ्यात्व की कसौटी समझी जाती है तो ब्रह्म भी मिथ्या है क्योंकि वह भी मुक्ति के पहले अपने को प्रकट नहीं करता। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म सदा स्वप्रकाश है, किन्तु उसका प्रकट होना मुक्ति-प्राप्ति तक किसी प्रकार छिपा रहता है, तो यह भी बलपूर्वक कहा जा सकता है कि कपड़ा और घड़ा भी उसी प्रकार अव्यक्त रूप से प्रकट रहते हैं। यदि, प्रकाशन की नित्यता, या उसका अबाध स्वरूप, उसकी सत्ता का माप नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी निर्दोषता ही उसके प्रकाशन की नित्यता का कारण है और इसकी सत्ता के स्वरूप को निश्चित करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। जबकि साधारण पदार्थ घड़ा-कपड़ा इत्यादि किसी काल में अस्तित्व रखते दीखते हैं, वे स्वप्रकाशता की अभिव्यक्ति हैं, इसलिए सत् हैं।

विरोधी तर्क भी यहाँ दिए जा सकते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि जो मिथ्या नहीं है उसकी निरन्तरता अटूट होती है या वह परिवर्तनशील नहीं है। ब्रह्म मिथ्या है क्योंकि वह किसी के साथ रहकर निरन्तर नहीं है और सबसे भिन्न है।

सत्रहवां आक्षेप

शंकर मतवादी मानते हैं कि जबकि द्रष्टा और (दृश्य) दृष्ट के बीच सम्बन्ध की सत्ता (चाहे किसी प्रकार का हो) समझाना असम्भव है, तो दृष्ट वस्तु या ज्ञान का

अर्थ मिथ्या ही मानना पड़ता है। वेंकटनाथ इसके उत्तर में कहते हैं कि जगत् का मिथ्यापन आवश्यक रूप से अर्थापत्ति के रूप में नहीं दिया सकता, क्योंकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्बन्ध स्थापित करना दृष्ट को अस्वीकार करने से नहीं किन्तु स्वीकार करने से सम्भव है। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि जबकि द्रष्टा और दृष्ट के बीच सम्बन्ध, तर्क द्वारा तुच्छ सिद्ध किया जा सकता है, तो आवश्यक अनुमान यह निकलता है कि दृष्ट वस्तु मिथ्या है। इस पर उत्तर यह है कि सम्बन्ध का मिथ्यापन, सम्बन्धित वस्तु का मिथ्यापन नहीं सिद्ध करता, शश और विषाण के बीच सम्बन्ध अविद्यमान हो सकता है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शश और विषाण दोनों अविद्यमान हैं। इसी तर्क का आश्रय लेकर स्वयं द्रष्टा को भी मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है तो भी ऐसा विवाद किया जाता है कि द्रष्टा, स्वप्रकाश होने से स्वयं वेद्य है और इसलिए उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता, तो उसका उत्तर यह है कि देखने की क्रिया का अभाव होने पर भी यदि द्रष्टा स्वप्रकाश माना जा सकता है, तो फिर द्रष्टा ही जब नहीं स्वीकारा जाता है, तो दृश्य को भी वैसा ही मानने में क्या हानि है? फिर भी यदि, यह कहा जाता है कि वस्तु का ज्ञान, वस्तु स्वयं की तरह, स्वतः सिद्ध नहीं माना जा सकता है, तो प्रश्न किया जा सकता है कि चैतन्य को कभी स्वप्रकाश रूप देखा जाता है, यदि कहा जाता है कि चैतन्य का स्वप्रकाशत्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो प्रतिवाद में यह माना जाएगा कि जगत् का स्वप्रकाशत्व भी योग्य अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। पुनः यह प्रश्न किया जा सकता है कि, यदि शंकर-मतवादी, ब्रह्म का स्वप्रकाश स्वरूप अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं और उसकी विषयता (दृश्यत्व) अस्वीकृत होती है, तो इस प्रकार उनकी मूल प्रतिज्ञा कि ब्रह्म किसी ज्ञान-व्यापार का विषय नहीं हो सकता, विफल होती है।

शंकर-मतवादी अवश्य ही यह विवाद कर सकते हैं कि रामानुज मतानुयायी भी, मानते हैं कि पदार्थ, आत्मा के ज्ञान द्वारा प्रकट होते हैं और इसलिए वे द्रष्टा पर आश्रित हैं। इस विवाद का उत्तर यह है कि रामानुज मतवादी स्वचैतन्य के अस्तित्व को मानते हैं, जिसके द्वारा ज्ञाता स्वयं ज्ञात होता है। यदि इस स्वचैतन्य को मिथ्या माना जाता है, तो स्वयं प्रकाश आत्मा भी मिथ्या हो जाएगी, और स्वचैतन्य सत्य माना जाता है, तो उसके बीच सम्बन्ध भी सत्य है। यदि स्वप्रकाश चैतन्य का प्रत्यक्ष-ज्ञान असम्भव माना जाता है फिर भी वह सत्य है, तो उसी उपमान के आधार पर जगत् के न दीखने पर भी उसको सत्य माना जा सकता है।

जो ज्ञेय है वह मिथ्या है यह आक्षेप अमान्य है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच तर्क संगत रूप से सम्बन्ध सोचना कठिन है, क्योंकि सम्बन्ध का तार्किक स्वरूप सोचना कठिन होने के कारण ही केवल, सम्बन्धित पदार्थ की सत्ता को अमान्य नहीं किया जा सकता, जबकि वह अविरोध रूप से अनुभव-गम्य है। इसलिए, सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार मानना ही पड़ता है। यदि सम्बन्ध, अनुभवगम्य होने से सत्य माना जाता है तो जगत् भी सत्य है, क्योंकि वह भी अनुभव-गम्य है। यदि जगत् मिथ्या है इसलिए वह समझ के बाहर है तो मिथ्यात्व समझ में न आने से मिथ्या ठहरेगा।

भूत और भविष्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह आक्षेप आधाररहित है, क्योंकि दो वस्तु वर्तमान समय में विद्यमान हैं इस तथ्य का यह अर्थ नहीं होता कि

वे अवश्य ही सम्बन्धित हैं, जैसे कि शश और विषाण। यदि यह कहा जाता है कि वर्तमान काल में विद्यमान वस्तु आवश्यक रूप से सम्बन्धित नहीं है, यह सत्य हो सकता है तो भी कुछ ऐसे पदार्थ वर्तमान काल में हैं जो सम्बन्धित हैं, और ऐसी भी वस्तु वर्तमान में है जो अन्य वस्तु से भूत और भविष्य में सम्बन्धित है। यह निस्संदेह सत्य है कि वर्तमान और भविष्य में विद्यमान वस्तुओं के बीच संयोग सम्बन्ध असम्भव है, किन्तु इससे हमारा मंतव्य दूषित नहीं होता, क्योंकि कुछ पदार्थ आपस में वर्तमान काल से सम्बन्धित हैं और कुछ पदार्थ आपस में अन्य प्रकार से भूत और भविष्य काल से सम्बन्धित हैं। वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच कैसा सम्बन्ध रहता है यह अनुभव द्वारा ही सीखा जा सकता है। यदि देशिक सन्निकर्ष वर्तमान पदार्थ का विशिष्ट लक्षण है, तो कालिक सन्निकर्ष वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच रहेगा ही। फिर भी, सम्बन्ध का अर्थ सन्निकर्षता नहीं होना आवश्यक है, निकटता और दूरी दोनों ही सम्बन्ध की उपाधियाँ हो सकती हैं। सम्बन्ध को अनुभव के आधार पर मानना चाहिए, और वे अपने विशिष्ट स्वरूप में विलक्षण और अनिर्वचनीय हैं। किसी माध्यम द्वारा उन्हें समझाने का प्रयत्न अनुभव के प्रतिकूल पड़ेगा। यदि इस आधार पर सभी सम्बन्धों को खण्डन करने का प्रयत्न किया जाएगा कि सम्बन्ध अन्य सम्बन्धों से अनुमित करेगा और अनवस्था दोष हो जाएगा, तो इसका उत्तर यह है कि सम्बन्ध को खण्डन करने का प्रयत्न, स्वयं सम्बन्ध को समाविष्ट करेगा और इसलिए स्वयं प्रतिवादी की धारणा के आधार पर वह खण्डित होगा। सम्बन्ध स्वयं-सिद्ध है और अपनी सत्ता के लिए दूसरे संबंधों पर आश्रित नहीं है।

अठारहवां आक्षेप

वेंकटनाथ, स्वयंप्रकाश ब्रह्म, अपने से बाहर, किसी पदार्थ को प्रकाश का विषय ही नहीं बना सकता, शंकर के अनुयायियों के इस मत का खण्डन करते हुए तर्क करते हैं कि यदि ब्रह्म में अविद्या अनादिकाल से है तो ब्रह्म के लिए उसके पंजे में से निकलने का कोई मार्ग नहीं होने से मुक्ति भी असम्भव हो जाएगी। तब प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या, ब्रह्म से भिन्न है या नहीं ? यदि वह भिन्न है तो, शंकर का अद्वैतवाद टूट जाता है और यदि वह अभिन्न है तो, एक ओर, ब्रह्म उससे मुक्त नहीं हो सकता, और दूसरी ओर अविद्या का अहंकार, राग इत्यादि के रूप में ब्रह्म के स्वरूप के एकरस हो जाने से ब्रह्म का विकास नहीं हो सकता। यदि इस अविद्या को मिथ्या माना जाय और इसलिए वह ब्रह्म के स्वतन्त्र स्वरूप को बन्धन में डाल नहीं सकती, तो भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि, यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत्त करती है तो फिर वह अपनी स्वयं प्रकाश्यता किस प्रकार प्राप्त करता है, और यदि वह ऐसा नहीं कर सकता है तो अर्थ यह होगा कि वह नष्ट हो गया, क्योंकि स्वप्रकाश्यता ब्रह्म का स्वरूप है। यदि अविद्या एक स्वतन्त्र वस्तु के नाते अस्तित्व रखती है और ब्रह्म के स्वरूप को आवृत्त करती है, तो यह सोचना कठिन होगा कि एक वस्तु का अस्तित्व, केवल ज्ञान से किस प्रकार नष्ट हो सकता है। रामानुज के मतानुसार, तो, ज्ञान, ब्रह्म का गुण या लक्षण है जिसके द्वारा अन्य वस्तु जानी जाती है, अनुभव भी यह बताता है कि ज्ञाता अपने ज्ञान के विषय को प्रकट करता है, और इस प्रकार ज्ञान, ज्ञाता का विलक्षण गुण धर्म है, जिसके द्वारा विषय जाना जाता है।

उन्नीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ अविद्या ब्रह्म में रहती है, शंकर के इस मत के खण्डन में अज्ञान के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि अज्ञान का ज्ञातत्व-शक्ति का पूर्ण अभाव अर्थ नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह शक्ति ब्रह्म का सारभाव है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस (अज्ञान) का ज्ञानोदय से पूर्व का अज्ञान भी शंकर मतवादी ज्ञान को ब्रह्म का गुण या लक्षण नहीं मानते। किसी विशेष ज्ञान का अभाव, यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि शंकर मतवादी ज्ञान को ब्रह्म का गुण या लक्षण नहीं मानते, किसी विशेष ज्ञान का अभाव यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि शंकर-मतवादी ब्रह्म-चैतन्य को ही मात्र चैतन्य स्वीकारते हैं। अज्ञान, ज्ञानाभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे भाव रूप माना है। अज्ञान जो ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है, वह जिसे ज्ञान है उसमें ही होना चाहिए और उसे निर्दिष्ट वस्तु को लक्ष्य करना चाहिए जिसके विषय में अज्ञान है। अब जबकि शंकर मतवादी ब्रह्म को ज्ञाता नहीं मानते हैं, तो उसके साथ किसी प्रकार के अज्ञान का संसर्ग सोचना असम्भव है। रामानुज के अनुयायी द्वारा जो मत प्रतिपादन किया गया है वह यह है कि व्यक्तिगत ज्ञाता में अज्ञान इतना ही है कि चेतन तत्त्व के रूप में अपने सच्चे स्वरूप को नहीं जानता, क्योंकि वहाँ अपने को, शरीर, इन्द्रियाँ, उसके राग, पूर्वग्रह और विचारों के संसर्ग में रखता है। जब वह अपनी इस मूर्खता का अनुभव करता है, तो उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। केवल इसी अर्थ में अज्ञान का ज्ञान द्वारा निरास होता है ऐसा कहा जा सकता है किन्तु यह सब ब्रह्म को शुद्ध चैतन्य मानने पर असम्भव हो जाएगा। रामानुज-मतानुसार, व्यक्तिगत ज्ञाता अपने सच्चे स्वरूप से सर्वज्ञ है, मिथ्दा पूर्वग्रह और राग ही, इस सर्वज्ञता को आवृत्त कर देते हैं जिससे वे साधारण ज्ञाता की तरह दीखते हैं जो निर्दिष्ट परिस्थितियों में ही वस्तु को जान सकते हैं।

बीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ चित्सुखाचार्य द्वारा 'तत्त्व प्रदीपिका' में दी हुई अनुभूति की परिभाषा अपरोक्ष ज्ञान जो फिर चैतन्य का विषय नहीं बन सकता, (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यत्वं) का खण्डन करते हुए इसके विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं। शंकरमतवादी आग्रह करते हैं कि यदि अनुभूति स्वयं पुनः ज्ञान-व्यापार का विषय हो जाएगी तो अनुभूति रूप स्थिति नष्ट हो जाएगी और वह अन्य विषयों में एक विषय की तरह मानी जाएगी, जैसेकि घड़ा। यदि अनुभूति से यह अर्थ लगाया जाता है कि वह इस क्रिया के समय स्वयं प्रकट है और प्रकाशित होने के लिए अन्य ज्ञान पर आश्रित नहीं है, तो यह रामानुज-मत में भी स्वीकारा गया है। तदुपरांत, आगे, यह साक्षात् ज्ञान स्वप्रकट होने के समय, ज्ञाता की आत्मा को भी प्रकाशित होने से समाविष्ट करता है। अतः जहाँ तक अनुभूति का यह अर्थ है, वहाँ तक स्वप्रकाश्यता के निषेध को कोई स्थान नहीं है।

अनुभूति शब्द का दूसरा अर्थ भी माना है, अर्थात्, अनुभूति देश, काल और व्यक्तिगत नियम से मर्यादित होकर, पृथक् व्यक्तिगत ज्ञान के रूप में उत्पन्न नहीं होती।

किन्तु ऐसी अनुभूति का कभी अनुभव नहीं होता, क्योंकि हम इतना अनुभव नहीं करते कि ज्ञान किसी व्यक्ति को हुआ है या उसे नहीं हुआ है। किन्तु हम अपने ज्ञान के बारे में ऐसा भी कहते हैं कि भूतकाल या भविष्य में होगा, जैसेकि 'मैं जानता हूँ' 'मैंने जाना' इत्यादि। उससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान काल से सीमित है। यह पूछा जा सकता है कि यह अपरोक्ष अनुभूति ब्रह्म को प्रकट करती है या किसी अन्य को, यदि ब्रह्म को प्रकट करती है तो उसका विषय अवश्य है। यदि ऐसा माना जाता है कि ऐसा करने में, वह, जो हाल ही में स्वतः व्यक्त हुआ है उसे ही प्रकाशित करती है, तो भी वह किसी को व्यक्त करती है, चाहे वह जो कुछ हाल ही में व्यक्त हो चुका है। इससे इस प्रतिज्ञा में 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्' बाध उत्पन्न होगा, क्योंकि, उपरोक्त तर्क का अनुसरण करते हुए, यद्यपि ब्रह्म को अपरोक्ष माना जाय, तो भी, वह अनुभूति का विषय हो सकता है ऐसा बताया गया है। यदि दूसरे विकल्प में, यह अनुभूति किसी अन्य वस्तु को प्रकाशित करती है. तो यह प्रतिवादी को उस निष्कर्ष पर ले जाएगा, जो वह नहीं चाहता और स्वबाधित भी होगा।

जैसे कोई कहे कि वह घड़े को जानता है या नारंगी को जानता है, उसी प्रकार कोई यह भी कहा जा सकता है कि वह विषय की तरह दूसरे की या अपनी भी अभिज्ञा जानता है। इस प्रकार. एक अभिज्ञा, दूसरे विषय की तरह, दूसरे की अभिज्ञा का विषय बन सकती है। पुनः, यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अभिज्ञा नहीं जान सकता, तो फिर दूसरे के मानस को समझने के लिए भाषा-व्यवहार का अन्त हो जाना चाहिए।

यदि अपरोक्षानुभूति, स्वयं अभिज्ञा का विषय नहीं हो सकती तो यह अर्थ होगा कि वह सर्वथा अज्ञात रहती है और परिणामतः उसकी सत्ता तुच्छ होती है। आग्रह-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि तुच्छ वस्तु अनुभव नहीं की जा सकती क्योंकि वह तुच्छ है, किन्तु कोई सत्ता ज्ञात नहीं होती इसलिए वह तुच्छ नहीं हो जाती, क्योंकि पूर्व प्रतिज्ञा (वाक्य) सोपाधिक नहीं है। शंकर मतवादी यह नहीं मानते कि अपरोक्ष अनुभूति के अतिरिक्त सभी पदार्थ तुच्छ हैं। यह भी माना जा सकता है कि तुच्छ वस्तु अपरोक्ष अनुभूति नहीं है, क्योंकि वह तुच्छ है, किन्तु इस प्रसंग में यह भी माना जा सकता है कि ये पदार्थ (घड़ा इत्यादि) भी अपरोक्ष अनुभूति नहीं है क्योंकि उनमें घटत्व इत्यादि निर्दिष्ट धर्म हैं। दृढ़तापूर्वक यही स्पष्ट करना है कि साधारण पदार्थ अपरोक्ष अनुभूति से इसलिए भिन्न नहीं हैं कि वे ज्ञेय हैं किन्तु उनमें निर्दिष्ट धर्म है। एक वस्तु ज्ञेय होने के कारण, अपरोक्ष अनुभूति नहीं कही जा सकती, वह सर्वथा दोषपूर्ण है।[1] यदि पुनः ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति है, तो दर्शन एवं शास्त्र, कोई भी ब्रह्म के स्वभाव के सम्बन्ध में उसका परिचय नहीं करा सकेंगे।

इक्कीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी व्यक्तिगत ज्ञान की उत्पत्ति को अस्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार सभी प्रकार के तथाकथित ज्ञान (अनुभव) अविद्या के भिन्न प्रकारों का, स्वप्रकाश शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होने पर, उदय माना गया है। इस मत का खण्डन करते हुए, वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि विभिन्न अनुभव किसी काल में उत्पन्न होते हैं यह

---

1 शतदूषणी। 2-78।

सामान्य अनुभव द्वारा प्रमाणित है। यदि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है और व्यक्तिगत ज्ञान को अस्वीकार किया जाता है तो सभी विषयों को एक साथ व्यक्त होना चाहिए। तो भी, यदि, यह निश्चित किया जाता है कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान रहता है फिर भी विभिन्न ज्ञान अपेक्षित कारण की परिस्थितियों से मर्यादित है, तो प्रत्युत्तर यह है कि इतनी अनन्त संख्यक कारण परिस्थितियों द्वारा शुद्ध चैतन्य को मर्यादित करना स्वयं शंकर मत के विरुद्ध होगा, क्योंकि यह उनके अद्वैतवाद से असंगत होगा। अब यदि पुनः, यह कहा जाता है कि ज्ञान के प्रकार, शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को सचमुच प्रभावित करते हैं, तो शुद्ध चैतन्य परिणामी हो जाता है, जो शंकर मत के विरुद्ध है। यदि यह माना जाता है कि आकार शुद्ध चैतन्य पर आरोपित किए जाते हैं, और इन आरोपणों द्वारा निर्दिष्ट विषय बारी-बारी से, चैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, तो स्थिति यह है कि विषय या पदार्थ प्रकाशित हों इसलिए, ऐसे प्रकाशन शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर मिथ्या आरोपणों के माध्यम द्वारा होने चाहिए। यदि विषयों का साक्षात् प्रकाशन असम्भव है तो शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर दूसरे आरोहणों के लिए दूसरे आरोपणों का माध्यम आवश्यक होगा और उसे अन्य की आवश्यकता रहेगी, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। यदि आरोपण मिथ्या नहीं हैं, तो चैतन्य परिणामी बन जाता है और पुराना आक्षेप उपस्थित हो जायगा। फिर भी यदि यह आग्रह किया जाता है कि पदार्थ किसी भी प्रकार की अपेक्षित परिस्थितियाँ एवं शुद्ध चैतन्य की ओर से किसी निर्दिष्ट योगदान पर आधार रखे बिना प्रकाशित होते हैं तो सभी विषय (जबकि वे सभी शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित है) साथ प्रकाशित होंगे। यदि, पुनः, सभी ज्ञान, शुद्ध चैतन्य के स्वरूप पर अध्यास मात्र है, तो, विशिष्ट ज्ञान के मिथ्या आरोपण के समय जैसेकि घड़ा, कुछ भी नहीं अस्तित्व रखेगा जो शून्यवाद की परिस्थिति उत्पन्न करेगा। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शंकर मतवादी जगत् और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध न समझा सकने की अशक्यता के कारण, जगत् का निषेध करने को तत्पर हैं, तो वह ऐसे जगत् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध समझाने के प्रयत्न का आरम्भ ही कैसे कर सकते हैं?

दूसरी ओर, हमारा सामान्य अनुभव इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि ज्ञान होता है, ठहरता है, चला जाता है और वह हमसे चला गया है। इस प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त हमें भूत और भविष्य की घटना का ज्ञान होना कठिन नहीं है, इसलिए, यह आक्षेप कि वर्तमान अनुभव, भूत और भविष्य से सम्बन्धित नहीं हो सकता, अप्रामाण्य है। भूत और भविष्य के पदार्थों का अनुभव. उनके वर्तमान में अविद्यमान होने से, नहीं हो सकता यह भी अप्रमाण्य है, क्योंकि भूत और भविष्य के पदार्थ भी अपने निर्दिष्ट कालिक सम्बन्ध में विद्यमान हैं। अनुभव की प्रमाणता बाधा के अभाव पर निर्भर है, और इस तथ्य पर नहीं कि वह वर्तमान के पदार्थ से सम्बन्धित है, क्योंकि इसके बिना वर्तमान क्षण के सभी मिथ्या अनुभव प्रमाण मानने पड़ेंगे। इस प्रकार, जबकि, जो अभिज्ञा जहाँ नहीं है, किन्तु जो साक्षात् और अपरोक्ष अनुभव तथा अनुमान, दोनों से उत्पन्न होती है, उसका अनुभव शक्य है, तो शंकर मतवादियों का व्यक्तिगत ज्ञान की आपत्ति का न मानना अप्रमाण है। रामानुज के मत में, ज्ञान, निस्संदेह ही नित्य माना गया है, तो भी इस ज्ञान के निर्दिष्ट काल धर्म और निर्दिष्ट अवस्थाएँ मानी हैं। इसलिए, जहाँ तक इन धर्मों तथा अवस्थाओं का सम्बन्ध है, उनकी उत्पत्ति और अन्त,

निर्दिष्ट अपेक्षित परिस्थितियों के प्रभाव में शक्य है। पुनः यह आक्षेप कि शुद्ध चैतन्य अनादि है इसलिये यह अपरिणामी है, अप्रमाण है, क्योंकि शंकर-मतवादी अविद्या को भी अनादि किन्तु परिणामी मानते हैं। इस सम्बन्ध में यह सूचित किया जा सकता है कि तथाकथित निर्विषय चैतन्य अनुभवगम्य नहीं है। गाढ़ निद्रा या मूर्च्छा में भी चेतना द्रष्टा से सम्बन्धित है इसलिए वह निर्विषय नहीं है।

बाईसवां आक्षेप

शंकर मतवादी यह आग्रह करते हैं कि शुद्ध चैतन्य, अज्ञात होने से, अपरिणामी है, यदि अपरिणामी शब्द का अर्थ, अस्तित्व का अन्त न होना है, तो यह बताया जा सकता है कि शंकर-मतवादी अज्ञान को अजात किन्तु नाशवान् मानते हैं। इसलिए, ऐसा कोई कारण नहीं है कि एक पदार्थ के अजात होने से वह नाशवान् नहीं होना चाहिए। यदि आग्रहपूर्वक ऐसा कहा जाता है कि अविद्या का नाश भी मिथ्या है। तो उसी दृढ़ता से यह भी बताया जा सकता है कि सभी पदार्थों का विनाश भी मिथ्या है। तदुपरान्त जबकि शंकर-मतवादी, किसी परिणाम को सत्य नहीं मानते, तो उनके द्वारा दिया तर्क वाक्य 'जो अजात है वह अपरिणामी है' निरर्थक हो जाता है। शंकर और रामानुज के ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी विचारों में यह भेद है, कि शंकर के अनुसार ब्रह्म नितान्त अपरिणामी और निर्गुण है और रामानुज के अनुसार, ब्रह्म अपने में जगत् और जीव तथा उसमें होने वाले परिणामों को धारण करता हुआ निरपेक्ष है। वह अपरिणामी केवल इसी अर्थ में है कि सभी गत्यात्मक परिणाम भीतर से उत्पन्न होते हैं और उसके बाहर कुछ भी नहीं है जो उसे प्रभावित कर सके। अर्थात् ब्रह्म निरपेक्ष है यद्यपि अन्तर में परिणामी है, फिर भी वह नितान्त स्वाश्रित और स्वस्थित है और अपने से बाहर किसी से सर्वथा अप्रभावित है।

तेईसवां आक्षेप

शंकर मतवादी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य नाना रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह अजात है, क्योंकि जो नाना रूप है वह उत्पन्न हुआ है जैसे घड़ा। यदि शुद्ध चैतन्य ही अविद्या की उपाधि से नाना रूप दीखता है, तो इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शुद्ध चैतन्य अन्य किसी से विविक्त नहीं किया जा सकता, तो वह देह से भी एक रूप हो सकता है, यह मान्यता शंकर-मत के विरुद्ध है। फिर भी यदि यह उत्तर दिया जाता है कि शुद्ध चैतन्य और देह के बीच तथाकथित भेद केवल मिथ्या भेद है, फिर तो उसे मानना ही पड़ेगा कि शंकर के अनुयायियों द्वारा मान्य, ब्रह्म के अपरिणामी स्वरूप का विरोध करेगा। यदि, देह और शुद्ध चैतन्य के बीच वास्तविक भेद को अस्वीकार किया जाता है, तो (यह आग्रह किया जा सकता है कि) इससे यह निष्कर्ष निकलता हैं कि वस्तु, जो सचमुच भिन्न है वह उत्पन्न होती है, इसलिए उपरोक्त निष्कर्ष समर्थन में नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त, जबकि अविद्या अजात है, तो शंकर-मतवादियों की उक्ति के अनुसार, यह निष्कर्ष उत्पन्न होगा कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं होगी, जिसे वे निस्संदेह ही सरलता से नहीं मानेंगे। यह भी नहीं माना जा सकता कि एक अभिज्ञा दूसरे से इस मान्यता के आधार पर भिन्न नहीं है कि भिन्न अभिज्ञाएँ, एक ही चैतन्य पर आरोपित भासमान आकार हैं, क्योंकि, जहाँ हम भेद को मानते हैं, हम उन्हें भासमान भेद और भासमान आकार ही कहते हैं और यदि भासमान भिन्न आकार मान लिए जाते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे

भिन्न नहीं हैं। पुनः, ऐसा आग्रह किया जाता है कि एक ही चन्द्र तरंगमय पानी के कारण अनेक रूप दीखता है उसी प्रकार वही अभिज्ञा अनेक रूप में दीखती है, यद्यपि वह एक ही है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह सादृश्य मिथ्या है। चन्द्र का प्रतिबिम्ब चन्द्र से एक नहीं है, उसी प्रकार, भासमान विषय, अनुभव से एक नहीं है। यदि ऐसा कहा जाता है कि समस्त चन्द्र-प्रतिबिम्ब मिथ्या हैं, तो उसी सादृश्यता के अनुसार, सभी अनुभव मिथ्या हो सकते हैं और तब यदि एक ही चैतन्य, सभी अनुभवों के अधिष्ठान रूप सत्य है, तो सभी अनुभव समान रूप से सत्य एवं मिथ्या कहे जा सकते हैं। पुनः, सिद्धान्त-दृष्टि से चैतन्य, व्यक्तिगत ज्ञान से भिन्न नहीं है, यह मत प्रतिपादनीय नहीं है, क्योंकि रामानुजवादी, चैतन्य का ऐसा अमूर्त सिद्धान्त नहीं मानते हैं, उनकी दृष्टि में सभी ज्ञान निर्दिष्ट एवं व्यक्तिगत हैं। इस सम्बन्ध में यह सूचित किया जा सकता है कि रामानुज-मतवादियों के अनुसार, चैतन्य जीवों में नित्य गुण के रूप में विद्यमान है, अर्थात् वह उपाधि एवं परिस्थितियों के अनुसार परिणत हो सकता है।

चौबीसवां आक्षेप

शुद्ध चैतन्य के निर्गुण स्वरूप पर आक्षेप करते हुए, वेंकटनाथ कहते हैं कि निर्गुण होना भी विशिष्ट धर्म है। यह निषेधात्मक होने से अन्य गुणों से भिन्न है। निषेधात्मक गुणों को भावात्मक गुणों जैसे ही आक्षेप-योग्य समझना चाहिए। पुन शंकर-मतवादी ब्रह्म को निरपेक्ष और अपरिणामी मानते हैं, और ये भी गुण हैं। यदि उत्तर दिया जाता है कि गुण भी मिथ्या हैं, जो उनसे विपरीत गुण सत्य ठहरेंगे, अर्थात् ब्रह्म परिणामी माना जायगा। पुनः, यह प्रश्न किया जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म की सत्ता किस प्रकार सिद्ध की गई है। यदि इसे बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं किया गया है तो पूर्व मान्यता असंगत है, यदि वह बुद्धि द्वारा सिद्ध किया गया है तो, बुद्धि ब्रह्म में विद्यमान होनी चाहिए, और इससे वह बुद्धि-विशिष्ट हो जायगा।

पच्चीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ, शंकर-मतवादियों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि जो अपने आपको प्रकाशित करता है या जो स्वयं प्रकाश्य है उसे आत्मा कहना चाहिए। इस आधार पर, चैतन्य आत्मा है, क्योंकि वह अपने आपको प्रकाशित करता है। वेंकटनाथ आगे आग्रह करते हैं कि ज्ञान का प्रकट होना सर्वथा निरुपाधिक नहीं है क्योंकि प्रकाशन ज्ञाता की आत्मा को होता है, वह न अन्य किसी को या सभी को होता है। यह तथ्य स्पष्ट बताता है कि वह आत्मा द्वारा मर्यादित है। यह भी इंगित किया जा सकता है ज्ञान का प्रकाशन उसे स्वयं ही नहीं होता, किन्तु एक ओर आत्मा को होता है और दूसरी ओर विषय को, इस अर्थ में, कि वे ज्ञान के घटक हैं। पुनः, यह सामान्य अनुभव द्वारा सिद्ध है कि चेतना आत्मा से भिन्न है। यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वह चैतन्य आत्मा से अभिन्न है तो वह अपरिणामी है या परिणामी? क्या उसे अपरिणामी मानना असम्भव होगा? पहले विकल्प में, यह आगे प्रश्न किया जा सकता है कि इस अपरिणामी चैतन्य का कोई आधार है या नहीं, यदि नहीं तो वह बिना किसी आधार कैसे टिक सकता है? यदि उसका कोई आधार है तो उस आधार को ज्ञाता, उचित रूप से माना जा सकता है, जैसाकि

रामानुज मतवादी मानते हैं। यहाँ यह भी सूचित किया जाय कि ज्ञान, गुण या धर्म होने के कारण, उसका आत्मा से, जो गुण का अधिष्ठान है तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

छब्बीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है। इसलिए आत्मा का 'मैं' के रूप में अनुभव मिथ्या है और इसी कारण मुक्ति तथा गाढ़ निद्रा में वह अनुपस्थित है। इस पर वेंकटनाथ का प्रत्युत्तर यह है कि यदि 'मैं' का विचार गाढ़ निद्रा में नहीं होता है तो आत्म-चेतना की निरन्तरता असम्भव है। यह निस्संदेह ही सत्य है कि गाढ़ निद्रा में आत्मा का 'मैं' प्रत्यय के रूप में प्रकट रूप से अनुभव नहीं होता, किन्तु इस कारण वह उस समय अविद्यमान नहीं है, क्योंकि 'मैं' के रूप में आत्मा की निरन्तरता इस तथ्य से अनुमित है कि गाढ़ निद्रा के पहले एवं पश्चात् भी वह अनुभव होता है, इसलिए वह निद्रा के समय में भी विद्यमान होगा। और आत्म-चेतना स्वयं भूत और भविष्य को निरन्तरता के रूप में लक्ष्य करती है। यदि इस अहं प्रत्यय का निद्रा में नाश होता है तो अनुभव की निरन्तरता समझायी नहीं जा सकती। (मध्ये चाहमर्थाभावे संस्कार-धारा-भावात्, प्रतिसंधानाभाव-प्रसंगाच्च)। यह तथ्य सिद्ध है कि ज्ञाता के अभाव में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ही नहीं रह सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनुभव की निरन्तरता, शुद्ध चैतन्य या अविद्या को, गाढ़ निद्रा में, प्रेषित कर दी जाती है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अनुभव का आगार नहीं हो सकता, और यदि अविद्या आगार है, तो वह ज्ञाता होगी, जो असम्भव है और प्रत्यभिज्ञा समझाई नहीं जा सकेगी, क्योंकि अविद्या से सम्बन्धित अनुभव, उस तत्त्व द्वारा नहीं स्मरण किया जा सकता, जिसे अहं प्रत्यय लक्ष्य करता है। इसके अतिरिक्त, निद्रा से उठने के बाद मनुष्य का यह अनुभव कि 'मैं इतनी देर सुख से सोया' बताता है कि जो तत्त्व अहं प्रत्यय द्वारा लक्ष्य किया जाता है वह निद्रा के अन्तर्गत भी अनुभव किया गया था। गाढ़ निद्रा की अवस्था को लक्ष्य करता हुआ भी अनुभव 'मैं इतना गहरा सोया कि मैंने अपने को भी नहीं जाना' यह बताता है कि आत्मा उस समय, निर्दिष्ट शारीरिक एवं देश और काल के सम्बन्ध से अज्ञान है। इस पर विवाद नहीं किया जा सकता कि अहं प्रत्यय को लक्ष्य करने वाला तत्त्व मुक्ति में भी रह नहीं सकता, क्योंकि यदि मुक्ति में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है तो कोई भी उस अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगा। मुक्ति के समय शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के अनुभव का अर्थ आत्मा का विनाश होगा और कोई भी कभी अपने विनाश में रुचि नहीं रखेगा। तदुपरान्त, यदि, अहं प्रत्यय को लक्ष्य करने वाला तत्त्व सत् नहीं है तो अहं प्रत्यय द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व जिसका कि बहुधा शरीर एवं इंद्रियों से तादात्म्य किया जाता है, यह मत (शंकर मतवादी बहुधा ऐसा कहते हैं) निरर्थक ठहरेगा। यदि भ्रम, मिथ्या आभास के मिथ्या आरोपण के कारण होता है, जैसेकि देह या इन्द्रियों का शुद्ध चैतन्य पर, तो उसे अहं का इन्द्रियों तथा देह रूप से, भ्रम नहीं कहा जायगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा के अहं प्रत्यय रूप अनुभव में दो भाग हैं, शुद्ध चैतन्य जो नित्य और सत् है, और अहंता, जो मिथ्या आभास मात्र है। क्योंकि यदि यह अहं अनुभव में ऐसा है तो वह अन्य अनुभवों में भी यह या वह के रूप से, बाह्य विषय में, भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि ऐसा है, तो स्वगत जैसे

विशिष्ट अनुभव को विषयगत अनुभव से भिन्न कैसे किया जायगा ? वह कौनसा धर्म है जो स्वगत अनुभव की विशिष्टता है ? इस प्रकार यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अहं तत्त्व आत्मा का सच्चा स्वरूप है ।

सत्ताइसवां आक्षेप

शंकर मतानुयायियों का यह आग्रह कि ज्ञाता के रूप में आत्मप्रत्यय होता है, मिथ्या है, क्योंकि परम सत्ता रूप ब्रह्म पूर्णतः अपरिणामी है । कारण यह है कि ज्ञाता होने का उसका आरोपित गुण इस प्रकृति से मेल नहीं खाता । इस सम्बन्ध में यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि ज्ञातभाव को उसका परिणामी गुण मान लिया जाए तो सत्ता या स्वयं प्रकाशता को भी गुण मानना पड़ेगा, फिर इनका उसकी प्रकृति से मेल न बैठेगा । ज्ञानात्म में परिवर्तन से आत्मा के अपरिवर्त्य स्वभाव पर जरा भी असर नहीं पड़ता, क्योंकि ज्ञान के परिवर्तन से आत्मा परिवर्तित नहीं होती ।

अट्ठाइसवां आक्षेप

यह सुविदित है कि शंकर मतवादी, शुद्ध चैतन्य को समस्त आकार और आभास का द्रष्टा साक्षी मानते हैं, और इस साक्षित्व व्यापार द्वारा ही ये सब प्रकाशित होते हैं । उसी साक्षी चैतन्य द्वारा चेतना की निरन्तरता स्थिर रहती है और गाढ़ निद्रा में भी जो आनन्द का अनुभव होता है वह इसी साक्षी चैतन्य द्वारा भासित होता है । रामानुज मतानुवादी इस साक्षि-चैतन्य को अस्वीकार करते हैं, साक्षी का प्रयोजन ज्ञाता के व्यापार द्वारा सिद्ध होता है जिसकी चेतना, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में भी निरन्तर रहती है । वेंकटनाथ आग्रहपूर्वक कहते हैं कि आनन्द की अभिव्यक्ति अशुद्ध चैतन्य से अभिन्न है, वह शुद्ध चैतन्य के स्व-प्रकाशत्व से ही अनुमित है । यह भी बताना उचित होगा कि गाढ निद्रा में इन्द्रिय-सुख अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते : यदि ऐसा है तो फिर, गाढ़ निद्रा में आनन्द के अनुभव को समझाने के लिए साक्षि चैतन्य को क्यों माना जाय ? जबकि ब्रह्म को सच्चा ज्ञाता नहीं माना गया है, इसलिए साक्षी का प्रत्यय और ज्ञाता एक नहीं हैं । उसका केवल प्रकाशन भी नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह अपने को ब्रह्म रूप से प्रकाशित करता है, तो साक्षि-चैतन्य के माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती । यदि वह अविद्या के रूप में प्रकाशन करता है, तो इसके सम्बन्ध से ब्रह्म मिथ्या हो जायगा । यह नहीं हो सकता कि साक्षि-चैतन्य का व्यापार ब्रह्म के समान हो, और तब भी वह अविद्या का स्वरूप ग्रहण करता रहे, क्योंकि वह ब्रह्म और अविद्या दोनों से अभिन्न नहीं हो सकता । यदि साक्षि-चैतन्य का व्यापार मिथ्या है, तो असंख्य साक्षी मानने के कारण अनवस्था दोष आता है । इस तरह जिस किसी प्रकार से साक्षि-चैतन्य को समझा जाय, हम उस तर्क से या अनुभव से उसे संगत ठहराने में निष्फल रहते हैं ।

उन्नतीसवां और तीसवां आक्षेप

वेंकटनाथ आग्रह करते हैं कि शंकर मतवादी शास्त्र-प्रमाण को प्रत्यक्ष अनुभव से श्रेष्ठ मानते हैं, यह गलत है । वास्तव में शास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के बिना असम्भव है, इसलिए, शास्त्रों को इस प्रकार समझाना चाहिए कि वे प्रत्यक्ष से विरोध में न आवें । इसलिए, जबकि प्रत्यक्ष नानात्व को सिद्ध करता है, तो नानात्व को मिथ्या

सिद्ध करने वाले शास्त्र का अर्थ निस्संदेह अप्रमाण होगा। उसके बाद शंकर-मतवादी, मिथ्या साधनों द्वारा सच्चे ज्ञान प्राप्त करने के अनेक गलत दृष्टान्त देते हैं तथा आग्रह करते हैं (जैसेकि, मिथ्या सर्प से जो डर उत्पन्न होता है, अक्षर द्वारा पदार्थ सूचित करना, जबकि अक्षरों का संग्रह तो रेखाओं का समाहार है)। किन्तु वेंकटनाथ का उत्तर यह है कि उन सभी दृष्टान्तों में जहाँ मिथ्यात्व से सत्य की प्राप्ति मानी गई है वहाँ हम मिथ्यात्व से सत्य की ओर नहीं पहुँचते किन्तु एक सच्चे ज्ञान से दूसरे सच्चे ज्ञान की ओर पहुँचते हैं। रेखाएँ, किसी वस्तु की सच्ची प्रतीक हैं इसी कारण, वे उसका प्रतिनिधित्व करती हैं, और मिथ्यात्व के सत्य की प्राप्ति के कोई भी उदाहरण नहीं दिए जा सकते। इसलिए यदि शास्त्र भी मिथ्या है, (अन्तिम अर्थ में) जैसाकि शंकर मतवादी कहेंगे, तो उनके लिए हमें ब्रह्म ज्ञान-प्राप्ति कराना असम्भव हो जायगा।

इकतीसवां आक्षेप

शंकर के अनुयायियों का यह मत है कि सच्चे ज्ञान से इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त हो सकती है, जिसे कि वे जीवन्मुक्ति कहते हैं, रामानुज मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि सच्चे ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती किन्तु सच्चे ज्ञान के संयोग से, उचित कर्म और उचित भाव द्वारा मुक्ति मिल सकती है। जगत् के पदार्थों से सच्चा वियोग शरीर के न रहने पर ही होता है। वेंकटनाथ यह बताते हैं कि जहाँ तक देह है, एकाकार रूप से परम ज्ञान का अनुभव सम्भव है, क्योंकि ऐसे पुरुष को अपने शरीर और उसके नाना सम्बन्ध का भान अवश्य ही होगा, यदि ऐसा कहा जाय कि यद्यपि शरीर रहता है किन्तु उसे मिथ्या या असत् माना जा सकता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह शरीर-रहित है और तब जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति में भेद असम्भव हो जायगा।

बत्तीसवां आक्षेप

शंकर-मतवादी आग्रहपूर्वक कहते हैं कि अज्ञान या अविद्या, यद्यपि ज्ञान-विरोधी हैं, तो भी वह भावात्मक पदार्थ है जैसाकि प्रत्यक्ष अनुमान एवं शास्त्र प्रकट करते हैं। वेंकटनाथ इसे अस्वीकार करते हुए, यह कहते हैं कि यदि अज्ञान को ज्ञान-विरोधी माना जाता है तभी ऐसा हो सकता है जबकि वह ज्ञान का निषेध करता है अर्थात् उसे अभावात्मक होना चाहिए। ऐसा अभाव किसी ज्ञान के विषय को स्पष्ट ही लक्ष्य करे, और यदि यह मान लिया जाता है तो ज्ञान का विषय जान लिया होना चाहिए, क्योंकि नहीं तो निषेध उसे लक्ष्य नहीं कर सकता। इस पर शंकर-मतवादी, शायद यह कहेंगे कि ज्ञान का निषेध और विषय जिसे वह लक्ष्य करता है, ये दोनों इस तरह से स्वतंत्र वस्तु हैं कि ज्ञान का निषेध, आवश्यक रूप से बाध्य नहीं करता कि ज्ञान का विषय ज्ञात होना चाहिए। इसलिए, यह कहना गलत है कि ज्ञान का अभाव वदतो व्याघात-दोष है। इस पर स्पष्ट उत्तर यह है कि जैसाकि निषेध के प्रसंग में, जहाँ, निषेध किए गए पदार्थ की उपस्थिति निषेध का बाध करती है, उसी प्रकार जहाँ सभी ज्ञान के अर्थ (पदार्थ) का निषेध है, किसी भी (पदार्थ) का अस्तित्व उसे आवश्यक रूप से बाध करता है। इसलिए, 'मैं कुछ नहीं जानता' यह अनुभव, किसी भी ज्ञान से बाधित

होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि ज्ञान का निषेध और उसका अनुभव दो भिन्न क्षणों में हों, और उसका अनुभव विरोधात्मक न हो, तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष सर्वदा वर्तमान काल में अस्तित्व रखने वाले पदार्थों को ग्रहण करता है। यद्यपि, गाढ़ निद्रा में अज्ञान के तथाकथित प्रत्यक्ष के प्रसंग में, अज्ञान का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ हो ऐसा माना जाय और 'मैं अज्ञ हूँ' मैं अपने को या दूसरों को नहीं जानता, 'ऐसे प्रसंगों में, स्पष्ट रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए, यह असम्भव है कि 'मैं' का अनुभव भी हो और वह अज्ञ भी रहे। इस प्रकार अज्ञान अनुभव निरर्थक रहेगा। पुन: अभाव (निषेध) के अनुभव को आवश्यक प्रतियोगी लक्ष्य करना चाहिए, इससे यह अर्थ होगा कि प्रतियोगी का ज्ञान है, और वह सर्वव्यापी अभाव के अनुभव को बाध करेगा जो सर्वथा ज्ञानरहित है। तो भी यह आग्रह किया जाय कि अज्ञान का ज्ञान उसके अभाव का अनुभव नहीं है, किन्तु एक भावात्मक पदार्थ का अनुभव है और इसलिए उपरोक्त विवाद में दिए गए आक्षेप यहाँ निरुपयोगी रहेंगे।

इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अज्ञान नामक भाव पदार्थ की मान्यता जो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, ज्ञान-विरोधी पदार्थ को अनुमित कर सकती है, क्योंकि अज्ञान का 'अ' नञ् अनुपस्थिति या निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यदि ऐसा है तो, यह आग्रह किया जा सकता है कि विरोध का अनुभव दो पद लक्षित करता है, वे हैं जो विरोध करता है और जिसका विरोध किया जाता है। इस प्रकार, अज्ञान अनुभव ज्ञान को भी समाविष्ट करेगा, इसलिए जब अज्ञान का विरोधी प्रकाशित होता है तब अज्ञान कैसे दीखेगा? इसलिए, यह स्पष्ट है कि अज्ञान को केवल अभाव मानने के बजाय भाव पदार्थ मानने से कोई लाभ नहीं होता। भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय ऐसे किसी नए उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता है जो कि अज्ञान का ज्ञानाभाव प्रत्यय उसी प्रकार न कर सकता हो। यदि भाव पदार्थ, ब्रह्म के प्राकट्य को मर्यादित करता हुआ माना जाता है तो अभाव भी वही कर सकता है। शंकर-मतवादी स्वयं मानते हैं कि ज्ञान, अज्ञान को, जो ज्ञान के उदय का प्रागभाव है, निरास करके प्रकट होता है और इस प्रकार एक रूप से वे इसे अज्ञान का अभावात्मक रूप मानते हैं। मै मुग्ध हूँ (मुग्धोऽस्मि) इस माने हुए अनुभव में विरोध के प्रत्यय का समावेश होता है। मुग्ध शब्द में निषेधात्मक प्रत्यय न होने से यह अर्थ नहीं निकलता है कि वह निषेधात्मक नहीं है। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान प्रत्यक्ष से प्रमाणित नहीं है।

यह सूचित किया गया है कि अज्ञान की सत्ता इस मान्यता पर सिद्ध की जा सकती है कि यदि प्रकाश, अंधकार को दूर करके प्रकट होता है, उसी प्रकार, ज्ञान को भी भाव रूप अज्ञान को दूर करके प्रकट होना चाहिए। अनुमान ज्ञान का एक प्रकार है, और इसलिए उसे अपने व्यापार को आवृत्त करने वाले किसी भी अज्ञान को दूर करना चाहिए। जबकि यह अज्ञान अपने को प्रकट नहीं कर सका तो यह सहज अनुमान किया जायगा कि कोई दूसरा अज्ञान आवृत्त कर रहा है और जिसे दूर किए बिना वह अपने को प्रकट नहीं कर सका, तो इस प्रकार अनवस्था स्थिति आ जाएगी। यदि अज्ञान प्रच्छन्न मानते हैं तो अनुमान अज्ञान को साक्षात् नष्ट करता है यह भी माना जा सकता है, जब कभी ज्ञान किसी पदार्थ को प्रकाशित करता है, तब वह उससे

सम्बन्धित अज्ञान को दूर करता है। शास्त्र भाव रूप अज्ञान का समर्थन नहीं करते हैं। इस प्रकार भाव रूप अज्ञान का प्रत्यय न्यायविरुद्ध है।

चालीसवां आक्षेप

अज्ञान ब्रह्म में नहीं किन्तु जीव में रहता है, यह मान्यता गलत है। यदि अज्ञान जीव के अपने सच्चे स्वरूप में (अर्थात् ब्रह्म रूप से) रहता है तो अज्ञान वस्तुतः ब्रह्म में ही रहता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अज्ञान प्रत्येक जीव के अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं किन्तु सामान्यतः समझे जाने वाले जन्म-मरणादि धर्मयुक्त रूप में रहता है, तो कहने का अर्थ यह होता है कि अज्ञान भौतिक द्रव्य से सम्बन्धित है और वह दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि भौतिक बन्धनों में बद्ध जीव में अज्ञान को दूर करने की इच्छा कभी नहीं हो सकती, न उसमें उसे नाश करने की शक्ति ही है। पुनः यह प्रश्न किया जाय कि अज्ञान व्यक्तिगत जीवों में भेद करता है तो वह भिन्नता जीवों में एक है या अनेक। पहले प्रसंग के अनुसार एक जीव की मुक्ति से अज्ञान हट जाने पर सभी मुक्त हो जाएँगे। दूसरे प्रसंग में, यह कहना कठिन है कि अविद्या पहले है या जीवों का आपस में भेद, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि शंकर-मतवादी जीवों में भेद की सत्ता नहीं मानते। 'अज्ञान ब्रह्म से सम्बन्धित है' इस मतानुसार, जीवों के बीच भेद मिथ्या होने से, भिन्न जीवों के अनुसार भिन्न अज्ञान मानने की आवश्यकता नहीं रहती। कुछ भी हो, अविद्या, चाहे सत्य हो या भ्रम रूप हो, वह जीवों की भिन्नता नहीं समझा सकती। पुनः यदि अज्ञान, जो जीवों में भेद उत्पन्न करने वाले माने गए हैं, वे ब्रह्म में रहते हैं ऐसा माना जाता है तो ब्रह्म नहीं जाना जा सकता। अज्ञान जीवों में रहते हैं इस वाद के अनुसार, पुनः पुरानी कठिनाई सम्मुख आती है कि अविद्या का भेद प्राथमिक है या जीवों का भेद। यदि उस समस्या का इस प्रस्ताव से हल करने का मंतव्य है कि यहाँ अनवस्था स्थिति बीज और अंकुर जैसे दोषपूर्ण नहीं है, तो यह बताया जा सकता है कि अज्ञान, जो जीवों में भेद उत्पन्न करता है उनका जीव ही आधार है इस मान्यता को स्वीकारने पर अनवस्था को कोई स्थान नहीं रहता। बीज जो अंकुर पैदा करता है वह अपने आपको उत्पन्न नहीं करता। यदि यह सूचन किया जाता है कि पूर्वगामी जीवों की अविद्या उत्तरकालीन जीवों को उत्पन्न करती है तो जीव नाशवान् हो जाएँगे। इस प्रकार, किसी भी प्रकार हम इस मत का समर्थन करना चाहें कि अविद्या प्रत्येक जीवों में रहती है तो हमें भारी असफलता का सामना करना पड़ता है।

इकतालीसवां आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि अविद्या-दोष ब्रह्म में है। यदि यह अविद्या-दोष ब्रह्म से भिन्न है तो वह वास्तव में द्वैतवाद स्वीकार करने जैसा होता है, यदि ऐसा नहीं है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो ब्रह्म स्वयं सभी भ्रमों और भूलों का उत्तरदायी है जो अविद्याजनित हैं, और ब्रह्म के नित्य होने से, सभी भ्रम और भूल भी अवश्य नित्य होंगे। यदि ऐसा कहा जाय कि भ्रम और भूल, ब्रह्म के किसी अन्य सहकारी से सम्बन्धित होने पर उत्पन्न होते हैं, तो इस पर पुराना प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि वह सहकारी कारण, ब्रह्म से भिन्न है या नहीं, और वह सत् है या असत्। फिर

ऐसा सहकारी कारण आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य के सच्चे ज्ञान से उत्पन्न होने का प्रागभाव रूप नहीं हो सकता, क्योंकि तब फिर शंकर-मतवादियों द्वारा प्रतिपादित भाव रूप अज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा अनावश्यक और अयोग्य हो जायगा। ऐसा अभाव ब्रह्म से अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि तब सत्य के उदय एवं अज्ञान के नाश के साथ स्वयं ब्रह्म का अन्त हो जायगा। जबकि ब्रह्म से बाहर सब कुछ मिथ्या है, यदि ऐसी कोई वस्तु है जो ब्रह्म के प्रकाश का अवरोध या उसमें विकृति उत्पन्न करती है, (यदि विकृति किसी भी अर्थ में सत् हो) तब वह वस्तु भी ब्रह्म होगी, और ब्रह्म के नित्य होने से वह विकृति भी नित्य होगी। यदि जो दोष अवरोधक के रूप में कार्य करता है उसे असत् और अनादि मान लिया जाता है, तो भी उसे किसी का आधार होना चाहिए, और वह अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यदि वह किसी भी कारण पर आश्रित नहीं है, तो वह ब्रह्म जैसा होगा, जो निरर्थक दोष पर आश्रित हुए बिना प्रकाशित होता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि यह दोष अपनी एवं दूसरों की भी रचना करता है, तो जगत् की रचना किसी अन्य दोष पर अवलम्बित हुए बिना प्रकट होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि दोष की अपनी रचना करने में कोई असंगति नहीं है जैसे कि भ्रम एक प्रकार से अपनी ही रचना है, अर्थात् वह अपने से बना है, तो शंकर-मतवादी अपने ही मत का खण्डन करेंगे क्योंकि वे अवश्य ही मानते हैं कि अनादि जगत्, सर्जन-दोष के व्यापार से है। यदि अविद्या स्वयं मिथ्या आरोपण नहीं है, तो वह या तो सत्य होगी या तुच्छ। यदि वह भ्रम और कार्य दोनों ही मानी जाती है, तो वह अनादि नहीं होगी। यदि उसका आरम्भ है तो उसे जगत्-प्रपंच से परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता। यदि भ्रम और उसकी रचना अभिन्न मानी जाय, तब भी अविद्या अपने से अपनी रचना करती है यह पुरानी कठिनाई वैसी ही बनी रहती है। पुनः, अविद्या, ब्रह्म को किसी सहकारी दोष की सहायता के बिना दीखती है, तो वह ऐसा निरन्तर करती रहेगी। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब अविद्या का अन्त होता है उसकी अभिव्यक्तियों का भी अन्त हो जायगा, तब भी कठिनाई उपस्थित होती है जिसका शंकर-मतवादियों ने स्वयं सूचन किया है : क्योंकि हम जानते हैं कि उनके मतानुसार प्रकाशन और प्रकाश्य में भेद नहीं है और दोनों के बीच कोई कारण-व्यापार भी नहीं है। जो प्रकाशित होता है उसे प्रकाश तत्त्व से पृथक् नहीं किया जा सकता।

यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब तक सच्चे ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक ही अविद्या प्रकट रहती है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सच्चे ज्ञान के उदय होने का प्रागभाव जगत्-प्रपंच का कारण है और अविद्या मानना अनावश्यक है ? यदि यह कहा जाता है कि नानारूप जगत्-प्रपंच का अभाव, कारण नहीं माना जा सकता, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह किया जा सकता है कि यह स्थिति नाना रूप जगत्-प्रपंच को उत्पन्न करने में शक्य भी मानी जा सकती है। यदि ऐसा माना जाता है कि आँख में भावात्मक दोष कई भ्रम उत्पन्न कर सकता है तो दूसरी ओर यह भी आग्रह किया जा सकता है कि परिच्छेद एवं भेद को न देखना भी बहुधा अनेक भ्रम उत्पन्न करता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि अभाव काल से मर्यादित नहीं है, और इसलिए, वह काल की भिन्न परिस्थितियों में, नाना प्रकार के जगत्-प्रपंच उत्पन्न करने में शक्तिमान् नहीं है और इसी कारण से, भाव रूप अज्ञान मानना अधिक ठीक है,

तब भी उसी आग्रह से यह प्रश्न किया जा सकता है कि काल धर्म से अमर्यादित अनादि अज्ञान, काल से मर्यादित होकर, सच्चे ज्ञान के उदय तक, नाना रूप जगत्-प्रपंच को किस प्रकार उत्पन्न करता रहता है। उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि अविद्या का गुण यही है तो फिर यह पूछा जा सकता है कि अभाव के ऐसे स्वभाव या धर्म को मानने में हानि भी क्या है? यह कम से कम, हमें भाव रूप अज्ञान के विचित्र एवं पूर्व कल्पना को मानने से बचाता है। यह आग्रह किया जाय कि अभाव एकरस एवं निराकार है और इसलिए उसमें धर्म-परिणाम नहीं हो सकता जबकि अविद्या, भावरूप पदार्थ होने से, विवर्त्त-परम्परा में परिणत हो सकती है। इस सम्बन्ध में यह आग्रह किया जा सकता है कि अविद्या का धर्म इस विवर्त्त-परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यदि, ऐसा है जबकि अविद्या का धर्म ही नानारूप परिणाम की परम्परा होना है, तो हर समय हर प्रकार के भ्रम बने रह सकते हैं। भ्रम को विवर्त्त का परिणाम भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अविद्या ऐसे कार्य उत्पन्न करती मानी है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि अविद्या स्वयं, अनुभव में आने वाले विवर्त्त परिणामों से भिन्न एक विशिष्ट पदार्थ है तब भी वही पुराना प्रश्न खड़ा हो जायगा कि वह सत् है असत्। पहला विकल्प मानने पर द्वैतवाद का स्वीकार होगा, और दूसरा विकल्प अर्थात् यदि वह मिथ्या है तो भिन्न देश और काल से मर्यादित, विविध विवर्त्त की परम्परा, ऐसे पूर्वगामी असंख्य कल्पनाओं को मानने के लिए बाध्य करेगा। यदि यह कहा जाता है कि पूर्वगामी परिणाम की परम्परा उत्तरकाल के परिणामों की अनन्त परम्परा को निश्चित करती है, यह मान्यता तार्किक दोषयुक्त नहीं है तो भी इस परिस्थिति को समझाने के लिए अविद्या को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसा माना जा सकता है कि ब्रह्म में किसी बाह्य कारण पर आश्रित हुए बिना भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म में अनवरत भिन्न-भिन्न धर्म परिणाम (सत् या असत्) रूप से परिणत होते रहते हैं, ऐसी मान्यता इस निष्कर्ष पर ले जायगी कि इन परिणामों से परे कोई ब्रह्म है ही नहीं, यह आक्षेप निष्प्रमाण है, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बताता है कि मिट्टी के पिंड में होने वाले परिणाम उसकी सत्ता को अप्रमाण सिद्ध नहीं करते हैं। ऐसे मत में ब्रह्म को भ्रम का अधिष्ठान माना जा सकता है। दूसरी ओर, मिथ्या अविद्या की मान्यता स्वीकार करने पर ही अधिष्ठान की सत्ता को न्यायपूर्ण नहीं प्रतिपादित किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या का अधिष्ठान स्वयं मिथ्या होगा। इसलिए यदि ब्रह्म को उसका आधार माना जाय, तो वह स्वयं मिथ्या होगा और हम शून्यवाद में पड़ेंगे।

पुनः यह पूछा जाय, कि अविद्या स्वयं प्रकाश्य है या नहीं। यदि वह नहीं है, तो वह तुच्छ हो जाती है, यदि वह स्वप्रकाशित है तो फिर पूछा जा सकता है कि प्रकाशत्व उसका स्वरूप है या नहीं। यदि है तो वह ब्रह्म जैसी स्वयं प्रकाश होगी, और दोनों में भेद न रहेगा। यदि अविद्या का प्रकाशत्व ब्रह्म में है, तो ब्रह्म नित्य होने से, कोई ऐसा समय न होगा, जब अविद्या प्रकाशित न हो। प्रकाशत्व, ब्रह्म या अविद्या का धर्म भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा नहीं माना गया है कि दोनों में से कोई उसका ज्ञाता है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ज्ञातृ-धर्म मिथ्या आरोपण के कारण है,

तो यह आक्षेप किया जा सकता है कि जहाँ तक अविद्या के प्रत्यय को स्पष्ट न किया जाय वहाँ तक ऐसे मिथ्या आरोपण का अर्थ समझ के बाहर है। मिथ्या-आरोपण की मान्यता के आधार पर ही ज्ञातृ-भाव सम्भावित है और उपरोक्त मान्यता के आधार पर मिथ्या आरोपण, ज्ञाता की मान्यता पर शक्य है। यदि यह ब्रह्म के कारण है, तो ब्रह्म के नित्य होने से, मिथ्या-आरोपण भी नित्य होंगे। यदि वह अकारण है तो सारा जगत्-प्रपंच अकारण हो जायगा।

अविद्या के अधिष्ठान का कोई भी विचार समझ के बाहर है। उसका कोई आधार नहीं है, वह या तो ब्रह्म जैसा स्वतन्त्र होना चाहिए या तुच्छ। यदि उसका कोई आधार है और वह आधार ब्रह्म का स्वरूप है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि नित्य शुद्ध ब्रह्म, स्वभाव से विरोधी अविद्या का किस प्रकार अधिष्ठान हो सकता है। यदि इस समस्या का निराकरण इस मान्यता में पाया जाता है कि अविद्या मिथ्या है, तो यह आग्रह किया जा सकता है कि यदि वह मिथ्या है तो फिर उसे अन्त करने का प्रयत्न निरर्थक है। यदि उत्तर में यह कहा जाता है कि असत् होने पर भी वह दीखती है और इस आभास के अन्त के लिए प्रयत्न किया जाता है, तो उसका भी यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है, भास भी अविद्या जितना ही मिथ्या है। यदि यह माना जाता है कि यद्यपि वह मिथ्या है फिर भी वह किसी के हित में हानि पहुँचा सकती है, तो उसका मिथ्यात्व नाम मात्र को होगा, क्योंकि उसका कार्य वास्तव में सत् माना गया है। यदि ब्रह्मन् अपने अध्यस्त या मर्यादित स्वरूप से अविद्या का अधिष्ठान माना जाता है, तो यह अध्यास या बन्धन किसी अन्य अविद्या के द्वारा होने से यह परिस्थिति भ्रम पैदा करेगी। यदि यह माना जाता है कि मर्यादित या अमर्यादित ब्रह्म से पृथक् कोई एक वस्तु अविद्या का आधार है, तो यह मत त्याग देना होगा कि ब्रह्म, अविद्या का आधार है, फिर इस आधार का कोई अन्य आधार ढूंढने में कठिनाई उपस्थित होगी। यदि यह कहा जाता है कि अविद्या, ब्रह्म की तरह, अपना ही आधार है किन्तु ब्रह्म स्वयं अपना अधिष्ठान नहीं है तो फिर अविद्या के लिए कोई अन्य आधार न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि अधिष्ठान को उपाधि के आधार पर समझाया जा सकता है, तो भी यह आधार के आकार की (आधाराकारोपाधि) उपाधि किस प्रकार बिना आधार के हो सकती है। यदि इसके और आधार सोचे जाते हैं, तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। पुनः यदि यह माना जाता है कि जो मिथ्या है उसे आधार की आवश्यकता नहीं है, तो यह आग्रह किया जा सकता है कि शंकर मतवादियों के अनुसार, भ्रम अधिष्ठान पर ही होता है फलतः पृथ्वी पर विद्यमान घड़ा भी भ्रम है। इसके अतिरिक्त अविद्या का यह मिथ्या अनुभव, मर्यादित या भ्रमपूर्ण अनुभव नहीं है जैसेकि अहं अनुभव या अन्य चित्त की अवस्थाओं का अनुभव होता है, क्योंकि ये अविद्या के कार्य माने गए हैं। यदि वे नहीं हैं, तो वे किसी अन्य दोष के कारण होंगे, और वे किसी अन्य के कारण होंगे, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी। यदि यह कहा जाता है कि अविद्या अपने अनुभव से, भिन्न कुछ नहीं है तो जबकि सभी अनुभव ब्रह्ममय हैं, तो ब्रह्म स्वयं मिथ्या होगा। पुनः यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत्त कर प्रकट होती है, तो सभी शुद्ध ज्ञान आवृत्त होने और लुप्त हो जाने से, स्वयं अविद्या भी जो उससे प्रकट हुई है, सहज ही लुप्त हो जाएगी। यदि वह ब्रह्म रूप से प्रकट होती

है और उसका अपना स्वरूप आवृत्त रहता है, तो स्वयं ब्रह्म के ही प्रकट रहने से बंधन का प्रश्न उठता ही नहीं है। यह स्पष्ट है कि वह, अविद्या और ब्रह्म दोनों ही रूपों से प्रकट नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्वबाधित होगा। क्योंकि ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है। यदि ऐसा माना जाता है कि जिस प्रकार दर्पण, बिम्ब को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें दर्पण का धर्म अपने को प्रकट कर सकता है और सच्चा मुँह छिप जाता है उसी प्रकार अविद्या बिम्ब प्रकट करती है और स्वयं अविद्या एवं ब्रह्म छिपा रहता है। अर्थात् अपने और ब्रह्म दोनों को छिपा भी सकती है। इस पर उत्तर यह दिया जा सकता है कि तादात्म्य-अध्यास के सभी प्रसंगों में भेद का अग्रहण ही भ्रम का कारण होता है। किन्तु ब्रह्मन् और अविद्या दोनों निकटवर्ती देश में इस प्रकार स्थित नहीं हैं कि जिससे इनके तादात्म्य-अध्यास की, ऐसे ही निकटवर्ती देश के कारण होने वाले भ्रमों के अन्य उदाहरणों से तुलना की जा सके। यदि ऐसा कहा जाता है कि अविद्या, द्रव्य न होने के कारण, जो भी आलोचना सद्रूप, विद्यमान द्रव्यों के बारे में की जा सकती है, वह अविद्या पर उपयुक्त नहीं हो सकती, तो ऐसा सिद्धान्त लगभग शून्यवाद जैसा होगा, क्योंकि शून्यवादी यह मानते हैं कि उनके विरुद्ध की हुई आलाचनाएँ शून्यवाद के सिद्धान्त का खण्डन नहीं करतीं।

बयालीसवां आक्षेप

शंकर मतवादी अविद्या और माया को दो भिन्न प्रत्यय मानते हैं। माया दूसरों को भ्रम में डालती है और अविद्या स्वयं को। माया शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है किन्तु शंकर-मतवादियों की धारणा को कोई भी अर्थ संतुष्ट नहीं करता। यदि ऐसा माना जाता है कि माया शब्द में, जिसका ब्रह्म अधिष्ठान है, यह विलक्षणता है कि वह अपने भिन्न रूप, दूसरों को प्रकट करती है और उन्हें मोहित करती है तो इसे अविद्या-प्रत्यय से पृथक् करना कठिन हो जाता है। यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का प्रयोग, भ्रम उत्पन्न करने वाले कर्त्ता के संकुचित अर्थ में किया जाता है जैसाकि रजत-शुक्ति के दृष्टान्त में है, तो माया भी अविद्या कही जा सकती है, क्योंकि वह भी जगत्-प्रपंच प्रत्यक्ष कराती है। इसका कोई भी कारण नहीं है कि रजत-शुक्ति-भ्रम के कारण को अविद्या क्यों कहा जाय और ऐसे भ्रम को सापेक्ष रूप से बाधित करने वाले सच्चे ज्ञान को क्यों न कहा जाय। ईश्वर भी अविद्या-ग्रस्त माना जा सकता है, क्योंकि उसके सर्वज्ञ होने से, उसे सभी जीवों का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान का भी समावेश है। यदि ईश्वर को भ्रम का ज्ञान नहीं है, तो वह सर्वज्ञ न होगा। यह भी मानना गलत है कि माया के सिवाय ब्रह्म के सम्पूर्ण जगत् प्रकट है, और यदि यह ब्रह्म को मिथ्या प्रकट करने के अतिरिक्त सभी को प्रकट करती है और यदि ब्रह्म स्वयं भ्रम में न रहे, जो कि जगत्-प्रपंच का मिथ्या रूप जानता है, तब तो ब्रह्म की अज्ञानावस्था का निराकरण करना ही कठिन होगा। यदि ब्रह्म, सभी पदार्थों को दूसरों का भ्रम है ऐसा जानता है तो उसे दूसरों को जानना चाहिए और साथ-ही-साथ उनमें रहे भ्रमों को भी, फिर इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं अविद्या से प्रभावित है। मिथ्यात्व का ज्ञान, भ्रम हुए बिना किस प्रकार हो सकता है यह समझना कठिन है, क्योंकि मिथ्यात्व निरा अभाव नहीं है किन्तु, एक वस्तु का, जहाँ वह नहीं है, उस स्थान पर दीखना है। यदि ब्रह्म दूसरों को केवल भ्रम में देखता है, तो इससे यह अर्थ सिद्ध नहीं

होता कि वह अपनी माया से दूसरों को मोहित करता है। कोई बाजीगर हो सकता है जो अपनी झूठी चाल से अपना जादू दिखाने का प्रयत्न करे। ऐसा माना जाय कि माया और अविद्या में यह भेद है कि अविद्या, भ्रममय अनुभवों को उत्पन्न कर, अनुभव करने वालों के हित को नुकसान पहुँचाती है, जबकि ब्रह्म जो इन जीवों को और उनके अनुभवों को, अपनी माया दृष्टि को देखता है जो उसके हित को क्षति नहीं पहुँचाती है। इसका यह उत्तर है कि यदि माया किसी के हित को क्षति नहीं पहुँचाती तो उसे दोष नहीं कहा जा सकता। यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि दोष का हानिकारक एवं लाभप्रद फलों से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उनका सम्बन्ध केवल सत्य और मिथ्या से ही है। ऐसा मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या और सत्य का उपयोग दृष्टि से मूल्य है और जो भी मिथ्या है वह किसी के हित को नुकसान पहुँचाता है, यदि ऐसा नहीं है तो, कोई भी उसे निवारण करने का प्रयत्न न करेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि माया ब्रह्म में दोष रूप नहीं है किन्तु उसका गुण है तो यह कहा जायगा कि यदि ऐसा है तो कोई भी उसे हटाने की चिन्ता न करेगा। पुनः यदि माया, ब्रह्म का गुण है, और ऐसे महान् व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध करता है फिर एक छोटा जीव तो हिम्मत ही नहीं कर सकता। यदि जीव ऐसा कर भी सके, तो वह सर्वशक्तिमान् सत्ता के व्यावहारिक अर्थ को हानि पहुँचायगा, क्योंकि माया एक गुण होने के कारण ब्रह्म के लिए अवश्य ही उपयोगी हो सकती है। माया, बिना कारण, अपने आपसे नष्ट नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने से हमें क्षणिकवाद मानना पड़ेगा। यदि माया नित्य और सत् है तो यह हमें द्वैतवाद मानने को बाध्य करेगी। यदि माया ब्रह्म के अन्तर्गत मानी जाय, तो ब्रह्म केवल प्रकाश होने से और माया का उसमें समावेश होने से, उसमें जगत्-प्रपंच उत्पन्न करने की शक्ति न रहेगी, जो उसमें मानी गई है। पुनः, माया नित्य होने से मिथ्या नहीं हो सकती। पुनः यदि, ब्रह्म में से माया का प्रकट होना सत्य माना जाता है, तो ब्रह्म का अज्ञान भी सत्य है, यदि ब्रह्म में से मिथ्या प्राकट्य है, तो ब्रह्म, माया को अपनी लीला के साधन हेतु उपयोग करता है, ऐसा मानना निरर्थक होगा। ब्रह्म, एक छोटे बालक की तरह, झूठे प्रतिबिम्ब चिह्नों से खेलता है यह मानना नितान्त अर्थशून्य है। यदि जीव और ब्रह्म एक ही हैं तो जीवगत अज्ञान, ब्रह्म में अज्ञान अनुमित नहीं करेगा यह मानना तर्क-विरुद्ध होगा। पुनः यदि, जीव और ब्रह्म, सचमुच भिन्न हैं, तो फिर उनके तादात्म्य का ज्ञान कैसे मुक्ति प्रदान कर सकता है? इस प्रकार माया और अविद्या एक दूसरे से भिन्न हैं यह समझ के बाहर है।

तेतालीसवां आक्षेप

शंकर के अनुयायी यह मानते हैं कि अद्वैत के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। अब यह ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ज्ञान विषयरहित है तो वह ज्ञान नहीं है क्योंकि शंकर मतवादी यह मानते हैं कि ज्ञान, विषय की वृत्ति रूप चित्त की स्थिति ही हो सकती है (वृत्ति रूपं हि ज्ञानं सविषयमेव इति भवतामपि सिद्धान्तम्)। यह ब्रह्म ज्ञान से एक (अभिन्न) भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा ज्ञान मुक्ति प्रदान कर सकता है तो शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान भी वही करा सकता है। ऐसा माना जा सकता है कि रजत-सीप के दृष्टान्त में जब चमकता 'इदं' तत्त्व में प्रकट है तो वह रजत के

भ्रम के अनुभव के बाधा के समान है और ब्रह्म के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाले तादात्म्य ज्ञान का प्रकट होना, जगत्-प्रपंच का बाधित होना माना जा सकता है। इस पर यह उत्तर है कि 'इदं' की सीप के रूप में सत्ता और उसके रजत रूप भास में तादात्म्य नहीं है। इस प्रकार, एक ज्ञान दूसरे की बाधा कर सकता है, किन्तु आलोचना के इस दृष्टान्त में, तादात्म्य-ज्ञान के विचार में कोई नया तत्त्व नहीं है, जो ब्रह्म ज्ञान में पहले से विद्यमान न था। यदि तादात्म्य-विचार सविषय ज्ञान माना जाता है तो वह ब्रह्म ज्ञान से भिन्न होगा, और वह स्वयं मिथ्या होने से, भ्रम को दूर नहीं करेगा। ज्ञात वस्तु फिर प्रत्यभिज्ञात होती है यह उदाहरण भी शंकर मत का उपयुक्त समर्थन नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान, मूल परिचयात्मक ज्ञान जैसा एक रूप नहीं है, जबकि तादात्म्य ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान से अभिन्न ही माना गया है। पुनः, यदि ऐसा माना जाता है कि वृत्तिरूप सविषय ज्ञान धर्म को दूर करता है और ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न करता है, तो भ्रम सत्य ठहरेंगे क्योंकि वे अन्य वस्तु की तरह नष्ट किए जा सकते हैं।

यदि ऐसा कहा जाता है कि तादात्म्य का प्रत्यय, अविद्या उपहित ब्रह्म को लक्ष्य करता है, तो अर्थ यह होगा कि साक्षी चैतन्य द्वारा जगत्-प्रपंच उत्पन्न होता है और ऐसा प्रकट होना भ्रम को दूर नहीं करेगा।

पुनः यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो ज्ञान, यह विचार उत्पन्न करता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है, इसे भी मिथ्या माना जा सकता है या नहीं, क्योंकि यह स्वबाधित होगा। यदि जगत्-प्रपंच के मिथ्यात्व का विचार स्वयं मिथ्या माना जाय, तो जगत् को सत्य मानना पड़ेगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जैसे बन्ध्या स्त्री के पुत्र की मृत्यु की कल्पना में बन्ध्या एवं पुत्र दोनों ही मिथ्या हैं, उसी प्रकार यहां भी जगत् एवं मिथ्यात्व दोनों ही मिथ्या हैं। किन्तु यह उत्तर दिया जा सकता है कि उपरोक्त दृष्टान्त में बंध्या स्त्री और पुत्र की मृत्यु का मिथ्यात्व, दोनों मिथ्या नहीं हैं। पुनः यदि, जगत्-प्रपंच का मिथ्यात्व सत्य है तो इससे द्वैतवाद प्रतिपादित होता है।

पुनः यदि अनुमान जगत्-प्रपंच को बाधित करना है तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वेद के अद्वैतवादी पाठ के श्रवण मात्र से जगत्-प्रपंच का बाध हो जायगा। यदि जगत्-प्रपंच का विरोध (बाध) ब्रह्म स्वयं के द्वारा उत्पन्न होता है तो ब्रह्म नित्य होने से जगत्-भ्रम कभी न होगा। पुनः ब्रह्म को अपने शुद्ध स्वरूप में जगत्-भ्रम के व्यापार में सहायक माना है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो भ्रम कभी भी नहीं उत्पन्न हो सकता। यह एक विचित्र सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से जगत्-प्रपंच का सहायक है, तो भी श्रुति पाठ एवं उनके ज्ञान रूपी अपने अशुद्ध स्वरूप में ब्रह्म, भ्रम को दूर कर सकता है। इसलिए, चाहे जिस प्रकार, हम अज्ञान को दूर करने की सम्भावना को सोचें, हमें संभ्रमावस्था का सामना करना ही पड़ता है।

चवालीसवां आक्षेप

अविद्या के अन्त का विचार भी अयुक्त है। क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह अविद्या का अंत स्वयं सत् है या असत्। यदि यह असत् है,

तो ऐसे अंत से अविद्या उन्मूलित की जा सकेगी यह आशा खंडित हो जाती है, अन्त होना स्वयं अविद्या की अभिव्यक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता कि अविद्या के अन्त का आधार आत्मा है, क्योंकि तब आत्मा को परिणामी मानना पड़ेगा और यदि किसी प्रकार, अविद्या के अन्त के लिए किसी सच्चे कारण को आधार के रूप में माना जाता है, तो अन्त (निवृत्ति) सत्य होने से द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है। यदि इसे भ्रम माना जाता है, और उसके पीछे कोई दोष नहीं है तो फिर जगत्-प्रपंच को समझाने के लिए अविद्या रूपी दोष की मान्यता अनावश्यक है। यदि वह अविद्या एवं ब्रह्म की तरह आधार-रहित है, तो अविद्या का उससे सम्बन्ध जोड़ना कोई अर्थ नहीं रखता। अविद्या के अन्त होने के बाद भी, वह फिर क्यों न दिखाई देती, इसका भी कोई योग्य कारण नहीं दीखता है। यदि यह सूचित किया जाता है कि, अविद्या के अन्त का कार्य, ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है यह बताना है और ज्योंही यह कार्य पूर्ण हो जाता है, अविद्या का अंत भी पूर्ण हो जाता है, तो फिर एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। क्योंकि यदि अविद्या के अन्त का अन्त उसका अर्थ है अर्थात् अविद्या पुनः स्थापित हो जाती है। यह आग्रह किया जाय कि जब घड़ा उत्पन्न किया जाता है तो यह अर्थ होता है कि उसके प्रागभाव का नाश हो गया, और जब वह घड़ा फिर जब नष्ट किया जाता है तो इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि प्रागभाव फिर उत्पन्न हो जाता है, वैसा यहाँ भी हो सकता है। इसका यह उत्तर है कि ये दोनों दृष्टान्त भिन्न हैं, उपरोक्त दृष्टान्त में एक अभाव का अभाव भावात्मक पदार्थ से है, जबकि अविद्या के अन्त में निषेध के लिए कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए इस दृष्टान्त में, अभाव, तार्किक अभाव होगा, जो निषेध किए पदार्थ को स्वीकार कराएगा, जो अविद्या है। यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म अविद्या के निषेध के लिए विद्यमान है, तो कठिनाई यह होगी कि ब्रह्म, जो अविद्या और उसके अन्त का निषेध है नित्य होने से, जगत्-प्रपंच की किसी भी काल में उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

यदि अविद्या का अन्त भ्रम रूप नहीं है, और यदि उसका समावेश ब्रह्म के स्वरूप में किया जाता है तो ब्रह्म अनादि होने से अविद्या सर्वदा उसमें अन्तर्निहित माननी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का अस्तित्व स्वयं अज्ञान का अन्त है, तो फिर अविद्या के अन्त को ब्रह्म के स्वरूप की पहिचान के साथ कार्य कारण सम्बन्ध से जोड़ना असम्भव होगा।

यदि ऐसा सूचन किया जाता है कि ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिबिम्बत करती वृत्ति, ब्रह्म के अज्ञान के अन्त को बताती है और यह वृत्ति अन्य कारण द्वारा दूर की जा सकती है, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी वृत्ति भ्रम रूप है और इसका अर्थ यह होता है कि अविद्या का अन्त भी भ्रम रूप है। ऐसे मत की आलोचना ऊपर दी गई है। अविद्या का अन्त होना सत्य नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म के बाहर है, न वह सत्य है और सत्य से भिन्न कुछ और असत्य है, क्योंकि यह सचमुच अन्त नहीं प्राप्त करायगा। इसलिए अन्ततोगत्वा, यह न तो असत् होगी और न उपरोक्त वस्तुओं से भिन्न होगी, क्योंकि भाव और अभावात्मक तत्त्व का ही सत् और असत् स्वरूप होता

है । अज्ञान असत् और सत् से भिन्न है । उसका अन्त सत्य है, क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है । इसलिए अन्त को सत् और असत् पदार्थों से भिन्न और विलक्षण मानना पड़ता है । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि अज्ञान असत् जैसा (असतीव) माना जाता है, तो दोनों अभाव के दोनों अर्थों में, अर्थात् अभाव भाव का दूसरा नाम मात्र ही है, और अभाव स्वयं एक स्वतन्त्र पदार्थ है, तो अविद्या का मानना द्वैतवाद को उपस्थित करेगा । यदि इसे तुच्छ माना जाता है, तो वह भासमान न होगी, और ऐसी तुच्छ वस्तु का संसार से विरोध नहीं होगा । इस प्रकार अविद्या का अन्त मुक्ति प्राप्त नहीं कराएगा । पुनः यदि अविद्या का अन्त असत् है तो इससे अविद्या सत् है यह अनुमित होगा । अविद्या का अन्त घड़े के नाश के समान नहीं है जो सचमुच सत्ता रखता है, जिससे कि वह यद्यपि असत् रूप दीखे, फिर भी घड़े को भावात्म पदार्थ माना जा सकता है । अविद्या का नाश इसके समान नहीं है, क्योंकि इसका कोई रूप नहीं है । यदि ऐसा माना जाता है कि अविद्या का अन्त पांचवें प्रकार का है, अर्थात् सत्, असत्, सदसत् से भिन्न है तो यह वास्तव में माध्यमिकों का अनिर्वचनीय सिद्धान्त मानने जैसा है, क्योंकि यह भी जगत् को पांचवें प्रकार का वर्णन करता है । ऐसे नितांत विलक्षण और अनिर्वचनीय पदार्थ का किसी से सम्बन्ध जोड़ने का कोई भी मार्ग नहीं है ।

पैंतालीसवां आक्षेप

शंकर-मतवादी ऐसा विवाद करते हैं कि वेद ब्रह्म को लक्ष्य नहीं कर सकते, जो सभी प्रत्येक विशिष्ट गुण से रहित हैं । इसका वेंकटनाथ यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म विशिष्ट-गुणयुक्त है, और इसलिए यह न्यायपूर्ण है कि वेद उसे लक्ष्य करें । यह भी सोचना गलत है कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने से शब्द द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि रामानुज-सम्प्रदाय के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है । प्रकाश रूप तत्त्व फिर आगे अभिज्ञा का विषय हो सकता है । शंकर मतवादी कभी-कभी ब्रह्म को गुण-रहित अवस्था भी कहते हैं, किन्तु यह स्वयं एक गुण है इसका वे ब्रह्म के विशेषण रूप में उपयोग करते हैं । इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन वेदों के द्वारा लक्ष्य नहीं किया जा सकता, तो ये वेद स्वयं निरर्थक होंगे । यह भी सोचना गलत है कि वेद ब्रह्म को केवल गौण रूप से लक्ष्य करते हैं जैसे कोई चन्द्र दीखता है ऐसा बताने के लिए पेड़ के शिखर की ओर लक्ष्य करता है (शाखा चन्द्रदर्शन) : क्योंकि चाहे कोई भी पद्धति हो ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य होता है । असंप्रज्ञात् समाधि की अवस्था भी नितान्त अननुमेय नहीं है । इस अवस्था के बारे में कोई कुछ भी शब्द या प्रत्यय का प्रयोग नहीं कर सकता । यदि ब्रह्म सर्वथा गुण-रहित है तो यह नहीं माना जा सकता कि वह वेद द्वारा असन्निहित रूप से भी लक्ष्य किया जा सकता है । वेद जो ऐसा कहते हैं कि ब्रह्म वाचा और मन से परे हैं (यतो वाचो निवर्तन्ते) उनका अर्थ यह है कि ब्रह्म में अनन्त गुण हैं । इस प्रकार, शंकरवादियों का यह कहना पूर्ण रूप से न्याय-विरुद्ध है कि ब्रह्म वेद द्वारा लक्ष्य नहीं हो सकता ।

सैंतालीसवां आक्षेप

शंकरवादी ऐसा मानते हैं कि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, वह रजत-सीप की तरह सविकल्प है । यदि सभी कुछ सविकल्प रूप मिथ्या है, तो सभी भेद जो विशिष्टता

का समावेश करते हैं वे सब मिथ्या होंगे और इस प्रकार अन्त में अद्वैत ही रहेगा। ऐसे मत की निरुपयोगिता वेंकटनाथ यह कहकर बताते हैं कि ऐसा अनुमान, अपने सभी अवयवों में सविकल्प प्रत्यय ग्रहण करता है, और इसलिए मूल प्रतिज्ञा की दृष्टि से नितान्त अप्रमाण होगा। इसके अतिरिक्त, यदि सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, तो समर्थन के अभाव में निर्विकल्प ज्ञान भी मिथ्या होगा। यह भी सोचना मिथ्या है कि अन्य अभिज्ञा द्वारा प्रमाण की कमी के कारण सविकल्प ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि एक भ्रम दूसरे भ्रम द्वारा प्रमाणित सिद्ध हो सकता है और तब भी मिथ्या हो सकता है, और अन्त का ज्ञान भी प्रमाण की कमी के कारण मिथ्या होगा, इस प्रकार उस पर आधार रखने वाली सभी प्रमाण-शृंखला मिथ्या होगी। यह भी सोचना मिथ्या है कि सविकल्प प्रत्यय अर्थक्रियाकारित्व की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते हैं क्योंकि हमारे सभी व्यवहार सविकल्प विचारों पर आधारित हैं। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संप्रत्ययात्मक ज्ञान जिनमें सामान्य का निवेश है वे मिथ्या हैं, क्योंकि वे किसी भी प्रकार न तो बाधित होते हैं या शंकास्पद ही हैं। इस प्रकार यदि सभी सविकल्प ज्ञान मिथ्या माने जाते हैं, तो ऐसी मान्यता हमें अद्वैतवाद की ओर तो नहीं किन्तु शून्यवाद पर ले जायेगी। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्म का निर्विकल्प स्वरूप हमारे बाह्य वस्तु के निर्विकल्प ज्ञान से अनुमित किया जाता है, तो निर्विल्कप ज्ञान के मिथ्यात्व के सादृश्य के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान भी मिथ्या होगा।

पचपनवां आक्षेप

शंकर मतवादी मानते हैं कि सभी कार्य मिथ्या हैं, क्योंकि वे, तार्किक परिस्थिति से विचार करने पर स्वबाधित होते हैं। कारण से सम्बन्धित होकर उत्पन्न कार्य उससे सम्बद्ध होता है या असम्बद्ध? पहले विकल्प में, कार्य और कारण सम्बन्ध से जुड़ने वाले दो तत्त्व होने से, कार्य को कारण से ही क्यों उत्पन्न होना चाहिए और कार्य से नहीं, इसका कोई नियम नहीं होगा। यदि कारण कार्य को, बिना सम्बन्ध के उत्पन्न करता है, तो कोई भी किसी को उत्पन्न कर सकता है। पुनः यदि कार्य कारण से भिन्न है तो आपस में भिन्न पदार्थ एक दूसरे को उत्पन्न करेंगे। यदि वे अभिन्न हैं, तो एक दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि ऐसा कहा जाता है कि कारण वह है जो नियत पूर्ववर्ती है और कार्य नियत उत्तरवर्ती है तो पदार्थ प्रागभाव से पूर्व विद्यमान होना चाहिए। पुनः यदि कार्य उपादान कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है, जिसका परिणाम हुआ है, तो प्रश्न किया जा सकता है कि वे परिणाम किसी अन्य परिणाम से उत्पन्न हुए होंगे और यह हमें दोषपूर्ण अनवस्था को ले जाएगा। यदि कार्य अपरिणित हुए कारण से उत्पन्न हुआ माना जाता है तो वह उपादान कारण में नित्य काल तक रहेगा। इसके अतिरिक्त, कार्य मिथ्या रजत जैसा है, जो आदि और अन्त में असत् है। किसी तत्त्व की उत्पत्ति, भाव रूप या अभाव रूप तत्त्व से नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य, जैसेकि घड़ा, अपने कारण मिट्टी से, मिट्टी में परिवर्तन किए बिना अर्थात् उसे किसी भी रूप में निषेध किए बिना उत्पन्न नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर, यदि उत्पत्ति अभाव से मानी जाती है तो वह स्वयं अभाव होगी। इसलिए कारण सम्बन्ध को किसी भी प्रकार सोचा जाय, वह व्याघात से पूर्ण ठहरता है।

वेंकटनाथ का उत्तर यहाँ इस प्रकार है, कि कार्य, उत्पत्ति के लिए कारण से सम्बन्धित है या नहीं, यह आक्षेप, इस मत से निरस्त होता है कि कार्य, कारण से असम्बन्धित है किन्तु इससे यह अर्थ नहीं होता कि जो भी कारण से असम्बन्धित है वह कार्य होना चाहिए, क्योंकि सम्बन्धित न होना मात्र, कार्य को इस प्रकार उत्पन्न करने को प्रेरित नहीं करता कि असम्बन्धित होना ही किसी को किसी से कार्य रूप से जोड़ देगा। कारण में रही विशिष्ट शक्ति विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने में दायित्व रखती है, और ये अन्वय-व्यतिरेक की सामान्य पद्धति से जानी जा सकती है। कारण अवयवों का आपस का सम्बन्ध ही कार्य में स्थानान्तरित होता है। यह प्रसिद्ध है कि कारण, सर्वथा भिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न करते हैं, जैसेकि एक घड़ा, लकड़ी और चाक से उत्पन्न होता है। उपादान कारण भी कार्य रूप उपादान कारण से बहुत भिन्न होता है। यह अवश्य ही स्वीकृत है कि कार्य-विकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण में कैसा भी परिवर्तन, फिर वह सहकारी कारण की आसन्नता ही क्यों न हो, विकार ही होगा। किन्तु यदि, जिस अर्थ में कार्य विकार माना जाता है उस अर्थ में वह कारण में नहीं स्वीकारा जाता तो उस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि कार्य अविकृत कारण से उत्पन्न होता है। यह कहना मिथ्या होगा कि कोई भी कार्य किसी भी अविकृत कारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि कार्य अविकृत कारण से योग्य काल-परिस्थिति तथा अपेक्षित कारणों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। यह भी सूचन करना मिथ्या होगा कि कार्य का परिणाम के क्रम में पृथक्करण किया जा सकता है इस मान्यता से, अनन्तर पूर्ववर्ती के रूप से कारण को ढूंढना असम्भव हो जाएगा, और कार्य इस प्रकार न ढूंढा जा सकने से कार्य भी नहीं समझा जा सकेगा। क्योंकि कार्य ही प्रत्यक्ष देखने में आता है और यह कारण को अनुमित करता है जिसके बिना वह उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि कार्य नहीं देखा जाता, या वह बाधित होता है, तो स्पष्ट उत्तर यह है कि न देखना और बाध होना कार्य है, और उनके द्वारा कार्य को अस्वीकार करना यह आलोचना ही स्वबाधित होती है।

जब उपादान कारण कार्य रूप से परिणत हो जाता है, उसके कुछ अंश, कार्य के अन्य पदार्थों के रूप में परिणत होने पर भी, अपरिणामी रहते हैं, और उसके कुछ गुण कुछ ही कार्यों में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार, जब सोना चूड़ी के रूप में, और चूड़ी हार के रूप में परिणत होती है, सोने के स्थायी धर्म, चूड़ी एवं हार में वैसे ही रहते हैं, किन्तु चूड़ी का विशिष्ट रूप हार में नहीं जाता। पुनः यह आक्षेप कि कार्य कारण में पहले से विद्यमान है, तो फिर कारण-व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती जैसाकि पहले उसका खण्डन किया जा चुका है, और यह भी बताया जा चुका है कि सभी कार्य रजत-सीप की तरह मिथ्या हैं यह प्रतिपादन भी मिथ्या है, क्योंकि ये कार्य अन्य भ्रमों की तरह बाधित नहीं होते। यह भी सूचन करना गलत है, कार्य आदि एवं अन्त में, अस्तित्व नहीं रखता इसलिए, मध्य में भी अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि कार्य का मध्य में अस्तित्व साक्षात् अनुभवगम्य है। दूसरी ओर यह सूचित किया जा सकता है कि कार्य क्योंकि मध्य में है इसलिए आदि और अन्त में भी है।

शंकर-मतवादी यह कहते हैं कि कार्य रूप से भेद के सभी विचार, एक नित्य तत्त्व के ऊपर आरोपित किए गए हैं, जो सभी तथाकथित भिन्न तत्त्वों में व्याप्त है और यह व्याप्त तत्त्व ही सत्य है। इस मान्यता के विरोध में शंकर-मतवादियों से यह पूछा जा सकता है कि वे ब्रह्म और अविद्या दोनों में व्याप्त ऐसे तत्त्व को ढूंढ निकालें। यह कहना मिथ्या होगा कि ब्रह्म, अपने में और अविद्या में भी है क्योंकि ब्रह्म में द्वैत नहीं हो सकता, और अपने में भ्रम का आरोप भी नहीं कर सकता।

यह सुझाव कि दीप की लौ एक रूप से दीखती है वह मिथ्या है इसलिए सभी प्रत्यक्ष मिथ्या हैं। यह स्पष्ट ही मिथ्या है, क्योंकि पहले दृष्टान्त में भ्रम का कारण, समान ज्वाला का अतिशीघ्र एकीकरण है, किन्तु यह प्रत्येक प्रत्यक्ष के लिए अनुपयुक्त है।

द्रव्य के रूप में, कार्य कारण में अस्तित्व रखता है, किन्तु कार्यावस्था के रूप में वह कारण में अस्तित्व नहीं रखता। सांख्यवादियों का यह आक्षेप कि यदि कार्यावस्था कारण में विद्यमान न होती तो वह उत्पन्न नहीं की जा सकती थी, और यह भी कि किसी से कुछ भी उत्पन्न हो सकता है यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य विशिष्ट शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है, जो कार्य रूप से, विशिष्ट देशकाल की परिस्थितियों में व्यक्त होता है।

एक प्रश्न पूछा जाता है कि कार्य, भाव या अभाव पदार्थ से उत्पन्न किया जाता है, या नहीं, अर्थात् जब कार्य उत्पन्न किया जाता है तब वह द्रव्य अवस्था के रूप में उत्पन्न किया जाता है या नहीं। वेंकटनाथ का उत्तर है कि द्रव्य नित्य स्थायी रहता है। केवल अवस्था और उपाधियाँ, जब कार्य उत्पन्न होता है, तब परिणत होती हैं। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में कारण की अवस्था ही में परिणाम होता है न कि कारण के द्रव्य में। इस प्रकार, द्रव्य की दृष्टि से ही कार्य और कारण में एकता है, उनकी अवस्था की दृष्टि से नहीं है, क्योंकि कारण अवस्था के अभाव से ही कार्यावस्था उत्पन्न होती है। यह सुझाव कभी दिया जाता है कि कार्य, क्योंकि, न तो वह नित्य विद्यमान रहता है और न अविद्यमान रहता है इसलिए मिथ्या होना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट रूप से गलत है, क्योंकि एक पदार्थ उत्तर क्षण में नष्ट किया जा सकता है इसलिए इससे यह अर्थ नहीं होता कि वह जब प्रत्यक्ष था तब अविद्यमान था। विनाश का अर्थ यह है कि पदार्थ जो विशिष्ट क्षण में विद्यमान था वह दूसरे क्षण में नहीं है। व्याघात का अर्थ यह कि पदार्थ का जब अनुभव हुआ था तब भी वह अविद्यमान था। अभाव मात्र विनाश नहीं है, क्योंकि प्रागभाव भी विनाश कहा जा सकता है क्योंकि वह भी अविद्यमान है। उत्तर क्षण में अविद्यमान (अभाव) होना भी विनाश नहीं है, क्योंकि तब तुच्छ वस्तु भी विनाश (अभाव) कही जाएगी। रजत-सीप का दृष्टान्त विनाश का दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि वह स्पष्ट ही अनुभव के व्याघात का दृष्टान्त है। इस प्रकार उत्पत्ति, विनाश और अभाव के प्रत्ययों का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम यह पाएँगे कि कार्य का प्रत्यय कभी भी भ्रम नहीं माना जा सकता।

सत्तावनवां आक्षेप

ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है किन्तु यह ठीक ही कहा जा सकता

है कि किसी भी अर्थ में आनन्द को समझा जाय तो भी यह स्वीकार करना असम्भव होगा कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। यदि आनन्द का अर्थ उस तत्त्व से है जो सुखदायक अनुभव उत्पन्न करता है तो ब्रह्म-ज्ञान गम्य होगा। यदि उसका अर्थ केवल सुखकारक (अनुकूल) अनुभव मात्र ही है, तो ब्रह्म निर्विकल शुद्ध चैतन्य नहीं होगा। यदि इसका अर्थ केवल अनुकूल वृत्ति से है तो द्वैत भाव अनुमित होता है। यदि इसका अर्थ दुःख के अभाव से है तो ब्रह्म भाव रूप न होगा और यह सभी ने अच्छी तरह माना है कि ब्रह्म उभय सामान्य या तटस्थ है। इसके अतिरिक्त, स्वयं शंकर मतवादी के अनुसार ब्रह्मानुभव की स्थिति, निद्रा जैसी, भाव रूप स्थिति है। इस प्रकार इस समस्या को किसी भी प्रकार देखा जाय, निर्विकल्प ब्रह्म आनन्दस्वरूप है यह प्रतिपादन अप्रमाण रहता है।

अठावनवां आक्षेप

यदि ब्रह्म निर्विकल्प है तो उसे नित्य नहीं माना जा सकता। यदि नित्यता का अर्थ सदा विद्यमान रहना है तो अविद्या भी नित्य होगी, क्योंकि उसका भी सम्बन्ध सदा काल से है और काल स्वयं उससे ही उत्पन्न माना गया है। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि समस्त काल से सम्बन्ध का अर्थ सभी काल में अस्तित्व होना नहीं है, तो नित्यता की यह परिभाषा मानना कि जो समस्त काल में विद्यमान रहता है, मिथ्या है केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्ता स्वयं नित्य है। 'समस्त काल का समावेश' को केवल (अस्तित्व) सत्ता मात्रा से विविक्त करना यह बताता है कि अस्तित्व और नित्यता में भेद है। नित्यता, इस प्रकार सभी काल में अस्तित्व का अर्थ रखेगी, जो अविद्या के बारे में स्वीकार किया जा सकता है। नित्यता की ऐसी भी व्याख्या नहीं की जा सकती कि जिसका समय में अन्त नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आदि और अन्त में बाधित नहीं होती वह नित्यता है, क्योंकि तब जगत्-प्रपंच भी नित्य होगा। पुनः यह समझना कठिन है कि शंकर-मतवादी चैतन्य को किस प्रकार नित्य मानते हैं, क्योंकि यदि इसे सामान्य चैतन्य के बारे में स्वीकार किया जाता है, तो यह साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है, और यदि यह परम चैतन्य के बारे में स्वीकारा जाता है तो यह साक्षात् अनुभव के विरुद्ध है। पुनः नित्यता को सार रूप या स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह स्वयं प्रकाशता से अभिन्न हो जाएगी, और ब्रह्म नित्य है यह कहना अनावश्यक होगा। यदि इसे ज्ञान गम्य गुण माना जाता है, तो यदि यह गुण चैतन्य में अस्तित्व रखता है, तो चैतन्य ज्ञेय हो जाएगा। यदि वह चैतन्य में नहीं है तो उसका ज्ञान, चैतन्य की नित्यता अनुमित नहीं करेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ उत्पन्न नहीं होता है वह नित्य है, क्योंकि तब प्रागभाव नित्य हो जाएगा। यदि ऐसा कहा जाता है कोई भी भाव रूप पदार्थ जो उत्पन्न नहीं किया जाता वह नित्य है तो अविद्या भी नित्य होगी। इस प्रकार, निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य की नित्यता को सिद्ध करने का कोई भी प्रयास निष्फल रहता है।

इकसठवां आक्षेप

शंकर-मतवादी बहुधा ऐसा कहते हैं कि आत्मा एकत्व रूप है। यदि आत्मा से

यहाँ अहंकार का अर्थ है, तो सभी अहंकार एक से ही या एक ही हैं ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि दूसरे के अनुभव हम अपने में कभी अनुभव नहीं करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हम सबों के चैतन्य की एकता है, क्योंकि तब हम एक दूसरे के चित्त को जान लेंगे। यह मानने योग्य नहीं दीखता कि हम में अन्तः स्थित सत्ता एक ही है, क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि सभी जीव एक हैं। हम सर्वव्यापी सत्ता को सोच सकते हैं मान सकते हैं किन्तु इसका अर्थ सत् पदार्थों की एकता नहीं होगी। पुनः, जीवों की एकता सत्य नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जीवों को असत्य माना है। यदि जीवों की एकता मिथ्या है तो यह समझ में नही आता कि ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यों करना चाहिए। जो कुछ भी हो, जब हमें हमारे व्यावहारिक जीवन से काम है तो हमें जीवों की भिन्नता माननी पड़ती है, और उनकी एकता को सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार, जैसाकि शंकर-मतवादी सोचते हैं, जीव एक ही है, यह गलत है।

मेघनादारि

आत्रेयनाथ सूरि के पुत्र मेघनादारि, रामानुज-सम्प्रदाय के अति प्राचीन अनुयायी दीखते हैं। उन्होंने कम से कम दो पुस्तकें लिखीं, 'नयप्रकाशिका' और 'नयद्युमणि'। ये दोनों ही अभी हस्तलिखित रूप में ही हैं, लेखक को केवल दूसरी (पिछली) पुस्तक ही प्राप्त हुई है। रामानुज के प्रमाणवाद पर, मेघनादारि के अतिमहत्त्वपूर्ण योगदान का, विस्तृत रूप से हमने वेंकटनाथ के इसी विषय पर प्रतिपादन के प्रसंग में विवेचन किया है। इसलिए, रामानुज दर्शन के कुछ अन्य विषयों पर ही, उनके मत की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की जाएगी।

स्वतः प्रामाण्यवाद

वेंकटनाथ, अपने 'तत्त्वमुक्ताकलाप' एवं 'सर्वार्थ-सिद्धि में कहते हैं कि ज्ञान, विषय को यथार्थ रूप में प्रकट करता है। मिथ्या भी कम से कम यहाँ तक सत्य है कि वह मिथ्या के विषय को इंगित करता है। मिथ्यात्व या मिथ्या, विशेष दोषपूर्ण उपाधियों के कारण हैं।[1] 'घड़ा है' जब यह ज्ञान होता है तो घड़े का अस्तित्व उसका प्रमाण है (प्रामाण्य) और यह, घड़ा अस्तित्ववान् है इस ज्ञान से ही जाना जाता है।[2] सीप में भी जब रजत का ज्ञान होता है, तब भी उसी ज्ञान में, दृष्ट रूप से रजत के अस्तित्व का ज्ञान अनुमित है, और इस प्रकार भ्रम रूप ज्ञान में भी जहाँ तक वह प्रत्यक्ष के विषय की सत्ता बताता है, उस अंश में स्वतः प्रामाण्य है।[3]

---

[1] ज्ञानानां यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वं सामान्यमेव भ्रांतस्यापि ज्ञानस्य धर्मिण्यभ्रान्तत्वाद तो वह्न्यादे र्दाहिकत्ववज्ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वाभाविकमेव उपाधेर्मणि-मंत्रवद्दोषोपाधिव-शादप्रमाणत्वं भ्रमांशे।
—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 554।

[2] घटोऽस्तीति ज्ञानमुत्पद्यते तत्र विषयास्तित्वमेव प्रमाण्यं तत्तु तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते अतः स्वतः प्रामाण्यम्।
—वही।

[3] देखो वही।

मेघनादारि, जो सम्भवतः वेंकटनाथ के पूर्वगामी रहे होंगे, स्वतः प्रामाण्यवाद का भिन्न वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि प्रमाणता, ज्ञान की प्रतीति के कारण है (प्रामाण्यं ज्ञान-सत्ता-प्रतीति-कारणादेव) क्योंकि प्रमाणता को कारण होना चाहिए उसका और कोई दूसरा कारण उपलब्ध नहीं होता।[1]

नैयायिक मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद के विरोध में तर्क करते हैं कि ज्ञान के प्रत्येक प्रसंग में स्वतः प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि मीमांसक यह मानते हैं कि वेद नित्य हैं और इस प्रकार उनकी स्वतः प्रमाणता की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि स्वतः प्रमाणता केवल कुछ ही प्रसंगों में उत्पन्न होती है क्योंकि यदि ऐसा होता है तो यह प्रतिज्ञा निषिद्ध होती है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण है, इसलिए, युक्त मत यह है कि वही ज्ञान स्वतः प्रमाण है जो व्यवहार में अबाधित हो (अबाधित-व्यवहार-हेतुत्वमेव ज्ञानस्य प्रामाण्यम्)।[2] स्वतः प्रमाणता एक विशिष्ट शक्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी शक्ति इन्द्रिय-गोचर नहीं है, इसलिए उसे अनुमान या अन्य साधन द्वारा ही जानना पड़ता है, जिन इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उनसे भी एक स्वरूप नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी इन्द्रियों की सत्ता स्वयं ही केवल ज्ञान द्वारा अनुमित की जाती है, न कि केवल सत्य ज्ञान द्वारा।

शंकर-मतवादियों के विरोध में तर्क करते हुए, नैयायिक ऐसा कहते देखे गए हैं कि उनके मतानुसार ज्ञान स्वयं प्रकाश होने के कारण, ज्ञान की प्रमाणता को अबाधित अनुभूति या अन्य साधनों द्वारा, निश्चित करने के लिए कोई मार्ग नहीं है, जबकि उनके अनुसार, सभी मिथ्या है इसलिए, उनके दर्शन में, प्रामाण्यता या अप्रामाण्यता का कोई स्थान नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि यह भेद माना जाता है तो द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है। इस पर मेघनादारि कहते हैं कि यदि स्वतः प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जाता, तो प्रमाणता का सारा विचार ही त्याग देना पड़ता है, क्योंकि यदि प्रमाणता, ज्ञान की योग्य उपाधियों के ज्ञान या दोष की अनुपस्थिति के ज्ञान से उत्पन्न होती है, तो ऐसे ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य मानना पड़ेगा, फिर इसे किसी अन्य ज्ञान पर अवलम्बित होना पड़ेगा और उसे किसी अन्य पर, इस तरह अनवस्था दोष होगा। इसलिए ज्ञान को स्वरूप से ही स्वतः प्रामाण्य मानना चाहिए, और उसकी अप्रमाणता, तभी अवगत होती है जबकि ज्ञान के कारण दोष और दोष रूप सहकारियों का योगदान, अन्य साधनों द्वारा जाना जाता है। किन्तु कुमारिल के अनुयायियों के अनुसार स्वतः प्रमाणता सिद्ध करने की पद्धति की आलोचना की जा सकती है, क्योंकि उनकी प्रणाली के अनुसार, ज्ञान का अस्तित्व, विषय के प्राकट्य से केवल अनुमित ही किया जाता है, यह अनुमान आगे, ज्ञान की स्वतः प्रमाणता को भी प्राप्त नहीं करा सकता। जो घटक ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे ही स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न करते हैं, यह अस्वीकार्य है, क्योंकि इन्द्रियों को भी ज्ञान का कारण मानना पड़ता है, जो कि सदोष हो सकती हैं। पुनः ऐसा माना गया है कि तथाभूत, ज्ञान ही प्रमाण है, और अतथाभूत

---

1 नय द्युमणि, पृ० 21 (हस्त०)

2 वही, पृ० 22।

अप्रामाण्य है, ऐसा अप्रामाण्य और प्रामाण्य स्वयं ज्ञान द्वारा ही प्रकट होता है। मेघनादारि उत्तर देते हैं कि यदि ऐसी तथाभूतता विषय का गुण है, तो वह ज्ञान का प्रामाण्य स्थापित नहीं करती, यदि वह ज्ञान का गुण है तो स्मृति को भी स्वतः प्रमाणित मानना पड़ेगा, क्योंकि उसमें भी तथाभूतता है। पुनः प्रश्न खड़ा होता है कि स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होता है या जाना भी जाता है। पहले प्रसंग में, स्वतः प्रामाण्य की स्वयं प्रकाशता त्याग देनी पड़ेगी और पिछले प्रसंग में, कुमारिल का मत अप्रतिपादनीय हो जाता है क्योंकि इसके अनुसार ज्ञान स्वयं, विषय के प्राकट्य से अनुमित होने के कारण, उसकी स्वतः प्रमाणता, स्पष्टतः स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती।

मेघनादारि, इसलिए, विवाद करते हैं कि अनुभूति स्वयं उसकी प्रमाणता है, ज्ञान को प्रकाशित करने में ही वह, उसकी प्रमाणता का विश्वास भी साथ लाती है। अप्रमाणता दूसरी ओर, दूसरे स्रोतों द्वारा सूचित होती है। अनुभूति स्वरूपतः स्मृति से भिन्न होती है।[1] इस विवाद का सारा भार (बल) उनके मत में, इसी में है कि प्रत्येक ज्ञान, अपनी ज्ञातता के साथ उसकी सच्चाई वहन करता है, और क्योंकि यह प्रत्येक ज्ञान के साथ प्रकट होता है इसीलिए उसी अर्थ में सभी ज्ञान स्वतः प्रामाण्य हैं। ऐसी स्वतः प्रमाणता इसलिए, उत्पन्न नहीं की जाती, क्योंकि वह व्यवहारतः ज्ञान से अभिन्न है। मेघनादारि बताते हैं कि यह मत रामानुज स्वयं के स्वतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त से स्पष्टतः विरुद्ध है, जिसके अनुसार स्वतः प्रमाणता ज्ञान के कारण से उत्पन्न होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में रामानुज के कथन का भिन्न प्रकार से अर्थ लगाना होगा, क्योंकि ईश्वर और मुक्त जीवों में ज्ञान नित्य और अनादि होने के कारण, कोई भी मत जो स्वतः प्रमाणता की परिभाषा इस प्रकार करता है कि, जिस स्रोत से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से वह भी उत्पन्न है,[2] अनुपयुक्त ठहरेगा।

काल

मेघनादारि के अनुसार काल एक पृथक् तत्त्व नहीं है। वे यह बताने का कठिन प्रयास करते हैं कि स्वयं रामानुज ने ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका में 'वेदान्त दीप' और 'वेदान्त सार' में, काल को, एक पृथक् तत्त्व के रूप में निराकृत किया है। काल का विचार सूर्य के पृथ्वी के सम्बन्ध में राशी चक्र के आपेक्षिक स्थान से उत्पन्न होता है। सूर्य की आपेक्षिक स्थिति से मर्यादित पृथ्वी के देश की परिवर्तित अवस्था काल है।[3] यह मत वेंकटनाथ के मत से नितान्त भिन्न है, जिसे हम आगे वर्णन करेंगे।

---

1 अनुभूतित्वं वा प्रामाण्यमस्तु, तच्च ज्ञानावान्तर-जातिः, साच स्मृतिज्ञान-जातितः पृथक्तया लोकतः एव सिद्धा, अनुभूतेः स्वसत्तया एव स्फूर्तेः।

—नय द्युमणि पृ० 31।

2 वही, पृ० 28।

3 सूर्यादि सम्बन्ध विशेषोपाधितः पृथिव्यादि देशनामेव काल संज्ञा।

—नय द्युमणि पृ० 168।

कर्म और उनके फल

मेघनादारि के अनुसार, कर्म, ईश्वर की प्रीति अप्रीति द्वारा अपने फल देते हैं। यद्यपि सामान्य कर्म को पाप और पुण्य की संज्ञा दी जाती है, तो भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पाप और पुण्य को कर्म के फल मानना चाहिए और ये फल ईश्वर की प्रीति और अप्रीति से अन्यथा कुछ नहीं हैं। भूतकाल में किए अच्छे कर्म, भविष्य में, सहायक प्रवृत्ति, सामर्थ्य और उनके अनुरूप परिस्थिति द्वारा, अच्छे कर्मों को निश्चित करते हैं और बुरे कर्म मनुष्य को बलात् बुरे कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। प्रलय के समय भी पृथक् रूप से धर्म और अधर्म नहीं होते, किन्तु जीव के कर्मों से उत्पन्न, ईश्वर की प्रीति और रोष, उसके सुख-दुःख का स्वरूप और विस्तार इसके सृष्टि-क्रम के समय धर्म या अधर्म के प्रति उसकी प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं। कर्म के फल स्वर्ग या नरक में और इस पृथ्वी पर अनुभव किये जाते हैं, जब जीव स्वर्ग या नरक से पृथ्वी पर जा रहा होता है तब यह नहीं होता, क्योंकि उस समय सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, वह तो एक संक्रमण की अवस्था है। पुनः उन यज्ञों के अतिरिक्त जो दूसरे मनुष्यों को पीड़ा या दुःख पहुँचाने के लिए किए जाते हैं, स्वर्ग प्राप्ति या अन्य सुख हेतु से किए गए यज्ञों में पशुओं की हिंसा पाप नहीं है।[1]

वात्स्यवरद

वेदों का अध्ययन करना चाहिए, शास्त्राज्ञा के इस सिद्धान्त के विषय में, वरद अपनी 'प्रमेय माला' में, शाबर भाष्य से विरुद्ध, यह मत प्रतिपादित करते हैं कि शास्त्र आज्ञा, वेद के अध्ययन मात्र से परिपूर्ण होती है उनके पाठों के अर्थ की जिज्ञासा की अपेक्षा नहीं करती। ऐसी जिज्ञासा, यज्ञों के सचमुच अनुष्ठान में उनके अर्थ की सामान्य जिज्ञासा और ज्ञानेच्छा से उद्भूत होती है। ये वैदिक विधि के अंग नहीं हैं।

वात्स्यवरद यह मानते हैं कि वेदाज्ञा का अध्ययन एवं ब्रह्म-जिज्ञासा, एक ही शास्त्र के अंग हैं, अर्थात् पिछला पहले का परिशेष ही है, और वे बोधायन का उल्लेख कर उसे प्रमाणित करते हैं।

शंकर ने सोचा था कि केवल विशिष्ट वर्ग के लिए मीमांसा का अध्ययन करने के लिए कहा गया है, जो ब्रह्म-जिज्ञासा रखते थे उनके लिए आवश्यक नहीं है। पूर्व और उत्तर मीमांसा भिन्न प्रयोजन के लिए हैं और भिन्न लेखकों द्वारा लिखी गयी हैं। इसलिए इन्हें एक ही ग्रन्थ के दो खण्ड या भाग नहीं माना चाहिए। इसका वात्स्यवरद, बोधायन का अनुसरण करते हुए अपवाद लेते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यद्यपि पूर्व और उत्तर मीमांसा, दो भिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई हैं तो भी ये दोनों मिलकर एक ही मत का प्रतिपादन करते हैं और ये दोनों एक ही पुस्तक के दो प्रकरण या भाग माने जा सकते हैं।

पूर्व मीमांसा जगत् की सत्ता में विश्वास करती है, जबकि ब्रह्म-सूत्र इसे अस्वीकार करता है इसलिए, इन दोनों का एक ही हेतु नहीं हो सकता, शंकर के इस मत का उल्लेख करते हुए भी, वात्स्यवरद जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। सभी ज्ञेय पदार्थ

---

1 वही, पृ० 243–46।

मिथ्या हैं, शंकर का यह तर्क आत्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि अनेक उपनिषद् आत्मा को दृश्य कहते हैं। जगत् मिथ्या है उनकी इस उक्ति से यह अर्थ निकलेगा कि मिथ्यात्व भी मिथ्या है, क्योंकि वह जगत् का अंश है। ऐसा तर्क शंकर को स्वीकार्य होना चाहिए क्योंकि वे स्वयं शून्यवाद के निरास में इसका प्रयोग करते हैं।

शंकर मतवादियों द्वारा भेद पदार्थ अस्वीकार करने के विषय में, वात्स्यवरद कहते हैं कि प्रतिवादी यह किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं कर सकते कि भेद देखा जाता है, क्योंकि उनके सभी तर्क, भेद की सत्ता की मान्यता पर आधारित हैं। यदि भेद न हो, तो पक्ष न होंगे और न किसी मत का खण्डन ही होगा। यदि यह मान लिया जाता है कि भेद अनुभवगम्य है तो प्रतिपक्षी को यह मानना पड़ेगा कि भेद का अनोखा एवं योग्य कारण होना चाहिए। भेद के विचार में मुख्य विषय यह है कि वह अपने स्वरूप से ही द्विविध धर्म रखता है, अपनी जाति के पदार्थों से सामान्य समानता का धर्म और वह धर्म जिससे वह अन्य से भिन्न हैं। दूसरे धर्म में वह, अन्य को अपने में समाविष्ट करता है। जब यह कहा जाता है एक पदार्थ भिन्न है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि भेद उस वस्तु से अभिन्न है या वह वस्तु का केवल दूसरा नाम ही है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि भिन्न जानी हुई वस्तु, दूसरी वस्तुओं से बाहर लक्ष्य करती है। अन्य पदार्थों की ओर बाहर लक्ष्य, जब पदार्थ के साथ सोचा जाता है, तब यह भेद का अनुभव उत्पन्न करता है।

भेद का विचार अभाव के विचार को सन्निविष्ट करता है, जैसाकि अन्यत्व या भिन्नत्व के विचार में है। क्या यह अभाव, जिन्हें भिन्न सोचा जाता है, उन विषयों से स्वरूप से भिन्न है या अन्य विषयों के 'इतर' से भिन्न है? क्योंकि अभाव, साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, तो 'भेद' भी प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् गम्य नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत इसे स्वीकार करता है कि भेद साक्षात् अनुभव-गम्य है। इसे सिद्ध करने के लिए, वात्स्यवरद अभाव का विशिष्ट अर्थ करते हैं। वे मानते हैं कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अभाव, दूसरे पदार्थ में विशिष्ट गुणों के होने से होता है, जो पहले पदार्थ के साथ सम्बन्ध का सन्निवेश करता है। इस प्रकार अभाव का विचार पदार्थ के विशिष्ट परिणत गुण से उत्पन्न होता है, जिसमें अभाव स्वीकार किया जाता है। बहुत से शंकर-मतवादी, अभाव को भाव रूप मानते हैं, किन्तु वे उसे एक विशिष्ट पदार्थ मानते हैं, जो अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा अभाव के प्रतियोगी रूप में जाना जाता है। यद्यपि वह भाव रूप है, तो भी उनके मतानुसार, अभाव का विचार जिसमें अभाव स्वीकार किया गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म से नहीं जाना जाता है। किन्तु वात्स्यवरद मानते हैं कि अभाव का विचार जिसमें अभाव स्वीकारा गया है, उस पदार्थ के विशिष्ट परिणत धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है।[1] एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की भिन्नता के रूप में जो अभाव प्रकट होता है उससे यह अर्थ निकलता है कि पिछला पदार्थ, पहले पदार्थ के विशिष्ट गुणों में सन्निविष्ट है जिससे दूसरे को लक्ष्य करना शक्य हो जाता है।

---

1 प्रतियोगि-बुद्धौ वस्तु-विशेष-धीरे वोपेता नास्तीति व्यवहार-हेतुः।
—वरद प्रमेय माला, पृ० 35 (हस्त०)।

वात्स्यवरद इस मत पर जोर देते हैं कि सत्य, ज्ञान, अनन्त इत्यादि लक्षण ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं इससे यह प्रकट है कि ईश्वर के ये गुण हैं और ये सब एक ही ब्रह्म को लक्ष्य करते हैं ऐसी अद्वैतवादी व्याख्या मिथ्या है। वे ब्रह्म के अनन्त और अमर्यादित स्वरूप का भी वर्णन करते हैं और किसी उचित अर्थ में जगत् और जीव, ब्रह्म के शरीर माने जा सकते हैं इसे स्पष्ट करते हैं, जीव ईश्वर के लिए अस्तित्व रखते हैं, जो उनका अन्तिम साध्य है। वे इस ग्रन्थ में बाह्य कर्मकाण्ड के ही कुछ विषयों का भी उल्लेख करते हैं जैसेकि मुण्डन, सन्यासी द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करना इत्यादि।

वरद अपने 'तत्त्व सार' में, रामानुज भाष्य के कुछ रोचक विषय संगृहीत करते हैं और उनका गद्य और पद्य में अर्थ करते हैं। उनमें से कुछ विषय निम्नांकित हैं : (1) ईश्वर की सत्ता तर्क द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती, किन्तु शास्त्र-प्रमाण द्वारा ही स्वीकृत की जा सकती है, (2) उपनिषद् के महत्त्वपूर्ण पाठों का विशिष्ट अर्थ बोधन, जैसेकि कप्यास स्थल इत्यादि, (3) रामानुज के अनुसार वेदान्त के महत्त्वपूर्ण अधिकरणों की निष्पत्ति, (4) अभाव एक प्रकार का केवल स्वीकार है यह सिद्धान्त (5) भासमान द्वैत एवं अद्वैतवादी ग्रन्थों का अर्थ-बोधन, (6) जगत् की सत्ता के विषय में चर्चा इत्यादि।

'तत्त्व सार' ने इसके बाद बाधुल नरसिंह के गुरु, वाधुल वरद गुरु के शिष्य, बाधुल वेंकटाचार्य के पुत्र, वीर राघवदास द्वारा, रत्नसारिणी नामक दूसरी टीका को प्रोत्साहित किया। वात्स्यवरद के कुछ ये ग्रन्थ हैं, 'सारार्थ चतुष्टय', 'आराधना संग्रह', 'तत्त्व निर्णय', 'प्रयत्न पारिजात', 'यति-लिंग-समर्थन' और पुरुष निष्णय'।[1]

रामानुजाचार्य द्वितीय या वादिहंस नवाम्बुद

पद्मनाभाचार्य के पुत्र रामानुजाचार्य द्वितीय, अत्रि कुल के थे। वे रामानुज-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध लेखक वेंकटनाथ के मामा थे। उन्होंने 'न्याय कुलिश' लिखा, जिसका उल्लेख बहुधा वेंकटनाथ की 'सर्वार्थ सिद्धि' में आता है। उन्होंने एक और ग्रन्थ रचा जो 'मोक्ष सिद्धि' है। रामानुज के विचारों का उनके द्वारा किया गया अर्थ-बोधन, वेंकटनाथ द्वारा स्पष्ट किए, रामानुज के 'प्रामाण्यवाद' के संदर्भ में पहले ही दिया जा चुका है। उनके दूसरे योगदान संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

अभावः रामानुजाचार्य द्वितीय, अभाव को पृथक् पदार्थ नहीं मानते। वे सोचते हैं कि एक पदार्थ के अभाव का अर्थ उससे भिन्न किसी दूसरे पदार्थ से ही होता है। इस प्रकार घड़े का के अभाव का अर्थ, उससे भिन्न किसी दूसरे की सत्ता से है। अभाव का सच्चा विचार, केवल भेद ही है। अभाव का भाव-पदार्थ के विरोधी रूप से वर्णन है, इस प्रकार, अभाव को किसी भाव-पदार्थ से सम्बन्धित किए बिना सोचने का कोई मार्ग नहीं है। किन्तु एक भाव पदार्थ, अभाव के सम्बन्ध द्वारा अपनी विशिष्टता की

---

1 अपने 'तत्त्व निर्णय' में वे ये सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि महत्त्वपूर्ण श्रुतिपाठ के अनुसार नारायण ही महान् देव हैं। इस पुस्तक में वे पुरुष निर्णय का उल्लेख करते हैं जिसमें वे कहते हैं कि उन्होंने इस विषय की विस्तार से चर्चा की है।

आवश्यकता नहीं रखता ।[1] यह भी प्रसिद्ध है कि अभाव का अभाव, भाव के अस्तित्व से अन्यथा कुछ भी नहीं है । अभाव का अस्तित्व प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नहीं हो सकता । वेंकटनाथ इस विचार को आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभाव में अनुपस्थिति का विचार, अभावात्मक पदार्थ का भिन्न प्रकार के देश काल धर्मों के सहचार से उत्पन्न किया जाता है ।[2] इस प्रकार जब ऐसा कहा जाता है कि यहाँ घड़ा नहीं है तो उसका अर्थ यह होता है कि घड़ा अन्य जगह पर विद्यमान है । ऐसा तर्क किया जाता है कि अभाव को भाव-पदार्थ का अस्तित्व नहीं माना जा सकता, और यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि अभाव को अभाव नहीं माना जा सकता तो फिर अभाव के अभाव को भाव पदार्थ की सत्ता कैसे मानी जा सकती है । जिस प्रकार जो अभाव को स्वीकार करते हैं वे अभाव एवं भाव-पदार्थ की सत्ता को आपस में विरोधी मानते हैं उसी प्रकार, रामानुजवादी भी भाव-पदार्थ की सत्ता मानते हैं और अभाव को भिन्न देश-काल-धर्मों से विरोध करने वाला पदार्थ मानते हैं । इस प्रकार अभाव को पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक नहीं है । जब एक विद्यमान पदार्थ के नष्ट होने की बात कही जाती है, तब केवल उसकी अवस्था का परिणाम होता है । प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव दो पदार्थों का आगे पीछे क्रम से आने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखते और ऐसी अवस्थाओं की अनन्त परम्पराएं हो सकती हैं । यदि इस मत को अंगीकार नहीं किया जाकर और प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव अभाव के पृथक् भेद रूप से माने जाय तो प्रागभाव का विनाश और प्रध्वंसाभाव का प्रागभाव, अभाव की अनन्त परम्परा पर आश्रित हो जाएंगे और हमें अनवस्था दोष पर ले जाएंगे । नई अवस्था का अनुक्रम ही पुरानी अवस्था का विनाश माना जाता है, क्योंकि पहली, दूसरी से भिन्न अवस्था ही है । कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि अभाव शून्यता मात्र है और वह भाव-पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । यदि ऐसा हो, तो, एक ओर, अभाव अकारण हो जायगा, और दूसरी ओर वह किसी का कारण न रहेगा, और इस प्रकार अभाव अनादि और अनन्त हो जायगा । ऐसी परिस्थिति में सारा जगत् अभाव की पकड़ में आ जायगा और जगत् के समस्त पदार्थ नष्ट हो जाएंगे । इस प्रकार अभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप में मानना आवश्यक है । एक भाव-पदार्थ का दूसरे से भेद ही अभाव है ।

दूसरी समस्या इस सम्बन्ध में जो उपस्थित होती है वह यह है कि यदि अभाव को एक पृथक् पदार्थ नहीं माना जाता तो अभाव रूप कारणों को कैसे माना जा सकता है । यह प्रसिद्ध है कि कारण अन्योन्याश्रय द्वारा तभी कार्य उत्पन्न कर सकते हैं जबकि उनकी उत्पादक शक्ति का विरोध करने वाले निषेधात्मक कारण न हों । इस शक्ति को रामानुज-सम्प्रदाय में सहकारी तत्त्वों की अन्योन्य आश्रयता के रूप में स्वीकार किया गया है जो कारण कार्य उत्पत्ति में सहायक है (कारणस्य कार्योपयोगी सहकारि-कलापः

---

1 अथाभावस्य तद्रूपं यद्भाव-प्रतिपक्षता
नैवम व्याप्यसौ यस्माद् ·ावोत्तीर्णेन साधितः । —न्याय कुलिश हस्त०, ।

2 तत्तत्प्र प्रतियोगि-भाव-स्फुरण-सहकृतो देशकालादि भेद एव स्वभावात् नञ् प्रयोगमपि सहते । —सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 714 ।

शक्तिरिति उच्यते) ।[1] इस पर रामानुजाचार्य का उत्तर यह है कि निष्फल करने वाले कारणों को पृथक् कारण नहीं माना जाता, किन्तु, अन्य सहकारी तत्त्वों के साथ निष्फल करने वाले कारकों की उपस्थिति जो सहकारी कारण तत्त्वों को कार्य उत्पन्न करने में निरुपयोगी बना देती है वह कार्य को निष्फल कर देती है। इस प्रकार दो प्रकार के सहकारी तत्त्वों का समाहार होता है जहाँ कार्य उत्पन्न होता है या नहीं होता है, और इन समाहारों का भेद एक प्रसंग में कार्य को उत्पन्न करने में और अन्य में उत्पन्न न करने में दायित्व रखता है, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अवरोधक तत्त्वों की की अनुपस्थिति या अभाव, कारण उत्पन्न करने में योगदान करती है। एक प्रसंग में उत्पन्न करने की शक्ति थी, और दूसरे में ऐसी शक्ति नहीं थी।[2] रामानुजाचार्य शक्ति को एक पृथक् अतींद्रिय तत्त्व नहीं मानते हैं, किन्तु वह कार्य उत्पन्न करने वाली शक्ति को निगूढ विशिष्टता है ऐसा मानते हैं। (शक्तिगत जात्यनभ्युपगमे तदभावात् शक्तस्यैव जातिः कार्य-नियामिका न तु शक्ति-जातिरिति) ।[3]

जाति

रामानुजाचार्य जाति को व्यक्ति के अमूर्त सामान्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दूसरों के सदृश किसी भी अंश का एक रूप संघात (सुसदृश संस्थान) जाति है।[4]

रामानुजाचार्य के अनुयायी वेंकटनाथ, जाति को सौसादृश्य कहकर व्याख्या करते हैं। न्यायगत जाति के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं, कि जो जाति को प्रकट करता है वह स्वयं जाति से प्रकट होता है, तो इन जातियों को दूसरों के द्वारा प्रकट होना चाहिए और इन्हें फिर दूसरों से जो अन्त में अनवस्था दोष उत्पन्न करता है। यदि इस दोष से बचने के लिए ऐसा माना जाता है कि जाति को व्यक्त करने वाले इसकी श्रेणी के अंश के व्यक्त होने के लिए जाति की अपेक्षा नहीं होती, तो फिर यह कहना उचित होगा कि सदृश व्यक्ति जाति को व्यक्त करते हैं और जाति को एक पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि जाति का विचार उन गुण-धर्मों से उत्पन्न

---

1 सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 685।

2 सिद्ध-वस्तु-विरोधी घातकः साध्व-वस्तु-विरोधी प्रतिबन्धकः, कथं यदि कार्य तद्-विरुद्धत्वमिति चेन्न, इत्थं कार्य-कारण-पौष्कल्ये भवति, तदपौष्कल्ये न भवति, अपौष्कल्यं च क्वचित् कारणानामन्यतम-वैकल्यात् क्वचित् शक्ति-वैकल्यादिति, भिद्यते यद्यपि शक्ति नं कारणं तथापि शक्तस्यैव कारणत्वात् विशेषणाभावेऽपि विशिष्टाभाव-न्यायेन कारणाभावः। तदुभयकारणे न प्रागभावस्थिति करणात् कार्य-विरोधीति प्रतिबन्धको भवति, तत्र यथा कारण-वैकल्य-दृष्ट-रूपेण कुर्वतोऽभावः कारणं न स्यात्, तथा शक्ति विघ्नितः यो हि नाम प्रतिबन्धकः कारणं किंचिद् विनाश्य कार्यं प्रतिबध्नाति न तस्याभावः कारणमिति सिद्धम्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

3 वही।

4 न्याय कुलिश, हस्त०।

होता है जिस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों की सहमति है, यदि ऐसा है तो यही जाति के विचार को समझाने के लिए पर्याप्त होगा। ये गुण-धर्म ही, जिनका सादृश्य दूसरे पदार्थों के सदृश धर्मों को याद कराता है, जाति के विचार को उत्पन्न करते हैं।[1] जब किसी में कोई अंश या गुण जाने जाते हैं वे स्वाभाविक रीति से दूसरे में ऐसे ही सदृश अंग या गुणों का स्मरण कराते हैं और यह तथ्य ही कि ये दो एक दूसरे के साथ-साथ चित्त में बने रहते हैं सादृश्य कहलाते हैं।[2] कुछ गुण या धर्म दूसरों को क्यों याद कराते हैं यह समझ के बाहर है, केवल यही कहा जा सकता है कि वे स्वभावतः ऐसा करते हैं, और वे चित्त में एक दूसरे के साथ-साथ रहते हैं इसी तथ्य के कारण सादृश्य और सामान्यता सम्भावित है। कोई और दूसरा पृथक् तत्त्व नहीं है जिसे सादृश्य या सामान्य कहा जा सके। रामानुजाचार्य और वेंकटनाथ की सामान्य की परिभाषा में कुछ भी भेद नहीं है यद्यपि रामानुजाचार्य उसे सदृशों का समाहार और वेंकटनाथ उसे सादृश्य कहते हैं, तो भी वेंकटनाथ का सादृश्य का विचार उसके अन्तर्गत समाहार को घटकों के अंश के रूप में, सन्निवेश करता है, क्योंकि वेंकटनाथ के अनुसार सादृश्य कोई अमूर्त पदार्थ नहीं है किन्तु वह अंशों का मूर्त समाहार है, जो स्मृति में एक दूसरे से निकट रहता है। वेंकट-नाथ, यह अवश्य बताते हैं कि सामान्य केवल अवयवों के समाहार को ही लक्ष्य करता है ऐसा नहीं है, क्योंकि उन निरवयव पदार्थों के सम्बन्ध में, जैसेकि गुण में अवयवों का समाहार नहीं सोचा जा सकने पर भी सामान्य का प्रत्यय प्रयुक्त हो सकता है। इसी कारण, वेंकटनाथ, सादृश्य को सामान्य की केवल उपाधि मानते हैं और संस्थान को समावेश नहीं करते, जैसाकि रामानुजाचार्य ने किया है।

स्वतः प्रामाण्य

अक्सर ऐसा तर्क किया जाता है कि प्रमाणता और अप्रमाणता के निश्चय के लिए भी, अन्य वस्तु, की तरह, अन्वय-व्यतिरेक विधि का प्रयोग निर्णयात्मक कसौटी है। गुणों की उपस्थिति जो प्रमाणता की समर्थक है और दोषों की अनुपस्थिति जो प्रत्यक्ष की प्रमाणता में बाधक है, उन्हें किसी ज्ञान की प्रमाणता या अप्रमाणता का निर्णायक मानना चाहिए। इस पर रामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रमाणता का समर्थन करने वाले गुणों का निश्चय करना, दोषाभाव के विश्वास के बिना निश्चित नहीं हो सकता और दोषाभाव भी प्रमाण के पोषक गुणों की उपस्थिति के ज्ञान के बिना नहीं

---

1 केचिद्धी संस्थान भेदाः क्वचन् खलु मिथ स्सादृश्य रूपा भान्ति यै भर्वदीयं सामान्य मभि व्यज्यते त एव सौसादृश्य व्यवहार विषय भूताः सामान्य व्यवहारं निर्वहन्तु, तस्मात्तेषां सर्वे षां मन्योन्य सापेक्षैक स्मृति विषय तया तत्तद् ऐकावमर्श स्तत ज्जातीयत्वावमर्शः।

—सर्वार्थ-सिद्धि, पृ० 704।

2 यद्यपि एकैकस्थं सास्नादि-धर्म-स्वरूपं तथापि तन्निरूपाधि-नियतैः स्वभाव तो नियतैः तैः तैः सास्नादिभिरन्यनिष्ठै स्सप्रतिद्व द्विकं स्यात्, इदं मेव अन्योन्य-सप्रतिद्व द्विक-रूपं सादृश्य-शब्द-वाच्यम् अभिधीयते।

—वही।

जाना जा सकता, इसलिए, जबकि वे अन्योन्याश्रित हैं उनका स्वतंत्र रूप से रूप निश्चित करना भी असम्भव है। इस प्रकार सूचन किया जाता है कि प्रमाणता एवं अप्रमाणता को निश्चित नहीं किया जाता है किन्तु उनके विषय में शंका ही होती है। इस पर उत्तर यह है कि जहाँ तक कुछ ज्ञान नहीं है वहाँ शंका कैसे उपस्थित हो सकती। इसलिए प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित होने के पहले एक मध्यस्थ स्थिति है। ज्ञान यथार्थ या अयथार्थ है यह ज्ञान होने के पहले अर्थ-प्रकाश होना चाहिए, जो अर्थ की दृष्टि से स्वतः प्रमाण है, और अपनी प्रमाणता के लिए वह दूसरी किसी विधि के प्रयोग पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि वह भविष्य के अर्थ के, सत्य और मिथ्यापन की भी समस्त निश्चितता का आधार है। इसलिए ज्ञान का यह अंग, जो मूल अंग है—अर्थात् अर्थ प्रकाश-स्वतः प्रमाण है। यह कहना मिथ्या है कि यह ज्ञान स्वयं निःस्वभाव है, क्योंकि यह, वृक्ष ढाक या शिंशपा का वृक्ष है यह जानने के पहले उसे वृक्षत्व रूप से निश्चित करने के समान, अर्थ प्रकाश धर्मवाला है।[1] सहायक गुणों का ज्ञान प्रमाणता का कारण नहीं है, किन्तु जब प्रमाणता निश्चित हो जाती है तब उन्हें प्रमाणता का सहायक माना जा सकता है। स्वतः प्रामाण्य, ज्ञान का होता है तथात्व का नहीं। यदि तथात्व भी साक्षात् प्रकट होता तो फिर ऐसे तथात्व के विषय में भी कभी शंका उत्पन्न हो सकती है। जब कुमारिल के अनुयायी ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ज्ञान ही स्वयं तथ्य को तथात्व प्रदान करता है, क्योंकि वे ज्ञान को स्वयं प्रकाश नहीं मानते। इसलिए उन्होंने प्रमाणता को प्रदान करने वाले अन्य साधनों को माना है। इन साधनों की प्रमाणता को पुनः अन्य सहायक साधनों की प्रमाणता पर अवलम्बित होना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। प्रमाणता के निश्चय के लिए, हमें कार्य की क्षमता एवं उसके समर्थन द्वारा अभिनिश्चयन पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। इस प्रकार यदि प्रमाणता, सहायक गुणों के समर्थन पर आश्रित है, तो फिर स्वतः प्रमाणता रहती ही नहीं है। इस मतानुसार वेद भी स्वतः प्रमाण न रहेंगे। वे इसलिए दोषरहित हैं कि मोहान्ध मानव द्वारा उनका निर्माण नहीं हुआ तो उनके कोई सहायक गुण जी न होंगे क्योंकि वे किसी आप्त जन की कृति नहीं हैं (मीमांसा मतानुसार)। इसलिए, उनकी प्रमाणता के विषय में सचमुच शंका हो सकती है। तथात्व की सच्चाई ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य पर आश्रित है अर्थात् अतथात्व का मिथ्यापन। यदि वह ज्ञान के कारण पर आश्रित होती तो फिर झूठा ज्ञान भी सच्चा होगा। इसलिए वेदों की प्रमाणता के लिए यह मानना पड़ता है कि वे परम आप्त पुरुष के वाक्य हैं। ज्ञान केवल विषय को प्रकट नहीं करता किन्तु विशिष्ट द्रव्य या पदार्थ को प्रकट करता है और वह वस्तु के ज्ञान में प्रकट होने तक ही प्रमाण है।[2]

---

1 यथार्थ-परिच्छेदः प्रामाण्यमयथार्थ-परिच्छेदः अप्रामाण्यं कथं तदुभय-परित्यागे अर्थ परिच्छेद सिद्धिः इति चेन्न, अपरित्याज्यत्वाभ्युपगमात्। तयोः साधारणमेव हि अर्थ-परिच्छेदं ब्रूमः शिंशपापलाशादिषु इव वृक्षत्वम्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

2 यद् धी ज्ञाने विद्यते तदैव तस्य लक्षणमुचितं वस्तु-प्रकाशत्वमेव ज्ञाने विद्यते न तु विषय-प्रकाशत्वं यतो विज्ञाने समुत्पन्ने विषयोऽयमिति नामाति किन्तु घटोऽयमिति।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणता का सम्बन्ध विशिष्ट पदार्थ के सामान्य गुणों से है उसके निर्दिष्ट विस्तृत कर्मों से नहीं है।[1] इस प्रकार की प्रमाणता, केवल ज्ञान के आकार को ही लक्ष्य करती है, विषयगत-समर्थन को नहीं करती।[2] इसमें जहाँ-कहीं भी शंका के स्थान हों, वहाँ सहायक गुणों द्वारा तथा दृढ़ीकरण द्वारा निश्चित करना चाहिए और जब भूल के अवसरों को अन्य साधनों द्वारा हटा दिया जाता है तब मौलिक प्रमाणता अबाध रहती है।

स्वप्रकाशत्व

रामानुजाचार्य सबसे पहले स्वप्रकाशत्व के विरुद्ध नैयायिकों के आक्षेप का वर्णन करते हैं। नैयायिक यह तर्क करते देखे गए हैं कि पदार्थ अस्तित्ववान् हैं, किन्तु वे विशिष्ट परिस्थिति में ज्ञेय बनते हैं और इससे यह स्पष्ट होता है कि सत्ता ज्ञान या प्रकाशत्व से भिन्न है। इस दृष्टि से तर्क करते हुए यह कहा जा सकता है कि सत्ता रूप से ज्ञान, उसके प्रकाशत्व से भिन्न है।[3] यदि ज्ञान स्वयं स्वप्रकाश होता, तो वह किसी परिस्थिति से, संनिकर्ष या पदार्थ के सम्बन्ध द्वारा आश्रित न रहता और इस तरह कोई भी व्यक्तिगत ज्ञान सामान्य ज्ञान हो जाता। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर, ज्ञान को, यदि पदार्थ के साथ उसके सम्बन्ध से मर्यादित होने की आवश्यकता रहती है तो वह ज्ञान स्वप्रकाश नहीं होगा तथा ज्ञान के अखंड होने के कारण, उसमें ऐसा विचार नहीं किया जा सकता कि एक अंश दूसरे को प्रकाशित करता है। अखंड तत्वों के सम्बन्ध में यह सोचना सम्भव नहीं है कि ज्ञान स्वप्रकाश होना चाहिए क्योंकि वह एक ही साथ कारक और विषय दोनों नहीं हो सकता। पुनः यदि ज्ञान स्वप्रकाश होता है तो, अन्तर्निरीक्षण द्वारा चेतना और उसके पुनर्ज्ञान के भेद को नहीं समझाया जा सकता। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भेद अर्थ भेद पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त एक ज्ञान का दूसरे से कोई भेद नहीं है। यदि, बाह्य विषय, ज्ञान का घटक न होता तो, ज्ञान के प्रकाश और पदार्थ के प्रकाश में कोई भेद न रहता। यदि ज्ञान स्वतः ही स्वप्रकाश होता तो उसके बाहर विषय को कोई स्थान नहीं रहता, और वह हमें निरपेक्ष प्रत्ययवाद (आदर्शवाद) की ओर ले जाता इसलिए इसकी उपपत्ति या तो मीमांसा मतानुसार होगी, जिसके अनुसार ज्ञान, बाह्य विषय में ऐसा धर्म उत्पन्न करता है कि पदार्थ के उस ज्ञेय धर्म से ज्ञान अनुमित किया जा सकता है, अथवा इस न्याय दृष्टि से कि ज्ञान विषय को प्रकट करता है। इस प्रकार, यह मानना पड़ता है कि ज्ञान और उसके पदार्थ के बीच किसी प्रकार का ज्ञान-सम्बन्ध होना चाहिए और इन सम्बन्धों का विशिष्ट स्वरूप ही प्रत्येक प्रसंग में ज्ञान-गुण को निश्चित करेगा। अब फिर प्रश्न किया जा सकता है कि यह ज्ञान सम्बन्ध केवल पदार्थ को इंगित करता है या पदार्थ-ज्ञान को? पहले प्रसंग में पदार्थ ही प्रकट होगा, और दूसरे में, ज्ञान ही अपना

---

1 ज्ञानानां सामान्य रूपमेव प्रामाण्यं नवैशेषिकं रूपम्। —वही।

2 तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। -वही।

3 सर्वस्य हि स्वतः स्वगोचर ज्ञानाधीनः प्रकाशः
सविदामपि तथैव अभ्युपगंतुमुचितः। —न्याय कुलिश, हस्त०।

विषय होगा, जो निरर्थक है। यदि ज्ञान, पदार्थ को विशिष्ट सम्बन्ध के बिना प्रकाशित करता है तो कोई भी ज्ञान किसी पदार्थ या सभी पदार्थों को प्रकाशित करेगा। ज्ञान, ज्ञान-व्यापार को अनुमित करता है, और यदि इस व्यापार को स्वीकार नहीं किया जाता तो ज्ञान को प्रकाशित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान की विषयरूपता ही ऐसे व्यापार को अनुमित करती है। इसलिए निष्कर्ष यह है कि जैसे ज्ञान अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे यह अनुव्यवसाय से पुनः प्रकाशित होता है। "मैं देखता हूँ" यह केवल ज्ञान प्रकाशत्व का प्रसंग नहीं है, किन्तु उस विशिष्ट पदार्थ को जिसे देखा है उसका पुनर्ज्ञान (अनुव्यवसाय) है। इसलिए ज्ञान, अपने से प्रकाशित न होकर, अनुव्यवसाय से प्रकाशित होता है। इस पर रामानुजाचार्य आक्षेप खड़ा करते हैं, यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह पुनर्ज्ञान, ज्ञाता से, फिर से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा के बावजूद होता है या अनिच्छा से। पहले प्रसंग में जबकि पुनर्ज्ञान स्वतः ही उपस्थित होता है, अर्थात्, पुनर्ज्ञान ज्ञाता की इच्छा से उद्भूत है, तो ऐसी इच्छा पूर्व ज्ञान से उत्पन्न होनी चाहिए, और वह अपने से पूर्व इच्छा को मानने को बाध्य करेगा, और वह उससे पूर्व को, इस प्रकार अनवस्था दोष खड़ा होगा। इस पर नैयायिक उत्तर देते हैं कि सामान्य पुनर्ज्ञान किसी इच्छा के बिना ही होता है, किन्तु विशिष्ट पुनर्ज्ञान इच्छा का कार्य है। सामान्य पुनर्ज्ञान स्वभावतः होता है, क्योंकि सभी सांसारिक मनुष्यों को अपने जीवन भर में कुछ-न-कुछ ज्ञान होता ही रहता है। जब किसी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है तब ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है।

इस पर रामानुजाचार्य का यह उत्तर है कि सामान्य अस्तित्ववान् पदार्थ के विषय में, उसकी सत्ता और उसके ज्ञान के प्रकाश में भेद है, क्योंकि वह सर्वथा सत्ता एवं ज्ञान के विशिष्ट सम्बन्ध पर आश्रित है, किन्तु स्वप्रकाश पदार्थ के सम्बन्ध में, जहाँ ऐसे सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती वहाँ उसकी सत्ता और प्रकाशता में भेद नहीं होता। अग्नि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करती है, किन्तु स्वयं को प्रकाशित होने के लिए उसे, दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। स्वप्रकाशता से यही अर्थ है। जैसेकि कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ पर स्वयं प्रकाशित होने के लिए, अपनी जाति पर आश्रित नहीं रहता, इसी प्रकार ज्ञान, अपने प्रकाश के लिए दूसरे ज्ञान की सहायता की आवश्यकता नहीं रखता। दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए जिन सम्बन्धों की आवश्यकता होती है वे ज्ञान स्वयं को प्रकाशित करने के मिए आवश्यक नहीं होते।[1] ज्ञान स्वयं प्रकाश है अतः हमारे व्यवहार को साक्षात् प्रभावित करता है, लेकिन वह इस सहायता के लिए किसी और पर निर्भर नहीं है। यह बिल्कुल अनुभव-विरुद्ध है कि ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होती है, और यदि इसे हमारा अनुभव समर्थन नहीं देता तो इस असाधारण सिद्धान्त की स्वीकृति में क्या औचित्य है कि किसी ज्ञान को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरी ज्ञान-प्रक्रिया की अपेक्षा होती है। मात्र उसी को ज्ञान का विषय कहा जा सकता है जो अस्तित्ववान् होते हुए भी अनभिव्यक्त रहता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि

---

1 ज्ञानमनन्याधीनप्रकाश मर्थ-प्रकाशकत्वात् दीपवत्।

—न्याय कुलिश, हस्त०।

एक अज्ञात ज्ञान था क्योंकि ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य पदार्थों की तरह समय की प्रतीक्षा में नहीं रहता। अतीत ज्ञान के विषय का जो मात्र अनुमित होता है, कोई प्रत्यय नहीं होता अतः ज्ञात और अज्ञात के सम्बन्ध में हमेशा एक रेखा खींची जा सकती है। अगर केवल पदार्थ प्रकाशित होता, उसका ज्ञान नहीं तो कोई क्षण भर के लिए भी उसके प्रत्यक्ष से न चूकता। यदि ज्ञान मात्र अपने कार्य से अनुमित होता, हर एक उसका अनुभव कर लेता लेकिन किसी को भी ज्ञात और अज्ञात के भेद बोध में क्षण भर के लिए भी हिचक न होती। यह भी कहना गलत है कि ज्ञान जांच-पड़ताल के बाद ही उदित होता है, क्योंकि वर्तमान ज्ञान में जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है, साक्षात् ही होता है और अतीत ज्ञान में भी ऐसी अनुमित नहीं होती कि स्मृति होने के कारण ज्ञान हो पाया बलिक अतीत ज्ञान की स्मृति के रूप में साक्षात् प्रतीति होती है क्योंकि यदि उसे अनुमान कहा जाय, तो पुनः प्रत्यक्षण को भी स्मृत्यनुमान माना जा सकता है।

पुनः कोई वस्तु जो ज्ञान का विषय हुए बिना अस्तित्व रखती है उसकी अभिव्यक्ति सोपाधिक ज्ञान की संस्थिति त्रुटि की उपस्थिति के कारण सदोष हो सकती है, परन्तु ज्ञान के स्वतः त्रुटिपूर्ण होने की कोई सम्भावना नहीं होती और परिणामतः ज्ञेय होने के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। सुख या दुःख की अनुभूति में जैसे कोई सन्देह नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान के विषय में भी कोई सन्देह नहीं होता, इससे यह प्रतीत होता है कि जब-जब ज्ञान होता है, वह स्वतः सुव्यक्त होता है। यह सोचना गलत है कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश होगा तो उसमें और विषयार्थ में भेद न रहेगा, क्योंकि भेद स्पष्ट ही है, ज्ञान स्वतः ही निराकार है, जबकि विषय अर्थ रूप है। दो पदार्थ जो एक ही प्रकाश में दीखते हैं, जैसेकि द्रव्य और गुण, पदार्थ और उनकी संख्या, वे इसी कारण अभिन्न नहीं हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान और उसके विषय अभिन्न हैं क्योंकि वे एक ही साथ प्रकाशति होते हैं, क्योंकि उन दोनों एक साथ ही प्रकाशित होना, यह बताता है कि ये दो भिन्न ही हैं। ज्ञान और उनके अर्थ एक ही प्रकाश में प्रकाशित हो जाते हैं, और यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन पहले और कौन पीछे प्रकट होता है।

श्रुति के प्रमाणानुसार, आत्मा भी ज्ञान के स्वरूप जैसा है। आत्मा, ज्ञान के स्वरूप जैसा है इसलिए स्वप्रकाश है और इसलिए यह नहीं मानना चाहिए कि वह मानस प्रत्यक्ष है।

रामानुजदास या महाचार्य

रामानुज दास जो महाचार्य भी कहलाते थे, वे बाधुल श्री निवासाचार्य के शिष्य थे। उन्हें रामानुजाचार्य द्वितीय से संकीर्ण नहीं करना चाहिए, जो पद्मनाभार्य के पुत्र और वेदान्त देशिक के मामा थे और वे वादीहंसनवांबुद नाम से जाने जाते थे। उन्होंने कम से कम तीन ग्रन्थ रचे, 'सद्विद्या विजय' 'अद्वैत विजय' और 'परिकर विजय'।

वे अपने 'सद्विद्या विजय' शंकराचार्य के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, कि भावरूप अज्ञान की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इत्यादि भिन्न प्रमाणों द्वारा जानी जा सकती है, कहते हैं कि अज्ञान का अनुभव, जैसेकि 'मैं अज्ञानी हूँ' अज्ञान का पूर्ण रूप से अनुभव कहा जा सकता (कृत्स्नाज्ञानप्रतीतिस्तावद्सिद्धा), क्योंकि वह समस्त विषयों को, सभी ज्ञान का निषेध करते हुए कभी भी लक्ष्य नहीं

कर सकता। शंकर मतवादी द्वारा अन्त:करण भी प्रत्यक्ष ज्ञान की वृत्ति गत वस्तुओं को लक्ष्य करता नहीं माना गया है। जब कभी भी कोई अपने अज्ञान का अनुभव करता है, उस समय उसके अहंकार के प्रकाश की अवस्था होती है और उसे इस स्थिति का ज्ञान ही होता है कि वह अज्ञ है, ऐसे अनुभव में, अज्ञान सर्वांग रूप से प्रकाशित होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय अहंकार प्रकाशित होता है। यदि अज्ञान अपने सर्वांग रूप से प्रकाशित नहीं होता तो अज्ञान किसी विशिष्ट विषय के सम्बन्ध में ही केवल प्रकाशित होता है, और यदि ऐसा है तो फिर भावरूप अज्ञान की मान्यता निरुपयोगी है। पुनः अज्ञान, या ज्ञानाभाव, यदि किसी विशेष पदार्थ को लक्ष्य करता है, तो उसमें उस पदार्थ का ज्ञान सम्मिलित है, और इसलिए अज्ञान का का ही केवल अनुभव नहीं किया गया है और भावरूप अज्ञान की मान्यता, इस साधारण मत से अधिक नहीं है, जिसके अनुसार, ऐसे प्रसंगों में गाढ़ निद्रा के अतिरिक्त, पदार्थ के ज्ञान का ही केवल अभाव है। अज्ञान के अनुभव की अन्य सभी अवस्थाओं में, अज्ञान का अनुभव, विशेष पदार्थ के ज्ञान के अभाव को लक्ष्य करता है। अज्ञान के सभी उदाहरण यही अर्थ रखते हैं कि उनके पदार्थ केवल सामान्य रूप से जाने जाते हैं, उनका विशेष विस्तार के साथ ज्ञान नहीं होता। पुनः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अज्ञान को भावरूप से (ज्ञान-सामान्य-विरोधी) निर्देश करने के लिए ही माना गया है। क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसे अनुभव में अज्ञान स्व में हैं ऐसा ज्ञान होता है और उन सामान्य अर्थों का भी जिनसे हम ज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त अज्ञान का जबकि शुद्ध चैतन्य अधिष्ठान है और अन्त:करण को उसका आधार नहीं माना जाता, तो फिर 'मैं अज्ञ हूँ' यह अनुभव किस प्रकार से इस भावरूप पदार्थ को लक्ष्य कर सकता है? यदि यह माना जाता है कि क्योंकि अन्त:करण शुद्ध चैतन्य पर आरोपण मात्र है जो अज्ञान का आधार है, अतः अज्ञान चित्त-व्यापार के रूप में प्रकट हो सकता है क्योंकि अहं और अज्ञान, शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होने के कारण, उसी एक ही अधिष्ठान चैतन्य—से प्रकाशित हो सकते हैं। उत्तर यह है कि ऐसा स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से गलत है, क्योंकि यदि अहंकार और अज्ञान, एक ही मूलभूत चैतन्य से प्रकाशित होते हैं तो अज्ञान अहंकार का विधेय नहीं हो सकता। यदि एक ही शुद्ध चैतन्य, अहंकार और अज्ञान को प्रकाशित करता है, तो वे दोनों भिन्न नहीं दीखेंगे और उद्देश्य-विधेय के क्रम से स्पष्ट नहीं ग्रहण होंगे। पुनः यदि यह माना जाता है कि अज्ञान अहंकार के विधेय के रूप से ही प्रकाशित होता है क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य पर आधारित है तो फिर 'मैं घड़े को नहीं जानता' ऐसे अनुभव में, अज्ञान बाह्य पदार्थों को (जो शुद्ध चैतन्य पर स्वतंत्र ही आरोपित है) किस प्रकार लक्ष्य करेगा? यदि ऐसा कहा जाता है जबकि एक ही शुद्ध चैतन्य पर, बाह्य पदार्थ, अज्ञान और अहंकार, सभी आरोपित हैं और अज्ञान हमेशा बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित है, तो यह कह सकते हैं कि जब कभी घड़ा जाना जाता है अज्ञान अन्य पदार्थों से (जैसेकि कपड़ा) सम्बन्धित होने से वह शुद्ध चैतन्य से भी सम्बन्धित है जिस पर घड़ा एक आरोपण है। वास्तव में वह घड़े से भी सम्बन्धित होगा, जिसका परिणाम यह होगा कि 'हम घड़ा नहीं जानते' हैं ऐसा अनुभव। ऐसा तर्क किया जा सकता है कि घड़े का भावरूप से ज्ञान ही अज्ञान के सम्बन्ध में बाधक हो सकता है। इस पर यह

उत्तर है कि जब कोई यह कहता है 'मैं इस पेड़ को नहीं जानता' तब 'इस' के बारे में ज्ञान है और पेड़ के स्वरूप के बारे में अज्ञान है, इसलिए यहां पर भी घड़े के एक ही पहलू के बारे में अंशतः ज्ञान और अंशतः अज्ञान हो सकता है। शंका के प्रसंग में हमें ज्ञान और अज्ञान की एक ही पदार्थ में स्थिति माननी पड़ती है और यह जिज्ञासा के सभी प्रसंगों में सत्य है, जहां एक पदार्थ सामान्य दृष्टि से ज्ञात हो किन्तु विशिष्ट विस्तार में अज्ञात हो।

पुनः, शंकर-मतवादियों द्वारा यह मिथ्या विवाद किया गया है कि गम्भीर स्वप्नरहित निद्रा की स्थिति में अज्ञान का साक्षात् अनुभव होता है, क्योंकि यदि अज्ञान अपने स्वरूप से वास्तव में ज्ञात होता है, तो मनुष्य कभी जगकर यह नहीं कह सकता कि उसने कुछ नहीं जाना। उसे यह स्मरण होना चाहिए कि उसे अज्ञान का साक्षात् ज्ञान हुआ था। यदि गाढ़ निद्रा में शुद्ध चैतन्य ने अज्ञान को प्रकाशित किया तो उसने जगत् के सभी ज्ञात एवं अज्ञात पदार्थों को प्रकाशित किया होगा, जो निरर्थक हैं क्योंकि जागने पर उनकी स्मृति रहनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि गाढ़ निद्रा में अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि जाग्रत अवस्था के प्रमाण के अनुसार, उस समय काल का ज्ञान भी होता है, क्योंकि स्मृति यह होती है 'उस समय, मैंने कुछ नहीं जाना।' उपरान्त, यदि यह माना जाता है कि सब कुछ साक्षी चैतन्य से (वृत्ति की अवस्था पर आए बिना) प्रकाशित होता है तो अज्ञान का भी स्मरण नहीं होना चाहिए। यदि यह कहा जाता है कि साक्षी चैतन्य द्वारा अज्ञान के विषय प्रकाशित नहीं होते केवल अज्ञान ही प्रकाशित होता है, तो इससे जाग्रत अवस्था में 'मैंने कुछ नहीं जाना' इसमें 'कुछ' निश्चित रूप से अज्ञान के अर्थ को ही लक्ष्य करता है। इसके अतिरिक्त, यदि उपरोक्त पूर्व मान्यता सही है, तो गाढ़ निद्रा में आनन्द प्रकाशित नहीं हो सकता और न जाग्रत्अवस्था में याद भी आ सकता है। यदि इसके उत्तर में यह विवाद किया जाता है कि जाग्रत् अवस्था में अज्ञान के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुण याद रहे थे, क्योंकि वे अविद्या की वृत्ति से प्रकट हुए थे, तो उत्तर यह है कि उन्हें अविद्या के विशिष्ट प्रकार मानने के बजाय चित्त की वृत्ति या अवस्था भी माना जा सकता है और अज्ञान के अनुभव को ज्ञान के अभाव का अनुभव कह कर समझाया जा सकता है। जबकि सब स्वीकृत करते हैं कि ज्ञानाभाव भावरूप अज्ञान जैसे एक पृथक् पदार्थ को मानना लेश मात्र भी संगत नहीं है। पुनः ज्ञात विषय की स्मृति के लोप के विषय में कोई यह कह सकता है कि वह उस वस्तु को नहीं जानता था। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जब उसने यह पदार्थ जाना था तब उसे उस पदार्थ के अज्ञान का साक्षात् अनुभव था। रजत-सूक्ति के भ्रम के अनुभव के पश्चात हम कह सकते हैं कि मैंने अब तक रजत को नहीं जाना था, इसे कैसे समझाया जायेगा ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसे सभी प्रसंगों में हम केवल अनुमान ही करते हैं कि उन पदार्थों के ज्ञान का अभाव था। विवादान्तर्गत प्रसंग में भी, हम इसी मत को ग्रहण कर सकते हैं कि गाढ़ निद्रा में कुछ भी ज्ञान नहीं था। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि हमें भावरूप अज्ञान का साक्षात् अनुभव था। शंकर-मतानुयायी कहते हैं कि अज्ञान एक भाव पदार्थ है वह अनुमान से भी सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि उनके मतानुसार जिस प्रकार, प्रकाश, भावरूप अंधकार

को हटाकर वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार, ज्ञान भी, अज्ञान से ढकी हुई वस्तुओं को प्रकट करता है। इसका खण्डन करते हुए महाचार्य, शंकर-मत के अनुसार न्याय वाक्य के शास्त्रीय एवं पांडित्यपूर्ण विवेचन में पड़ जाते हैं जिसे यहाँ ठीक तरह से उल्लेख नहीं किया जा सकता। हमारे ध्यान करने योग्य मुख्य विषय और जो दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है वह रामानुज-सम्प्रदाय का मत है जिसके अनुसार ज्ञान के द्वारा वस्तु प्रकट हुई है इसलिए भावरूप अज्ञान अवश्य ही हटाया गया होगा यह नहीं माना गया है। शंकर-अनुयायी यह आक्षेप करते हैं कि अज्ञान को, आत्मा के आनन्द को आवृत्त करने वाला एक पृथक् तत्त्व नहीं माना जाएगा तो, मुक्ति को समझाना कठिन हो जायेगा। इस पर महाचार्य का यह उत्तर है, मुक्ति को बन्धन का नाश कहकर भी समझाया जा सकता है। मनुष्य जितना भावरूप सुख को प्राप्त करना चाहता है उतना ही अभाव रूप दु:ख को हटाना चाहता है। यह समझना मिथ्या है कि जहां तक बन्धन मिथ्या नहीं है वहां तक वह दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह सुविख्यात है कि विष का प्रभाव गरुड़ पक्षी का ध्यान करने से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार संसार का बन्धन भी ईश्वर का ध्यान करने से दूर किया जा सकता है, यद्यपि वह सत्य है। ज्ञान रूप ध्यान अज्ञान को ही नहीं हटा सकता किन्तु सच्चे बन्धन को भी दूर कर सकता है। मुक्ति आनन्द की नित्य अभिव्यक्ति इस प्रकार मानी जा सकती है और यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है कि सुख या आनन्द की अभिव्यक्ति, अन्य सामान्य शारीरिक सुख की तरह, शरीर से सम्बन्धित होनी चाहिए।[1]

शंकर-अनुयायी कहते हैं कि अपरिणामी आत्मा, जगत-प्रपंच का उपादान कारण नहीं हो सकता, और न कोई भी हो सकता है, वह अर्थापत्ति से अनुमित होता है कि जगत् का उपादान कारण अज्ञान हो सकता है, क्योंकि ऐसा ही उपादान कारण जगत्-प्रपंच का अज्ञान स्वरूप स्पष्ट कर सकता है। ब्रह्म को बहुधा जगत् का उपादान कारण कहा जाता है और वह प्रपंच में अंत:स्थित शुद्ध सत्ता के रूप में अधिष्ठान कारण है और यहां तक ही सत्य है। अज्ञान परिणामी कारण है और इसलिए जगत् के गुण भी अज्ञान जैसे हैं।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है, यद्यपि जगत् की रचना मिथ्या मान ली जाय, तो भी उससे आवश्यक रूप से भाव रूप अज्ञान को मानने का परिणाम नहीं निकलता। इस प्रकार, भ्रम रूप रजत बिना कारण के उत्पन्न होता है, या आत्मा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है, जो यद्यपि अखंड है किन्तु भ्रम से जगत् रूप दीख सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मिथ्या कार्य का मिथ्या पदार्थ ही कारण होगा। क्योंकि ऐसा सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। मिथ्यात्व के लिए सामान्य गुण की उपस्थिति यह निश्चित नहीं कर सकती कि मिथ्या पदार्थ आवश्यक रूप से मिथ्या कार्य का कारण होना चाहिए, क्योंकि दूसरी दृष्टि से उसमें और अन्य सामान्य गुण भी होंगे, और कार्य-कारण में गुणों की निरपेक्ष सदृशता निस्संदेह ही

[1] सद्विद्या विजय, पृ० 37.75 (हस्त०)।

नहीं है [1] इसके अतिरिक्त, कार्य में, आवश्यक रूप से सत्ता की एकता नहीं होती जो परिणामी उपादन कारण में होती हैं, इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादन कारण मानना असम्भव है जबकि जगत् में ब्रह्म जैसी निर्मलता न हो। यदि ब्रह्म जगत् का परिणामी कारण माना जाता है, तो निस्संदेह ही उसकी सत्ता जगत् की जैसी नहीं हो सकती, किन्तु यदि कोई पदार्थ इसके रूप में प्रकट हो सकता है तो उसे परिणामी कारण कहा जा सकता है और उसके लिए उस कार्य जैसी सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार, अविद्या का नाश और अन्त दोनों ही कार्य माने गए हैं और तो भी उनकी सत्ता उनके कारण जैसी नहीं है।[2] इसलिए यह तर्क नहीं किया जा सकता कि यदि ब्रह्म को जगत् का परिणामी कारण मान लिया जाय, तो जगत् ब्रह्म जैसा सत्य हो जायेगा। पुनः, जगत् में ब्रह्म के गुणधर्मों का न दीखना कर्म के प्रभाव के कारण अच्छी तरह समझाया जा सकता है। जगत् का अब्रह्म स्वरूप भी समझाने के लिए अज्ञान की पूर्व मान्यता आवश्यक नहीं है। मुक्ति का अज्ञान के अन्त के रूप में वर्णन करना भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह अवस्था, स्वयं आनन्दावस्था होने के कारण, हमारे प्रत्यनों का उद्देश्य मानी जा सकती है और अविद्या की मान्यता और उसकी निवृत्ति निर्मूल है।

महाचार्य ने पाठों के प्रमाण द्वारा यह बताने का प्रबल प्रयास भी किया कि शास्त्रों ने भी अविद्या को भाव रूप नहीं स्वीकारा है।

दूसरे अध्याय में महाचार्य यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि अज्ञान को एक आवृत करने वाले स्वतंत्र पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। शंकर-मतवादी तर्क करते हैं कि यद्यपि आत्मा का अहं-प्रत्यय में अनुभव होता है फिर भी उस अहं अनुभव में पूर्णानन्द ब्रह्म का तादात्म्य रूप से अनुभव नहीं होता, और इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्म के विशुद्ध रूप को ढक देने वाला कोई अज्ञान पदार्थ है। इस पर महाचार्य उत्तर देते हैं कि अज्ञान, क्योंकि अनादि माना गया है, उसकी आवरण-शक्ति भी अनादि होगी और फिर मुक्ति असम्भव होगी, तथा यदि ब्रह्म आवृत्त हो सकता है तो उसके स्वप्रकाश-स्वरूप का भी अन्त हो जायेगा और वह अज्ञ हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अनुभव, इस प्रकार होता है 'मैं अज्ञ हूँ' और वास्तव में अज्ञान अहं को लक्ष्य करता दीखता है। यदि यह माना जाता है कि आवरण का अस्तित्व अंतःकरण द्वारा, ब्रह्म की अपूर्णता समझाने के लिए ही केवल स्वीकारा

---

[1] ननु उपादानोपादेययोः सालक्षण्य-नियम-दर्शनादेव तत्सिद्धिरिति चेत्सर्वथा सालक्षस्य मृद्घटयोः अप्यदर्शनात् किंचित् सारूप्यस्य शुक्ति रजतादावपि पदार्थात्त्वादिनासत्त्वात्।
— वही, पृ. 577।

[2] यदुक्तं ब्रह्मणः परिणामितया उपादानत्वे परिणामस्य परिणामि-समान-सत्ताकत्व-नियमेन कार्यस्यापि सत्यत्व प्रसंग इति, तत्र किं परिणाम-शब्देन कार्य मात्रं विवक्षितं उत रूपान्तरापत्तिः, ध्वंसस्य अविद्या-निवृत्तेश्च, परिणामि-समान-सत्ताकत्वाभावात् न हि तद्रूपेण परिणामि किंचिदस्ति, न द्वितीयं रूपांतरापत्तेः परिणामि-मात्र-सापेक्षत्वात् गौरवेण स्वसमान-सत्ताक-परिणाम्यपेक्षाभावात्।
—सद्विद्या विजय, पृ. 77।

गया है, तो यह भली प्रकार बनाया जा सकता है कि ब्रह्म अहं रूप से मर्यादित दीखना अंतःकरण की उपाधि से भी समझाया जा सकता है, जिसके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है और इसके लिए माया का पृथक आवरण स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

पुनः यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न। पिछले प्रसंग में वह सदा ही अप्रकट रहेगा, और जगत् का भास असम्भव हो जायेगा। यदि आवरण अज्ञान से भिन्न कुछ वस्तु है, और जबकि वह शुद्ध चैतन्य से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं है, तो उसका व्यापार जगत्-प्रपंच को समझा नहीं सकेगा। यदि यह आवरण अज्ञान को अनिर्वचनीय कर देता है, तो यह पूछा जा सकता है कि यह आवरण अज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? पिछले विकल्प में, वह उस पर आश्रित न रहेगा, और पहले विकल्प में, अज्ञान को ब्रह्म का विरोधी मानना निरर्थक होगा। इस प्रकार, जिन उपाधियों द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है वही ब्रह्म के जगत् के पदार्थों के रूप में मर्यादित स्वरूप को समझाने में पर्याप्त हैं तो अज्ञान को पृथक् तत्त्व मानना अनावश्यक है।

पुनः यदि अज्ञान शुद्ध साक्षी चैतन्य को आवृत कर सकता है तो सारा जगत् अन्धा हो जायेगा, और कहीं कुछ भी ज्ञान न होगा। यदि साक्षी चैतन्य आवृत नहीं हो सकता, तो फिर ब्रह्म भी आवृत नहीं हो सकता। उसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म सर्वदा स्वप्रकाश है तो वह अज्ञान द्वारा कभी भी आवृत नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व का अर्थ यह है कि वह अवेद्य और अपरोक्ष है, तो आवरण का विचार लाना ही आनावश्यक है क्योंकि जो जाना नहीं जा सकता (अज्ञेय) वह इन दोनों में से एक भी नहीं है। पुनः, शंकर के अनुयायी मानते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के आनन्द अंश को ढकता है चिदंश को नहीं। यह स्पष्ट रूप से असम्भव है, क्योंकि उनके अनुसार चित् और आनन्द एक हैं, और यदि ऐसा है तो, फिर आनंद अंश ढक जाने पर चिदंश बाकी कैसे बच सकता हैं और एक ही अखंड तत्व ब्रह्म, दो भागों में कैसे विभक्त किया जा सकता है जिसका एक भाग आवृत्त होता है और दूसरा नहीं ? पुनः यदि आत्मा आनन्द स्वरूप माना जाता है और हमारी सुख के प्रति आसक्ति ब्रह्म पर अहंकार के मिथ्या आरोपण द्वारा समझायी जाती है, जबकि संसार की सभी वस्तुएँ आत्मा पर मिथ्या आरोपण मात्र ही हैं तो वे सभी आत्मा की तरह नित्य होंगी और दुःख भी हमारे लिए सुखकारक होगा।

तीसरे अध्याय में महाचार्य शंकर-अनुयायियों के अज्ञान के अधिष्ठान के मत का खण्डन करते हैं। शंकर-सम्प्रदाय के कुछ प्रवर्तक यह मानते हैं कि विषयों के अज्ञान अंश, उन विषयों में निहित शुद्ध चैतन्य द्वारा धारण किए जाते हैं। यद्यपि इन अज्ञान तत्वों के विकार विद्यमान हैं तो भी उनका हमारे 'अहं' से सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि दोनों, पदार्थ और अहं, अज्ञान भूमिका की अवस्थाएँ हैं। इस पर महाचार्य कहते हैं कि यदि जगत् के सभी पदार्थों के पृथक् और भिन्न अज्ञान कारण हैं तो यह सोचना गलत है कि सीप के अज्ञान द्वारा भ्रम रूप रजत उत्पन्न किया जाता है। यह कहना अधिक अच्छा होगा कि प्रमाता के अज्ञान ने 'अन्तःकरण' से बाहर निकलने पर रजत-भ्रम उत्पन्न किया। यदि सीप के अज्ञान को अनादि माना जाता है तो उसे मूल अज्ञान का विकार मानना निरर्थक है और यदि इसे विकार नहीं माना जाता तो उसका ज्ञान नहीं समझाया जा सकता।

पुनः कुछ अन्य लोग भी हैं जो यह मानते हैं कि पदार्थवर्त्ती अज्ञान किसी दृष्टि से ज्ञाता में भी रहता है और इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय में सम्बन्ध हो सकता है। इस पर महाचार्य कहते हैं कि ऐसा मत असम्भव है, क्योंकि पादर्थान्तिर्गत चैतन्य ज्ञाता में निहित चैतन्य से भिन्न है, और यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य अन्त में एक ही है तो सभी पदार्थ उसी प्रकार प्रकाशित होने चाहिए, जिस प्रकार कोई भी पदार्थ एक समय में एक ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। पुनः यदि विषयगत एवं ज्ञातृगत चैतन्य भेद-रहित है, तो फिर मनुष्य को 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा कहते हुए अज्ञान का क्यों अनुभव होना चाहिए ? यह अज्ञान का भाव ज्ञाता में क्यों अनुभव होना चाहिए और विषय में नहीं, जबकि दोनों के अन्तर्गत चैतन्य एक ही है, इसका कोई भी कारण नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त, प्रसंग में, जब एक व्यक्ति को किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो उस पदार्थ का सभी को ज्ञान हो जाएगा।

अन्त और भी हैं जो यह कहते हैं कि शुक्तिगत अज्ञान को अहं अनुभव का आधार है और शुक्तिगत चैतन्य उसका विषय है। इस पर महाचार्य यह कहते हैं कि अहं अनुभव के अन्तर्गत चैतन्य द्वारा आधारित अज्ञान का परिणाम नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो वह भिन्न पदार्थों को नहीं समझा सकता।

पुनः अन्य और हैं जो यह सोचते हैं कि जब कोई यह कहता है कि वह सीप को नहीं पहचानता तो वहाँ अज्ञान मूल अज्ञान को लक्ष्य करता है, क्योंकि यद्यपि अज्ञान का सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से है, वह सीप के अन्तर्गत चैतन्य से अभिन्न होने से सीप से भी सम्बन्ध रखता है और उसका इसी प्रकार ग्रहण भी हो सकता है। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि मिथ्या रजत भी अज्ञान से बना है, क्योंकि मिथ्या रजत का जबकि प्रत्यक्ष होता है, तो उसका द्रव्य के रूप में कोई उपादान कारण भी होना चाहिए।

इस पर महाचार्य का उत्तर यह है कि स्वगत अज्ञान के समाकल्पन का सम्बन्ध मूल अज्ञान से है, विषयों के द्रव्य रूप में पृथक्, अज्ञान को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है। यह सूचन नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान के साथ उससे सम्बन्धित अज्ञान का अन्त होता है, इससे अज्ञान एक पृथक् पदार्थ के रूप में सिद्ध होता है, क्योंकि ऐसे अज्ञान का हट जाना केवल एक अनुमान ही है, और यह भी माना जा सकता है कि विशिष्ट ज्ञान का अभाव, विशिष्ट अनुभव से होता है। प्रागभाव किसी पदार्थ की उत्पत्ति से नष्ट होता है। जब कोई कहता है कि 'मैंने अभी तक घड़े को नहीं जाना, उसे अब जानता हूँ' ज्ञान के अभाव का या अज्ञान का अन्त यहां विषय से साक्षात् और अपरोक्ष सम्बन्ध है जो ज्ञाता है। किन्तु पदार्थ को आवृत्त करते अज्ञान का निरसन ज्ञान के अनुभव से केवल उपलब्ध अनुमान ही है, वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। पुनः यदि मूल अज्ञान विषयगत शुद्ध चैतन्य को आवृत्त करता माना जाता है, तो विषय को ढकने के लिए पृथक् अज्ञान मानना अनावश्यक है। यदि यह माना जाता है कि विषयांतर्गत शुद्ध चैतन्य, ब्रह्म से अभिन्न होने से जिसे मूल अज्ञान कहा जाता है वह विषयाभास में मर्यादित रूप से चेतना में दीख सकता है, तो यह पूछा जा सकता है कि मूल अज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण पदार्थ ज्ञात होते हुए भी क्यों अज्ञात दीखता है। पुनः,

'मैं नहीं जानता' ऐसे अनुभव के संदर्भ में मूल अज्ञान अन्तःकरण से सम्बन्धित नहीं हो सकता, क्योंकि वह भौतिक पदार्थ है और वह स्वप्रकाश्य शुद्ध चैतन्य में नहीं हो सकता। जैसा भी वह है, वह अपने बारे में अज्ञ नहीं हो सकता।

उपरान्त यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि आत्मा चेतना में प्रकट होती है तो भी बहुधा वह शरीर से सम्बन्धित रहता है और यद्यपि विषय सामान्य रूप से ज्ञेय होते हैं तो भी उनके विशेष रूप अज्ञेय बने रह सकते हैं, यह परिस्थिति बहुधा अनिश्चितता उपस्थित करती है कि यह सब अज्ञान की मान्यता के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं समझाया जा सकता। यह सब स्वीकार किया जाय कहने पर भी अज्ञान को एक आवरण करने वाला तत्त्व मानना अयुक्त है। अनवधारण और आवरण दोनों एक नहीं है। मृगतृष्णा में जल का दीखना अनवधारण से शंकास्पद हो सकता है और यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अज्ञान ने यदि आवृत किया होता तो जल का दीखना भी नहीं हो सकता था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आवरण के कारण अनवधारण है, क्योंकि यह सहज ही आग्रह किया जा सकता है कि जबकि आवरण, सत्ता या स्वप्रकाशता के रूप में प्रकट नहीं हो सकती तो वह स्वयं अनवधारण का परिणाम है। यदि यह आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि अनवधारण स्वयं आवरण का स्वरूप-निर्माण करता है (अनवधारणत्वम् एव आवरणम्), तो यह कहा जा सकता है कि आवरण का कारण व्यक्तिगत अहं अभिन्न नहीं दीखता, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं होता कि हमारे मर्यादित जीव के अनुभव में अनिश्चितता है। यदि ऐसी अनिश्चितता होती तो अहं का अनुभव संदेहरहित रूप से न होता। पुनः यदि अज्ञान ही अनवधारण स्वरूप है तो, उसमें आवरण का पृथक् धर्म आरोपित करना निरर्थक है। यदि यह माना जाता है कि अज्ञान केवल शुद्ध चैतन्य द्वारा ही आधारित है, तो जीव को आवागमन के चक्र में क्यों पड़ना चाहिए, इसका कोई कारण नहीं दीखता, क्योंकि ऐसे अज्ञान से जीवों का कोई सम्बन्ध न होगा। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वह चैतन्य जीव द्वारा अभिव्यक्त होता है, तो यह भी आग्रह से कहा जा सकता है कि चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों के अन्तर्गत है, तो ईश्वर भी आवागमन के चक्र में फंस जायगा।[1]

ऐसा कभी कहा जाता है कि अंतःकरण को ही सुख-दुःख का अनुभव होता है और यही बन्धन है। अंतःकरण स्वयं शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या आरोपण होने से अंतःकरण के धर्म चैतन्य में हैं, ऐसा दीखता है। इस पर महाचार्य का उत्तर है कि यदि बन्धन अन्तःकरण में है तो फिर शुद्ध चैतन्य बद्ध नहीं माना जायगा। क्योंकि यदि बन्धन के दुःख शुद्ध चैतन्य के अंतःकरण से मिथ्या तादात्म्य के कारण हैं तो बन्धन अंतःकरण के कारण नहीं है किन्तु मिथ्या विचार से है। इसी प्रकार, महाचार्य, शंकर के अनुयायियों द्वारा, अज्ञान की सत्ता एवं तत् सम्बन्धी जगत्-रचना को समझाने के लिए दिए गए अनेक वैकल्पिक बोधार्थों की आलोचना करते हैं और अन्त में अपना यह मत प्रतिपादन

---

1 अज्ञानस्य चैतन्यमात्राश्रयत्वे जीवे संसार हेतुता नस्यात् वैयधीकरण्याच्चैतन्यस्यै व जीवे शविभागात् सामान्यधिकरण्ये ईश्वरस्या पि संसार प्रसंगः।

—सद् विद्य विभय, पृ० 107 (हस्त०)

करने का प्रयास करते हैं कि किसी भी प्रकार से अज्ञान का सम्बन्ध सोचना व्याघात से परिपूर्ण है, जिसे सुलझाना अशक्य है।

पुनः चतुर्थ खण्ड में महाचार्य, यह तर्क वितर्क करते हैं कि अज्ञान पारमार्थिक सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब अद्वैतवाद न रहेगा। उसे व्यवहार (व्यावहारिक) गत ज्ञात विषयों का द्रव्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह भ्रम के अनुभवों का द्रव्य नहीं हो सकेगा। यह कभी-कभी आग्रह किया जाता है कि मिथ्या वस्तु से भी, जैसेकि मिथ्या-भय सचमुच रोग होता है और मृत्यु भी, और इसलिए अज्ञान से भी सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। महाचार्य इस सादृश्य को मिथ्या बताते हैं, क्योंकि उपरोक्त उदाहरणों में भी ज्ञान ही उक्त परिणामों को उत्पन्न करता है। यदि अविद्या मिथ्या है, तो सभी भौतिक परिणाम भी मिथ्या होंगे, क्योंकि कार्य सर्वदा कारण से अभिन्न होता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि जबकि जगत् के पदार्थ मिथ्या हैं, तो ब्रह्म, जो श्रेष्ठ ज्ञान है और स्वयं अविद्या का कार्य है, वह भी मिथ्या होगा।

आगे, यदि अज्ञान एक माना जाता है तो फिर सीप के ज्ञान से कभी अज्ञान का अन्त हो जाना चाहिए, क्योंकि अज्ञान के अन्त के बिना सीप नहीं जानी जाती। यह नहीं कहा जा सकता कि सीप के ज्ञान से ही उसे छिपाने वाला आवरण हटाया गया है और अज्ञान का अन्त नहीं हुआ, क्योंकि अनुभव यह प्रमाणित करता है कि अज्ञान हटता है कि आवरण। इस प्रकार अनेक अज्ञान की सत्ता मानने में बाध्य होना पड़ता है। क्योंकि यदि यह माना जाता है कि ज्ञान केवल आवरण को ही हटाता है, तो अन्तिम मुक्ति-ज्ञान भी किसी विशिष्ट आवरण को ही हटाएगा, और इससे मूल अज्ञान का नाश न होगा। पुनः अज्ञान की जो ज्ञान द्वारा नष्ट किया जाता है ऐसी व्याख्या की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्पष्ट ही मिथ्या है कि ज्ञान को अज्ञान का कार्य माना जाय। कार्य कारण-पदार्थ को नष्ट नहीं कर सकता। पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की मुक्ति के समय, अज्ञान नष्ट हो जाता है तो ऐसा अज्ञान यदि वह एक ही है, तो वह सम्पूर्ण नष्ट हो जायगा और फिर कोई अज्ञान न बचेगा जो अन्य अमुक्त जीवों को बन्धन में डालेगा। ऐसा माना गया है कि अज्ञान मिथ्या है, क्योंकि इसका ज्ञान से नाश होता है इसी के साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि अज्ञान श्रुति द्वारा नष्ट होता है और जब एक वस्तु, दूसरे सच्चे पदार्थ द्वारा नष्ट होती है तो पहली वस्तु मिथ्या नहीं कही जा सकती।

पुनः अविद्या को जिसका अन्त ज्ञान-जन्य है ऐसा कहा है। अब ब्रह्म स्वयं अविद्या का अन्त है, किन्तु वह ज्ञानजन्य नहीं है। यदि ज्ञान, ज्ञान के अन्त का साधन (ज्ञान-साध्यत्वात्) माना जाता है, तो इससे यह अर्थ आवश्यक रूप से नहीं निकलता कि उसने अन्त कर दिया है (न च स्व जन्यत्वमेव स्वसाध्यत्वम्)। यदि ये दो प्रत्यय एक ही माने जाते हैं तो अविद्या-सम्बन्ध जिसको अविद्या का साधन माना जा सकता है उसे भी अविद्याजन्य मानना पड़ेगा, जो आत्माश्रय दोष उत्पन्न करता है।[1] इसी सादृश्यत से तर्क करते हुए, कोई यह भी कह सकता है कि अविद्या सम्बन्ध का अन्त अविद्या के अन्त पर

---

1 सद् विद्या विजय, पृ० 116।

आश्रित है, किन्तु इस प्रसंग में स्वयं अविद्या के अन्त का अर्थ अविद्या से सम्बन्ध जोड़ना होता है, इस प्रकार वह केवल पुनरुक्ति होती है।

पुनः साधारण मिथ्या दृष्टिकोण को, जो सच्चे ज्ञान से हट जाते हैं, उन्हें अविद्या से विविक्त करने हेतु अनादि किन्तु ज्ञान द्वारा सान्त कहा गया है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्या का नाश करने वाले इस ज्ञान का स्वरूप क्या है? क्या वह शुद्ध चैतन्य है या केवल अन्तःकरण की अवस्था या वृत्ति है। यदि वह शुद्ध चैतन्य है तो वह संस्कारों को नष्ट नहीं कर सकता क्योंकि वृत्ति ही चित्त के संस्कारों को नष्ट कर सकती है, और अविद्या अनादि संस्कार है तो वह शुद्ध चैतन्य रूप ज्ञान से नहीं हटायी जा सकती, इस प्रकार उसे अनादि मानना निरुपयोगी होता है। दूसरा, ज्ञान जो अविद्या को नष्ट करता है वह केवल अन्तःकरण की वृत्ति ही है, यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माना गया है कि वृत्ति-ज्ञान केवल अज्ञान के आवरण को ही हटा सकता है किन्तु अज्ञान को नहीं। यदि यह कहा जाता है कि वृत्ति अज्ञान एवं आवरण दोनों को हटाती है, तो अज्ञान की यह परिभाषा वह ज्ञान द्वारा हटाया जा सकता है अतिव्याप्त हो जाती है, क्योंकि वह आवरण को भी इंगित करेगी जिसका अज्ञान की परिभाषा में समावेश नहीं है। पुनः यदि अज्ञान अनेक माने जाते हैं तो ऐसी ज्ञानावस्था केवल साधारण पदार्थों को आवृत करने वाले अज्ञान को ही हटा सकेगी, इसलिए वह पूर्ण अविभक्त अज्ञान के लिए उपयुक्त न हो सकेगी जो केवल अखण्ड सत्ता के अपरोक्ष ज्ञान से ही हट सकता है, क्योंकि यह ज्ञान अन्तःकरण वृत्ति नहीं होगी, जो सर्वदा परिमित होती है।[2] यहाँ भी अज्ञान को ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करता हुआ मानना चाहिए, और अज्ञान के अन्त का साक्षात् कारण ज्ञान नहीं है किन्तु आवरण का हटाना है, दूसरा, आवरण का हटाना ज्ञान से होता है, और इसलिए परिभाषा के अनुसार इसे ही अज्ञान कहना चाहिए, क्योंकि आवरण अनादि है और ज्ञान द्वारा नष्ट होता है। महाचार्य आगे अविद्या की परिभाषा की अनेक आलोचनाएँ करते हैं तो अधिकतर पांडित्यपूर्ण हैं और इसलिए वे यहाँ उल्लेखनीय नहीं हैं।

पाँचवें खण्ड में महाचार्य अविद्या प्रकाशित होती है या प्रकट होती है इस पर विवाद करते हैं। यदि अविद्या स्वप्रकाश है, तो वह ब्रह्म जैसी सत् और चिद्रूप होती। यदि ब्रह्म का प्रकाश अविद्या की अभिव्यक्ति है, तो ब्रह्म नित्य होने से अविद्या की अभिव्यक्ति भी नित्य होगी, फिर भी अविद्या भासमान होती है वहाँ तक ही अपनी सत्ता रखती है ऐसा सदा माना गया है इसलिए वह मिथ्या है (मिथ्यार्थस्य प्रतिभास-समानकालीनत्व-नियमात्)। यदि अविद्या के प्रकाश का ब्रह्म के प्रकाश से अभेद माना जाता तो जहाँ तक ब्रह्म का प्रकाश रहता है वहाँ तक अविद्या भी रहेगी, इस तरह, अविद्या भी नित्य होगी। पुनः यदि यह आग्रह किया जाता है कि जब अविद्या का अन्त होता है तो उसके ब्रह्म के प्रकाश से अभेद का भी अन्त होगा और इसलिए ब्रह्म नित्य होगा और अविद्या नाशवान् होगी। इस वाद में एक और कठिनाई बताई जा सकती है। यदि अविद्या ब्रह्म के प्रकाश से अभेद रूप है तो या तो दूसरा मिथ्या होगा या पहला

1 वही।

सत्य होगा। यह सुझाव देना अर्थहीन होगा कि वे भिन्न होते हुए भी अभिन्न सत्ता रूप हैं (भिन्नत्वे सति अभिन्न-सत्वाकत्वम्)। यहाँ पर जो आलोचना दी गई है वह सिद्धांत तक ही प्रयुक्त हो सकती है। जबकि अविद्या प्रकाश को, ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाला प्रकाश है ऐसा समझाया जाय (अविद्या वच्छिन्नं ब्रह्म स्वरूपं अविद्या प्रकाशः) या उससे मर्यादित या उसके प्रतिबिम्बित होता है ऐसा समझाया जाय।

दूसरे खण्ड में महाचार्य अविद्या का अन्त किया जा सकता है इस विचार की असंगति बताने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट कर सकता है यह नहीं माना जा सकता। फिर अविद्या की सत्ता कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि शुद्ध चैतन्य सर्वदा विद्यमान है, वह स्वयं अविद्या का नाश करता है और इसलिए उसके नाश के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। यदि शुद्ध चैतन्य अविद्या को नष्ट नहीं कर सकता, तो वह वृत्ति के प्रतिबिम्ब द्वारा (वृत्ति प्रतिबिम्बत्वम्) भी ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपरिमित चैतन्य से अधिक और कुछ नहीं है। (चैतन्या-दधिक विषयत्वाभावे तद्धदेव निवर्त्तकत्वासम्भवात्)। यदि वृत्ति-प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य अविद्या का नाश नहीं कर सकता, तो वृत्ति-उपहित या मर्यादित होकर भी ऐसा नहीं कर सकता। वृत्ति अपने से उसे हटा नही सकती क्योंकि वह जड़ है। यदि ऐसा माना जाता है कि ज्ञान अज्ञान द्वारा उत्पन्न भ्रम-विचार को नष्ट करता है, वह शुद्ध चैतन्य से अभिन्न है, तो यही मानना चाहिए कि शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान को नष्ट करता है, ऐसे मत के विरोध में अभी हाल ही आक्षेप दिए जा चुके हैं। यदि ज्ञान और अज्ञान भिन्न हैं, तो यह सोचना मिथ्या है कि ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है, क्योंकि ज्ञान एक व्याघात है जो अज्ञान को नष्ट करता है और मान्यता के अनुसार अविद्या ज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त, अज्ञान को नष्ट करने वाले प्रकाश के आगे और कोई आवरण नहीं माना जा सकता जो उससे हटाया जाता है, इसलिए वह सच्ची दृष्टि से ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शंकर मतवादियों की मान्यता के अनुसार ज्ञान आवरण नष्ट करके कार्य करता है, आगे यह ज्ञान जगत् के समस्त पदार्थों का विरोधी है ऐसा माना गया है, और यदि यह ऐसा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इसी ज्ञान द्वारा ही अज्ञान नष्ट होता है? पुनः यदि ऐसा माना जाता है कि भ्रम, ब्रह्म पर सभी वस्तुओं का आरोपण ही है और ज्ञान इस मिथ्या आरोपण को हटाता है, तब ज्ञान, जबकि वह आवरण हटाकर ही कार्य करता हुआ माना गया है, तो यही मानना चाहिए कि अज्ञान ही मिथ्या आरोपण को आवृत करता था, यदि ऐसा है तो हमारे जागतिक अनुभव में ज्ञान ही प्रकट न होगा।

पुनः अविद्या का अन्त ही स्वयं समझ के बाहर है, क्योंकि वह ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता। यदि ऐसा है तो द्वैत हो जाता है और मुक्ति असंभव हो जायगी। यदि वह ब्रह्म से एक है, तो ऐसा होने से वह नित्य रहेगा और उसके बारे में प्रयत्न का कोई अवकाश न रहेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अविद्या और ब्रह्म आपस में विरोधी हैं, क्योंकि अविद्या का ब्रह्म ही आधार है और इसलिए वह विरोधी नहीं हैं।

लोकाचार्य के 'श्रीवचन भूषण' में प्रपत्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन और सौम्य जामातृ की उस पर टीका

'श्रीवचन भूषण' के अनुसार भगवान की कृपा सर्वदा उनके न्याय में निमग्न रहती है, किन्तु तो भी यह अस्तित्व रखती है और हम उसे विशेष उपाधियों के कारण समझ नहीं सकते। वह हमारे प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि तब भगवान् सदा कृपालु न रहेंगे (अनुभूत-दयाद्युद्भावक पुरुषकार-सापेक्षकत्वे नित्योद्भूतदया दिमत्वं व्याहतं स्यात्) 35 बी।

भगवान् की दया उसी पर अवलम्बित है, और किसी पर नहीं, किन्तु नारायण में लक्ष्मी निहित है, और वह उसका सार रूप है या उनका शरीर है, और जिन्होंने स्वेच्छा से अपना संकल्प पूर्णरूपेण नारायण से एकीकृत कर लिया है। यद्यपि ऐसी कल्पना के अनुसार लक्ष्मी नारायण के आश्रित है, तो भी भक्त के लिए नारायण और लक्ष्मी एक ही हैं और उसके लिए भगवान की दया अखण्ड रूप से लक्ष्मी और नारायण की ही दया है।

लक्ष्मी को नारायण की प्रीति का परम हेतु माना गया है जिन्होंने उनको अपना अंग माना है और लक्ष्मी ने भी अपने को उनसे इस प्रकार अभिन्न कर दिया है कि उनका, नारायण से पृथक् अस्तित्व नहीं है। वास्तव में लक्ष्मी के लिए नारायण का अपनी इच्छा से अनुरूप करने में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि वहाँ द्वैत भाव का नाम तक नहीं है, और इस कारण, भक्त को लक्ष्मी पर पृथक् रूप से निष्ठा रखने की आवश्यकता नहीं रहती। लक्ष्मी का स्वरूप भगवान की दया का शुद्ध सार है।[1]

जब भक्त अपनी स्वतन्त्रता एवं पृथक् अस्तित्व के मिथ्या विचारों के कारण, भगवान् से विमुक्त अवस्था में होता है, तब उसे अपनी स्वतंत्रता की मान्यता को त्याग देने एवं भगवान् को अपना परम ध्येय मानने की विरोधी दशा में प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु, एक बार उसने अपने मिथ्या अहंकार को त्याग दिया और अपने को भगवान् के पूर्णरूपेण शरणागत कर दिया तो फिर उसके लिए कोई प्रयत्न करना बाकी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में लक्ष्मी के प्रभाव से भक्त के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उनके प्रभाव द्वारा भगवान् उस पर दया करते हैं।[2] लक्ष्मी भी मनुष्य के हृदय में नैतिक अन्तः प्रबोधन द्वारा भगवान् की मैत्री साधने की आवश्यकता की भावना उत्पन्न करती हैं। वे द्विविध कार्य करती हैं, पहले वह मनुष्य के मन को मोड़ती हैं जो अनादि अविद्या के प्रभाव से ईश्वर के बजाय सांसारिक रसों में फँसा हुआ है, और दूसरा वे भगवान्

---

1 देव्या कारुण्य रूप येऽति तद्गुण-सारत्वेन कारुण्यं स्वयमेवेति।

—श्रीवचन भूषण (हस्त०)।

2 प्रपत्ते देश-नियमः काल-नियमः प्रकार-नियमः अधिकारि-नियमः फल-नियमश्च नास्ति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

टीका में उपरोक्त विचार, भारद्वाज संहिता के उद्धरण से पुष्ट होता है—

ब्रह्म क्षत्र विशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तर-जातयः।
सर्व एव पपद्येरन् सर्व धातारमच्युतम्। —वही।

का हृदय द्रवित करती हैं, जो मनुष्यों को उनके कर्मानुसार फल देने पर तुले हैं और उन्हें कर्म-बन्धन का अतिक्रमण कर भक्तों पर आनन्द वर्षा करती है।

भगवान् की रक्षा पाने के रूप में प्रपत्ति, पवित्र और अपवित्र स्थानों की मर्यादित उपाधियों से नियमित नहीं है और न किसी विशेष काल, या कोई विशेष प्रकार या जाति, नियम, अथवा किसी भी प्रकार के फल के बन्धन से भी बाधित है। जब भगवान् प्रपत्ति द्वारा किसी को स्वीकारते हैं तो उसके सभी विहित और अविहित दोषों को क्षमा कर देते हैं। कुटिलता (असरलता) और क्रूरता ही वे दोष हैं, जिन्हें वे क्षमा नहीं करते। लोग, अपने को निःसहाय पाकर, बचने का और कोई चारा नहीं होने के कारण प्रपत्ति अपनाते हैं या इसलिए वे ऐसा करते हैं वे ज्ञानी हैं और निश्चित रूप से यह जानते हैं कि यही श्रेष्ठ उपाय है, या उन्हें भगवान् में आर्वारों की तरह, सहज ही प्रीति है।[1] पहले दृष्टान्त में, सच्चा ज्ञान और भक्ति कम से कम हैं, दूसरे दृष्टान्त में, अज्ञान इतना अधिक नहीं है किन्तु भक्ति साधारण कोटि की है, तीसरे में, अज्ञान कम से कम है, और प्रीति उत्कृष्ट है और वास्तव में, प्रीति की उत्कटता में, भगवान् केस्वरूप का सच्चा ज्ञान भी डूब गया है। पहले में अपने अज्ञान का भान प्रबलतम है, दूसरे में, अपनी दैन्य एवं अज्ञान का भाव, भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान और उनके साथ अपने सम्बन्ध के ज्ञान से सन्तुलित है।

जिस भक्त ने अति प्रेम से, भगवान् की शरण ले ली है उसका कभी उनसे संयोग और कभी वियोग रहता है। पहली अवस्था में वह उदार गुण-पूर्ण भगवान् के साक्षात् सम्बन्ध से हर्षोन्माद से भर जाता है। किन्तु वियोग के क्षण में उस संयोग और हर्षोन्माद की स्मृति से उसे असीम दुःख होता है। ऊपर कहा गया है कि भगवान् की दया निरन्तर और सतत होती है, किन्तु यह होते हुए भी, हमारी स्वतन्त्रता की भावना हम में मिथ्या अहंता लाकर, भगवान् की दया का अवरोध करती है। प्रपत्ति धारण करने से अवरोधक भाव हट जाते हैं और वह भगवान् को हम पर अपनी दया करने में सहायक होता है। ऐसे विचार से, प्रपत्ति एक निषेधात्मक साधन ही समझना चाहिए। भावात्मक उपाय भगवान् है जो दया करते हैं। इसलिए प्रपत्ति को हमारी मुक्ति का कारण नहीं समझना चाहिए। वह केवल अवरोधक भावों को ही हटाती है और इसलिए उसे हमारी प्राप्ति कराने में कारण रूप नहीं समझना चाहिए—क्योंकि वह कारण, मात्र भगवान् ही है। भगवान् इस प्रकार प्राप्ति का साधन और हेतु दोनों हैं और भक्त के लिए उनकी प्राप्ति ही एक परम साधन है। यहाँ पर प्रतिपादित प्रपत्ति का मत स्पष्ट रूप से अन्य साधनों की आवश्यकता को अस्वीकार करता है। प्रपत्ति का सार भगवान् की शरणागति में निहित निष्क्रिय भाव तथा भगवान् को उसके प्रति अनुराग दिखाने का अवसर देने में है। जब भक्त इस चिन्ता का अन्त कर देता है कि

---

1 अन्तिम प्रकार के मनुष्यों के दृष्टान्त के रूप में 'श्रीवचन भूषण व्याख्या' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, भक्ति पार वश्येन प्रपन्ना भगवत्प्रेम-पौष्कल्येन पादौ स्तब्धौ मनः शिथिलं भवति चक्षु र्भ्रमति पादौ हस्तौ च निश्चेष्टौ इति उक्त प्रकारेण शिथिल करणत्वेन साधनानुष्ठान-योग्यता-भावादनन्य गतिकास्सन्तस्तस्मिन् भार-समर्पणं कृतम्।
—हस्त०।

वह किस प्रकार मुक्त होगा तब भगवान् उसे बचाने की इच्छा से प्रवृत्त होते हैं।[1] भक्त के भगवान् से इस प्रकार के सम्बन्ध के मत में, इस दार्शनिक सिद्धान्त का सन्निवेश है कि जीवों का अस्तित्व भगवान् के लिए है, उन्हें अपने स्वयं का कोई उद्देश्य पूर्ण करना नहीं है। अज्ञान के कारण ही जीव अपना कोई स्वतन्त्र हेतु मानता है। भगवान् में उत्कट प्रेम द्वारा इस स्थिति का अस्वीकार, उनके आपस के सम्बन्ध को दार्शनिक तथ्य से आध्यात्मिक तथ्य के रूप में अनुभव कराता है।

जीव, चित् और आनन्द रूप है और अणु है ये उसके तटस्थ लक्षण हैं। भगवान् और जीव के अन्तरंग सम्बन्ध को उनकी दासता से ही श्रेष्ठ रूप से वर्णित किया जा सकता है।

प्रपत्ति के साथ संवेगात्मक राग इस प्रकार का है कि भक्त, भगवान् के प्रति अपने मृदु प्रेम से उनमें भी वही राग उत्पन्न करता है जिससे प्रेम भाव एक ओर आनन्दानुभव माना जाय और दूसरी ओर प्रेमी और प्रेमिका सम्बन्ध माना जाय। निम्न कोटि की पहली प्रपत्ति सर्वदा स्वाभाविक अनुराग से प्रेरित नहीं होती, किन्तु अपनी निस्सहायता एवं अकिंचनता के भान से होती है।[2] उपेय की दूसरी अवस्था में, भक्त भगवान् के प्रति गहन प्रेम में इतना प्रेरित होता है कि वह अपने बारे में कुछ भी नहीं सोचता, और प्रेम का उन्माद इतना गहरा हो जाता है कि वह उसे शरीर के विनाश की ओर ले जा सकता है। इसे पारिभाषिक शब्दों में राग-प्राप्त-प्रपत्ति कहा है।

भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को प्रेमिका का प्रेमी से लगन तथा गोपी और कृष्ण की उपमा से समझाया गया है, और ऐसा माना गया है, कि यह गहरा भाव कामुक प्रेम जैसा है जो प्रेमी और प्रेमिका के विवाह की ओर ले जाता है। भक्ति, अज्ञान से असम्बद्ध एक विशिष्ट प्रकार की चेतना है जो गहन राग के रूप में प्रकट होती है। भक्त, विरह-पीड़ित स्त्री की सभी अवस्थाओं का अनुभव करता है। भक्त प्रेमी के समस्त भाव, भगवान् की प्रीति जगाने के लिए हैं। जिस प्रकार प्रेम से अभिभूत स्त्री का व्यवहार, प्रेमी में स्मित उत्पन्न करने या आँखों में प्रकाश लाने के हेतु होता है ठीक उसी प्रकार भक्त का राग, भगवान् को रिझाने के हेतु होता है।[3] इसे सिद्ध प्रेम

---

1 अस्य इच्छा निवृत्ता चेत् तस्येच्छा अस्य कार्यकरी भवति।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

2 इसे उपाय अवस्था कहा है, जहाँ भक्त भगवान् को अपनी परम प्राप्ति के साधन के रूप में खोजता है।

3 अज्ञान निवृत्तिपूर्वकभक्ति-रूपापन्नं ज्ञानं प्रसाधितम्। महद् विवाह-जनक-कामं समुद्रतुल्यतया वर्धयन् मेघ-सदृश-विग्रहोऽस्मत् कृष्ण इत्येवं भूत-प्रवृतिहेतो भक्ते रूत्पादको वर्धकश्च। सा एव हि तस्य भक्ति-पारवश्य-निबंधना प्रवृतिरुपाय फलमित्युच्यते····प्राप्यत्वरया स्त्री व्रतया नेद्व भ्रमणेन एतस्य संभ्रमा सर्वं मद् विषयासां कृत्वा एवमवस्था लब्धा इति तन्मुख-विकासार्थं क्रियमाण कैंकर्यवदु-पेयान्तरभूता।

—श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

माना गया है। ऐसे प्रेम से उन्मत्त भक्तों को धर्म का कोई बन्धन नहीं होता। जिन भक्तों की प्रेमी की उन्मत्तावस्था इतनी है कि वे प्रपत्ति की बँधी या उपाय अवस्था के नियमों की राह नहीं देख सकते और उन्हें पालन भी नहीं कर सकते, वे ही मानों भगवान् से अपने द्रवित हृदय से भेटने को बाध्य हो जाते हैं। प्रपत्ति के साधारण नियम उन्हें बांधते नहीं हैं। उपरोक्त कथयानुसार प्रपत्ति की तीनों अवस्थाओं का पालन करने में स्वगत परिश्रम (पुरस्कार) आवश्यक यहीं तक है कि जीव शरणागत रहे जिससे भगवान् उनके दोष और त्रुटियों को स्वीकार करने के लिए राजी हो जाय और उन्हें अपनी भगवत् कृपा से हटा दें। जो प्रपत्ति की अवस्था में आगे बढ़े हुए हैं, अर्थात् जो परमार्त हैं, भगवान उनसे प्रारब्ध कर्मों को भी हटा देते हैं और सत्वर मुक्ति प्रदान करते हैं।

जो प्रपत्ति धारण करता है वह मुक्ति पाने की चिन्ता भी नहीं करता, उसे किसी विशेष प्रकार की मुक्ति मिल जाय इस पर भी, वह रुचि नहीं दिखाता। मुक्ति चाहना और साथ ही साथ जीवन की किसी विशेष स्थिति को पसन्द करना अहंकार है। किन्तु जिस पुरुष ने हृदय से प्रपत्ति-मार्ग अपनाया है उसे अहंकार के अन्तिम सूक्ष्म संस्कारों को भी नष्ट करना चाहिए। अहंकार, एक ओर अज्ञान बढ़ाता है, क्योंकि मिथ्या अज्ञान द्वारा ही मनुष्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है, दूसरी ओर अहंकार क्रोध का सूचक है। ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् कपट के अतिरिक्त सभी पापों को माफ कर देते हैं। इसलिए प्रपत्ति के लिए मूलतः अहंकार का नाश अवश्य होना चाहिए। अहंकार के नाश द्वारा ही प्रपत्ति के योग्य पूर्ण शरणागति सम्भवित है।[1]

प्रपत्ति द्वारा परम श्रेय की चार पूर्वावस्थाएँ निम्न हैं: (1) ज्ञान दशा, अर्थात् वह अवस्था जिसमें गुरु के उपदेश से भक्त भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है (2) वरण दशा, इस अवस्था में भक्त, निस्सहाय शरणागति भाव में भगवान् को ही एक ही मात्र रक्षक के रूप में अपनाता है। (3) प्राप्ति-दशा, भगवान् की प्राप्ति की दशा, (4) प्राप्यानुभव दशा, अर्थात् भगवान् को पाकर वह परम श्रेय को पहुंचता है।[2]

प्रपत्ति का सिद्धान्त, अवश्य ही अत्यन्त पुरातन है। यह अहिर्बुध्न्य संहिता, लक्ष्मी तन्त्र, भारद्वाज संहिता और पंचरात्र ग्रंथ में पाया जाता है। श्री वैष्णव के लेखक इसे तैत्तरीयोपनिषद्, कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्, महाभारत और रामायण जैसे और पुराने ग्रन्थों में खोजते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता में प्रतिपादित प्रपत्ति का उल्लेख हो चुका है। भारद्वाज संहिता में, प्रपत्ति को, भगवान् में आत्मसमर्पण कहा गया है, और उसका वर्णन बहुत कुछ अहिर्बुध्न्य संहिता जैसा ही है। जो भक्त प्रपत्ति का मार्ग धारण करता है वह वैष्णवों के साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म से मुक्त नहीं होता।

---

1 एवं भूतस्य शरीर-स्थिति-हेतुः प्रारब्ध कर्मेति नवक्तुं शक्यते सर्व-पापेभ्यः मोक्षयिष्या-मीत्यनेन विरोधात्। — वही, हस्त०।

2 श्रीवचन भूषण व्याख्या, हस्त०।

भारद्वाज संहिता में इस मार्ग के प्रतिकूल एवं अनुकूल कर्मों का विस्तार सहित वर्णन किया गया है। रामानुज, अपने शरणागति गद्य में, उस प्रपत्ति मार्ग का समर्थन करते हैं जिसमें भक्त केवल नारायण की ही शरण नहीं लेता किन्तु लक्ष्मी की भी लेता है। किन्तु शरणागति-गद्य या गीता की टीका में भी यह उल्लेख नहीं है कि जिसने प्रपत्ति को अपनाया वह वर्णाश्रम तथा अन्य धर्मों से मुक्त है और न उनके समझाए अनुसार लक्ष्मी का कार्य प्रपत्ति के फल को देता है। भगवत् गीता के श्लोक द्वारा (सर्व धर्मान् परित्यज्य 18–66) समझाते हुए वे कहते हैं कि भक्त को अपने सभी साधारण धर्म विना फलाशा के पालन करना चाहिए।[1] प्रारब्ध कर्मों के नाश के बारे में भी रामानुज और वेंकटनाथ मानते हैं कि यद्यपि बहुत से भगवान् की कृपा से नष्ट हो जाते हैं तो भी कुछ अंश रह ही जाता है।[2] वात्स्यवरद, प्रपन्न पारिजात में इसी विचार का

1 वेंकटनाथ अपनी तात्पर्य दीपिका में गीता पर रामानुज भाष्य (श्लोक 18–66) पर कहते हैं: ऐतच्छलोकापात-प्रतीत्या कूट युक्तिभिश्च यथा वर्णाश्रम-धर्म स्वरूप-त्यागादिपक्षो नोदेति तथा उपपादितम्।

2 साध्य भक्तिस्तु सा हंत्री प्रारब्धस्यापि भूयसि। (शरणागति पद्य पर, वेंकटनाथ की रहस्य रक्षा नामक टीका पृ० 50, वाणी विलास प्रेस, 1910)।

न्यास विंशति और न्यास तिलक में, जिसकी वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ की न्यायतिलक व्याख्या में इस पर टीका की है प्रपत्ति का वर्णन लोकाचार्य के वर्णन जैसा ही है। प्रपत्ति दक्षिण वैष्णव-पंथ का प्राचीन सिद्धान्त है और उसके मूलभूत गुण बहुत कुछ आत्यन्तिक हैं। न्यास तिलक व्याख्या में इस पर बड़ा बल दिया गया है कि भगवान् की प्राप्ति के लिए, प्रपत्ति, भक्ति से भिन्न मार्ग है और उससे श्रेष्ठ है। श्रीवचन भूषण में भक्ति को प्रपत्ति के मार्ग का मध्यस्थ मानने की प्रवृत्ति है। न्यास तिलक व्याख्या में यह कहा है कि प्रपत्ति और भक्ति में मुख्य भेद पहला यह है कि पहला निरन्तर ध्यान रूप है, जबकि दूसरा यह एक बारगी करना पड़ता है, दूसरा भेद यह है कि प्रारब्ध कर्म पहले से नष्ट नहीं होते जबकि दूसरे में भगवान् की कृपा से वे नष्ट किए जा सकते हैं, तीसरा यह कि पहले में अनेक सहायक पूजा पद्धति की मांग रहती है—निरन्तर कर्म और निरन्तर प्रयत्न—जबकि दूसरे में, अमाप श्रद्धा है: चौथा भक्ति चिरकाल में फल देती है, जबकि प्रपत्ति उन्हीं के लिए है जो अचिरात् फल चाहते हैं, पांचवां, भक्ति के भिन्न उद्देश्य हो सकते हैं और तद्नुसार भिन्न फल भी दे सकते हैं, जबकि प्रपत्ति, निस्सहाय शरणागति रूप होने से सभी फल तुरन्त ही लाती है। उत्कट श्रद्धा प्रपत्ति की नींव है। अनेक अवरोधों में से, यह श्रद्धा और भगवान् के प्रति राग, भक्त को अपनी सिद्धि प्राप्त कराता है। इन कारणों से भक्ति मार्ग, प्रपत्ति से निम्न कोटि का है। गुरु के प्रति प्रपत्ति भगवान् में प्रपत्ति का एक भाग माना गया है। श्रीवचन भूषण और न्यास तिलक में प्रपत्ति के विचार में भेद यह हैकि न्यास तिलक में, जिन्होंने प्रपत्ति मार्ग अपनाया है उनके लिए भी शास्त्रोक्त विधि का त्याग और निषिद्ध कर्मों का वर्णन अनिवार्य माना है, क्योंकि शास्त्र भगवान् के आदेश हैं। श्रीवचन भूषण के अनुसार जिस मनुष्य ने प्रपत्ति का मार्ग अपनाया है, वह प्रपत्ति द्वारा उत्पन्न मानसिक स्थिति के

अनुसरण करते हैं। वेंकटनाथ भी, न्यास विशंति में, और न्याय तिलक में, इसी मत की पुनरावृत्ति करते हैं, और अणणचार्य, वेदान्ती रामानुज के शिष्य इस मत का, अपने प्रपत्ति प्रयोग में अनुसरण करते हैं। वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ भी न्यास तिलक व्याख्या और न्यासकारिका में इस मत को दोहराते हैं। तेंगलाई पंथ के नेता, लोकाचार्य और सौम्य जामातृ के मत इनसे इस बात में भिन्न हैं कि उपरोक्त प्रपत्ति सिद्धांत जबकि निम्न कोटि के लोगों के लिए ठीक हो सकता है, उच्च कोटि के भक्त जो भगवान् के प्रेम में बिल्कुल उन्मत्त हो गए हैं, वे इसी मानसिक अवस्था के कारण कोई साधारण धर्म का पालन नहीं कर सकते और इसलिए उन्हें इनसे सर्वथा मुक्त कर दिया गया है। उनके प्रारब्ध कर्म भी, भगवान् की कृपा से सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। वरगलै और तेंगलै पंथ में अधिकतर भेद, तैंगले मत द्वारा उच्च प्रकार की प्रपत्ति पर बल देना ही है।

कस्तूरी रंगाचार्य

कस्तूरी रंगाचार्य, जो श्री रंग सूरि भी कहलाते थे, सम्भवतः सौम्य जामातृ मुनि के शिष्य थे, और सम्भवतः 15वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में या सोलहवीं के आरम्भ में रहे होंगे। रामानुज के मत में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ दीखता है जैसाकि शंकर के मत में पाया जाता है। रामानुज के अनुयायियों ने आगामी शताब्दी के अन्तर्गत, रामानुज के सिद्धान्तों का सरलार्थ करने में और उनके सिद्धान्त की पुष्टि में नए तर्क देने में या उनके प्रतिवादियों के तर्कों के खण्डन में और दूसरी प्रणालियों के सिद्धान्तों में दोष-दर्शन करने में, लगभग सारा प्रयत्न लगा दिया। वेंकटनाथ द्वारा भक्ति का स्वरूप और मुक्ति का अन्तिम स्वरूप, और उनसे सम्बन्धित अन्य विषयों को समझाने के प्रयत्न से अवश्य ही, साम्प्रदायिक मतभेद खड़ा हो गया। कुछ बाह्य कर्म-काण्ड में भी, इसी समय से, भेद देखा जा सकता है। एक पंथ[1] (वड़ कलै या उत्तर कलार्य) के अग्रणी वेंकटनाथ थे और दूसरा पंथ (तैंगलै या दक्षिण कलार्य) लोकाचार्य और सौम्य जामातृ मुनि के नेतृत्व में था।

कस्तूरी रंगाचार्य ने 'कार्याधिकरणवाद' और 'कार्याधिकरण तत्त्व' नामक दो ग्रंथ रचे, जिनमें उन्होंने इन दो पंथों के महत्त्वपूर्ण भेदों का विवरण किया है और तेंगले या दक्षिणकलार्य पंथ का समर्थन किया है। ब्रह्म सूत्र (4-3, 6-15) के कार्याधिकरण-वाद नामक विषय पर रामानुज के स्पष्टीकरण के अवसर पर एक विवाद खड़ा हो गया था। इस टीका में, ज्ञान या उपासना द्वारा निरपेक्ष अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है इस विषय पर उपनिषद् के पाठों से कुछ कठिनाइयाँ खड़ी हो गईं। बादरी कहते हैं कि

कारण, शास्त्रोक्त धर्म पालन करने के लिए असमर्थ हो जाता है। वह इसलिए उनसे अतीत हो जाता है।

1 सर्वासु विप्रतिपत्तिषु पूर्वा कक्ष्या वेदान्ताचार्य-तदनु-
सन्धिनाम् उत्तराकक्ष्या-सेज्ञानाम् उत्तरा त
लोकाचार्य-तदनुसन्धिनां दक्षिण कलार्य संज्ञानामिति विवेको बोध्यः।
—कार्यकारणाधिकरण वाद, 8.2।

सर्जित किए जीवों में महान् हिरण्यगर्भ की उपासना से नित्य अमरत्व प्राप्त होता है : जैमिनि कहते हैं कि केवल परम ब्रह्म की उपासना से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है। बादरायण, तो उनके मतों का तिरस्कार करते हैं और इसमें मानते हैं कि जो लोग अपनी आत्मा को प्रकृति से स्वभावतः पृथक् मानते हैं और ब्रह्म का अंश मानते हैं, वे ही नित्य अमरत्व पाते है।

जो भौतिक गुणों से अपनी मूल भिन्नता अनुभव नहीं कर सकते, जिससे कि वे संयुक्त हुए दीखते हैं वे परम अमरता को प्राप्त नहीं कर सकते और उन्हें जन्म-मरण के चक्र में जाना पड़ता है। जो ब्रह्म से अपना सम्बन्ध योग्य प्रकार से समझकर उपासना करते हैं वे ही परम अमरता प्राप्त करते हैं। रंगाचार्य ने उपासना का स्वरूप गीता में कहे अनुसार ब्रह्म की श्रद्धापूर्वक उपासना के रूप में वर्णित किया है। (श्रद्धापूर्वकम् ब्रह्मोपासनम्)। श्रद्धा साधारण अर्थ में विश्वास कहा जाता है। रंगाचार्य और तैंगले पंथ के विचारकों द्वारा श्रद्धा विशेष अर्थ में प्रयुक्त की गई है। इस प्रकार, पहली अवस्था भगवान् के उदार और श्रेष्ठ गुणों का पूर्ण अनुभव है, दूसरी अवस्था, इस अनुभव से राग की उत्पत्ति है, तीसरी अवस्था, भगवान् को अन्तिम उद्देश्य के रूप में मानना और उन्हें हमारे स्वरूप की पूर्णता समझाना है, चतुर्थ अवस्था उन्हें हमारे जीवन का एक मात्र प्रिय जन मानना है, पांचवीं अवस्था, उनसे तीव्र प्रीति के कारण उनके वियोग को अशक्य अनुभव करना है, छठी अवस्था भगवान् हमारी परिपूर्णता का एक मात्र साधन है ऐसा अखण्ड विश्वास है, और सातवीं और अन्तिम अवस्था, उन्हें दृढ़ता से ग्रहण करने के लिए उद्यत होना है। श्रद्धा सातवीं अवस्था है जो पिछली सभी अवस्थाओं के साथ उन्हें एकाकार करने वाली अवस्था है। इस श्रद्धा के साथ भगवान् की उपासना को भक्ति भी कहा जाता है। भगवान की उपासना उनके प्रति अथाह प्रीति है (प्रीतिरूपोपशान्तत्व-लक्षणम्)। भौतिक तत्वों से हमारे स्वरूप की भिन्नता का अनुभव ही केवल पर्याप्त नहीं है जो पंचाग्निविद्या-पद्धति का अनुसरण करते हैं उन्हें विवेक ज्ञान ही मिलता है, वे भगवान् को अपनी परिपूर्णता का अन्तिम ध्येय नहीं समझते।

उत्तर कलार्य और दक्षिण कलार्य के बीच विवाद का पहला विषय कैवल्य के स्वरूप के बारे में है, जिसके अनुसार आत्मानुभव ही पुरुषार्थ है (आत्मानुभव-लक्षण-कैवल्याख्या-पुरुषार्थः)। उत्तरकालार्य के अग्रणी, वेंकटनाथ, यह सोचते हैं कि जो लोग ऐसी मुक्ति पाते हैं उन्हें पुनः वापस आना पड़ता है, अर्थात्, ऐसी मुक्ति नष्ट होती है। दक्षिण कलार्य, पंथ तो इसे नित्य मुक्ति मानता है। इस प्रकार, वेंकटनाथ, अपने 'न्याय सिद्धांजन' में, कहते हैं कि भौतिक तत्वों से भिन्न ऐसा आत्मानुभव पर्याप्त नहीं है, किन्तु यह, आत्मा भगवान् का अंश है और उनके सर्वथा अधीन है, और यह मत श्रीभाष्य में माना गया है।[1] वे अपना स्वरूप आनन्द रूप अनुभव करना और भगवान्

---

[1] परम पुरुष-विभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनः स्वरूप-याथात्म्य वेदनमपवर्ग-साधनाभूत-परम पुरुष वेदनोपयोगितया आवश्यकम्। न स्वत एव उपायत्वे नेत्युक्तम्।

—न्याय सिद्धांजन, पृ० 82।

के आनन्दमय स्वरूप को अनुभव करने में भेद करते हैं। पहला दूसरे के बिना हो सकता है। यह मानना पड़ता है कि कैवल्य में अचित् संसर्ग रहता है, क्योंकि यहाँ कर्म का सर्वथा नाश नहीं होता, क्योंकि अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना, अपने को भगवान् का अंश समझना है, और जहाँ तक इसकी प्राप्ति नहीं होती वहाँ तक हम माया से प्रभावित हैं। ऐसे पुरुषों को भगवान् के दर्शन में माया अवरोध करती है। जिन्होंने कैवल्य प्राप्त किया है उनका गति क्या होती है--इस विषय में वेंकटनाथ तो कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते। वे केवल यह प्रतिपादन करते हैं कि वे नित्य बाह्य स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस बारे में भी अनिश्चित हैं कि कैवल्य-प्राप्त पुरुषों का देह से संसर्ग रहता है या नहीं। उन्हें इसका भी ज्ञान है कि कैवल्य के बारे में उनका स्पष्टीकरण सभी शास्त्र पाठों से युक्ति संगत नहीं है, किन्तु वे सोचते हैं कि जबकि कुछ शास्त्र पाठ उनके मत का समर्थन करते हैं तो अन्य पाठों को भी उसी दृष्टि से देखना चाहिए।

कस्तूरी रंगाचार्य तो प्राचीन द्रविड़ ग्रन्थों के प्रमाणानुसार और गीता तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म-ज्ञान से मुक्ति पाने वाले, निरपेक्ष अमरता को प्राप्त होते हैं। आत्म-ज्ञान द्वारा मुक्ति तथा भगवान् से सम्बन्ध रखते हुए आत्म-ज्ञान के बीच केवल भेद, अनुभव की महानता तथा प्रचुरता में ही है, पिछला पहले से इसी दृष्टि से उच्च है।[1] उत्तर कलार्य और दक्षिण कलार्य में अन्य भेद उपरोक्त कहे गए विषयों से निकट सम्बन्ध रखते हैं। इनका विवरण कार्याधिकरणवाद के दूसरे प्रकरण में, निम्न प्रकार से दिया गया है। उत्तरकालार्यवादी सोचते हैं कि जो आत्म ज्ञान की मुक्ति कैवल्य के रूप में प्राप्त करते हैं वे अन्तिम मक्ति पाने वाले पुरुषों से, अन्य प्रणाली में होकर उच्च लोक को प्राप्त करते हैं। दक्षिण कलार्यवादी इसे अस्वीकार करते हैं। दूसरा, पहले मतवादी यह मानते हैं कि प्रकृति के तत्वों से नितान्त पृथक् हो जाना मुक्ति के समान है, पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं, तीसरा, उत्तरकलार्य, मानते हैं कि जो कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं वे सूक्ष्म अचित् अशुद्धताओं से सम्बन्धित रहते हैं, उन्हें दूरस्थ अर्थ में ही मुक्ति प्राप्त है ऐसा माना जा सकता है। दक्षिण मतवादी इसे चाहते हैं। चौथा, पहले मत के अनुसार, जो कैवल्य प्राप्त करते हैं उनका स्थान प्रकृति के अचित् जगत् के क्षेत्र में ही रहता है इसलिए

वेंकट अपने मत की पुष्टि के लिए वरद विष्णु मिश्र का उल्लेख करते हैं 'निःशेष कर्म क्षयाभावात् कैवल्य-प्रान्तौ न मुक्तिः।'

वे 'संगति माला' का उल्लेख करते हैं जहाँ विष्णुचित्त कहते हैं कि मनुष्य ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी ऐसी गलतियाँ कर सकता है कि सच्ची ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के बजाय वह कैवल्य की निम्नावस्था प्राप्त कर ले जैसेकि कोई स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ करता हुआ ऐसी गलती कर दे कि वह स्वर्ग प्राप्त करने के बजाय ब्रह्म राक्षस बन जाय। —वही, पृ० 84।

1 कार्याधिकरणवाद, 3:79। कस्तूरी रंगाचार्य द्रविड़ और संस्कृत ग्रन्थों के इस मत के समर्थन में, बहुत से उद्धरण देते हैं।

उनकी अवस्था परिवर्तनशील रहती है, किन्तु पिछले मतवादी इसे अस्वीकार करते हैं। पांचवां, पंचाग्नि विद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वे कैवल्य प्राप्त पुरुषों से भिन्न होते हैं ऐसा उत्तरकलार्य मानते हैं, किन्तु दक्षिण कलार्य कहते हैं ऐसा और नहीं भी हो सकता है। छठा, उत्तरकलार्य यह मानते हैं कि जब कोई पंचाग्नि-विद्या द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न करते हैं वे भौतिक जगत् (प्रकृति) के क्षेत्र में ही रहते हैं जब वे केवल आत्म-ज्ञान ही प्राप्त करते हैं, किन्तु जब वे ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध अपना स्वरूप जान लेते हैं, तब वे प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं, दक्षिण कलार्य ऐसा नहीं मानते। सातवां, उत्तरकलार्य का यह कहना है कि पंचाग्नि-बिद्या द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो भगवान् से अपना क्या सम्बन्ध है इसे जानते हैं उनमें समान गुण-धर्म होते हैं, दक्षिण कलार्य इसे नहीं मानते हैं। आठवां, पहले यह मानते हैं कि प्रकृति के अतीत होने पर, स्वानुभव में कोई भेद नहीं हो सकता, किन्तु दक्षिण कलार्य इसे भी नहीं मानते।[1]

अपने कार्याणिकरण तत्व में, रंगाचार्य उन्हीं तर्कों को और उन्हीं विषयों पर विवेचन करते हैं जो कार्याधिकरणवाद में हैं।

शैल श्री निवास

शैल श्रीनिवास, श्रीनिवास ताताचार्य के पुत्र कौंडिन्य श्रीनिवास दीक्षित के शिष्य थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता अन्नयार्य दीक्षित के ग्रन्थों से बहुत प्रभावित थे, उनके कुछ ग्रन्थ, अपने बड़े भाई द्वारा लिखे ग्रन्थों के विस्तार ही हैं। उन्होंने जो ग्रन्थ लिखे उनमें से 'विरोध भजनी' एक है। शैल श्रीनिवास ने कम से कम छः ग्रन्थ रचे, 'विरोध निरोध,' 'भेद दर्पण,' 'अद्वैत वन कुठार,' 'सार दर्पण,' 'मुक्ति-दर्पण,' 'ज्ञान रत्न दर्पण,' 'गुण दर्पण' और 'भेद मणि'।

'विरोध निरोध' में, जो सम्भवतः उनका अन्तिम ग्रन्थ है, वे मुख्यतः शंकर-अनुयायियों द्वारा रामानुज के सिद्धान्तों पर की हुई आलोचनाओं को, तथा अन्य वेदान्त के लेखकों की आलोचनाओं को, जैसेकि रामानुज के सिद्धान्त शास्त्र प्रमाणित नहीं है—यह बताकर, समझाने की कोशिश करते हैं कि शास्त्र रामानुज के पक्ष में है, अन्य वेदान्त मतों के पक्ष में नहीं है।

'विरोध निरोध' के पहले अध्याय में, शैल श्री निवास, सबसे पहले, इस मत को लेते हैं कि ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है–जो उनके अनुसार तभी सम्भव है जबकि ब्रह्म चित्-अचित्-विशिष्ट हो। (ब्रहमणि चिदचिद् विशिष्टरूपता-मन्तरेण न घटते)। ब्रह्म स्वरूप से अपरिणामी है किन्तु चित् अचित् अंशों में परिणामी है। ब्रहम् कारण रूप से, चित और अचित् की सूक्ष्म अवस्था से सम्बन्धित है, जब वह परिणत होता है, जीव, कर्म-परिपाक के कारण ज्ञान की भिन्न अवस्था में विकास और विस्तार करते हैं और अचित् गोचर जगत् के रूप में स्थूल अवस्था में परिणत

---

1 कार्याधिकरणवाद, 2-7।

होता है, इन दोनों में अन्तर्यामी रूप से भगवान् का अंश, इतना ही परिणाम हो पाता है जितना इन दो परिणामी तत्वों के संयोग द्वारा सम्भव है ।[2]

शास्त्र जब ब्रह्म को अपरिणामी कहते हैं तब उनके कहने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जीव और जड़ कर्म द्वारा परिणाम पाते हैं उस प्रकार वह परिणाम नहीं पाता । किन्तु इससे ब्रह्म् उपादान कारण है यह असिद्ध नहीं होता ।[1] ब्रह्म् के दो अंश हैं एक द्रव्यगत दूसरा विशेषणात्मक । द्रव्यात्मक भाग, उसके सूक्ष्म अचिदश द्वारा, स्थूल अचित् अंश उससे अपृथक् होने के कारण, उसमें समाविष्ट रहता हुआ माना गया है । ब्रह्म का चिदंश भी है जो विचार अनुभव द्वारा वृहत् होता है और जीव रूप व्यवहार करता है । इस प्रकार ब्रह्म् चित् अचित् अंश द्वारा विकार पाता है और इस दृष्टि से भगवान् अपने दो अंश द्वारा तथा अन्तर्यामी रूप से स्वतन्त्र सम्बन्धित होकर, विकासात्मक है । वेंकटनाथ से विपरीत, शैल श्रीनिवास मानते हैं कि यह कारण विकार, सांख्य-परिणाम जैसा है,[2] विकार का अर्थ यहाँ अवस्था-परिवर्तन से है । वह इस प्रकार साक्षात् चित् और विचारात्मक (आध्यात्मिक) अंश में परिणत होता है और नियंता रूप से परोक्ष रूप से परिणत होता है, यद्यपि वह स्वयं नित्य रहता है । इस पर कि यदि चित् और अचित् विकारी होते हुए माने गए हैं तो ब्रह्म् को उनसे विशेषित होकर कारण मानने का कोई अर्थ नहीं है । इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म् को शास्त्र-प्रमाण के आधार पर कारण माना गया है । जहाँ तक ब्रह्म नियंता और अपने में अपरिणामी रहता है, उसे निमित्त कारण माना है ।[3]

दूसरे अध्याय में, शैल श्रीनिवास रामानुज के जीव-सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचनाओं का उत्तर देते हैं और कहते हैं कि जीव का अज्ञान और ज्ञान की वृद्धि से संकुचन तथा विकास यह अनुमति नहीं करता कि वह अनित्य है, क्योंकि अनित्यता या विनाश उसी में कहा जा सकता है जिसमें अवयवों का घटना-बढ़ना होता है (अवयवो-पचयापचयोरेव

---

[2] अचिदशस्य कारणावस्थायां शब्दादि-विहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्वया स्वरूपान्यथाभावरूप-विकारो भवति उभय प्रकार-विशिष्टे नियंत्रशे तदवस्था तदुभयविशिष्टता-रूप विकारो भवति ।

—विरोध निरोध, हस्त० ।

[1] चिदचिद्गतकर्गाद्यधीनविकारत्वं निर्विकारत्व-श्रुतिर्निषेघति इत्येतादृशं जगदुपादानत्वं नसा श्रुतिर्बाधते ।

—वही ।

[2] विशिष्टं ब्रह्मकारणम् इन्युक्तं तेन कार्यमपि विशिष्टमेव तत्र च ब्रह्मण उपादानत्वं विशेषणांशं विशेष्यांशं प्रति तत्र चाचिदंशं प्रति यदुयादानत्वं तत् सूक्ष्मावस्था चिदंश-द्वारकं तत्र तत्र द्वारभूता चिदंश-गल-स्वरूपान्यथाभाव रूप एव विकारः स च अपृथक् सिद्ध वस्तु गतत्वात् ब्रहमज्ञानोऽपि....एवं च सांख्याभिमतो पादान तायाः सिद्धान्तेऽस्यनपायात् न कोऽपि विरोधः ।

—विरोध निरोध ।

[4] तेन तदेव अद्वारकं निमित्तं सद्वारकम् उपादानम् ।

—वही ।

अनित्यत्व-व्याप्यतया)। ज्ञान अखण्ड है इसलिए उसमें वास्तव में, विकास या संकुचन नही हो सकता। संकुचन या व्यापन, वास्तव में, कर्म के प्रभाव के कारण, ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है या दीप के प्रकाश की तरह विषय के साथ सम्बन्ध का विस्तार है; कर्म इसलिए उपाधि माना गया है जो ज्ञान की विषय के प्रति गति को मर्यादित करता है, यही कारण है कि उसे आलंकारिक भाषा में संकुचन कहा है। ज्ञान के इस स्वरूप के कारण कि वह, कर्म द्वारा अवरुद्ध न होते हुए भी सारे शरीर में व्याप्त है और सभी दुःख और सुख को ग्रहण कर सकता है, यद्यपि ज्ञान आत्मा में है जो अणु है। इस प्रकार, ज्ञान विभु है।[1] ज्ञान भी स्वरूप से नित्य है यद्यपि वृत्ति दृष्टि से परिवर्तनशील है।

तीसरे प्रकरण में, श्रीनिवास इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि जीव उत्पन्न होते हैं या नित्य हैं, वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वे स्वरूप से अजन्मा हैं। किन्तु अपने ज्ञान की विशिष्ट दन्त की दृष्टि से वे उत्पन्न भी कहे जा सकते हैं।[2] नित्य ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान की व्याप्ति या संकुचन की दृष्टि से ही सम्भव है जो शरीर तथा अन्य सहकारियों की क्रिया से है। इसी अर्थ में ज्ञान, यद्यपि नित्य होते हुए भी, अपनी अनेक अभिव्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होता है।

चौथे प्रकरण में, श्रीनिवास उसी प्रश्न की विवेचना करते हैं जिस पर उपनिषद् भी आग्रह करते हैं कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। वे मध्य और शंकर के मतों की आलोचना करते हैं और यह मानते हैं कि एक के ज्ञान का अर्थ ब्रह्म् के ज्ञान से है, जो चित् और अचित् से सम्बन्धित होने से, इन दोनों के ज्ञान का भी समावेश करता है। इस विषय पर उनकी विवेचना आखिर तक शास्त्र पाठों के अर्थ के आधार पर की गई है।

पांचवें प्रकरण में, श्रीनिवास जीव किस प्रकार कर्ता कहा जा सकता है इसे समझाते हैं। कर्तृत्व वह प्रयास है जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है (कार्यानुकूल-कृतिभत्वम्)। रामानुज-मत के प्रयत्न एक विशेष बौद्धिक अवस्था है और इसलिए जीव में हो सकती है और इसलिए प्रयत्न जो किसी कर्म को उत्पन्न करता है वह भी जीवगत है जो स्वरूप से नित्य होते हुए भी, अवस्था-दृष्टि से परिणामी है।[3] जीव का कर्तृत्व तो अवश्य, भगवान् द्वारा नियन्त्रित रहता है, यद्यपि कर्म का भोग जीव ही पाता है, क्योंकि भगवान् का निर्देश, जो जीवों के प्रयत्न को निश्चित करता है वह उनके कर्मानुसार होता है। वह वस्तुतः नियतत्ववाद और प्रसंगवाद का मिश्रण है।

---

1 वही।

2 तत्र निषेधः वियदादिवत् जीवस्वरूपोत्पत्तिं प्रतिषेधन्ति उत्पत्ति-विधयास्तु तु स्वासाधारण-धर्मभूत-ज्ञान-विशिष्ट-वेषेण उत्पत्ति वदन्ति।

—विरोध निरोध, हस्त०।

3 प्रयत्नादेर्बुद्धि-विशेषरूपतया कार्यानुकूलकृतिमत्वस्यापि कर्तृत्वस्य ज्ञानविशेष-रूपतया तस्य स्वाभाविकतया तदात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम-विशेषस्य अनित्यत्वात्।

—वही।

सातवें प्रकरण में श्रीनिवास यह विवाद करते हैं कि ज्ञान, यद्यपि सर्वव्यापी है तो भी वह किसी व्यक्ति विशेष में उसके देह से सम्बन्धित कर्मानुसार ही प्रकट होता है और इसलिए उसे सभी प्रकार के दुःख और सुख उठाना पड़े ऐसा सम्भव नहीं है और उसे अपनी ही अनुभव-परम्परा से मर्यादित होना भी आवश्यक नहीं है। आठवें तथा नवें अध्याय में वे यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि मुक्तावस्था में जीव अपने सभी कर्मों एवं पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, किन्तु इस अवस्था में भगवान् उन्हें अनेक प्रकार के सुखों को भोगने के लिए विलक्षण शरीर देने की कृपा भी कर सकते हैं। शेष उन्नीस अध्यायों में शैल श्रीनिवास रामानुज-प्रणाली के महत्वपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों का परिचय कराते हैं और शास्त्रों के आधार पर उनका विवेचन करते हैं, जिन्हें दार्शनिक दृष्टि से महत्व का न होने के कारण, छोड़ा जा सकता है।

'भेद दर्पण' में भी शैल श्रीनिवास उन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं जिनमें शंकर और रामानुज एक मत नहीं हैं और वे शास्त्रों की आलोचना द्वारा यह बताने का प्रयास करते हैं कि रामानुज द्वारा किया गया श्रुति का बोधार्थ ही केवल सच्चा है।[1] यह ग्रन्थ, दार्शनिक दृष्टि से नितान्त निरुपयोगी है। उपरोक्त कहे अन्य ग्रन्थों में भी, शैल श्रीनिवास रामानुज-सिद्धान्त को श्रुति आलोचना की शैली से प्रतिपादन करने में रुचि बताते हैं और इसलिए इनका वर्णन दर्शन के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही कम मूल्य रखता है।

'सिद्धान्त चिन्तामणि' में शैल श्रीनिवास ब्रह्म-कारणत्व पर विवेचना करते हैं। ब्रह्म, जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण, दोनों ही है। ऐसा ब्रह्म हमारे ध्यान का विषय है। ध्यान के विषय में ज्ञान और संकल्प होना चाहिए। एक निर्गुण पदार्थ ध्यान का विषय नहीं बन सकता। ब्रह्म का ठीक प्रकार से ध्यान किया जा सके इसलिए, उसके कारणत्व का उचित निश्चय होना आवश्यक है। ध्यान करने के लिए झूठे गुणों का निवेश करना अर्थ नहीं रखता। यदि जगत् भ्रम रूप है तो ब्रह्म का कारणत्व भी भ्रम है, और इससे हमें उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा। यदि भगवान् जगत् का सच्चा कारण है तो जगत् भी सत्य होगा। ऐसा कभी-कभी कहा जाता है कि एक ही वस्तु उपादान एवं निमित्त कारण दोनों नहीं हो सकती (समवाय-समवायि भिन्नं कारणं निमित्तकारण मिति) घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार, चाक इत्यादि हैं। इस पर उत्तर यह है कि ऐसा आक्षेप निरर्थक है, क्योंकि जो निमित्त कारण है वह उपादान कारण नहीं हो सकता यह निश्चित करना कठिन है। क्योंकि कुम्हार का चाक, यद्यपि अपने से निमित्त कारण है तो भी वह अपने आकार और रूप इत्यादि का उपादान कारण है। इसलिए वे दोनों एक ही पदार्थ में साथ नहीं रह सकते, ऐसा विचारने का कोई आधार नहीं है। आगे यह विवाद किया जा सकता है कि एक ही वस्तु, दूसरी को उत्पन्न करने में उपादान और निमित्त कारण नहीं हो सकती। उत्तर यह दिया जा सकता है कि दण्ड की आन्तरिक रचना, अपने आकार का उपादान कारण है और साथ ही साथ दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में विनाश

---

1 भेदाभेद-श्रुति-व्रातजात-सन्देह-सन्ततः
भेद-दर्पणमादाय निश्चिन्वन्तु विपश्चितः। —भेद दर्पण, हस्त०।

का निमित्त कारण है। अथवा ऐसा विवाद किया जाय कि काल वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनाश दोनों का कारण है (काल-घट-संयोगादिकं प्रति कालस्य निमित्तत्वात् उपादानत्वाच्च)। इस पर व्यक्त उत्तर यह होगा कि एक ही वस्तु का उपादान या निमित्त कारण रूपी व्यवहार विशिष्ट परिस्थिति एवं प्रसंग से मर्यादित होता है। पृथक् विशिष्ट परिस्थिति का सम्बन्ध कारण के स्वरूप में परिवर्तन कर देता है और इसलिए एक ही वस्तु उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही है यह कहना अयथार्थ होगा। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के कारणत्व के विचार में, यह आक्षेप अधिक कठिनाई उत्पन्न कर देता है क्योंकि हमारे मतानुसार, ब्रह्म स्वस्वरूप से निमित्त कारण और स्वभाव (वेष) से वह अचित् और चिद्रूप माना जा सकता है। उसे उपादान कारण भी माना जा सकता है।[1] कभी-कभी यह आक्षेप किया जाता है कि यदि ब्रह्म जैसाकि श्रुति में कहा गया है अपरिणामी है तो ब्रह्म का, निमित्त और उपादान कारण होने से, परिणाम से किस प्रकार सम्बन्ध सोचा जा सकता है और परिणाम देह के सम्बन्ध से ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, भगवान् का शरीर से सम्बन्ध न तो सादृश्य है और न मनः कल्पना-सृष्टि है। शरीर का सामान्य अर्थ यह होता है वह कोई चेतन वस्तु द्वारा नियन्त्रित है।[2] इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण स्वयं अपरिणामी रह सकता है और अपने द्विविध शरीर-द्रव्यों में परिणामों का कारण हो सकता है। आक्षेप यह है कि जड़ जगत् प्राणियों के शरीर से इतना भिन्न है कि उसे शरीर कहना अनुचित होगा। उत्तर यह दिया जाता है कि प्राणियों के शरीरों में बहुत प्रकार की भिन्नताएँ हैं जैसेकि मनुष्य का शरीर और अणु कीट का शरीर। इस परिस्थिति में हमें शरीर की एक सामान्य परिभाषा स्वीकार करनी पड़ती है जो व्यक्तिगत भेद को छोड़कर सभी शरीरों के लिए प्रयुक्त हो सकती है। उपरोक्त दी हुई परिभाषा सभी प्राणियों के शरीर के तथा ब्रह्म के शरीर रूप से जगत् के संप्रत्यय के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। यह 'अंतर्यामी ब्राह्मण के श्रुतिपाठ से भी समर्थन पाता है जहाँ जगत् को ब्रह्म का शरीर कहा है। यदि श्रुति-समर्थित देह की परिभाषा, हमारे जगत् के साधारण से ज्ञान से भिन्न दीखती हो जिससे हमें, जगत् शरीर है ऐसा प्रकट नहीं होता तो ऐसी अवस्था में श्रुति प्रमाण मान्य समझना चाहिए, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या कहकर समझाया जा सकता है किन्तु वैज्ञानिक परिभाषा एवं श्रुति-प्रमाण की अवज्ञा नहीं की जा सकती। हमारा सामान्य प्रत्यक्ष सर्वदा प्रमाण नहीं होता। हम चंद्र को छोटी थाली के परिमाण में देखते हैं जबकि श्रुति-प्रमाण उसे बहुत बड़ा बताती है। जब दो प्रमाणों में विरोध होता है तब अनन्यथा सिद्धत्व के आधार पर एक या दूसरे पक्ष में निर्णय करना पड़ता है। जो प्रमाण अनन्यथा सिद्ध है उसे स्वीकारना पड़ता है और जो ऐसा नहीं होता

---

1 एवं हि ब्रह्मण्यपि नोपादानत्व निमित्तयोर्विरोधः, तस्य चिदचिद विशिष्ट-वेषेण उपादानत्वात् स्वरूपेण निमित्वाच्च। तत्तदवच्छेदक भेद प्रयुक्त तद्भेदस्य तस्य तत्रापि निष्प्रत्यूहवत्वात्।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

2 यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं तत्तस्य शरीरम्। —वही।
यह विषय श्री शैल निवास द्वारा सार दर्पण में विस्तार से कहा गया है।

उस पहले प्रमाण के अधीन होना पड़ता है। कभी-कभी श्रुति का, इसलिए इस प्रकार बोधार्थ करना पड़ता है कि वे प्रत्यक्ष को बाधित न करे, जबकि अन्य प्रसंगों में प्रत्यक्ष प्रमाण को, श्रुति के बल पर त्याग देना पड़ता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पिछले प्रमाण का साक्षित्व बलवत्तर होगा, क्योंकि अनेक गलतियाँ हो सकती हैं जिन प्रसंगों में उक्त प्रमाणों में कोई भी असंदिग्धता नहीं हो सकती। पुनः, केवल प्रमाणों को इकट्ठा करने में कोई शक्ति नहीं है क्योंकि एक अंधा दूसरे को निदर्शन करे वहाँ प्रमाणों की बहुलता असंदिग्धता नहीं लाती।[1] प्रमाणों के विरोध होने पर संशय का निवारण और असंदिग्धता की प्राप्ति अनन्यथा सिद्धत्व सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त की जाती है। जो अनन्यथा सिद्ध है उसे अनन्यथा सिद्ध से बलवत् मानना चाहिए।[2] हमारा ज्ञान अपनी ही उपाधियों से मर्यादित है और इसलिए वह यह विवेक नहीं कर सकता कि जगत् वास्तव में पर ब्रह्म की देह है, और इसलिए वह श्रुति प्रमाण का बाध नहीं कर सकते जो जगत् को भगवान् का शरीर कहते हैं। शुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन करती श्रुतियाँ केवल ब्रह्म के द्वैत का निरसन करने के लिए ही कही गई है किन्तु उनका जगत् ब्रह्म का शरीर है इस प्रकार बोधार्थ किया जा सकता है। द्वैतवाद के अस्वीकार का यही अर्थ है कि ब्रह्म जैसा अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार चित् अचित् रूप ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और इच्छा और विचार के रूप में ब्रह्म, जगत् का निमित्त कारण है। ब्रह्म में यह द्विविध कारणत्व उपरोक्त कही ब्रह्म की दो अवस्थाओं को लक्ष्य करता है जो ब्रह्म से एक साथ सत्ता रखती हैं।[3]

वेदान्त ग्रन्थों में पंचमी विभक्ति द्वारा एक कथन है जिसके अनुसार जगत् उपादान कारण रूप से ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। पंचमी विभक्ति सर्वदा कारणत्व को लक्ष्य न कर उपादान को ही करती है।[4] किन्तु यह भी निर्देश किया जाता है कि कार्य कारण से उत्पन्न है और यह आक्षेप किया जा सकता है कि जगत् ब्रह्म के अन्दर और बाहर न होने से, वेदान्त-ग्रन्थ में पंचमी का प्रयोग न्याय-संगत नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि उपादान कारण का विचार या पंचमी के प्रयोग से यह आवश्यक नहीं है कि कार्य उत्पन्न होना चाहिए और कारण से देश-काल-दृष्टि से भिन्न होना चाहिए। इसका यद्यपि यह अर्थ माना जाता है तो भी यह सोचा जा

---

1 नव परत्वादुत्तरेण पूर्वबाधः इति युक्तम्, धारावाहिक-भ्रम-स्थले व्यभिचारात् अत एव न भूयस्त्वमपि निर्णायकं शतान्धन्यायेन अप्रयोजकत्वाच्च।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

2 अनन्यथासिद्धत्वमेव विरोध्यप्रामाण्य-व्यवस्थापकतावच्छेदकमिष्यते। —वही।

3 सर्व शरीर-भूताविभक्त-नाम-रूपावस्थापन्न-चिदचिद्-विशिष्ट-वेषेण ब्रह्मणः उपादानत्वं तदुपयुक्त-संकल्पादिविशिष्ट स्वरूपेण निमित्तत्वं च निष्प्रत्यूहमिति निमित्तत्वोपादानत्वयोरिहाप्यवच्छेदकभेद-प्रयुक्त-भेदस्य दुरपह्नवत्वात्तयोरेकाश्रयवृत्तित्वस्य प्रागुपपादित्वात् न ब्रह्मणो अभिन्न-निमित्तोपादानत्वे कश्चिद् विरोधः।

—सिद्धान्त चिन्तामणि, हस्त०।

4 यथा-यतो इमानि-भूतानि जायन्ते।

सकता है कि ब्रह्म चित् और अचित् के रूप में सूक्ष्म अंश व्यक्त है और इन्हीं में से जगत् व्यक्त रूप से उत्पन्न हुआ है। ऐसे परिणाम का अर्थ यह नहीं होता कि कार्य कारण से बाहर व्यक्त होना चाहिए क्योंकि जब समस्त कारण द्रव्य का परिणाम हो जाता है तो कार्य कारण से, देश दृष्टि से बाह्य नहीं हो सकता।[1] यह सच है कि सभी उपादान कारणों का रूपांतरण होता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में इस बारे में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि विशिष्टाद्वैत में यह माना गया है कि ब्रह्म का रूपांतर होता है और ब्रह्म अचिद् एवं चिद् रूप शरीर के सम्बन्ध में ही नियमित होता है। भगवान् अपने संकल्प से ही निमित्त कारण है और संकल्प भी एक प्रकार का ज्ञान है।

श्री शैल निवास 'भेद दर्पण' में विशिष्टाद्वैत मत के सभी मुख्य वादों का उपनिषद् तथा अन्य श्रुति-ग्रन्थों द्वारा अनुमोदन करते हैं। उपरोक्त कहे गए अन्य ग्रन्थों में वे उन्हीं विषयों पर विवाद करते हैं जो विरोध निरोध में किए गए हैं; किन्तु उनके विवाद का ढंग यहाँ कुछ भिन्न है। जिस विषय को एक ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से कहा है उसे दूसरे में विस्तार से कहा गया है, जैसे कि कारणत्व की समस्या 'सिद्धान्त चिन्तामणि' का मुख्य विषय है यद्यपि वह 'विरोध निरोध' में अंशमात्र ही कहा गया उनका 'नय द्युमणि संग्रह', गद्य पद्य में, उनके 'नयद्युमणि' नामक बृहत् गद्य का संक्षिप्तीकरण है जिसका वे 'नयद्युमणि संग्रह' में बहुधा उल्लेख करते हैं। श्री शैल निवास ने 'नयद्युमणि दीपिका' नामक एक और ग्रन्थ लिखा है जो 'नयद्युमणि संग्रह' से बड़ा है। सम्भवतः वह 'नयद्युमणि' से छोटा है जिसे वे, बड़ा ग्रन्थ है ऐसा उल्लेख करते हैं।[2] 'नयद्युमणि दीपिका' तथा 'नयद्युमणि संग्रह' में दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है। वे सामान्यतः सुदर्शन सूरि कृत 'श्रुत प्रकाशिका' में दिए गए विषयों को ही स्पष्ट करते हैं। उन्होंने 'औंकार वादार्थ', 'आनन्दतारतम्य खण्डन', 'अरुणाधिकरण-सारणी-विवरणी' और 'जिज्ञासा दर्पण' भी लिखे। वे सम्भवतः 15वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

श्रीनिवास ने पहले 'सारदर्पण' लिखा और फिर 'सिद्धान्त चिन्तामणि' और 'विरोध निरोध' लिखे। वास्तव में उनका 'विरोध निरोध' यदि वह अन्तिम ग्रन्थ न हो तो अन्तिम ग्रन्थों में से एक है। पहले अध्याय में वे उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं जिसका 'सिद्धान्त चिन्तामणि' में है, और वे ब्रह्म, जगत् का उपादान और निमित्त कारण है इसे समझाने का प्रयास करते हैं। दूसरे अध्याय में, वे इस मत का विरोध करते हैं जिसके मतानुसार ज्ञान से सम्बन्धित जीव या ज्ञान स्वरूप जीव, भगवान् का जगत् के

---

1 उपादानत्व स्थलेऽपि न सर्वत्र लोकेऽपि विश्लेषः कृत्स्न-परिणामे तदसम्भवात् किंत्वेकदेश-परिणाम एवेति तदभिप्रायकं प्रत्याख्यानं वाच्यम्। तच्चेहापि सम्भवति विशिष्टैक-देश-परिणामांगीकारात्। अतो न तद् विरोधे:, किंच सूक्ष्म-चिदचिद्-विशिष्टमुपादानत्वम् इति वक्ष्यते तस्माच्च स्थूलावस्थस्य विश्लेषो युज्यते विश्लेषो हि न सर्वात्मना कारण-देश-परित्यागः। —वही, हस्त०।

2 दुर्भाग्यवश यह 'नयद्युमणि' लेखक को हस्तगत न हो सका।

रूप में अभिव्यक्ति के साधन हैं। आक्षेपकार यह कहता है कि विचार गतिशील है जो संकोच या विस्तार करता रहता है और इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता जो नित्य है। जैन दर्शन में आत्मा जिस शरीर को वह धारण करता है उसके अनुसार घटता-बढ़ता है ऐसा माना गया है, यहाँ उचित रूप से आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा के ऐसे मत के अनुसार आत्मा अनित्य ही मानना पड़ेगा। किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में केवल विचार को घटता-बढ़ता माना गया है। विचार का घटना-बढ़ना यही अर्थ रखता है कि वह कम या ज्यादा वस्तुओं को ग्रहण करता है और यह विचार इस विचार से भिन्न है जिसके अनुसार एक वस्तु अंगों के योग या ह्रास से छोटी-बड़ी होती है। विचार का संकोच या विस्तार कर्मानुसार है और इसलिए उसे अनित्य नहीं माना जा सकता। ज्ञान अपने स्वरूप से ही अवयव-रहित और सर्वव्यापी है, उसका संकोच पाप-कर्मों द्वारा है जो बहुधा माया या अविद्या रही है।[1] विशिष्टाद्वैतवादी ज्ञान को, न्याय-मतानुसार उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न होना नहीं मानते, किन्तु वे उसे नित्य होते भी आगन्तुक धर्मवत् मानते हैं। पृथ्वी अपने स्वरूप से नित्य है और नित्य रहते हुए भी उसका घड़े इत्यादि के रूप से रूपान्तर होता है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता का विचार, ज्ञान की नित्यता के विचार से भिन्न है, क्योंकि ज्ञान का सर्वव्यापी होते हुए भी अवरोध के कारण जो विषय से सम्बन्ध होने में बाधा डालते हैं, रूपान्तर होता रहता है।[2] सर्वव्यापी सम्बन्ध ज्ञान का आवश्यक लक्षण है, किन्तु उपरोक्त लक्षण अवरोध के कारण बाधित होता है जिसके फलस्वरूप सम्बन्ध में भी रुकावट उत्पन्न होती है। इसी ज्ञान की रुकावट और बढ़ोतरी की क्रिया को ज्ञान का विस्तार अथवा संकोच माना जाता है। मूलतः ज्ञान का लक्षण अनादि आत्मा है, किन्तु व्यवहार में ज्ञान स्मृति, दृष्टि और विचार आदि परिवर्तनशील लक्षणों से जाना जा सकता है। अतः ज्ञान के भावपक्ष और व्यवहार पक्ष का भेद समझना आवश्यक है। जैन मत का इस प्रश्न पर यह आक्षेप है कि विचार के विस्तार अथवा संकोच के लिए अज्ञान की विशेष स्थिति की मान्यता अनावश्यक है क्योंकि आत्मा के कर्म के प्रभाव के फलस्वरूप परिवर्तनशील प्रतीत होता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि वेदादि शास्त्रों में आत्मा को अपरिवर्तनशील माना है, अतः अज्ञान की अतिरिक्त स्थिति के आधार पर ही परिवर्तन की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार ज्ञान को शुद्ध भाव अथवा आत्म तत्त्व ही कहा जाएगा और ज्ञान को आत्मा का धर्म अथवा लक्षण या प्रकार कहना असंगत है। क्योंकि ज्ञान सर्वव्यापी है और अवरोध के फलस्वरूप इसका परिवर्तन होता है। अतः आत्मा अनादि है किन्तु जब ज्ञान के सम्बन्ध के प्रकाश में

---

[1] ज्ञानस्य स्वाभाविकं प्रसरणसोपाधिकस्तु संकोचः, उपाधिस्तु प्राचीनं कर्म एव।
—विरोध निरोध, पृ० 39, 40 हस्त०।

[2] न हि यादृशम् आत्मनो नित्यत्वं तादृग् ज्ञानस्यापि नित्यत्वम् अभ्युपगच्छामः कारण व्यापार वैयर्थ्यं प्रसंगात्। किन्तु तार्किकद्यभिमात् ज्ञानस्य आगन्तुक धर्मत्वम् निराकानु दृशेरिव स्वरूपतो नित्यत्वमागन्तुकावस्थाश्रयत्वं च; तेन रूपेण नित्यत्वं तु घटात्वाद्यवस्थाविशिष्टवेषेण मृदादेरिव इष्टमेव।
—विरोध निरोध, पृ० 44।

इसका विस्तार अथवा संकोच होना जाना जाता है तब यह प्रतिभासित ज्ञान अशाश्वत प्रतीत होता है।[1] ज्ञान स्वयं में कोई खण्डन नहीं है, अतः ज्ञान अखण्ड है और शाश्वत है। अतः अनित्य केवल सम्बन्ध के फलस्वरूप सापेक्ष स्थिति है, और यह आत्मा का कोई धर्म अथवा लक्षण नहीं है।

कतिपय उपनिषदों की मान्यता के अनुसार आत्मा को अनादि माना गया है, किन्तु कतिपय उपनिषद् आत्मा को उत्पन्न-जात घोषित करते हैं। इस कठिनाई का क्या हल निकाला जाय ? इस प्रश्न पर श्रीनिवास का मत है कि आत्मा अनादि और शाश्वत है, और आत्मा का निर्माण नहीं किया जा सकता। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है और ज्ञान आत्मा की शक्ति है। किन्तु ज्ञान सर्वव्यापी सम्बन्ध की दृष्टि से बाद का परिणाम है और इस दृष्टि से आत्मा को भी निर्मित मान लिया गया है। अनादि और नित्य को भी इस विशेष परिस्थिति में निर्मित माना जा सकता है।[2] तात्पर्य यह है कि भगवान् के रचना-व्यापार के पहले आत्मा अव्यक्त रूप से चेतन है, उसका सच्चा चेतनागत व्यापार भगवान् के रचना-व्यापार के परिणामस्वरूप उसका उत्तरकालीन विकास ही है।

पुनः उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म की ऐंद्रजालिक रचना है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस परिस्थिति में सद्रूप ब्रह्म के ज्ञान से सभी भ्रम रूपी रचना का ज्ञान हो जाना यह असम्भव है क्योंकि सत्ता और भास सर्वथा दो भिन्न वस्तुएँ हैं और इसलिए एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत मत में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म जो सूक्ष्म चिदचिद् शरीर रूपी कारण-ज्ञान से संयुक्त है अतः कार्यरूपी स्थूल चिदचिद् शरीर भी ब्रह्म के ज्ञान से जाना जा सकता है।[3]

यह नहीं समझना चाहिए कि कर्म करने से नित्य आत्मा का रूपान्तर होता है क्योंकि जीव, ज्ञान-क्रम की दृष्टि से परिणाम पाता हुआ भी, अपने में नित्य रह सकता है। विशिष्टाद्वैत मत में इच्छा और संकल्प ज्ञान के प्रकार ही माने गए हैं और इसलिए, कर्म करने में होने वाले चित्त के परिणामों का केवल ज्ञान से ही सम्बन्ध है।[4] यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्भवतः ज्ञान, सार रूप से नित्य है और क्रम-रूप से परिणामी है। इस प्रकार की क्रिया और कर्म, जीव के ही धर्म हैं।

---

1 नित्यानित्य-विभाग-स्वरूप-द्वारकत्व-स्वभाव द्वारकत्वाभ्यां व्यवस्थित इति कश्चित् दोषः।
—विरोध निरोध (हस्त०)।

2 स्वासाधारण-धर्मभूत-ज्ञान-विशिष्ट वेषेण उत्पत्ति वदन्ति सिध्यस्यापि हि वस्तुनः धर्मान्तर विशिष्ट वेषेण साध्यताबीह्यादौ दृष्टा।
—उपरोक्त।

3 सूक्ष्म चिदचिच्छरीरके ब्रह्मणि ज्ञाते स्थूल चिदचिच्छरीरकस्य तस्य ज्ञानमत्राभिमतम्।
—विरोध निरोध, हस्त०।

4 इह प्रयत्नादेर्बुद्धि-विशेष-रूपतया कार्यानुकूल-कृतित्वमस्यापि कर्तृत्वस्य ज्ञान-विशेष-रूपतया तस्य स्वाभाविकतया तदात्मना जीवस्य ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि तत्परिणाम-विशेषस्यानित्यत्वाच्च।
—वही।

'विरोध निरोध' 27 अध्यायों में लिखा गया है किन्तु बहुत से अध्यायों में प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण किए आक्षेपों का खण्डन किया गया है जिसका विशेष दार्शनिक महत्त्व नहीं है। इसलिए उन्हें इस पुस्तक में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

रंगाचार्य[1]

शंकर के अनुयायी ऊमा महेश्वर ने 'विरोध वरूथिनी' नामक पुस्तक लिखी जिसमें रामानुज भाष्य एवं सम्प्रदाय के अन्य समान ग्रन्थों में, एक सौ विसंवादों को बताने का विचार किया था जैसेकि 'शतदूषणी' इत्यादि में, किन्तु रोग के कारण उनकी वाचा जाती रही और केवल वे 27 विसंवादों की ही आलोचना कर सके।[2] इस पुस्तक के खण्डन में रंगाचार्य ने 'कु दृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड' लिखा। ऐसा भी दीखता है कि अण्णयार्य के पौत्र और श्रीनिवास तात्तार्य के पुत्र, श्रीनिवास दीक्षित ने भी 'विरोध वरूथिनी' के खण्डन में 'विरोध विरूथिनी-प्रमाथिनी' नामक पुस्तक लिखी। 'कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड' का पहला अध्याय भी 'विरोध विरूथिनी प्रमाथिनी' कहलाता है।

ऊमा महेश्वर कहते हैं कि रामानुज मतानुसार चिद्-अचिद्-रूप नानात्वयुक्त यह जगत् अविभक्त एवं सूक्ष्म रूप से मूल कारण ब्रह्म में स्थित है। नानात्वयुक्त व्यक्त जगत् और सुख-दुःख अनुभव करते हुए जीवों के रूप के वास्तविक परिणाम में, यहाँ अवस्था परिणाम होता है और ब्रह्म, क्योंकि इस स्थूल परिणाम रूप जगत् को अपने में विशिष्ट गुण रूप में धारण करता है इसलिए वह इससे सम्बन्धित रहता है। इसलिए इसे ब्रह्म का ही परिणाम मानना चाहिए। किन्तु, पुनः रामानुज अनेक श्रुति वाक्यों का उल्लेख करते हैं जिसमें ब्रह्म को अपरिणामी कहा गया है।

इसका उत्तर यह है कि चिदचिद् जिस प्रकार परिणाम पाते हैं वह सर्व-नियंतृ ब्रह्म जिस प्रकार उनसे परिणाम उत्पन्न करता है, इससे भिन्न है इसलिए ब्रह्म का कारणत्व, चिदचिद् के परिणाम से प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म के कारणत्व को इस प्रकार से अप्रभावित रहने को ही ब्रह्म का अपरिणामित्व कहा गया है। शंकर के मत में, व्यक्त जगत् माया का परिणाम होने के कारण किसी भी प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं माना जा सकता। शंकर का ब्रह्म शुद्ध चिद्रूप होने के कारण, उसमें निमित्त-कारणता निवेश नहीं की जा सकती। यदि ब्रह्म में किसी प्रकार का परिणाम, किसी भी प्रकार

---

[1] श्रीरामानुज योगि-पाद-कमल-स्थानाभिषेकं गतो जीयात्सोऽयम्,

"अनन्त-पुरुष-गुरु-सिंहासनाधीश्वरः
श्रीरंग सूरिः श्री शैले तस्य सिंहासने स्थितः
कु दृष्टि ध्वान्त मार्तण्डं प्रकाशयति सम्प्रति"

इस प्रकार ये अनन्तार्य के शिष्य थे जो मध्य 19वीं शताब्दी में थे। 'सन्मार्ग-दीप' के अन्त में वे कहते हैं कि राममिश्र द्वारा इसी विषय पर रचित ग्रन्थ के खण्डन में यह ग्रन्थ रचा गया था। राममिश्र 19वीं शताब्दी के अन्त में थे और उन्होंने 'स्नेह पूर्ति' लिखा था।

[2] ऊमा महेश्वर ने और भी ग्रन्थ लिखे ऐसा कहा जाता है, जैसाकि 'तत्त्व चंद्रिका', 'अद्वैत कामधेनु' 'सप्त मुद्रा विद्रावण', प्रसंग रत्नाकर, और रामायण टीका।

से नहीं सोचा जा सकता और वह नितान्त अपरिणामी रहता है तो वह कारण-कभी भी नहीं माना जा सकता। कारणत्व का अर्थ परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति या परिणत होने की शक्ति से है। यदि ये दोनों ही ब्रह्म में अशक्य हैं तो ब्रह्म को अविरोध रूप से कारण नहीं माना जा सकता। रामानुज-मतानुसार तो, ब्रह्म नितान्त अपरिणामी नहीं है, क्योंकि परिणाम उत्पन्न करने वाला स्वयं ही परिणाम के अनुरूप बदलता है (ब्रह्म-समसत्ताक-विकारांगीकारात्)। परिणाम समसत्ताक होने से उसे अपरिणामी भी माना जा सकता, यद्यपि ब्रह्म जगत् का अन्तिम आधार है, तथा जगत् की वस्तुओं के अन्तर्वती कारण होते हैं जिनमें वे रहते माने जा सकते हैं, फिर भी जब ब्रह्म सत्ता का अन्तिम और चरम आधार है इसलिए सभी पदार्थ उसी के द्वारा धारण किए गए हैं।

कारण की अनन्यथा सिद्ध, नियत पूर्ववर्ती रूप से व्याख्या की जा सकती है। (अनन्यथासिद्ध-नियत-पूर्व वर्त्तिता) ब्रह्म निस्संदेह ही सभी पदार्थों का अन्तिम पूर्ववर्ती तत्त्व है और उसका अनन्यथा सिद्धत्व श्रुति द्वारा प्रमाणित है। वह चिदचिद् में विकार उत्पन्न करता है और इसलिए उसे निमित्त कारण मानना चाहिए, इससे वह उपादान कारण नहीं कहा जा सकता। ऐसा नहीं है, क्योंकि वही एक अन्तिम पूर्ववर्ती वस्तु है। ब्रह्म प्रथमतः चित् और अचित् को, सूक्ष्म रूप में अपने में अविभक्त रूप से धारण करता है और उत्तरकाल में वह अपने संकल्प द्वारा ऐसे परिणाम अपने में उत्पन्न करता है कि चित् और अचित् स्थूल रूप से परिणत होते हैं। वह अपना मूल एकरस स्वभाव त्याग देता है और अपने चित्-अचित् रूप सच्चे अंशों के सम्बन्ध में कम से कम, परिणत अवस्था ग्रहण करता है जो सूक्ष्मावस्था में उससे अविभक्त थे। ब्रह्म के स्वरूप का यह परिवर्तत परिणाम कहा जाता है। ब्रह्म में जबकि इस प्रकार परिणाम होता पाया जाता है इसलिए उसे न्याय-संगति से जगत् का उपादान कारण कहा जा सकता है। सागर और तरंग का दृष्टान्त इस समझ के साथ संगतिपूर्ण लगता है। जिस प्रकार मृत्तिका घड़े इत्यादि के रूप में परिवर्तित होती है तब भी इन परिवर्तनों में मृत्तिका ही रहती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी व्यक्त जगत् के रूप में परिणत होता हुआ भी सर्वदा एक माना जा सकता है।[1] जिस प्रकार घड़ा और बर्तन मिथ्या नहीं हैं उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या नहीं है। किन्तु जगत् का सच्चा अर्थ उसे ब्रह्म से एक मानना पड़ेगा। घड़े का ऊपरी और नीचे का भाग घड़े के अंग रूप में न देखने पर भिन्न दीखता है और उस परिस्थिति में उन्हें पृथक् रूप से दो मानना मिथ्या होगा, क्योंकि वे अपना अर्थ तभी सफल करते हैं जबकि उन्हें सम्पूर्ण घड़े के अंग माना जाय। जब उपनिषद् नानात्व को मिथ्या बताते हैं तब श्रुति का अर्थ यह है कि नानात्व अपना सम्पूर्ण अर्थ तभी फलीभूत कर पाते हैं जबकि उन्हें ईश्वर, ब्रह्म के एकत्व अंग के रूप में समझा जा जाय।

---

1 बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुति सृष्टिः प्राङ नाम-रूप-विभागाभावेन एकत्वावस्थापन्नस्य सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्मणः पश्चान्नामरूप-विभागेन एकत्वास्था-प्रहाण-पूर्वकं स्थूल-चिदचिद् वैशिष्ट्य लक्षण बहुत्वापत्तिर्हि प्रस्फुटं प्रतिपाद्यते, सैव हि ब्रह्मणः परिणामो नाम, प्रागवस्थाप्रहाणेनावस्थान्तर-प्राप्ते रेव परिणाम-शब्दार्थत्वात्.... यथा सर्वं मृद्द्रव्य-विकृति-भूतं घटादि कार्यजातं कारणभूत मृद्द्रव्याभिन्नमेव न तु द्रव्यान्तरं तथा ब्रह्मापि जगतः अभिन्नमेव। —कुदृष्टि ध्वान्त मार्तण्ड, पृ० 66।

शंकर-मतवादी अनन्यथाख्याति में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार भ्रम का अर्थ अनिर्वचनीय मिथ्या वस्तु उत्पन्न करना है। एक व्यक्ति को जब वह देखने में गलत करता है तब विशेष काल में ऐसी वस्तु दीखती है। भ्रम की वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव के समय विद्यमान नहीं थी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में, उस वस्तु की अन्य काल में अनुपस्थिति, उसके मिथ्यापन को सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि एक वस्तु एक काल में उपस्थित हो और दूसरे में नहीं हो इससे यह मिथ्या है, यह सिद्ध नहीं होता। मिथ्यापन को इस प्रकार, द्रष्टा के दृष्टिकाल के आपेक्षिक सम्बन्ध से व्याख्यायित करना चाहिए। जब एक द्रष्टा को सच्चे पदार्थ का ज्ञान होता है और वह यह भी जानता है कि एक वस्तु दूसरी होकर दीखती है, तब वह अनुभव मिथ्यापन को जानता है। किन्तु दृष्टिकाल में उसे एक ही प्रकार का ज्ञान होता है और उसे बाध (असंगति) का ज्ञान नहीं है तब उसका उस समय का अनुभव मिथ्या नहीं कहा जा सकता। किन्तु जबकि स्वप्न के अनुभव उसी काल में विरोध करते नहीं जाने जाते, रजत-शुक्ति का भ्रम भी भ्रम-काल में मिथ्या नहीं जाना जाता, और जबकि जगत् का अनुभव जाग्रदावस्था में बाधित नहीं होता इसलिए वह अपनी अवस्था के सम्बन्ध से मिथ्या नहीं माना जा सकता। स्वप्नावस्था के अनुभव का मिथ्यापन केवल दूसरी अवस्था एवं काल से अपेक्षित है। शंकर-मतवादियों के ऐसे मतानुसार सभी ज्ञान आपेक्षिक हो जाते हैं और किसी भी अवस्था के अनुभव की प्रमाणता निश्चित नहीं हो पाती। बौद्ध और उनके शास्त्रों के अनुसार, ब्रह्म का विचार मिथ्या है, और इस प्रकार यदि हम उनके अनुभव को मान्य करें तो, ब्रह्म का विचार आपेक्षिक रूप से सत्य है। ऐसे मत को ग्रहण करने से हम ऐसी अनिश्चित अवस्था पर आ जाते हैं जिसमें से निकलना ही नहीं हो सकता।[1]

---

[1] रंगाचार्य ने कम से कम एक और पुस्तक लिखी जो 'सन्मार्ग दीपिका' थी। यह कर्मकाण्ड प्रधान होने से इस पुस्तक में वर्णन के लिए अयोग्य है।

अध्याय इक्कीसवाँ

निम्बार्क-सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली

निम्बार्क-सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य-परम्परा

निम्बार्क, निम्बादित्य या नियमानन्द एक तेलुगु ब्राह्मण थे जो सम्भवतः बेलारी जिले में निम्ब या निम्बपुर शहर में रहते थे। हरिव्यास देव की 'दश श्लोकी' पर टीका में ऐसा कहा है कि उनके पिता का नाम जगन्नाथ था और माता का नाम सरस्वती। किन्तु उनके जीवन-काल का निश्चित करना कठिन है। सर र० गं भाण्डारकर अपने 'वैष्णविस्म, शैविस्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि वे रामानुज के थोड़े ही समय बाद हुए। वे इस प्रकार तर्क करते हैं, निम्बार्क से उत्तरोत्तर रूप से गुरु-परम्परा में, हरिव्यास देव 32 वें गुरु गिने जाते हैं और भाण्डारकर ने जो हस्तलिखित ग्रन्थ पाया उसमें यह सूची है। यह ग्रन्थ सम्वत् 1806 या ई० सं० 1750 में दामोदर गोस्वामी के जीवन-काल में लिखा गया था। दामोदर गोस्वामी के जीवनकाल के 15 वर्ष गिनने पर हम सन् 1765 पर आते हैं। मध्व से 33 वां उत्तराधिकारी सन् 1876 में मरा और मध्व सन् 1276 में मरे। इस प्रकार मध्व की 33 गुरु-परम्परा का कार्यकाल 600 वर्ष का है। इस कसौटी से सन् 1765 में 600 वर्ष निकालने पर हम निम्बार्क के काल को 1165 मान सकते हैं। इसलिए, इसको निम्बार्क के मृत्यु का समय मानना चाहिए और इसका अर्थ यह होता है कि वे रामानुज के कुछ समय बाद मरे और वे उनके कनिष्ठ समकालीन हो सकते हैं। भाण्डारकर, इस प्रकार, सरसरी तौर पर, प्रत्येक गुरु के धर्म के शासन-काल को 18 वर्ष का मानते हैं। किन्तु पं० किशोरदास कहते हैं कि पं० अनंतराम देवाचार्य द्वारा लिखी हुई जीवनी में, निम्बार्क से 12 वां गुरु सम्वत् 1112 या सन् 1056 में हुआ माना है और प्रत्येक गुरु के 18 साल के शासन काल का परीक्षण लगाते हुए हम सन् 868 में निम्बार्क के काल पर आते हैं, इसके अनुसार वे रामानुज के बहुत समय पहले रहे होंगे। किन्तु निम्बार्क और श्रीनिवास की रचनाओं के आन्तरिक परीक्षण से यह प्रमाणित नहीं होता। पुनः केटलॉग ऑव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट इन दी प्राइवेट लाइब्रेरीज ऑव दी नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज, पार्ट I बनारस 1874 (या एन० डब्ल्यू० पी० केटलॉग हस्त सं० 274) में, मध्व मुख मर्दन,' जो मदनमोहन पुस्तकालय बनारस में सुरक्षित है, निम्बार्क द्वारा लिखा है ऐसा कहा जाता है। यह हस्तलिखित ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु यदि केटलोग के लेखकों के वर्णन को माना जाय तो निम्बार्क को 'मध्व के पश्चात् रखना पड़ेगा। इस उत्तरकाल के समर्थन में एक ही तर्क मिलता है कि मध्व जो 14 वीं शताब्दी में हुए, उन्होंने 'सर्वदर्शन संग्रह' में तत्कालीन सभी महत्त्वपूर्ण

प्रणालियों का उल्लेख किया, किन्तु निम्बार्क का नहीं किया है। यदि निम्बार्क 14 वीं शताब्दी के पहले हुए होते तो सर्वदर्शन संग्रह में उनका कम से कम कुछ तो उल्लेख होता किसी और लेखक ने ही उनका उल्लेख किया होता। रा० राजेन्द्रलाल मित्रा की मान्यता है कि निम्बार्क ने, श्री ब्रह्मा और सनक संप्रदायों का उल्लेख किया है अतः वे रामानुज, मध्व और वल्लभ के उत्तर काल में हुए हैं जबकि स्पष्ट और निश्चित प्रमाण यह सिद्ध करने को प्राप्त नहीं है कि निम्बार्क वल्लभ के बाद हुए, फिर भी, उनकी गुरु-परम्परा की वृहत् सूची के आधार पर उनका समय अधिक पूर्वकाल में रखना उचित न होगा। पुनः, 'मध्व मुख मर्दन' यदि सचमुच उन्हीं का ही लिखा माना जाय, जैसाकि एन. डब्ल्यू. केटलॉग बताया है तो इस मान्यता के आधार पर उनका जीवन काल हम चौदहवीं शताब्दी के उत्तर चतुर्थांश या पन्द्रहवीं के आरम्भ में रखने में प्रवृत्त होते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि निम्बार्क से लेकर अब तक 43 गुरु हुए, जिसका यह अर्थ होता है कि प्रत्येक गुरु का अधिष्ठित काल 10 या 12 वर्ष का है, जो असम्भव नहीं है। निम्बार्क दर्शन की आन्तरिक परीक्षा से यह पता चलता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय के अधिक ऋणी रहे हैं, निम्बार्क के भाष्य की शैली भी अधिकतर स्थानों पर विषय के आमुख की शैली में रामानुज भाष्य पर ढाली गई है। निम्बार्क रामानुज के बाद जीवित रहे, दूसरा यह एक अतिरिक्त कारण है।

निम्न ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं ऐसा माना गया है :

(1) वेदान्त पारिजात सौरभ (2) दश श्लोकी (3) कृष्ण स्तव राज (4) गुरु परम्परा (5) मध्व मुख दर्शन (6) वेदान्त तत्त्व बोध (6) वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप (/) स्वधर्माध्व बोध (9) श्रीकृष्ण स्तव। किन्तु पहले तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त दूसरे सब हस्तलिखित दशा में हैं और उनमें से अधिक मिलते भी नहीं।[1] इनमें से प्रस्तुत लेखक केवल 'स्वधर्माध्व बोध' को ही प्राप्त कर सका, जो बंगाल एशियाटिक सोसायटी में रखा हुआ है। यह कहना कठिन है कि यह ग्रन्थ निम्बार्क द्वारा ही लिखा गया है, कुछ भी हो, इसमें निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अधिकांश रूप से हेर फेर किया है। क्योंकि इसमें कई पद्य जहां-तहां डाल दिए हैं जिसमें निम्बार्क को अवतार माना है और उनकी स्तुति की गई है। उन्हें उत्तम पुरुष से भी संबोधित किया गया है और उनके मत को 'निम्बार्क मत' कहा गया है जिसे निम्बार्क ने स्वयं न लिखा होगा। पुस्तक में केवल भेदवादी का उल्लेख है जो मध्व-संप्रदाय को ही संकेत करने वाला होना चाहिए। यह विचित्र प्रकार का ग्रन्थ हैं जिसमें भिन्न विषय, सम्बन्धित एवं असम्बंधित हैं और शैली भी अव्यवस्थित है। इस

---

1 वेदान्त तत्त्व बोध अवध केटेलोग 1877,42 और 8, 24 में सूचित है जिसका पं० देवीप्रसाद ने संकलन किया है।

'वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप' और 'स्वधर्माध्व बोध' आर० एल० मित्रा के नोटिसेज ऑव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट सं० 2826 और1216 में मिलते हैं और गुरु-परम्परा केटलॉग ऑव मेनुस्क्रिप्ट इन दी प्राइवेट लाइब्रेरी ऑव एन. डब्ल्यू. पी. भाग 1–10 इलाहाबाद 1877-86 में मिलता है।

ग्रन्थ में अनेक धर्मों तथा 'संन्यासी-सम्प्रदायों' का भी उल्लेख है ।

'हरिगुरुस्तव माला' में प्राप्त गुरु-परम्परा की सूची जो रा० गो० भाण्डारकर के रिपोर्ट ऑव दी सर्च ऑव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट 1882—83 में सूचित है, उसके अनुसार, हंस जो राधा और कृष्ण की सम्मिलित रूप हैं; निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रथम गुरु माने गए हैं । उनके शिष्य कुमार थे जो चतुर्व्यूह रूप थे । कुमार के शिष्य नारद, जो त्रेतायुग में प्रेम भक्ति के आचार्य थे । निम्बार्क नारद के शिष्य थे और वे नारायण की सुदर्शन शक्ति के अवतार थे । ऐसा माना जाता है कि उन्होंने द्वापर में कृष्ण भक्ति का प्रचार किया था । उनके शिष्य श्रीनिवास थे, जो नारायण के शंख के अवतार माने जाते हैं । श्रीनिवास के शिष्य विश्वाचार्य थे, जिनके शिष्य पुरुषोत्तम थे, जिनके स्वरूपाचार्य नामक शिष्य थे । इन सबों को भक्त कहा गया है । स्वरूपाचार्य के शिष्य माधवाचार्य थे, जिनके शिष्य बलभद्राचार्य थे, और उनके शिष्य पद्माचार्य थे, जो बड़े वितंडावादी कहे जाते थे । उन्होंने भारत के भिन्न प्रान्तों में जाकर लोगों को शास्त्रार्थ में हराया था । पद्माचार्य के शिष्य श्यामाचार्य थे, और उनके शिष्य गोपालाचार्य थे, जो वेद और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान थे । कृपाचार्य उनके शिष्य थे, जिन्होंने देवाचार्य को शिक्षा दी जो बड़े वितंडावादी माने गए थे । देवाचार्य के शिष्य सुन्दर भट्ट थे और उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य थे । इनके शिष्य उपेन्द्र भट्ट थे । शिष्यों की परम्परा इस प्रकार है : रामचन्द्र भट्ट, कृष्ण भट्ट, पद्माकर भट्ट, श्रावण भट्ट, भूरि भट्ट, मधव भट्ट, श्याम भट्ट, गोपाल भट्ट; बलभद्र भट्ट, गोपीनाथ भट्ट (ये शास्त्रार्थ में बड़े निपुण थे), केशव गंगल भट्ट, केशव काश्मीरी, श्री भट्ट, और हरिव्यास देव । हरिव्यास देव तक की परम्परा सभी प्राप्त गुरु-सूचियाँ परस्पर मिलती हैं किन्तु इनके बाद, ऐसा लगता है कि संप्रदाय में दो विभाग हो गए और गुरु-परम्परा की दो सूचियाँ प्राप्त होती है । भाण्डारकर ने हरिव्यासदेव को निम्बार्क के पश्चात् 32 वाँ गुरु माना है । हरिव्यासदेव और उनकी परम्परा के उत्तराधिकारी दामोदर गोस्वामी का जीवनकाल डा. भाण्डारकर ने 1750–1755 निश्चित माना है । कुछ सूचियों के अनुसार, हरिव्यासदेव के पश्चात्, परशुरामदेव, हरिवंशदेव, नारायणदेव, वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव हुए । इनकी सूची के अनुसार, स्वयंभूरामदेव, हरिव्यासदेव के बाद हैं और उनके बाद कर्म हरदेव, मथुरादेव, श्यामदेव, सेवादेव, नरहरिदेव, दयारामदेव, पुराणदेव, मनीषी देव, राधाकृष्ण शरणदेव, हरिदेव और बृजभूषणशरण देव हैं जो 1924 में जीवित थे और सन्तदास बाबाजी जो हरिव्यासदेव से तेरहवें गुरु थे, 1935 में मरे । सूचियों के परीक्षण से यह प्रमाणित रूप से सिद्ध होता है कि प्रत्येक गुरु का शासन काल लगभग 14 वर्ष का रहा । यदि हरिव्यासदेव 1750 में मरे, और सन्तदास बाबाजी जो उनसे तेरहवें गुरु थे, उनकी मृत्यु 1935 में हुई तो 13 गुरुओं का काल 185 वर्ष का हुआ । इस प्रकार प्रत्येक गुरु की धर्माध्यक्षता का काल लगभग 14 वर्ष का होता है । हरिव्यासदेव से पीछे की ओर गणना करते, प्रत्येक गुरु का 14 वर्ष का काल मानते, हम निम्बार्क के काल को 14 वीं शताब्दी के मध्य का मान सकते हैं ।

जैसाकि हम कह चुके हैं निम्बार्क की ब्रह्मसूत्र पर टीका 'वेदान्त पारिजात

सौरभ' कही गई हैं। 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ पर टीका उनके ही शिष्य श्री निवास ने लिखी थी। मुकुन्द के शिष्य, केशव काश्मीरी भट्ट ने 'वेदान्त कौस्तुभ' पर 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' नामक टीका लिखी। उन्होंने भगवत् गीता पर 'तत्त्व प्रकाशिका' नामक टीका और भागवत पुराण के दशम स्कंद पर 'तत्त्व प्रकाशिका-वेद-स्तुति-टीका' नामक टीका, तथा तैत्तरीय उपनिषद् पर 'तैत्तरीय प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी थी ऐसा कहा जाता है। उन्होंने एक और पुस्तक 'क्रम दीपिका' नामक लिखी थी, जिस पर गोविन्द भट्टाचार्य ने टीका लिखी थी।[1] 'क्रम दीपिका' अष्टाध्यायी ग्रन्थ है जिसमें निम्बार्क-संप्रदाय के धार्मिक कर्मकाण्ड का मूलतः वर्णन है। इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार के मन्त्र तथा उन पर ध्यान का अधिकांश वर्णन है। श्रीनिवास ने एक और भी ग्रन्थ लिखा जो 'लघु स्तव राज स्तोत्र' है, जिसमें वे अपने गुरु निम्बार्क की प्रशंसा करते हैं। पुरुषोत्तम प्रसाद ने इस पर टीका लिखी है जिसका नाम 'गुरु भक्ति मन्दाकिनी' है। 'वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप', जो निश्बार्क द्वारा रचा गया है ऐसा कहा जाता है, इस ग्रन्थ के उपसंहार का अध्ययन करने से तथा रा० ला० मित्रा द्वारा नोटिसेज ऑव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट (एन० एस० नं० 2826) में दिए गए सार से यह पता चलता है यह कूट ग्रन्थ है। ऐसा लगता है कि यह शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है; निम्बार्क की 'दश श्लोकी,' जो सिद्धान्त रत्न कहलाती है, उसकी कम से कम तीन टीकाएँ हैं, 'वेदान्त रत्न मंजूषा,' पुरुषोत्तम प्रसाद कृत अज्ञात लेखक की 'लघु मंजूषा' और हरिवंश मुनि की टीका। पुरुषोत्तम प्रसाद ने निम्बार्क की दश श्लोकी पर 'वेदान्त रत्न मंजूषा' नामक एक टीका लिखी और जिसे हम अभी 'गुरु भक्त मंदाकिनी' कह चुके हैं। उन्होंने बीस, प्रकरण के 'श्रुत्यन्तर सुर द्रुम' नामक निम्बार्क के श्रीकृष्ण स्तव पर टीका लिखी तथा 'स्तोत्र त्रयी' भी लिखी।[2] इस टीका में लगभग वही विवेचन पाया जाता है जो 'परपक्ष गिरि विजय' में है जिसका वर्णन पृथक् खण्ड में किया गया है। यहाँ विवाद खास तौर पर शांकर वेदान्त पर ही किया गया है। पुरुषोत्तम रामानुज-मत की भी कड़ी आलोचना करते हैं जिसमें अशुद्ध चित् और अचित् को श्रेष्ठ और उत्कृष्ट ब्रह्म का अंश माना गया है और वे यह सूचित करते हैं कि वह सर्वथा असम्भव है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न है। उनकी ब्रह्म से अभिन्नता पर इस अर्थ में है कि ब्रह्म से पृथक् उनकी सत्ता नहीं है। पुरुषोत्तम भेदवादी मध्व की भी आलोचना करते हैं। तादात्म्य-प्रतिपादन करने वाले श्रुतिपाठ इतने ही सबल हैं जितने द्वैतवाद को प्रतिपादन करने वाले हैं और इसलिए हम तादात्म्य-प्रतिपादन करते श्रुति पाठों के बल पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत् ब्रह्म में अस्तित्व रखता है और द्वैत को प्रतिपादन करने वाले श्रुति पाठों के बल

---

1 ये केशव काश्मीरी भट्ट उन केशव काश्मीरी भट्ट से भिन्न हैं जिन्होंने चैतन्य से शास्त्रार्थ किया था जैसाकि चैतन्य चरितामृत में वर्णन है।

2 'श्रुति सिद्धान्त मंजरी' नामक 'श्रीकृष्ण स्तव' पर एक और टीका है जिसका लेखक अज्ञात है।

पर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न है। भगवान् जगत् का उपादान कारण है इसका सच्चा अर्थ यह है कि यद्यपि सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है तो भी भगवान् का स्वरूप इन सब उत्पत्ति के होते हुए भी एक ही रहता है। भगवान् की शक्ति भगवान् में ही निहित है और यद्यपि वह अपनी शक्ति की भिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा सभी कुछ उत्पन्न करते हैं तो भी वह अपने में अपरिणामी रहते हैं।[1]

पुरुषोत्तम, देवाचार्य कृत 'सिद्धान्त जाह्नवी' का उल्लेख करते हैं इसलिए वे उनके बाद हुए होंगे। पं० किशोरदास की 'श्रुत्यन्तसुर द्रुम' की प्रस्तावना के अनुसार वे 1623 में जन्मे थे और वे नारायण शर्मा के पुत्र थे। प्रस्तुत लेखक को यह मत मान्य नहीं है। पं० किशोरदास के अनुसार, वे धर्म देवाचार्य के शिष्य थे।[2] देवाचार्य ने ब्रह्म सूत्र जिस पर 'सिद्धान्त जाह्नवी' नामक टीका लिखी, जिस पर सुन्दर भट्ट ने 'सिद्धान्त सेतुका' नामक टीका लिखी।

निम्बार्क के दर्शन का सामान्य विवेचन

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म-जिज्ञासा तभी हो सकती है जबकि किसी ने शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड की पुस्तकों का अध्ययन किया हो जिनसे अनेक प्रकार के पुण्य-फलों की उपलब्धि होती है और यह अनुभव किया हो कि वे सब फलभोग से दूषित हैं और नित्य आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकते। ऐसा ज्ञान होने के बाद ही जब जिज्ञासु ने भिन्न शास्त्रों के अध्ययन से यह जान लिया है कि ब्रह्म-ज्ञान अपरिणामी नित्य और निरन्तर आनन्दावस्था प्राप्त कराता है, तब ही वह इसे भगवान् की कृपा द्वारा प्राप्त करने को उत्सुक होता है और वह श्रद्धा और प्रेम से गुरु के पास ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान सीखने के लिए जाता है। ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, जो सर्वज्ञ हैं, सर्व शक्तिमान् और परमशरण हैं और सर्वव्यापी सत्ता हैं। इस सत्ता को, केवल निरन्तर प्रयत्न द्वारा, मनन और भक्ति के साधन से अपने को उसके स्वरूप से ओतप्रोत रखने से ही, अनुभव किया जा सकता है। ब्रह्म सूत्र के पहले सूत्र का सार भक्त के इस कर्त्तव्य में रहा है

---

[1] यथा च भूमेस्तथाभूत-शक्तिमत्या ओषधीनां जन्म मात्रं तथा सर्व-कायोत्पादनार्हं लक्षणा चिन्त्यान्नतं-सर्वशवते रक्षर पदार्थाद्ब्रह्मणो विश्वं सम्भवति इति, यदा स्वस्वाभाविकालपाधिक-सातिशय-शक्तिमद्भ्योऽचेतनेभ्य स्तद् तच्छ क्तयानुसारेण स्व-स्व कार्यभावापत्तावपि अप्रच्युत-स्वरूपं प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्धं, तर्हि अचिंत्य-सर्वाचित्य-विश्वाख्या-कार्योत्पादनार्हं-शक्तिमतो भगवत उक्तरीतया जगद्-भावा-पत्तावप्य-प्रच्युतस्वरूपत्वं किं अशंक्यमति····शक्ति-विक्षेप-संहरणस्य परिणाम शब्द वाच्यत्वा-भिप्रायेण क्वचित् परिणामोक्तिः। स्वरूप-परिणामाभावश्च पर्वमेव निरूपितः, शक्तेः शक्तिमतो पृथक्-सिद्धत्वात्। —श्रुत्यन्त सुर-द्रुम, पृ० 763-4।

[2] पं० किशोरदास 'वेदान्त मंजूषा' की प्रस्तावना में अपना ही विरोध करते हैं और ऐसा लगता है कि वे जो काल-गणना देते हैं वह अधिकतर कल्पित है। पं० किशोरदास आगे कहते हैं कि देवाचार्य सन् 1055 में हुए। इससे तो निम्बार्क का समय रामानुज के पहले हो जायगा जो असम्भव दीखता है।

कि वह ब्रह्म को पाने के लिए सतत प्रयत्न करे ।[1] शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के वचन श्रवण करता है जिसे ब्रह्म के स्वरूप की साक्षात् अनुभूति होती है और जिसके शब्द ठोस अनुभूति से ओतप्रोत होते हैं। वह गुरु की शिक्षा के सार और अर्थ को समझने का प्रयास करता है जो गुरु के अनुभव से ओतप्रोत रहते हैं; शिष्य द्वारा इसका अर्थ समझने का प्रयास 'श्रवण' है । यह शंकर-मत में श्रवण के सामान्य अर्थ से भिन्न है जहाँ इसे उपनिषद् के पाठों का श्रवण माना गया है। दूसरा पद मनन है, यहाँ अपने विचारों का इस प्रकार संगठन करना कहा गया है जिससे गुरु द्वारा कहे सत्य के प्रति चित्त की रुचि इस प्रकार ढले कि उसमें विश्वास का विकास हो । तीसरा पद, निदिध्यासन है, जो चित्तवृत्तियों को निरन्तर ध्यान द्वारा एकत्रित करता है जिससे गुरु द्वारा प्रेरित और उनके द्वारा कहे गए सत्य पर श्रद्धा जगे और अन्त में, उनका अनुभव प्राप्त हो । अन्तिम प्रक्रिया का सफल अन्त ही ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कराता है। वैदिक धर्म का अध्ययन और उनकी कार्य-क्षमता, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न करता है जिससे नित्यानंद की प्राप्ति होती है। इस हेतु की प्राप्ति के लिए शिष्य उसके पास जाता है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो । शिष्य में ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति इस आध्यात्मिक क्रम द्वारा सम्भव है जिसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन अंग हैं।

निम्बार्क दर्शन के अनुसार, जो एक प्रकार का भेदाभेद वाद के अर्थात् जिस मत में ब्रह्म, भेद होते हुए भी अभेद स्वरूप है, स्वयं ब्रह्म ने चित् और अचित् में परिणाम किया है। जिस प्रकार प्राण, भिन्न क्रियात्मक और ज्ञानात्मक इन्द्रिय व्यापारों द्वारा अभिव्यक्त होता है फिर भी उनसे अपनी स्वतंत्रता, अखंडता एवं भेद बनाए रखता है इसी प्रकार, ब्रह्म भी अनन्त जीव और जड़ में, अपने को खोए बिना अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने में से जाला बनाने पर भी उससे स्वतंत्र रहती है इसी प्रकार ब्रह्म भी असंख्य जीव और जड़ में विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता एवं शुद्धता बनाए रहता है। जीव के सभी व्यापार और उनका अस्तित्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ में अवलम्बित है (तादायत्त-स्थिति-पूर्विका) कि ब्रह्म सभी का उपादान एवं निमित्त कारण है ।[2]

शास्त्रों में द्वैतवाद और अद्वैतवाद के प्रतिपादक अनेक पाठ हैं, उन दोनों मतों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का एक मार्ग यही है कि हम इस मध्यस्थ मत को स्वीकारें कि ब्रह्म जीव और जड़ युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार माना गया है कि वह जीव और जड़युक्त जगत् से, अध्यास या मान्यता के कारण नहीं, किन्तु उसके विलक्षण चैतन्य स्वरूप के कारण जड़ और चेतन युक्त जगत् से एक साथ भिन्न और अभिन्न है। इसी कारण इस भेदाभेद मत को 'स्वाभाविक भेदाभेदवाद' कहा है। शुद्ध द्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म केवल निश्चयात्मक

---

[1] कर्त्तव्य का यह स्वरूप, क्योंकि ब्रह्म सूत्र के पाठ से ही प्रकट है कि ब्रह्मत्व निदिध्यासन जैसे क्रम द्वारा ही प्राप्त होता है इसलिए इसे अपूर्व विधि कहा है।

[2] श्रीनिवास की निम्बार्क कृत ब्रह्मसूत्र पर वेदान्त पारिजात सौरभ टीका ।

—ब्रह्मसूत्र, पृ० 1-1-1 से 3 पर ।

कारण ही माना जायगा और इसलिए सारे श्रुतिपाठ जो ब्रह्म को उपादान कारण कहते हैं या ब्रह्म का समस्त जीवों से तादात्म्य करते हैं, उन्हें नगण्य करना पड़ेगा। वेदान्त का अद्वैतवाद भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि परम सत्ता के रूप में, शुद्ध भेदरहित, निर्गुण चैतन्य, प्रत्यक्ष योग्य नहीं होगा, क्योंकि वह इन्द्रियातीत है। वह न अनुमान द्वारा ग्राह्य होगा, क्योंकि वह विशिष्ट लिंग रहित है, न वह शब्द प्रमाण द्वारा गम्य होगा क्योंकि वह शब्दातीत है। जिस प्रकार किसी को, जिसके दृष्टि पथ में चंद्र है, उसका चंद्र के प्रति परोक्ष रूप से वृक्ष शाखा द्वारा ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, इसी प्रकार ब्रह्म को भी अन्य प्रत्ययों द्वारा उद्बोधित किया जा सकता है, जो उसके निकट है या संबंधित है, यह मान्यता टिक नहीं सकती, क्योंकि उपरोक्त दृष्टान्त में चन्द्र और वृक्ष की शाखा दोनों इन्द्रिय-ग्राह्य हैं, जबकि ब्रह्म नितान्त इन्द्रियातीत है। पुनः यदि यह सोचा जाता है कि ब्रह्म तर्क-सिद्ध है तो भी यह मान्यता मिथ्या होगी, क्योंकि जो कुछ भी तर्क-सिद्ध है, या दिखाया जा सकता है, वह मिथ्या है। आगे यदि वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो ब्रह्म शशविषाणवत् तुच्छ होगा। यदि ऐसा माना जाता है कि, ब्रह्म स्वप्रकाश होने से उसे सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण आवश्यक नहीं है तो ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करने वाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जावेगी। इसके अतिरिक्त, शुद्ध निर्गुण ब्रह्म किसी भी अशुद्धता से सर्वथा असंग होने से, उसे सभी बन्धनों से नित्य मुक्त मानना पड़ेगा और इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने की शिक्षा देने वाले सभी श्रुतिपाठ निरर्थक हो जाएँगे। शंकर-मतवादियों का यह उत्तर कि सारी द्वैत अवस्था मिथ्या होने पर भी भासमान है और व्यावहारिक प्रयोजन साधती है, टिक नहीं सकता, क्योंकि जब श्रुति बन्धन का नष्ट होना कहती है तब वह मानती है कि वह सत्य था और उसका नाश भी सत्य है। पुनः भ्रम किसी अधिष्ठान में ही शक्य होता है जबकि उसमें सामान्य एवं विशेष गुण होते हैं और भ्रम तब ही उत्पन होता है जबकि पदार्थ उसके विशिष्ट गुण सहित ज्ञान न होकर सामान्य रूप से ही जाना जाता है। किन्तु यदि ब्रह्म सर्वथा निर्गुण है तो उसका किसी भी भ्रम का अधिष्ठान होना भी असम्भव है। पुनः जबकि अज्ञान के किसी प्रकार के कोई आश्रय या विषय को समझाना कठिन है तो भ्रम भी स्वयं समझ के बाहर हो जाता है। ब्रह्म शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने से अजान का आश्रय या विषय नहीं माना जा सकता। जीव स्वयं अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, जबकि ब्रह्म शुद्ध प्रकाश-स्वरूप है और अज्ञान तिमिर रूप है तो पहला दूसरे का आश्रय नहीं माना जा सकता, जैसेकि सूर्य अंधकार का आश्रय नहीं माना जा सकता।

भ्रम की उत्पत्ति में होने वाले व्यापार अज्ञान द्वारा होते नहीं माने जा सकते क्योंकि अज्ञान अचेतन है इसलिए वह कर्ता नहीं माना जा सकता। ब्रह्म को भी कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह शुद्ध और निश्चल है। पुनः ब्रह्म का, नाना प्रकार की अनभीष्ट घटनाओं यथा पापी, पशु इत्यादि के रूप में मिथ्याभास होना समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि यदि ब्रह्म सर्वदा चेतन और स्वतंत्र है तो वह अपनी ऐसी अवांछनीय दशाओं में परिणाम होना स्वीकार नहीं कर सकता, जिसका अनुभव पुनर्जन्म द्वारा अनेक पशु-योनियों में भुगतना पड़ता है। यदि ब्रह्म को इन अनुभवों

का ज्ञान नहीं है तो उसे अज्ञानी मानना पड़ेगा और उसकी स्वप्रकाश्यता लुप्त हो जायगी। पुनः यदि अज्ञान सत् वस्तु माना जाता है तो द्वैतवाद स्वीकारना पड़ता है, और यदि वह असत् माना जाता है तो वह ब्रह्म का आवरण नहीं कर सकता। आगे, यदि ब्रह्म स्वप्रकाश्य है तो वह छिपाया कैसे जा सकता है और उसके विषय में भ्रम भी कैसे हो सकता है? यदि सीप अपने स्वरूप से प्रकट होती है तो उसका रजत रूप से भ्रमपूर्ण अनुभव नहीं हो सकता। यदि पुनः ब्रह्म का स्वरूप अज्ञान द्वारा छिपा है तो प्रश्न यह खड़ा होता है कि अज्ञान ब्रह्म का अंश रूप से या पूर्ण रूप से आवरण करता है। पहली मान्यता अशक्य है, क्योंकि तब जगत् पूर्ण रूप से अंधा हो जायगा (जगदांध्य-प्रसंगात्) और पिछला विकल्प असम्भव है, क्योंकि ब्रह्म एक रस है जिसके न गुण-धर्म हैं न अवयव। अद्वैतवादी इसे निर्गुण और अखण्ड मानते हैं। यदि यह माना जाता है कि सामान्य रूप से अज्ञान द्वारा केवल आनंदांश ही ढका जाता है और सत् अंश अनावृत्त रहता है तो यह अर्थ होगा कि ब्रह्म के विभाग हो सकते हैं और ब्रह्म का मिथ्यापन ऐसे अनुमानों द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा, 'ब्रह्म मिथ्या है' क्योंकि उसमें घड़े की तरह अंश है (ब्रह्म मिथ्या सांशत्वात् घटादिवत्)।

उपरोक्त आक्षेप के उत्तर में यह तर्क किया जा सकता है कि अज्ञान के विरोध में आक्षेप माने नहीं जा सकते, क्योंकि अज्ञान सर्वथा मिथ्या ज्ञान है। जिस प्रकार कि एक उल्लू सूर्य के ज्वलन्त प्रकाश में भी निरा अंधकार देखता है उसी प्रकार 'मैं अज्ञ हूँ यह अपरोक्ष अनुभव सभी को प्रकट है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी, अनन्तराम, अपने 'वेदान्त बोध' में ऐसी मान्यता के विरोध में और आक्षेप खड़े करते हैं। वे कहते हैं कि 'मैं अज्ञ हूँ' इस अपरोक्ष अनुभव में 'मैं' जो अपरोक्ष-अनुभव-गम्य है वह शुद्ध ज्ञान नहीं है। क्योंकि शुद्ध ज्ञान अज्ञ के रूप में अनुभव नहीं हो सकता। यह अहंकार मात्र नहीं हो सकता, क्योंकि तब अनुभव 'अहंकार अज्ञ है' इस प्रकार होता है। यदि अहंकार से शुद्ध आत्मा का अर्थ है, तब ऐसी आत्मा का मुक्ति से पहले अनुभव नहीं हो सकता। अहंकार, शुद्ध चैतन्य और अज्ञान से कोई भिन्न वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि यह वस्तु निस्संदेह ही अज्ञान का कार्य होना चाहिए जो ब्रह्म के अज्ञान के साथ संयोग के पहले विद्यमान नहीं हो सकती। शंकर-मतवादियों का उत्तर है कि अज्ञान, केवल मिथ्या कल्पना होने से ब्रह्म के स्वरूप को दूषित नहीं कर सकता, जो शाश्वत अधिष्ठान है यह भी अमान्य है, क्योंकि यदि अज्ञान को मिथ्या कल्पना माना जाय, तब भी ऐसी कल्पना करने वाला कोई होना चाहिए। किन्तु ऐसी कल्पना करने वाला ब्रह्म या अज्ञान इन दोनों वस्तुओं में से कोई भी नहीं हो सकता, क्योंकि पहला शुद्ध निर्गुण है, इसलिए वह कल्पना नहीं कर सकता, और दूसरा जड़ और अचेतन है, इसलिए कल्पना रहित है। यह भी सोचना मिथ्या है कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य रूप से अज्ञान का मूल विरोधी नहीं है, क्योंकि, ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो अज्ञान-विरोधी न हो। इसलिए, शंकर मतवादी 'मैं अज्ञ हूँ' इसमें 'मैं' तत्त्व सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते।

इसलिए निम्बार्क के दृष्टिकोण से अन्तिम निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म से सहयोग कर जगत् प्रपंच को उत्पन्न करने वाला कोई भी अज्ञान जैसा विश्व व्यापी सिद्धान्त अमान्य है। अज्ञान, जीव या आत्मा का गुण है जो ब्रह्म से स्वरूपतः भिन्न है, किन्तु

वे उसके संपूर्ण रूप से अधीन हैं। वे उसके शाश्वत अंग हैं अणु रूप हैं, और शक्ति में मर्यादित हैं। कर्म की अनादि शृंखला से बंधे होने के कारण वे, स्वाभाविक रूप से ज्ञान-दृष्टि से अंध हैं।[1]

शंकर मतवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्म और अनात्म के सच्चे स्वरूप में भेद न करने की स्वाभाविक त्रुटि के कारण, मिथ्या प्रत्यक्ष, मिथ्या ज्ञान और भ्रम उत्पन्न होता है। अनन्तराम का ऐसे स्पष्टीकरण के विरोध में यह आक्षेप है कि यह त्रुटि ब्रह्म या अज्ञान पर नहीं लादी जा सकती है। जबकि अन्य सभी वस्तु भ्रम के उत्तरकाल के कार्य हैं, उन पर भ्रम उत्पन्न करने का दायित्व नहीं रखा जा सकता।[2]

शंकर ने अपनी टीका में कहा था कि शुद्ध चैतन्य पूर्णतया असिद्ध नहीं है, क्योंकि उसे हम अहं अनुभव द्वारा लक्ष्य करते हैं। इस पर स्वाभाविक आक्षेप यह उठता है कि हमारे अहं अनुभव द्वारा लक्षित वस्तु शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकती क्योंकि फिर तो शुद्ध चैतन्य अहं का धर्म हो जाता—यह मत निम्बार्क-दर्शन के अनुकूल है किन्तु शंकर-मतवादियों द्वारा पूर्णतया अस्वीकृत है। यदि इसे मिथ्या माना जाता है तो यह मानना पड़ता है कि जहाँ भ्रम होता है वहाँ अहं अनुभव होता है। इस मान्यता के अनुसार भ्रम वहीं उत्पन्न हो सकता है जहाँ अहं अनुभव होता है।[3] यहाँ अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है, अन्योन्याश्रय दोष का बचाव इस मान्यता पर किया जावे कि अध्यास अनादि है, यह भी निरुपयोगी है। क्योंकि भ्रम स्वरूपतः अनादि है यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि यह सुविदित है कि भ्रम, पूर्व-प्रमाणित ज्ञान-संस्कारों के व्यापार से ही शक्य है।[4] पुनः, शुद्ध चैतन्य का अज्ञान में प्रतिबिम्बित होना अशक्य है, क्योंकि प्रतिबिम्ब दो समान सत्ता वाले पदार्थों में ही शक्य है। अन्य दृष्टि से देखने पर भ्रम को असंगत मानना पड़ता है। भ्रम विशेष भौतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होता है जैसेकि सन्निकर्ष, इन्द्रिय-दोष, संस्कार-व्यापार इत्यादि। अहं के अपरोक्ष अनुभव के कथित प्रसंग में ये सब अनुपस्थित होते हैं।

शंकर-मतवादी माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ यह माना है कि जो प्रत्यक्ष में दीखे अंततोगत्वा बाधित हो जाता हो। शंकर मतवादी मिथ्यात्व या अभाव की जो बाधित हो सकता है—ऐसी व्याख्या करते हैं। माया की घटना अनुभव में भासमान होती है और इसलिए उन्हें अस्तित्ववान् माना है। वह बाधित हो सकती है इसलिए उसे असत् माना है। माया में यह सत्-असत् का जो एकत्व है वही उसकी अनिर्वचनीयता है। इसका अनन्तराम यह उत्तर देते हैं कि

---

[1] परमात्म-भिन्नोऽल्प शक्तिस्तदभिन्न : सनातनस्तदंशभूतोऽनादि कर्मात्मिका विद्यावृत्त धर्माभूताज्ञानो जीव क्षेत्रज्ञादिशब्दाभि धेयस्तत्प्रत्ययाश्रय इति।

—वेदान्त तत्त्व बोध, पृ० 12।

[2] वही, पृ० 13।

[3] अध्यस्तत्वे तु अध्यासे सति भासमानत्वम्, तस्मिन् सति स इत्यन्योन्याश्रय-दोषः।

—वही, पृ० 14।

[4] अध्यासो नानादिः पूर्व-प्रमाहित संस्कार-जन्यत्वात्।

—वेदान्त तत्त्व बोध, पृ० 14।

बाध होना अभाव का अर्थ नहीं रखता। एक विशेष पदार्थ के रूप में जैसेकि घड़ा दण्ड के प्रहार से नष्ट किया जा सकता है इस प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। दंड के प्रहार से घड़े का नष्ट होना इस विचार का समावेश नहीं करता कि घड़ा असत् था। इसलिए, पूर्व ज्ञान का उत्तर ज्ञान से बाध पहले का मिथ्यात्व या अनस्तित्व समाविष्ट नहीं करता। सभी ज्ञान अपने में सत्य हैं, जो कि उनमें से कुछ दूसरे को नष्ट कर सकते हैं। निम्बार्क मतवादी इसे ही सत्ख्यातिवाद कहते हैं। उनके अनुसार सत्ख्यातिवाद यह अर्थ रखता है कि सभी ज्ञान (ख्याति) किसी सत् पदार्थ से उत्पन्न होते हैं जिन्हें उनका कारण मानना चाहिए (सद्हेतुका ख्याति, सत् ख्याति)। ऐसे मत के अनुसार, इसलिए, मिथ्या ज्ञान का मूल कारण, कोई अस्तित्वान् पदार्थ होना चाहिए। यह भी सोचना मिथ्या है कि मिथ्या या अस्तित्वविहीन वस्तु प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे भ्रम रूप काला नाग भय नहीं करता किन्तु सच्चे सर्प की स्मृति ऐसा करती है, इसलिए, यह सोचना गलत है कि मिथ्या जगत्-प्रपंच हमारे बंध का कारण हो सकता है।

जबकि भ्रम शक्य नहीं है, तो यह सोचना व्यर्थ है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष, अनुमान और अन्य प्रकार के ज्ञान अहंकार से संयुक्त हैं तथा केवल भ्रम रूप से उत्पन्न होते हैं। सच्चा ज्ञान आत्मा का धर्म माना जाना चाहिए, और ज्ञान की उत्पत्ति के वृत्ति के माध्यम की आवश्यकता नहीं है। अज्ञान, जो ज्ञान के उदय को रोकता है वह हमारे कर्म हैं जो अनादि काल से संचित हुए हैं। इन्द्रियों के व्यापार से हमारी आत्मा हमसे बाहर विस्तृत होती है और इन्द्रिय-गोचर पदार्थों के ज्ञान से भर जाती है। इसी कारण, जब इन्द्रियाँ प्रवृत्त नहीं होतीं तब गोचर पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, जैसाकि गाढ़ निद्रा में होता है। आत्मा, इस प्रकार, सच्चा ज्ञाता है और सच्चा कर्त्ता है और उसके ज्ञाता एवं कर्त्ता के अनुभवों को किसी भी कारण भ्रम-व्यापार के कार्य नहीं मानना चाहिए।[1]

आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है पर उसे सच्चा ज्ञाता मानना चाहिए। ज्ञान ज्ञाता होकर व्यवहार नहीं कर सकता, जिस प्रकार कि पानी पानी से मिलकर विविक्त नहीं रह सकता, निम्बार्क-मतवादी, इस आक्षेप को अप्रामाण्य ठहराते हैं। निम्बार्क-मत की इस मान्यता का समर्थन करने के लिए, पुरुषोत्तम अपनी 'वेदान्त रत्न मंजूषा' में सूर्य का दृष्टान्त देते हैं जो प्रकाश एवं प्रकाश का स्रोत दोनों ही है। जब एक पानी की बूँद दूसरी बूँद में मिलाई जाती है, यद्यपि यह जानने में नहीं आने पर भी संख्या एवं गुण की दृष्टि से दोनों बूँदों की विशेषता रहती है। भेद का अग्रहण इसे सिद्ध नहीं करता कि दोनों बूंदें एक रस हो गई हैं। दूसरी ओर, जबकि दूसरी बूँद के अंश पहले से भिन्न हैं तो उनकी पृथक् सत्ता माननी पड़ेगी चाहे वे दोनों मिल गयी हों। ज्ञातृभाव आत्मा का सहज धर्म मानना चाहिए, शंकर-मतवादियों द्वारा इसकी व्यवस्था जो बताई गई है कि ज्ञात धर्म, शुद्ध चैतन्य का वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने से है यह असफल है। पानी में पड़ा सूर्य का प्रतिबिम्ब चमकता गोला नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, प्रतिबिम्ब दो दृश्य वस्तुओं के बीच नहीं हो सकता, न

---

[1] वेदान्त तत्त्व बोध, पृ० 20।

शुद्ध चैतन्य और न अन्तःकरण-वृत्ति ही दृश्य वस्तु मानी जा सकती है, जिसमें प्रतिबिम्ब की मान्यता न्यायसंगत दिखाई जा सके।

अहं का अनुभव आत्मा को ही अपरोक्ष रूप से लक्ष्य करता है इस विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं है। अहं अनुभव इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निरन्तर प्रकटीकरण है। गाढ़ निद्रा के बाद हम कहते हैं कि 'मैं ऐसा अच्छा सोया कि अपने को भी भूल गया।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि अहं अनुभव अनुपस्थित है या वहाँ आत्मा का प्रकाश नहीं है। 'मैंने अपने को नहीं जाना' यह अनुभव देह के अनुभव को तथा चित्त व्यापार को लक्ष्य करता है, किन्तु यह नहीं सूचित करता कि स्ववेद्य चैतन्य ने अपने को प्रकाशित करना बंद कर दिया था। गाढ़ निद्रा में अपनी अनुभूति का निषेध विशिष्ट सम्बन्धों के निषेध को भी लक्ष्य करता है (जैसेकि शरीर इत्यादि) जिससे साधारणतः अहं जुड़ा रहता है। निषेध या अभाव के ऐसे दृष्टान्त भी दिए जा सकते हैं, 'मैं इस कमरे में इतनी देर नहीं था' 'मैं उस समय जीवित न था' इत्यादि, यहाँ अभाव अहं से सम्बन्धित वस्तु से है न कि अहं से। आत्मा को अहं अनुभव में अभिव्यक्त ही नहीं मानना चाहिए किन्तु उसे जो ज्ञान होता है उससे भी भिन्न मानना चाहिए। केवल गाढ़ निद्रा में ही आत्मा का अनुभव नहीं रहता, किन्तु मुक्तावस्था में भी निरन्तर रहता है, भगवान् भी अपनी पूर्ण स्वतंत्रता में अपनी अहंकारातीत अवस्था में स्वचैतन्य रहते हैं। वे दयालु हैं, परम गुरु हैं और हमारे ज्ञान का अधिष्ठाता देव हैं। जीव की तरह भगवान् भी कर्ता है, जगत् स्रष्टा है। यदि ब्रह्म स्वभाव से कर्त्ता न होता तो माया का संयोग होते हुए भी वह जगत् कर्त्ता नहीं हो सकता था। ब्रह्म से विपरीत, जीवों की प्रवृत्तियों को व्यक्त करने के लिए कर्मेन्द्रियों पर आश्रय रखना पड़ता है। आत्मा को भी सुख-दुःख का अनुभव होता है। जीवों का कर्तृत्व और सत्ता तो अन्त में भगवान् की इच्छा के अधीन है, तो भी, क्योंकि वह किसी को सुख और किसी को दुःख देता है इसलिए भगवान् पक्षपाती है या निर्दय है ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है, क्योंकि वह परमेश्वर है, जो भिन्न लोगों को भिन्न प्रकार से निर्देश देता है और उन्हें उनके कर्मानुसार सुख-दुःख देता है। तात्पर्य यह है भगवान् यद्यपि, लोगों को सुख-दुःख देते हैं और उन्हें पाप-पुण्यानुसार कर्म कराते हैं, तो भी वे अन्त में कर्म के बंधन में नहीं हैं और वे अपनी कृपा द्वारा उन्हें कभी भी बंधन से मुक्त करा सकते हैं।[1] कर्म सिद्धान्त यांत्रिक सिद्धान्त है और भगवान् अधिष्ठाता रूप से प्रत्येक प्रसंग में निर्णय देते हैं। वे इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के विधायक हैं किन्तु उससे बंधे नहीं हैं। जीव भगवान् के ही स्वरूप के अंश हैं, और इसलिए अपने, स्वरूप, सत्ता एवं प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं (तदायत्त-स्वरूप स्थिति-पूर्विकाः)। भगवान् अन्तिम सत्य होने से, जीव और जड़ जगत्, भगवान के अंश होने के कारण उसी के स्वरूप में सम्मिलित होने के कारण, अपना स्वरूप और सत्ता पाते हैं। इसलिए वे अपनी सत्ता और प्रवृत्ति के लिए उसी पर आश्रित हैं।

---

1 न वयं ब्रह्म नियंतृत्वस्य कर्म-सापेक्षत्वं ब्रूमः, किन्तु पुण्यादि कर्म कारयितृत्वे तत्फल-दातृत्वे च।
—वेदान्त रत्न मंजूषा, पृ० 14।

जीव असंख्य हैं और अणु रूप हैं। किन्तु अणु होते हुए भी, वे शरीर के सभी भागों की संवेदनाओं को, अपने में स्थित सर्वव्यापी ज्ञान के गुण से जानते हैं। यद्यपि जीव अणु एवं अखंड हैं, वे भगवान् के सर्वव्यापी स्वरूप से पूर्णतः व्याप्त हैं। अणु रूप जीव, अनादि कर्म की मेखला से वेष्टित हैं जो उनके शरीर का कारण है, और फिर भी वे मुक्त हो जाते हैं, जब गुरु द्वारा शास्त्र वचन सुनकर उनके संशय छूट जाते हैं और वे जब भगवान् के सच्चे स्वरूप का गहरा ध्यान करते हैं जिससे वे भगवान् में लय हो जाते हैं। भगवान् अपनी दया और कृपा दिखाने में पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। किन्तु होता ऐसा है कि वे उन्हीं पर दिखाते हैं जो भक्ति और पुण्य कर्म द्वारा उसके योग्य हैं। भगवान्, अपने सर्वातिशायी रूप में, अपने जगत्, जीव और ईश्वर इन तीनों रूपों से भी परे हैं। अपने शुद्ध एवं सर्वातिशायी रूप में वह किसी भी परिणाम से सर्वथा दूषित नहीं हैं और वह शुद्ध सत्ता आनन्द और चैतन्य के अभेद है। ईश्वर के रूप में वह अनेक जीवों द्वारा जो उसके ही अंश हैं अपने अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। जीवों के अनुभव, इसलिए उसके अंश रूप से उसी में समाविष्ट हैं क्योंकि जीवों के अनुभव उसके ईक्षण के ही कारण हैं। मनुष्य के अनुभवों की सत्ता तथा उनका क्रम भगवान् के द्वारा नियमित हैं तथा उसी के अन्तर्गत है। जीव इस प्रकार, एक दृष्टि से उससे भिन्न हैं, और दूसरी दृष्टि से उसके अंश मात्र हैं! भास्कर के दर्शन में एकत्व पर बल था, क्योंकि भेद उपाधि के कारण माना गया है। किन्तु यद्यपि निम्बार्क की प्रणाली को एक प्रकार का भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद माना जा सकता है, किन्तु यहाँ बल केवल एकत्व पर ही नहीं है किन्तु भिन्नता या भेद पर भी है। जैसेकि अंश, पूर्ण से भिन्न नहीं हो सकता, जीव भी ईश्वर से कभी भिन्न नहीं हो सकते। किन्तु, बन्धन की अवस्था में जीव ईश्वर से इस एकता को भूल सकते हैं और अपने को कर्म और अनुभव में स्वतन्त्र समझने लगते हैं। जब प्रेम से त्याग उत्पन्न होता है तब जीव जो स्वयं ब्रह्म से पूर्णतया नियंत्रित और नियमित है तथा वह उसका अंश है ऐसा अनुभव करता है, उसे सभी कर्मों से विरक्ति उत्पन्न होती है और वह उससे प्रभावित नहीं होता। इसलिए अन्तिम आदर्श या ध्येय, भगवान् से हमारा सम्बन्ध क्या है यह अनुभव करना सभी कर्मों, इच्छा और हेतुओं का त्याग करना है और हम उसके अंग है, ऐसा अनुभव करना है। ऐसा व्यक्ति पुनः कभी बन्धन के पंजे में नहीं पड़ता और ईश्वर के भक्तिपूर्वक ध्यान के नित्य सुख में रहता है। मुक्तावस्था में भक्त अपने को भगवान् से एकरूप अनुभव करता है और वह उसकी शक्ति के अंश रूप में वास करता है (तत्तादात्म्यानुभवपूर्वक-विश्वरूपे भगवति तच्छ क्तयात्मनावस्थानम्)।[1] इस प्रकार, मुक्तावस्था में भी, भगवान् और मुक्त जीवों में भेद रहता है, यद्यपि वे इस अवस्था में आनन्द से परिपूर्ण रहते हैं। भगवान् के सच्चे स्वरूप का अनुभव होने पर एवं हमारा उसके साथ सम्बन्ध होने पर तीनों प्रकार के कर्म (संचित, क्रियामाण और प्रारब्ध) नष्ट हो जाते हैं।[2] इस प्रणाली में अविद्या का अर्थ अपने स्वरूप का, एवं भगवान् के साथ सम्बन्ध का अज्ञान माना गया

---

1 परपक्षगिरि वज्र, पृ० 591।

2 वही, पृ० 598।

है जो कर्म तथा देह, इन्द्रियों और सूक्ष्म भूतों के साथ सम्बन्ध का कारण है।[1] प्रारब्ध कर्म या जो कर्म फलीभूत हो रहे हैं, वे आवश्यकतानुसार, इस जन्म या दूसरे जन्म में बने रह सकते हैं क्योंकि जहाँ तक वे युक्त नहीं होते वहाँ तक विदेह-मुक्ति नहीं होती।[2] सन्त की अवस्था भगवान् के स्वरूप में भक्तियुक्त निरन्तर तथा ध्रुव स्मृति में रही है (ध्यान परिपाकेन ध्रुव-स्मृति पर भक्तयाख्य-ज्ञानाधिगमे) ऐसा सन्त, सभी किए हुए, संचित एवं उत्तरकाल में होने वाले अच्छे और बुरे कर्मों के दूषित प्रभाव से मुक्त हो जाता है (तत्र उत्तर-भाविनः क्रियमाणस्य पापश्य आश्लेषः तत्प्राग्भूतस्य संचितस्य तस्य नाशः। 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' 4-1-13)। वर्ण एवं आश्रम धर्म, ज्ञान के उदय में लाभप्रद हैं इसलिए, उन्हें ज्ञान आने पर भी करते रहना चाहिए, क्योंकि इस दीप की ज्योति हमेशा जलती रखना चाहिए (तस्मात् विद्योदयाय स्वाश्रम-कर्माग्निहोत्रादि-रूतं ग्रहस्थेन, तपो जपादीनि कर्माणि ऊर्ध्व-रेतोभिरनुष्ठेयानि इति सिद्धम्) कर्मों का संचय जो मुक्त होने लगा है उसे मुक्त होकर रहना चाहिए ऐसे कर्मों के फल, सन्त को एक या अनेक जन्म में भोगने पड़ते हैं। ब्रह्म प्राप्ति ईश्वर की ध्रुव स्मृति में और उसमें अंश रूप से वास करने में है, जो ईश्वर में निरन्तर भक्ति-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के बराबर है। यह स्थिति भगवान् की सत्ता रूप से एक रस होने मे और उसमें मिल जाने से स्वतन्त्र या पृथक् है जो स्थिति प्रारब्ध कर्म के संत योनि-शरीर में सम्पूर्ण भोग से या आने वाले जन्म में मुक्त होकर, नाश होने पर, प्राप्त होती है। सन्त, प्रारब्ध ज्ञय होने पर, सूक्ष्म शरीर में स्थित सुषुम्ना नाड़ी से, अपना स्थूल शरीर छोड़ता है और प्राकृत मण्डल का अतिक्रमण कर सीमान्त देश पर विराज नदी पर पहुँचता है जो भौतिक जगत् और विष्णु लोक के बीच है।[3] यहाँ वह अपना सूक्ष्म शरीर परमेश्वर में छोड़ देता है और भगवान् के सर्वातिशायी स्वरूप में प्रवेश करता है (वेदान्त कौस्तुभ प्रभा 4-2-15)। मुक्त जीव इस प्रकार भगवान् में उसकी विशिष्ट शक्ति के रूप में रहते हैं, जिन्हें वह अपने हेतु फिर भी उपयोग कर सकते हैं। ऐसे मुक्त पुरुष सांसारिक जीवन जीने के लिए कभी नहीं भेजे जाते। यद्यपि मुक्त पुरुष भगवान् से एक हो जाते हैं फिर भी उनका जगत् के व्यवहार पर कोई अधिकार नहीं होता जो सर्वथा भगवान् द्वारा ही नियंत्रित होता है।[4]

यद्यपि हम ईश्वर के संकल्प से स्वप्न अनुभव करते हैं और यद्यपि वह नियन्ता

---

[1] वही।

[2] विदूषो विद्यामाहात्म्यात् संचित् क्रियमाणयोरलेश विनाशौ, प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाशः, तत्र प्रारब्धस्य एतच्द्दरित्रेण इतर शरीरे वा मुक्तत्वा विनाशान्मोक्ष। इति संक्षेपः।
वही, पृ० 583।

[3] पर लोक गमने देहादुत्सर्पण-समये एव विदुषः पुण्य पापे निरवशेषं क्षीयते....विद्या हिस्व-सामर्थ्यादेव स्वफल-भूत-ब्रह्म-प्राप्ति-प्रतिपादनाय एनं देवयानेन पभा गमयितु सूक्ष्म शरीरं स्थापयति।
—वेदान्त कौस्तुभ प्रथा, 3-3-27।

[4] मुक्तस्य तु पर ब्रह्म-साधर्म्येऽपि निखिल-चेतना-चेतनपतित्वतन्नियंतृत्व-तद्विधारकत्व-सर्वगतत्वाद्यसम्भवात् जगद्-व्यापार-वर्जम् ऐश्वर्यम्। वही, 4-4-20।

बना रहता है और वह हमारे अनुभवों की सभी अवस्थाओं में वास करता है, तो भी वह हमारे सांसारिक जीवन के अनुभवों से दूषित नहीं होता। (वेदान्त कौस्तुभ और उसकी टीका प्रभा 3-2-11)। हमारे अनुभव के विषय स्वयं सुख-दुःखात्मक नहीं होते किन्तु ईश्वर उन्हें, हमारे पाप और पुण्य के फल स्वरूप ऐसा बना देते हैं। ये विषय अपने में उदासीन पदार्थ हैं न सुखात्मक हैं, न दुःखात्मक (वेदान्त कौस्तुभ प्रभा 3-2-12)। ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध सर्प और उसकी कुण्डली जैसा है। सर्प की कुण्डलावस्था उससे भिन्न है और न अभिन्न है। इस प्रकार ईश्वर और जीव का सम्बन्ध दीप और प्रभा जैसी भी है (प्रभा तद्वतोरिव) या सूर्य और उसके प्रकाश जैसा है। ईश्वर अपने में अपरिणामी रहता है और केवल अपनी शक्ति से ही चित् अचित् शक्ति के रूप में परिणत होता है।[1] जिस प्रकार जीव ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते उसी प्रकार स्थूल जगत् भी उससे भिन्न सत्ता नहीं रख सकता। जगत् इसी रूप से ईश्वर का अंश है और उसे इसी अर्थ में उससे एक माना है। क्योंकि जगत् का धर्म ईश्वर के स्वरूप से भिन्न है इसलिए वह ईश्वर से भिन्न माना गया है।[2]

वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म विविदिषा उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए, किन्तु एक बार सच्चा ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर फिर उक्त धर्म-पालन आवश्यक नहीं है। (वही 3-4-9)। ज्ञानी पुरुष अपने किए कर्मों से प्रभावित नहीं होता। किन्तु यद्यपि धर्म-पालन करना विद्या प्राप्त करने में सहायक है, किन्तु अनिवार्य नहीं है और ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो वर्णाश्रम धर्म पालन किए बिना भी विद्या प्राप्त करते हैं।

माधव मुकुन्द का अद्वैतवादियों के साथ विवाद

(क) अद्वैत वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त एवं चरम साध्य अमान्य है

माधव मुकुन्द, जो बंगाल में अरुणघटी नामक गाँव के निवासी माने जाते हैं, उन्होंने 'पर पक्ष गिरि वज्र' या 'हार्द संचय' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने शंकर और उनके अनुयायियों द्वारा वेदान्त के अद्वैतवादी निरूपण की निरर्थकता बताने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है।

वे कहते हैं कि शंकर-मतवादी जीव ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करने में रत हैं और यही उनके सभी विवादों का मुख्य विषय रहा है। यह (ऐक्य) तादात्म्य भ्रम-पूर्ण या विपरीत हो सकता है। प्रथम विकल्प के अनुसार, द्वैतवाद या अनेकत्ववाद सत्य होगा, और दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात् तादात्म्य सत्य है तो, तादात्म्य में

---

1 अनन्त-गुण-शक्तिमतो ब्रह्मणः परिणामि स्वभावाच्चिच्छक्तेः स्थूलावस्थायां सत्यां तदनन्तरात्मत्वेन तत्रावस्थानेऽपि परिणामस्य शक्तिगतत्वात् स्वरूपे परिणामाभावात् कुण्डल दृष्टान्तो न दोषावहः अपृथक् सिद्धत्वेन अभेदेऽपि भेदऽपि भेद-ज्ञापनार्थः।

—वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, 3-2-29।

2 जीववत् पृथक-स्थित्यनर्ह-विशेषणत्वेन अचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वं विशिष्ट-वस्त्वेक-देशत्वेन अभेद-व्यवहारो मुख्यः विशेषण-विशेष्ययोः स्वरूप-स्वभाव-अभेदेन च भेद-व्यवहारो मुख्यः।

—वही, 3-2-30।

पूर्व-कल्पित द्वैत भी सत्य होगा ।[1] शंकर-मतवादी तादात्म्य के एक ही पहलू में रुचि नहीं रखते किन्तु ब्रह्म जीव के ऐक्य सिद्ध करने में भी रुचि रखते हैं । तादात्म्य की सिद्धि आवश्यक रूप से द्वैत के अभाव की सत्ता अनुमित करती है । यदि ऐसा अभाव मिथ्या है तो तादात्म्य भी मिथ्या होगा, क्योंकि तादात्म्य की सत्ता अभाव की सत्ता पर अवलम्बित है । यदि द्वैत का अभाव सत् है तो द्वैत भी किसी अर्थ में सत् होगा और तादात्म्य केवल कुछ विशेष पहलू में ही अभाव की सत्ता अनुमित कर सकता है ।

शंकर-मतवादी द्वारा, द्वैत या भेद को पदार्थ के रूप में स्वीकृति के विरुद्ध, ये आक्षेप हैं, पहला, भेद एक सम्बन्ध होने से दो पदार्थों का सन्निवेश करता है और इसलिए अपने अधिष्ठान से एक रूप नहीं हो सकता जिसमें कि वह रहता है । (भेदस्य नाधिकरण-स्वरूपत्वम्) । दूसरा यदि भेद अधिकरण से भिन्न स्वरूप है तो हमें दूसरी कोटि का भेद लाना पड़ेगा और वह दूसरे को लाएगा, इस प्रकार अनवस्था-स्थिति उत्पन्न होगी । पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि भेद का इस या उस अधिकरण की दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अधिकरण के प्रत्यय-मात्र की दृष्टि से है (भूतलत्वादिना निरपेक्षत्वेऽति अधिकरणात्मकत्वेन सापेक्षत्वे क्षतेरभावात्) ।[2] भेद का भेद लाने की अनवस्था-स्थिति का आक्षेप, अप्रमाण है, क्योंकि सभी भेद अपने अधिकरण से एकरूप हैं । इसलिए भेद की परम्परा में प्रत्येक में भेद का स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है और अनवस्था-स्थिति का अन्त हो जाता है । 'भूतल पर घड़ा है, इस उदाहरण में, घट भेद का स्वरूप घटत्व है, जबकि भेद के भेद में, दूसरी कोटि के भेद में, विशिष्ट प्रकार का निर्दिष्ट भिन्नत्व है । इसके अतिरिक्त, जबकि भेद पदार्थ के विशिष्ट प्रकार को प्रकट करता है, उसमें ये कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं । भेद जब देखा जाता है तब हम, भेद को, वह जिन दो वस्तुओं के बीच रहता है उनसे उसे एक भिन्न पदार्थ के रूप में नहीं देखते ।[3] हम जीव ब्रह्म के ऐक्य में भी अन्योन्याश्रय का दोष देख सकते हैं क्योंकि यह जीव के ब्रह्म से तादात्म्य पर आश्रित है ।

इस विषय का और परीक्षण किया जाय तो पता चलता है कि भेद उत्पन्न होते हैं इसी कारण इस पर कोई भी आक्षेप नहीं लग सकता, क्योंकि वे केवल होते हैं उत्पन्न नहीं किए जाते या वे जाने जा सकते हैं इस कारण भी उस पर आक्षेप नहीं लग सकते, क्योंकि यदि वे कभी नहीं दीखते तो शंकर के अनुयायी तथाकथित भ्रम या भेद के दूषित प्रत्यक्ष को दूर करने के लिए इतने आतुर न होते, या यह सिद्ध करने में अपनी शक्ति न व्यय करते कि ब्रह्म सभी भौतिक इत्यादि मिथ्या पदार्थ से भिन्न है : और सन्त भी नित्य और अनित्य का भेद नहीं कर सकेंगे । पुनः, यह माना है कि

---

[1] द्वितीय ऐक्य-प्रतियोगिक-भेदस्य पारमार्थिकत्व-प्रसंगात् ।

—पर पक्ष गिरि वज्र, पृ० 12 ।

[2] परपक्षगिरिवज्र, पृ० 14 ।

[3] नाप्यन्योन्याश्रयः भेद-प्रत्यक्षे प्रतियोगितावच्छेदक-स्तंभत्वादि-प्रकार-ज्ञानस्यैव हेतुत्वात् न तावद् भेद-प्रत्यक्षे भेदाश्रयाद् भिन्नत्वेन प्रतियोगि-ज्ञानं हेतुः ।

परपक्षगिरिवज्र, पृ० 14, 15 ।

ऐसा भी ज्ञान है जो भेद के विचार को बाधित करता है। किन्तु यदि इस ज्ञान में भेद स्वयं का समावेश होता है तो वह बाध नहीं कर सकता। जो भी कुछ किसी अर्थ को लक्षित करता है वह अर्थ को उससे प्रतिबंधित करके ही ऐसा करता है और ऐसे सभी प्रतिबंधों में भेद का समावेश होता ही है। ज्ञान जो भेद के मिथ्यात्व को सिद्ध करता है (अर्थात्, वह भेद नहीं है, या यहाँ भेद नहीं है इत्यादि) वह भी भेद की सत्ता सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि जो विचार भेद को बाधित करता है वह स्वयं भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात होता है या नहीं। पहले प्रसंग में विचार की प्रमाणता भेद को दूषित नहीं करती, और दूसरे प्रसंग में, अर्थात् यदि वह भिन्नत्व से भिन्न है ऐसा ज्ञात नहीं होता—वह उससे अभिन्न हो जाता है और उसे बाधित नहीं कर सकता।

यदि ऐसा विवाद किया जाता है कि उपरोक्त प्रक्रिया में भेद को पदार्थ के रूप में केवल परोक्ष रूप से ही प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है और भेद के प्रत्यय के स्पष्टीकरण में कुछ साक्षात् नहीं कहा गया है तो उत्तर यह है कि जिन्होंने एकत्व के प्रत्यय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है वे अधिक सफल नहीं हुए हैं। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि यदि आत्यंतिक रूप में एकत्व या तादात्म्य को अन्त में नहीं स्वीकारा जाता तो वह शून्यवाद को लायगा, तो उतने ही बलपूर्वक यह भी आग्रह-पूर्वक किया जा सकता है कि भेद, पदार्थ का प्रकार होने से, भेद का निषेध, पदार्थ का निषेध होगा और यह भी शून्यवाद को लाएगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि भेद, भिन्न होने वाले पदार्थ का प्रकार मात्र ही है, तो भी जिन धर्मों के कारण भेद ज्ञात होता है (मेज कुर्सी से भिन्न है, यहाँ मेज का भिन्नत्व उसका प्रकार ही है, यद्यपि वह कुर्सी के भिन्नत्व के कारण ही समझ में आता है) जिनमें भेद प्रकार के रूप में रहता है उन पदार्थों का घटक नहीं है। शंकर-अनुयायी द्वैत के खंडन में इस तरह मानते हैं कि मानोकि ऐसा खंडन ही अद्वैत का प्रतिपादन है। एकत्व का विचार इस प्रकार, एक तरफ यद्यपि ऐसे खण्डन पर आश्रित है, फिर भी दूसरी तरफ उससे अभिन्न है क्योंकि ऐसे सभी खण्डन काल्पनिक माने गए हैं। इसी प्रकार यह आग्रह किया जा सकता है कि भेद की सिद्धि दूसरे पदार्थों के साथ सम्बन्ध को समावेश करती है, किन्तु तो भी वह जिस पदार्थ का प्रकार है उससे स्वरूपतः अभिन्न है, दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध समझने के हेतु से ही आवश्यक है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जबकि भेद, पदार्थ का प्रकार मात्र ही है इसलिए पदार्थ के ज्ञान का अर्थ आवश्यक रूप से उसमें विद्यमान सभी भिन्नताओं का ज्ञान है। एक पदार्थ विशेष प्रकार से जाना जा सकता है तो भी वह भेद रूप से अज्ञात भी रह सकता है, ठीक जिस प्रकार अद्वैतवादी यह मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य सर्वदा प्रकाशित रहता है किन्तु तो भी वह सभी वस्तुओं के एकत्व के रूप में अज्ञात रहता है। दो पदार्थों के बीच के भेद को समझाने के लिए, अनवस्था दोष लाने जैसी तार्किक प्राथमिकता आवश्यक नहीं है। किन्तु दोनों एक ही चेतना के विषय होते हैं और एक का ज्ञान दूसरे से भिन्नत्व के रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार की पृथक्ता, अद्वैतवादियों को भी जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को समझाने के लिए बतानी चाहिए, नहीं तो, उनके लिए भी अनवस्था के दोष का अभियोग खड़ा हो सकता था। क्योंकि जब कोई कहता है, 'ये दो भिन्न हैं' उनका द्वैत और भेद उनके भेद के ज्ञान पर आश्रित है, जो

विद्यमान रहता हुआ, उनमें तादात्म्य स्थापित करने से रोकता है। यदि ऐसा माना जाता है कि द्वैत काल्पनिक है, और एकत्व सत्य है तो ये दो भिन्न कोटि की सत्ता वाले होने के कारण एक का व्याघात दूसरे का स्वीकृति की ओर अनिवार्यतः नहीं ले जाता। यह याचना करना कि तादात्म्य-ज्ञान में दो सापेक्ष पदार्थों का सम्बन्ध आवश्यक नहीं है यह व्यर्थ है, क्योंकि तादात्म्य दो वस्तुओं का निषेध करने पर ही ज्ञात होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से, शंकर-मतवादियों का मुख्य सिद्धान्त की सभी वस्तु ब्रह्म से अभिन्न है, असिद्ध होता है।

निम्बार्क के अनुसार मुक्ति का ध्येय ईश्वर के भाव को आपन्न करना है (तद्-भावापत्ति)। यही जीवन का अन्तिम उद्देश्य और प्रयोजन है। शंकर के अनुसार, मुक्ति जीव की ब्रह्म से अन्तिम एकता या तादात्म्य में है। ब्रह्म वास्तव में जीव से एक है और हमारे व्यावहारिक जीवन में दीखने वाला भेद अज्ञान या मिथ्या अनुभव से है, जो हम पर द्वैत का मिथ्या विचार आरोपित करता है। माधव मुकुन्द आग्रह करते हैं कि ऐसे मत के अनुसार, जबकि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, तो फिर उनके लिए प्राप्त करने का कुछ नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ सचमुच उद्देश्य प्राप्ति के प्रयत्न का कोई प्रयोजन नहीं है। माधव मुकुन्द, शंकर के मत को निष्फलता दिखाने के लिए कहते हैं कि यदि चरम चैतन्य एक माना जाता है तो वह अनेक जीवों के अनुभव से चित्रित रहेगा। वह भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न दिखाई देता है ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि हम अपने अनुभव में यह पाते हैं कि यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें भिन्न अनुभव होते हैं तो भी वे एक ही व्यक्ति के अनुभव हैं ऐसा स्पष्ट अनुभव भी होता है। उपाधियों की भिन्नता होने के कारण वे भिन्न जीवों के अनुभव की इकाइयाँ होने चाहिए यह निष्कर्ष नहीं निकलता जैसाकि शंकर मतवादी मानते हैं। शुद्ध निर्विशेष चैतन्य को अनेक अन्तःकरण से तादात्म्य किया जा सकता है यह भी नहीं माना जा सकता। पुनः शंकर-मतवादी यह मानते हैं कि गाढ़ निद्रा में (अन्तःकरण) चित्त का लय होता है। यदि ऐसा होता है और यदि शुद्ध निर्विशेष चैतन्य अन्तःकरण के अध्यास से अपने को व्यक्त कर सकता है, तो स्मृति के रूप में चैतन्य की निरन्तरता स्पष्ट नहीं की जा सकती। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि ऐसी निरन्तरता, गाढ़ निद्रा में अन्तःकरण के संस्कार युक्त रहने से बनी रहती है (संस्कारात्मनावस्थितस्य), क्योंकि संस्कारावस्थित अन्तः-करण में स्मृति नहीं रह सकती, क्योंकि ऐसे प्रसंग में गाढ़ निद्रा में भी स्मृति का होना सिद्ध होगा।

आगे, यदि अनुभव अज्ञानावस्था में होते हैं, तो मुक्ति जिसका शुद्ध चैतन्य से ही सम्बन्ध है वह, जो बन्धन में था उस वस्तु से किसी अन्य को लक्ष्य करेगी। दूसरी ओर अनुभव शुद्ध चैतन्य के हैं, तो मुक्ति, एक साथ भिन्न अनुभव के अनुसार, नानाविध विरोधी अनुभवों से सम्बन्धित नहीं हो जायगी।

शंकर मतवादी आग्रह कर सकते हैं कि उपाधियाँ जो अनुभव उत्पन्न करती हैं, शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होती हैं, और इसलिए, परोक्ष रूप से, अनुभव कर्ता और मुक्ति पाने वाले के बीच निरन्तरता है। इस पर उत्तर यह है कि शोक का अनुभव,

उपाधियों का पर्याप्त वर्णन है। जब ऐसा है, तो जहाँ शोक का अनुभव नहीं है वहाँ उपाधियाँ, जिनका पर्याप्त वर्णन है, वे भी नहीं हैं। इस प्रकार, जो बन्धन का दुःख पाता है और वह जो मुक्ति पाता है उनमें अलगाव बना रहता है।

पुनः, जबकि यह माना गया है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत है, तो यह भली प्रकार पूछा जा सकता है कि मुक्ति में एक उपाधि का लय होता है या अनेक का। पहले प्रसंग में मुक्ति हमेशा रहेगी, क्योंकि कोई न कोई उपाधि प्रत्येक क्षण लय होती ही रहती है और दूसरे प्रसंग में मुक्ति होगी ही नहीं, क्योंकि असंख्य जीवों के अनुभवों को निश्चित करने वाली सभी उपाधियाँ कभी भी लय नहीं हो सकतीं।

यह भी पूछा जा सकता है कि उपाधि शुद्ध चैतन्य से अंश रूप से या पूर्ण रूप से सम्बन्धित है। पहले विकल्प में, अनवस्था-दोष होगा, और दूसरे में, शुद्ध चैतन्य का अनेक इकाई में विभाजन हो जाना अस्वीकार्य होगा।

इसके अतिरिक्त, यह पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ शुद्ध चैतन्य से निरपेक्ष या सापेक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। पहले विकल्प में अनवस्था दोष आयगा और दूसरे से, मुक्ति असम्भव हो जायेगी। बिम्बवाद भी इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब तभी स्वीकार हो सकता है जबकि प्रतिबिम्बत प्रतिभा, पदार्थ की ही कोटि की हो। अविद्या ब्रह्म से दूसरी कोटि की सत्ता की वस्तु है, इसलिए अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब न्याययुक्त नहीं है। पुनः, बिम्ब के प्रसंग में जो प्रतिबिम्बित होता है और जिसमें बिम्ब पड़ता है, दोनों भिन्न स्थान पर होने चाहिए, जबकि अविद्या और ब्रह्म के प्रसंग में, ब्रह्म, अविद्या का अधिष्ठान है। उपाधि ब्रह्म के एक भाग में नहीं रह सकती और न वह उसके पूर्ण भाग में ही रह सकती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में प्रतिबिम्ब असम्भव हो जायगा।

निम्बार्क की प्रणाली में, द्वैतवाद एवं अद्वैतवादी श्रुति-पाठों को पूर्ण स्थान है, द्वैतवादी पाठ जीव और ब्रह्म के भेद को सिद्ध करते हैं और अद्वैतवादी पाठ अन्तिम उद्देश्य की ओर सूचन करते हैं जिसमें जीव ब्रह्म का अंश है और एक है ऐसा अनुभव करते हैं, किन्तु शंकर की प्रणाली में, जहाँ द्वैतवाद स्वीकार नहीं किया गया है, गुरु-शिष्य उपदेश को स्थान नहीं है क्योंकि ये सब अज्ञान के अध्यास हैं।

(ख) शंकर के मायावाद के विभिन्न पहलुओं का खण्डन

शंकर के मायावाद में यह मान्यता निहित है कि भ्रम के अधिष्ठान का अपूर्ण या खण्ड ज्ञान होता है। भ्रम में अज्ञान भाग पर विशिष्ट भासों का अध्यास होता है। वृक्ष का ठूंठ अंश रूप में एक लम्बी वस्तु सा दिखाई देता है किन्तु ठूंठ के रूप में उसका अन्य भाग इन्द्रिय का विषय नहीं होता है इसी भाग के सम्बन्ध में ही भ्रम का आरोपण अर्थात् मनुष्य का आरोपण शक्य होता है जिसके कारण लम्बा भाग मनुष्य के रूप में दीखता है। किन्तु ब्रह्म अखंड है और उसमें विभागों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिए ब्रह्म का पूर्ण रूप से ही ज्ञान होना चाहिए वहाँ भ्रम का कोई स्थान नहीं रहता। पुनः भ्रामक आभास का अर्थ है कि भ्रम का अध्यास किसी पदार्थ पर किया जाना चाहिए। किन्तु, अविद्या जो अनादि होने से वह स्वयं भ्रम है ऐसा नहीं माना जा सकता। अनादित्व के दृष्टान्त का सहारा लेकर ब्रह्म को भी आभास माना जा

सकता है । ब्रह्म अधिष्ठान होने के कारण मिथ्या नहीं हो सकता, यह उत्तर निरर्थक है, क्योंकि यद्यपि अधिष्ठान भ्रम का मूल है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अधिष्ठान सत्य होना चाहिए । अधिष्ठान की स्वतंत्र सत्ता है क्योंकि वही अज्ञान से सम्बन्धित है जो भ्रम का आधार बन सकता है, ऐसा आक्षेप व्यर्थ है, क्योंकि परम्परागत क्रम में जहाँ प्रत्येक अवस्था अविद्या से सम्बन्धित है वहाँ अधिष्ठान भी असत् हो सकता है । ऐसे मत के अनुसार, शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान नहीं बन सकता किन्तु भ्रम-युक्त ब्रह्म अज्ञान से सम्बन्धित रहता है । इसके अतिरिक्त, यदि अविद्या और उसके प्रकार सर्वथा असत् है, तो उन पर आरोपण नहीं हो सकता । जो सचमुच अस्तित्व रखता है उसका कहीं अध्यारोपण हो सकता है, किन्तु जो है ही नहीं उसका अध्यारोपण किस प्रकार हो सकता है । शश-विषाण जैसी तुच्छ वस्तु कभी भी अध्यास का आधार नहीं बन सकती, क्योंकि जो नितान्त असत् है, वह दीख भी नहीं सकता ।

पुनः, भ्रम संस्कार-व्यापार के कारण होता माना गया है, किन्तु अनादि विश्व-प्रपंच में संस्कार भी अनादि और अधिष्ठान के साथ अस्तित्व रखने वाले माने जाएँगे, इसलिए वे सत् होंगे । संस्कार भ्रम से पूर्व अस्तित्व रखने वाले होने चाहिए और इसलिए वे सत् होंगे । संस्कार भ्रम से पूर्व अस्तित्व रखने वाले होने चाहिए और इसलिए वे मिथ्या नहीं हो सकते और यदि ये मिथ्या नहीं हैं तो वे सत् हैं । पुनः संस्कार ब्रह्म में नहीं रह सकते, क्योंकि फिर वह निर्गुण और शुद्ध नहीं रह सकता, वे जीव में भी नहीं रह सकते क्योंकि वे भ्रम से ही उत्पन्न होते हैं, जो (भ्रम) फिर संस्कार-व्यापार से उत्पन्न होते हैं । आगे, सादृश्य का भ्रम में महान् योग है किन्तु ब्रह्म जो अधिष्ठान है और शुद्ध एवं निर्गुण है वह किसी के सदृश नहीं है । ब्रह्म के ऊपर किसी कल्पित समानता का आरोपण करना भी असम्भव है, क्योंकि ऐसे कल्पित अध्यास के पूर्व काल में भ्रम का होना आवश्यक है । पुनः, सभी भ्रम का आरम्भ होता है, जबकि जो पदार्थ मिथ्या नहीं हैं, जैसेकि जीव, वे अनादि काल से पाए जाते हैं । अहंकार भ्रम का अधिष्ठान बनता है यह भी मानना गलत है क्योंकि वह स्वयं भ्रम का कार्य है ।

इसके अतिरिक्त यह मान्यता, जगदाभास विश्व भ्रम है जो शुद्ध चैतन्य से आध्यासिक सम्बन्ध से युक्त है, यह अप्रमाण है । किन्तु शंकर-मतवादी यह स्वीकारते हैं कि बाह्य जगत् और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध चित्तवृत्ति द्वारा होता है । इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध चैतन्य प्रमा है तो वह इसी कारण मिथ्या ज्ञान का आधार नहीं बन सकता । यदि शुद्ध चैतन्य मिथ्या ज्ञान है, तो स्पष्ट ही मिथ्या ज्ञान का आधार नहीं हो सकता । कुछ ज्ञात सम्बन्ध, जैसेकि संयोग और समवाय, ज्ञेय और ज्ञान के बीच नहीं पाए जाते केवल इसी तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि उनका सम्बन्ध मिथ्या होना चाहिए, क्योंकि उनके बीच अन्य प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं । ज्ञान और ज्ञेय का एक विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध माना जा सकता है । यह भी सोचना गलत है कि सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं वे मिथ्या विश्व के घटक हैं विश्व मिथ्या इसलिए माना जाता है क्योंकि सम्बन्ध मिथ्या हैं और इस प्रकार अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा । पुनः, यदि सम्बन्ध दो वस्तुओं को जोड़ने वाला माना जाता है तो संबंध को सम्बन्धित पदार्थ से जोड़ने के लिए दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और अनवस्था दोष उत्पन्न होगा, यह आक्षेप व्यर्थ है । यही आक्षेप मिथ्या सम्बन्ध के बारे में भी दिया जा सकता है । यदि ऐसा

माना जाता है कि क्योंकि सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं इसलिए उपरोक्त खण्डन उपयुक्त नहीं है, तो यह बताया जा सकता है कि यदि सम्बन्ध का क्रम उलटा कर दिया जाय तो घट माया कार्य होने के बजाय माया घट का कार्य होगा। इस प्रकार, शंकर-मतवादियों को ही नहीं किन्तु बौद्धों को भी सम्बन्ध का नियमित क्रम मानना पड़ता है। निम्बार्क-मत में, सभी सम्बन्धों को सत् माना है, क्योंकि वे भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति के भिन्न प्रकार हैं। सम्बन्ध को अस्वीकार भी किया जाय तो भी ब्रह्म के स्वरूप का यथा-तथ्य वर्णन नहीं किया जा सकता।

(ग) शंकर-मतवादियों के अज्ञान मत का खण्डन

अज्ञान को अनादि भाव रूप पदार्थ माना है जो ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है (अनादि-भावत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्वम्)। यह परिभाषा व्यर्थ है क्योंकि यह प्रत्यक्ष होने से पहले साधारण पदार्थ को आवृत्त करने वाले अज्ञान के लिए उपयुक्त नहीं होती। अज्ञान, वस्तु के अभाव के लिए भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह भाव रूप है। जिन सन्तों ने ब्रह्म-प्राप्ति की है उनमें वह ब्रह्म प्राप्ति होने पर भी वर्तता है इसलिए अज्ञान, ज्ञान द्वारा नष्ट होता है यह मिथ्या सिद्ध होता है। स्फटिक में प्रतिबिम्ब के कारण लाल रंग का देखना, यह जानते हुए भी कि स्फटिक सफेद है और लाल रंग प्रतिबिम्ब के कारण है, बना रहता है। यहाँ भी अज्ञान ज्ञान से निवृत्त नहीं होता। यह भी सोचना गलत है कि अज्ञान, जो दोष-जनित है, उसे अनादि माना जाय। इसके अति-रिक्त, यह बताया जा सकता है कि अभाव को छोड़कर सभी पदार्थ जो अनादि हैं, वे भी आत्मा की तरह अनादि हैं और यह एक विचित्र मान्यता है कि अज्ञान एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होने पर भी नाशवान् है। पुनः, अज्ञान को सत् और असत् दोनों से विलक्षण मानकर भी इसे भाव पदार्थ कहा गया है। यह कल्पना करना भी कठिन है कि जबकि निषेधात्मक पदार्थ अज्ञान के कार्य माने जाते हैं तब स्वयं अज्ञान को भाव पदार्थ माना जाय। इसके अतिरिक्त, मिथ्या या भ्रम जो ज्ञानाभाव-जनित है, उसे निषेधात्मक पदार्थ मानना पड़ेगा, किन्तु भ्रम होने से उसे अज्ञान का कार्य मानना पड़ेगा।

'मैं अज्ञ हूँ' इस तथाकथित अनुभव में अज्ञान की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। वह शुद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि तब वह अशुद्ध कहा जायगा। वह भाव रूप ज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि यही तो सिद्ध करने का विषय है। आगे यदि ज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए हमें ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है और यदि ज्ञान का प्रति-पादन करने के लिए अज्ञान का सहारा लेना पड़ता है तो यहाँ दुश्चक्र उपस्थित हो जाता है। वह अहं अर्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अज्ञान का कार्य है, इस-लिए वह अज्ञान के अनुभव का अधिष्ठान नहीं बन सकता। अहं का अज्ञ रूप में अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अज्ञान का कार्य है। अहं को अज्ञान के समानार्थ कभी नहीं माना जाता, और इस प्रकार अज्ञान का का भाव रूप से गुण या द्रव्य के रूप में अनुभव किया जाता है इसे सिद्ध करने का कोई साधन नहीं है। अज्ञान इस प्रकार ज्ञानाभाव से अन्य और कुछ नहीं है और शंकर-मतवादियों को इसे मानना चाहिए क्योंकि उन्हें 'मैं जो तुम कहते हो उसे नहीं समझता' इस अनुभव की प्रमाणता स्वीकार करनी पड़ती है, जो शंकर-मतवादियों द्वारा अन्य प्रसंग पर स्वीकारा गया है और जो

ज्ञानाभाव से अन्य कुछ नहीं है। उपरोक्त उदाहरण, ज्ञानाभाव के ऐसे दृष्टान्तों से किसी भी प्रकार से भिन्न है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। पुनः यदि अज्ञान पदार्थ को आवृत्त करता माना जाता है, तो परोक्षवृत्ति के प्रसंग में (शंकर-मतानुसार वृत्ति अज्ञान आवरण को नहीं हटाती) हमें यह अनुभव होना चाहिए कि हम ही परोक्षवृत्ति के विषय से अज्ञ है क्योंकि तब अज्ञान का आवरण बना रहता है।[1] इसके अतिरिक्त, माने हुए अज्ञान के सभी अनुभव, ज्ञानाभाव के ज्ञान के रूप में समझाए जा सकते हैं। उपरोक्त प्रकार से मुकुन्द माधव, अज्ञान के वादों की और मत के भिन्न पहलुओं की आलोचना करते हैं। किन्तु विवाद की पद्धति का जो इन तार्किक खण्डनों में उपयोग किया गया है उसका वेंकटनाथ एवं व्यास तीर्थ ने उपयोग किया है उससे तत्वतः भिन्न न होने के कारण, हम मुकुन्द माधव के प्रतिपादन को विस्तार से देना आवश्यक नहीं समझते।

माधव मुकुन्द के अनुसार प्रमाण

निम्बार्क के अनुयायी आठ में से केवल तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) ही मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव अर्थात् छोटे का बड़े में समावेश होना, जैसे दस का सौ में और इतिहास (ऐतिह्य) आठ प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर। पाँच ज्ञान इन्द्रियों के अनुसार बाह्य पाँच प्रकार हैं। मानस प्रत्यक्ष आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहलाता है जो दो प्रकार का है, लौकिक और अलौकिक। सुख-दुःख का प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष का उदाहरण है, जबकि आत्मा का स्वरूप, ईश्वर और उनके गुण पर आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं। पर आभ्यंतर प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का है, एक जो वस्तु के ध्यान करने से प्रकाशित होता है, और दूसरा जो श्रुति वाक्यों पर ध्यान करने से होता है। श्रुति कहती है कि परम सत्य मन से अनुभव नहीं होता इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य मन से अनुभव नहीं होता इसका अर्थ या तो यह होता है कि परम सत्य अपनी समग्रता में मन द्वारा प्रत्यक्ष नहीं है या गुरु द्वारा सिखाए बिना या योग्य संस्कार उत्पन्न हुए बिना, परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान, जीव का अनादि, नित्य सर्वव्यापी धर्म है। किन्तु हमारी वृद्धावस्था में यह ढके हुए दीप की रश्मि की तरह संकुचित रूप में है। जिस प्रकार घड़े में छिपे हुए दीए की रश्मि छेद पार करके कमरे में जा सकती है और कमरे के दरवाजे से बाहर जाकर किसी पदार्थ को प्रकाशित कर सकती है, उसी प्रकार ज्ञान भी प्रत्येक जीव में चित्त वृत्ति द्वारा इन्द्रियों तक पहुँचकर, फिर उनकी वृत्ति द्वारा विषय तक पहुँचता है और उन्हें प्रकाशित करके ज्ञान और विषय दोनों को प्रकाशित करता है। अज्ञान, जो विषय के ज्ञान से नष्ट होना है वह संकुचित अवस्था का आंशिक अन्त है जो ज्ञान को प्रकाशित करता है। ज्ञान का अर्थ इस कथन में यह है कि ज्ञान विशिष्ट आकार लेकर उसे प्रकाशित करता है। विषय जैसे हैं वैसे ही रहते हैं किन्तु वे ज्ञान के संयोग से प्रकट होते हैं और उसके बिना अप्रकट रहते हैं। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के प्रसंग में इन्द्रियों के

---

1 परोक्षवृत्तेर्विषयावरका ज्ञान-निवर्तकत्वेन परोक्षतो ज्ञातेऽपि न जानामि त्वनुभवापाताच्च। —परपक्षगिरिवज्र, पृ० 76।

व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए सुख और दुःख का मन को साक्षात् अनुभव होता है। आत्मचेतना और आत्म अनुभव में, आत्मा स्वयं स्वप्रकाश्य होने से, आत्मा की दिशा में जाने वाली वृत्तियाँ, संकुचित अवस्था को हटाती हैं और आत्मा के स्वरूप को प्रकट करती हैं। इस प्रकार ईश्वर का अनुभव उनकी कृपा से और चित्त की ध्यानावस्था द्वारा अवरोधों को हटाने से हो सकता है।[1]

अनुमान में, पक्ष में हेतु के, ज्ञान को, जिसकी साध्य से व्याप्ति है, जो दूसरे शब्दों में परामर्श कहलाता है, (वह्नि व्याप्य-धूमवानयम् एवं रूपः) अनुमान कहा है और इससे ज्ञान होता है (पर्वत में आग लगी है)। अनुमान दो प्रकार के हैं, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। दूसरे में तीन ही अवयवों की (प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण) की आवश्यकता मानी है। तीन प्रकार के अनुमान केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी माने जाते हैं। इन तीन प्रकार के अनुमानों से उत्पन्न व्याप्ति के अतिरिक्त, श्रुति को भी व्याप्ति का प्रकार माना है। इस प्रकार का श्रुति वाक्य है कि आत्मा, अविनाशी और अपने धर्म से कभी रहित नहीं होता (अविनाशी वारे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा), इसे व्याप्ति माना है, जिससे ब्रह्म जैसे आत्मा का अविनाशीपन अनुमित किया जा सकता है।[2] निम्बार्क के अनुमान के विषय के अन्य कोई महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है।

सादृश्यत का ज्ञान उपमान के पृथक् अनुमान से होता है ऐसा माना है। सादृश्यत का ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा या श्रुति द्वारा हो सकता है। एक पुरुष चंद्र और मुख में सादृश्यत देखे या वह श्रुति से आत्मा का ईश्वर के स्वरूप से सादृश्य और इस सादृश्यत से वह इसे समझ सकता है। इसे अनुमान के दृष्टान्तों में समावेश किया जा सकता है। (उपमानस्य दृष्टान्त-मात्रैक विग्रहत्वेनानुमानावयवे उदाहरणे अन्तर्भावः। परपक्षगिरिवज्र, पृ० 254)।

जिससे किसी के अभाव का ज्ञान होता है उसे अनुपलब्धि प्रमाण माना है। यह चार प्रकार की है, प्रागभाव, अन्योन्याभाव, ध्वंसाभाव, और अत्यंताभाव (कालत्रयेऽपि नास्तीति प्रतीति-विषयः अत्यंता भावः) किन्तु अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण के रूप में मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि निम्बार्क-मत के अनुसार, अभाव या अनुपलब्धि को एक पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। अभाव का ज्ञान, पदार्थ के प्रतियोगी को, जिससे उसका संयोग नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव करने के सिवाय और कुछ नहीं है। घड़े का प्रागभाव मृत्पिण्ड मात्र है, घड़े के विनाश का अभाव घड़े के टुकड़े हैं। अन्योन्याभाव वह पदार्थ है जो दूसरे से भिन्न अनुभव किया जाता है, और अत्यंताभाव अभाव का प्रतियोगी मात्र है। इस प्रकार अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। अर्थापत्ति को अनुमान का ही एक प्रकार कहा जा सकता है। सम्भव को आगमन का ही एक प्रकार माना जा सकता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में, शंकर मत के अनुसार ही स्वतः प्रामाण्यवाद माना गया

---

1 परपक्षगिरिवज्र, पृ० 203-206।

2 परपक्षगिरिवज्र, पृ० 210।

है। दोष के न रहने पर प्रमा उत्पन्न करने वाली सामग्री विषय का जैसा है वैसा ज्ञान कराती है, इसे निम्बार्क-मत में स्वतस्त्व कहा है अर्थात् उपरोक्त स्वतः प्रामाण्यवाद की परिभाषा है। (दोषाभावत्वे यावत्स्वाश्रय-भूत-प्रमाग्राहक-सामग्रीमात्र-ग्राह्यत्वम्)।[1] जिस प्रकार नेत्र रंगीन पदार्थ देखते समय उस पदार्थ के रूप और आकार को भी देखते हैं, इसलिए वे पदार्थ के ज्ञान के साथ उसकी प्रमाणता भी ग्रहण करते हैं।

भगवान् के स्वरूप का वर्णन तो, केवल श्रुति द्वारा ही हो सकता है क्योंकि श्रुतियों की शक्ति सीधे ईश्वर से ही उत्पन्न होती है। जीवों की शक्ति निस्संदेह ईश्वर से ही प्राप्त है, किन्तु वे ईश्वर का बोध नहीं करा सकतीं, क्योंकि वे जीव के अपूर्ण मन से दूषित होती हैं। मीमांसक यह सोचने में गलती करते हैं कि वेद के सभी पाठों का अर्थ धार्मिक कर्मकांड है, क्योंकि सभी कर्मों का अन्तिम निष्कर्ष ब्रह्म-जिज्ञासा में पूर्ण होता है और इसके द्वारा मुक्ति की योग्यता उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस दृष्टि से सभी कर्मों के पालन का उद्देश्य मुक्ति-प्राप्ति है।[2] जिसने ब्रह्म-प्राप्ति कर ली है, उसके लिए धर्म-पालन आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि सभी कर्मों का यही अन्तिम फल है और बुद्धिमान् पुरुष को कर्म करके और अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। जिस प्रकार भिन्न प्रकार के बीज बोए जाने भी पर यदि पानी न बरसे तो वे भिन्न प्रकार के वृक्ष उत्पन्न नहीं करेंगे, उसी प्रकार, कर्म अपने आप फल नहीं दे सकते। ईश्वर की कृपा से ही कर्म अपना निर्दिष्ट फल देते हैं। इसलिए नैमित्तिक कर्म चित्त-शुद्धि में सहायक हैं, उन्हें स्वतंत्र रूप से अन्तिम ध्येय नहीं माना जा सकता, जो जिज्ञासा उत्पन्न करने तथा ईश्वर से अन्तिम एकता प्राप्त करने का रहा है।

रामानुज और भास्कर के मतों की आलोचना

रामानुज और उनके अनुयायियों का यह मानना है कि जीव और जड़ जगत् भगवान् के गुण हैं। विशेषण का काम एक पदार्थ का उसके जैसे दूसरे पदार्थ से भेद करना है। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'राम, दशरथ का पुत्र है' तब 'दशरथ पुत्र का बलराम और परशुराम से भेद स्पष्ट हो जाता है। किन्तु जीव और जड़-जगत् को ब्रह्म का विशेषण कहने से कोई हेतु सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वे ब्रह्म को अपने जैसे अन्य पुरुषों से भेद नहीं करते, क्योंकि रामानुज मतवादी भी जीव, जड़ जगत् और दोनों के अन्तर्यामी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं स्वीकारते। जब भेद करने के लिए कुछ नहीं है तब जीव और जड़ का प्रत्यय असाधारण धर्म के रूप में भी व्यर्थ हो जाता है। विशेषण का दूसरा कार्य, पदार्थ को ठीक तरह समझने में सहायता करना है। जीव और जड़ का ब्रह्म के गुण के रूप में ज्ञान, हमें ब्रह्म को और अच्छी तरह समझने में सहायक नहीं है।

पुनः, यदि ब्रह्म, जीव और जड़ से सम्बन्धित है, तो वह उनके दोषों से भी सम्बन्धित होना चाहिए। यह तर्क किया जा सकता है कि ब्रह्म जिसमें जीव और जड़ रहते हैं वह स्वयं विशेषित है या नहीं। पहले विकल्प के अनुसार, रामानुज मतवादियों

---

[1] परपक्षगिरिवज्र, पृ० 253।

[2] वही, पृ० 279-280।

को शंकर के अनुयायियों की तरह निर्गुण सत्ता को स्वीकारना पड़ता है और ब्रह्म में एक अंश ऐसा भी मानना पड़ता है जिसका निर्गुण सत्ता के रूप में अस्तित्व है। यदि ब्रह्म, अंश रूप से सगुण और अंश रूप से निर्गुण है तो वह अपने कुछ अंशों में ही सर्वज्ञ होगा। यदि शुद्ध असंग ब्रह्म सर्वज्ञ माना जाता है तो एक ब्रह्म सर्वज्ञता और अन्य गुणों से सम्बन्धित होगा और दूसरा ब्रह्म जीव और जड़ से सम्बन्धित होगा और इस प्रकार अद्वैतवाद खण्डित हो जायगा। शुद्ध ब्रह्म जीव और जड़ के बाहर होने से, वे दोनों नियन्ता के बिना रहेंगे और ब्रह्म से स्वतंत्र होंगे। इसके अतिरिक्त, इस मत के अनुसार ब्रह्म कुछ अंश में उत्तम एवं शुद्ध गुणों से युक्त होगा और दूसरे अंशों में भौतिक जगत् एवं अपूर्ण जीवों के दूषित गुणों से युक्त होगा। दूसरे विकल्प के अनुसार, अर्थात्, जड़ और जीव विशिष्ट ब्रह्म ही परम सत्ता है तो यहाँ एक नहीं किन्तु दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों का समावेश होता है और ब्रह्म पहले की तरह दो विरुद्ध, शुद्ध और अशुद्ध गुणों से युक्त होगा। पुनः यदि ब्रह्म को संग्रथित इकाई माना जाता है और यदि जड़ और जीव, जो आपस में परिच्छिन्न और भिन्न हैं वे यद्यपि ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी उसके अंग माने जाते हैं तो इस परिस्थिति में यह कैसे सोचा जा सकता है कि ये अंग ब्रह्म से, अभिन्न होने पर भी भिन्न हो सकते हैं।[1]

निम्बार्क के मत में श्रीकृष्ण ही ईश्वर या परम ब्रह्म हैं वे जीव और जड़ जगत् को धारण करते हैं जो उसके अंग हैं और पूर्ण रूप से उससे नियंत्रित हैं। इसलिए उनकी परतंत्र सत्ता है। परतंत्र सत्ता दो प्रकार की होती है, जीव, जो कि जन्म-मरण में आते दीखते हैं अपनी प्रकृति में नित्य हैं और अनित्य, जड़ द्रव्य जिससे शरीर निर्माण होता हैं उसके अधिष्ठान हैं। श्रुति जिस द्वैत का वर्णन करती हैं वह यह द्वैत सम्बन्ध, परम द्रव्य ब्रह्म, जो केवल पूर्ण स्वतंत्र है तथा जीव और जड़ जिनकी परतंत्र सत्ता है, इनके बीच का है। श्रुति, जो द्वैत को अस्वीकार करती है, परम द्रव्य को लक्ष्य करती है जो स्वतंत्र है और सभी सत्ता का सामान्य आधार भी है। श्रुति ब्रह्म को 'नेति-नेति' कहकर वर्णन करती है, वह यह सूचित करती है कि ब्रह्म किस प्रकार सभी वस्तुओं से भिन्न है, या दूसरे शब्दों में यों कहती है कि किस प्रकार ब्रह्म जड़ और जीव से भिन्न है जो भौतिक उपाधियों से मर्यादित है।[2] ब्रह्म इस प्रकार परम सत्ता है सभी उत्तम और श्रेष्ठ गुणों का आधार है और अन्य सभी परतंत्र वस्तुओं से भिन्न है। अद्वैतवादी-ग्रन्थ उपरोक्त तथ्य को लक्ष्य करते हैं कि जड़ जगत् और असंख्य जीव तो परतंत्र हैं वे ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते और इसी अर्थ में वे इससे एक हैं। उनकी सत्ता ब्रह्मात्मभाव में है और उससे पूरी तरह से व्याप्त हैं (तद्व्याप्यत्व) और उसी से आधारित हैं और उसी में उनका वास है तथा उससे पूर्णतया नियंत्रित हैं।[3] जिस प्रकार

---

1 परपक्ष गिरि वज्र, पृ० 342।

2 वस्तुतस्तु नेति नेतीति नञ्भ्यां प्रकृत स्थूल सूक्ष्मत्वादि धर्मवत्-जड़-वस्तु-तदवच्छिन्न जीववस्तु विलक्षणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते। —परपक्षगिरिवज्र, पृ० 347।

3 तयोश्च ब्रह्मात्मकत्व-तन्नियमत्व-तद्-व्याप्यत्व-तदभिन्नसत्व तदाधेयत्वा-दियोगेन तदपृथक्सिद्धित्वात् अभेदोऽपि स्वाभाविकः। —वही, पृ० 355।

सभी पदार्थ घड़े, पत्थर इत्यादि में द्रव्य होने के कारण द्रव्यत्व रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार जीव और जड़, ईश्वर से व्याप्त होने के कारण ईश्वर कहे जा सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार इनमें से वास्तव में, कोई भी द्रव्य नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार जीव और जड़ को ईश्वर से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।[1]

भास्कर के अनुयायी भी जीव को मिथ्या मानने में गलती करते हैं क्योंकि वे शुद्ध ब्रह्म पर मिथ्या उपाधि के आरोपण से मिथ्या दीखते हैं। तथाकथित उपाधियों का ब्रह्म पर आरोपण नहीं समझा जा सकता है। इसका अर्थ भी यह हो सकता है कि अणु रूप जीव ब्रह्म पर उपाधि के आरोपण के कारण है, जिसके कारण पूर्ण ब्रह्म भी स्वयं जीव रूप से दीखता है या जिससे ब्रह्म विभाजित हो जाता है और इसी विभाजन के कारण अनेक जीव रूप दीखता है, या ब्रह्म इन उपाधियों से विशिष्ट हो जाता है या उपाधियां स्वयं जीव रूप दीखती हैं। ब्रह्म एकरस और अखण्ड होने के कारण विभाजित नहीं हो सकता। यदि वह विभाजित भी हो जाय तो जीव इस विभाजन से उत्पन्न होने के कारण कालगत होंगे और इसलिए नित्य न होंगे, और यह मानना पड़ेगा कि इस मत के अनुसार जितने जीव हैं उतने भागों में ब्रह्म को विभाजित होना पड़ेगा। यदि यह माना जाता है कि उपाधियुक्त ब्रह्म के अंश ही जीव दीखते हैं तो ब्रह्म उन उपाधियों से दोषयुक्त हो जाएगा और वह अंश बनकर जीव को उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त, उपाधियों के स्वरूप में परिवर्तन होते रहने के कारण, जीवों का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहेगा, और इस प्रकार वे सहज ही बन्धन और मुक्ति पाते रहेंगे।[2] यदि उपाधि के परिवर्तन से ब्रह्म में भी परिवर्तन होता है तो ब्रह्म अखण्ड और सर्वव्यापी नहीं रहेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि ब्रह्म पूर्णतया उपाधि-ग्रस्त हो जाता है, तो एक ओर, शुद्ध परब्रह्म न रहेगा, और दूसरी ओर, सभी शरीर में एक ही आत्मा रहेगी। पुनः, यदि जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं, तो फिर वे ब्रह्म के उपाधिग्रस्त होने के कारण उत्पन्न होते हैं यह कथन त्याग देना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाता है कि उपाधियाँ स्वयं जीव या आत्मा हैं, तो यह चार्वाक जैसा भौतिकवाद हो जाता है। पुनः यह नहीं माना जा सकता कि उपाधियाँ केवल ब्रह्म के नैसर्गिक गुणों को आवृत्त करती हैं, जैसाकि सर्वज्ञता इत्यादि, परन्तु ये स्वाभाविक गुण होने के कारण हटाई नहीं जा सकतीं। एक दूसरा प्रश्न खड़ा हो सकता है कि ये स्वाभाविक गुण ब्रह्म से भिन्न हैं या नहीं, या भेद में अभेद रूप हैं। वे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि यह मानने से द्वैत आ पड़ता है।

---

1 यथा घटो द्रव्यं, पृथ्वी द्रव्यमित्यादौ द्रव्यत्वावच्छिन्नेन सह घटत्वावच्छिन्न-पृथिवीत्वावच्छिन्नयोः सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव विशेषस्य सामान्याभिन्नत्व-नियमात् एवं प्रकृतेऽपि सार्वज्ञाद्यनन्ताचिन्त्या-परिमितविशेषावच्छिन्नेनापरिच्छिन्न-शक्ति-विभूतिकेन तत्पदार्थेन पर ब्रह्मणा स्वात्मक चेतन चेतनात्वावच्छिन्नयोस्त दात्मरूपयोस्त्वमादि पदार्थयोः सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० 355-56।

2 किंच उपाधौ गच्छति सति उपाधिना स्वावच्छिन्न-ब्रह्म-प्रदेशाकर्षणा-योगात् अनुक्षणमुपाधि-संयुक्त-प्रदेशभेदात् क्षणे क्षणे बंध मोक्षौ स्याताम्।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० 357।

वे ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं हो सकते, क्योंकि तब वे ब्रह्म के गुण नहीं माने जा सकेंगे। यदि वे अपना ही स्वरूप हैं तो आवृत्त नहीं किए जा सकते, क्योंकि ऐसे प्रसंग में ब्रह्म की सर्वज्ञता का अन्त हो जायगा। यदि ऐसा माना जाता है कि वे भेद में अभेद रूप हैं तो यह निम्बार्क-मत को मानना होगा।

पुनः, यदि ऐसा माना जाता है कि सर्वज्ञता इत्यादि स्वाभाविक गुण भी उपाधि के कारण हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि ये उपाधियाँ ब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न। दूसरे (पिछले) विकल्प के अनुसार, उनमें ब्रह्म के नानात्व उत्पन्न करने की शक्ति न होगी। पहले विकल्प के अनुसार, यह पूछा जा सकता है कि वे अपने से कार्यान्वित होते हैं या किसी अन्य कारक या ब्रह्म से कार्यान्वित होते हैं। पहले मत के अनुसार यह स्वगतिवाद की आलोचना का ग्रास होगा, दूसरा हमें अनवस्था-दोष की ओर ले जायगा, और तीसरा आत्माश्रय की स्थिति में पहुँचायगा। इसके अतिरिक्त, इस मत में, ब्रह्म नित्य होने से, उसकी गति भी नित्य होगी, और उपाधियों के कार्य का अन्त कभी भी न आयगा इस प्रकार मुक्ति अशक्य हो जायगी। उपाधियों को मिथ्या असत् या तुच्छ नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब वह निम्बार्क मत के मानने के बराबर हो जायगा।[1]

यह आगे पूछा जा सकता है कि उपाधियाँ किसी कारणवशात् आरोपित होती हैं या अकारण ही। पहले विकल्प में, अनवस्था-दोष आता है और दूसरे में, मुक्त पुरुष भी फिर बद्ध हो सकता है। पुनः, यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञता इत्यादि गुण जो ब्रह्म में हैं वे ब्रह्म को पूर्ण रूप से व्याप्त करते हैं या उसके कुछ अंश को। पहले मतानुसार, यदि गुण ब्रह्म को पूर्णतया व्याप्त करते हैं तो मुक्ति असम्भव है और चेतना का सारा क्षेत्र अज्ञान आवृत्त होने के कारण पूर्ण अन्धकार का प्रसंग उपस्थित होगा (जगदांध्य-प्रसंग)। दूसरे मतानुसार, सर्वज्ञता केवल ब्रह्म का एक ही गुण या एकांशिक होने से ब्रह्म के पूर्णण्य का अन्त होता है।

भास्कर के मत का अनुसरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि मुक्त जीवों की पृथक् सत्ता है या नहीं। यदि पहला विकल्प माना जाता है और यदि उपाधियों का नाश होने पर भी जीव अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं तो फिर भेद उपाधि द्वारा जनित है यह मत त्याग देना पड़ेगा (औपाधिक-भेद-वादो दत्त-जलांजलिः स्यात्)। यदि जीवों की पृथकता मुक्तावस्था में बनाई नहीं रखी जा सकती, जो उनके स्वरूप का नाश होता है, और यह शंकरानुयायियों के मायावाद मानने के बराबर होगा, जो यह मानते हैं कि ईश्वर और जीव के मुख्य गुण नाशवान् हैं।

यह मानना गलत है कि जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं, क्योंकि इस प्रसंग में, अंश से बना होने के कारण ब्रह्म स्वयं नाशवान् होगा। जब श्रुति जगत् और जीव को ब्रह्म का अंश कहती है तो उसके कहने का बल ब्रह्म अनन्त है और जगत् उसकी तुलना में कहीं छोटा है इस बात पर है। यह भी कल्पना करना कठिन है कि अंतःकरण ब्रह्म के स्वरूप को मर्यादित करने में किस प्रकार कार्य कर सकता है। ब्रह्म किस प्रकार इन उपाधियों को अपना स्वरूप दूषित करने देता है। ब्रह्म ने इन जीवों को उत्पन्न करने के लिए इन

---

1 परपक्षगिरिवज्र, पृ० 358।

उपाधियों को ही बनाया है, क्योंकि जीव, उपाधियों के पहले अस्तित्व में नहीं थे। इस प्रकार ब्रह्म भेदाभेदवाद का सिद्धान्त जो उपाधियों के कारण माना गया है (औपाधिक भेदाभेदवाद) सर्वथा गलत है।

निम्बार्क के मतानुसार, इसलिए, ब्रह्म और जीव के बीच भेद और अभेद स्वाभाविक है और जैसा भास्कर सोचते हैं वैसा औपाधिक नहीं हैं। सर्प का कुण्डलाकार उसके लम्बे आकार से भिन्न है जो उसका स्वरूप है, कुण्डल का सर्प से कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। कुण्डलाकार का सर्प के स्वाभाविक स्वरूप में वास है ही। किन्तु वहाँ यह अपृथक् है, अदृश्य है, और सर्प ही है जिससे वह आश्रित और सम्पूर्णतः व्याप्त है। इस प्रकार जीव और जगत्, एक दृष्टि से ब्रह्म से पूर्णतया अभिन्न हैं, क्योंकि वह उनका आधार है और उसमें पूर्णतया व्याप्त है, और उस पर आश्रित है, फिर भी दूसरी दृष्टि से, ब्रह्म से, दृश्य रूप और व्यापार रूप से भिन्न है।[1] दूसरा दृष्टांत जिसके सहारे निम्बार्कमतानुयायी अपनी बात स्पष्ट करना चाहते हैं वह है सूर्य और उसकी किरणों का दृष्टान्त। किरणें एक ओर सूर्य से अभिन्न हैं, फिर भी वे भिन्न रूप से प्रत्यक्ष का विषय होती हैं।

इस मत का रामानुज से यह भेद है कि जबकि रामानुज जीव और जड़ को, ब्रह्म को विशिष्ट करते हुए मानते हैं और इस अर्थ में वे उससे अभिन्न हैं, निम्बार्क मतवादी जड़ और जीव द्वारा, ब्रह्म के स्वरूप के नित्य विकार के प्रसंग को अस्वीकार करते हैं।

जगत् की सत्ता

शंकर-मतवादी मानते हैं कि यदि जगत् को जो कार्य रूप होने से सत् होगा तो उसका ब्रह्म-ज्ञान होने पर निरास न किया जा सकेगा, यदि वह तुच्छ है तो वह प्रत्यक्ष नहीं दीखेगा। किन्तु जगत् हमें प्रत्यक्ष दीखता है और उसका बोध भी होता है इसलिए वह अनिर्वचनीय है, यह कहने का अर्थ यही होता है कि वह मिथ्या है।[2] परन्तु इस अनिर्वचनीयता का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि वह खरगोश के सींग जैसे निर्मूल पदार्थ की तरह पूर्णतया असत् है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि जो पूर्णतया असत् होगा, वह आत्मा होगा। किन्तु सभी पदार्थ या तो है या नहीं है। (सत् या असत्) क्योंकि सत् और असत् से भिन्न कोई वस्तु नहीं होती। यह ऐसी भी नहीं हो सकती जिसकी कोई परिभाषा ही नहीं की जा सके, क्योंकि इसे अभी ही अनिर्वचनीय कहकर परिभाषा दी गई है (नापि निर्वचनानर्हत्वम् अनेनैव निरुच्यमानतया असंभवात्)। इसे अभाव का प्रतियोगी भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तुच्छ वस्तु भी ऐसी नहीं है, और ब्रह्म भी जो सत् है और निर्गुण है वह भी किसी सत्ता का प्रतियोगी नहीं है।

1 यथा कुण्डलावस्थापन्नस्य अहेः कुण्डलं व्यक्तापन्नत्वात् प्रत्यक्ष-प्रमाण-गोचरं तद् भेदस्य स्वाभाविकत्वात् लम्बायमानावस्थायां तु सर्पायितावच्छिन्न-स्वरूपेण कुण्डलस्य तत्र सत्वेऽपि अव्यक्त-नामरूपतापत्त्या प्रत्यक्षागोचरत्वं सर्वात्मकत्व-तदाधेयत्व-तद् व्याप्यत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वादभेदस्यापि स्वाभाविकत्वम्।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० 361।

2 असतच्चेन्न प्रतीयते सच्चेन्न बाध्यते, प्रतीयते बाध्यते च अतः सदसद्-विलक्षणं हि अनिर्वचनीयमेव अभ्युपगन्तव्यम्। —परपक्षगिरिवज्र, 384।

यदि ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म, मिथ्या भास का प्रतियोगी है तो वह तथाकथित अनिर्वचनीय के विषय में सच कहा जा सकता है। ब्रह्म किसी भी सत्ता का प्रतियोगी नहीं है जो उसकी कोटि का हो। वह सत् और असत् दोनों का प्रतियोगी नहीं है, ऐसी व्याख्या भी ब्रह्म की नहीं की जा सकती क्योंकि तुच्छ वस्तु का कोई प्रतियोगी नहीं होता, क्योंकि तुच्छ वस्तु अपने स्वयं के अभाव का प्रतियोगी नहीं होती। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म और तुच्छ वस्तु निर्गुण हैं, तो वे दोनों ही सत् और असत् वस्तु के प्रतियोगी माने जा सकते हैं, और इस प्रकार वे अनिर्वचनीय माने जा सकते हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनिर्वचनीयता एक ऐसी वस्तु है जिसका वह पर्याप्त रूप से ऐसी है, या ऐसी नहीं है, इस प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्म में और अनिर्वचनीयता में कोई भेद न रहेगा। यदि ऐसा कहा जाता है कि अनिर्वचनीय वह है जिसकी सत्ता के विषय में कोई प्रमाण दिया नहीं जा सकता, तो वही ब्रह्म के विषय में भी कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म प्रत्यय-रहित शुद्ध सत्व होने से, उसे किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पुनः, जब ऐसा कहा जाता है कि अनिर्वचनीय सत् और असत् दोनों ही नहीं हैं तो सत् और असत् शब्द के अर्थ समझ के परे हो जाते हैं। लेकिन सत् शब्द का अर्थ सामान्य सत्ता नहीं हो सकता, ऐसा प्रत्यय न ब्रह्म और न जगदाभास में रहता है। सत् को अर्थक्रियाकारित्व की परिभाषा भी नहीं दी जा सकती और न उसे बाधरहित कहा जा सकता है, न अभाव ही कहा जा सकता है जिसकी बाध सम्भव है, क्योंकि जगदाभास जिसका बोध होता है वह अभाव रूप नहीं माना गया है, वह असत् और सत् दोनों रूप नहीं है। सत् और असत् की, जो सिद्ध नहीं किया जा सकता, ऐसा भी परिभाषा नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जो न सिद्ध ही है और न असिद्ध ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, जगत्-प्रपंच को ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह सत् और असत् से भिन्न है, क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। पुनः यह भी आग्रह किया जा सकता है कि यदि किसी वस्तु का ठीक तरह से सत् या असत् रूप से वर्णन नहीं कर सकते तो वह पदार्थ सर्वथा अवास्तव होना चाहिए, यदि कोई वस्तु सत् और असत् रूप से ठीक तरह वर्णित नहीं हो सकती, तो वह अवास्तव है यह अर्थ नहीं निकलता। अविद्या का अन्तिम प्रलय असत् या सत् है ऐसा हम वर्णन नहीं कर सकते, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा प्रलय स्वयं अवास्तविक और अनिर्वचनीय है (नानिर्वाच्यश्च तत्क्षयः)।

पुनः, 'जगत् का ज्ञान से लय होना' इस सीधे वाक्य से जगत् का मिथ्यात्व आवश्यक रूप से अनुमित नहीं होता। यह मानना गलत है कि ज्ञान मिथ्या अज्ञान का नाश करता है, क्योंकि ज्ञान, अपने जैसे विषय वाले, अभाव का नाश करता है, एक पदार्थ का ज्ञान, जैसेकि घड़े का ज्ञान, किसी दूसरी वस्तु के ज्ञान से निरास किया जा सकता है, संस्कार प्रत्यभिज्ञा से हटाए जा सकते हैं, मोह, सांसारिक वस्तुओं में दोष दर्शन से हटाया जा सकता है और उसी प्रकार पाप पुण्य कर्म से। प्रस्तुत प्रसंग में भी, यह भली प्रकार मानना चाहिए कि केवल ब्रह्म के ज्ञान से नहीं किन्तु उसके स्वरूप के ध्यान से जगत् की वस्तुओं के विषय में मिथ्या विचार हटते हैं। इस प्रकार बन्धन भी सत्य है,

और वह ब्रह्म के स्वरूप के ध्यान से नहीं हट सकता, यदि श्रुति ऐसा कहती है, तो इस विषय में कोई आक्षेप भी नहीं किया जा सकता। जो काटा जा सकता है या हटाया जा सकता है। वह आवश्यक रूप से मिथ्या होना चाहिए; यह किसी भी न्याय-युक्त मान्यता से अनुमित नहीं होता। पुनः यह अनुभव से सुविदित है कि जो नष्ट किया जाता है और जो नष्ट करता है उनकी एक ही कोटि की सत्ता होती है, यदि ब्रह्म-ज्ञान जगत् के प्रति दृष्टिकोण को मिटा सकता है तो वह दृष्टिकोण भी सत्य होना चाहिए। जैसे ज्ञान और ज्ञेय एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं उसी प्रकार दोष का अधिष्ठान भी है, ब्रह्म और अज्ञान एक ही कोटि की वस्तु हैं और इसलिए दोनों सत्य हैं।

आगे, यदि जिसे अज्ञान कहा जाता है वह मिथ्या ज्ञान ही केवल है, तो जब वह आत्म-ज्ञान से हट जाता है तो उसे जीवन मुक्ति या सिद्धावस्था में बने रहने का कोई कारण नहीं है। इसलिए, एक वस्तु ज्ञान से मिट सकती है, केवल इसी कारण, वह मिथ्या है, यह केवल उसका ज्ञान से विरोध प्रकट करता है। इसलिए संसार भी सत्य है और बन्धन भी। बन्धन किसी प्रकार के ज्ञान से नहीं हटता किन्तु ईश्वर कृपा से हटता है।[1] सच्चे ज्ञान का कार्य भगवान् को कृपा करने के लिए जगाना है जिससे बंधन की ग्रंथि कट जाय।

पुनः, सभी श्रुति की इस बात पर एक वाक्यता है कि इस दृश्य जगत् का ईश्वर द्वारा धारण एवं रक्षण किया जाता है। यदि यह जगत् केवल मिथ्या-प्रपंच ही होता तो यह कहने का कोई अर्थ ही न होता कि भगवान् ने इसे धारण किया है। क्योंकि जगत् मिथ्या है यह जानकर वह उसे रक्षण और पालन करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। यदि भगवान् स्वयं अज्ञान के प्रभाव में है, ऐसा माना जाता है तो वह ईश्वर ही नहीं कहा जा सकता।

पुरातन विवाद प्रणाली स्वीकार करते हुए माधव मुकुन्द कहते हैं कि जगत् को जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है उसे कभी भी सिद्ध या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जगत् मिथ्या है इसे सिद्ध करने का एक प्रमाण यह दिया जाता है कि वह ज्ञेय है या दृश्य है। किन्तु यदि वेदान्तग्रन्थ, ब्रह्म के स्वरूप के विषय में लिखते हैं तो उन पाठों के अर्थ ज्ञान से, ब्रह्म का स्वरूप बुद्धिगम्य हो जायगा और इसलिए मिथ्या होगा। यदि ऐसा आग्रह किया जाता है कि ब्रह्म सोपाधिक रूप से ही बुद्धिगम्य होता है और वह उपाधियुक्त ब्रह्म मिथ्या माना जाता है तो उत्तर यह है कि जब ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप से प्रकट नहीं हो सकता तो उसकी शुद्धता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप बुद्धि के विषय के रूप में, श्रुति के वर्णन के अनुसार प्रकट नहीं हो सकता, तो वह स्वप्रकाश्य नहीं है, यदि वह बुद्धि की वृत्ति से व्यक्त होता है तो वृत्ति से व्यक्त होने के कारण मिथ्या है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्योंकि जो कुछ भी अशुद्ध है वह पर-प्रकाश्य है इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो कुछ भी अज्ञात है वह स्वप्रकाश्य है क्योंकि शुद्ध सत्ता जो नितान्त असंग है वह व्यतिरेक व्याप्ति से लक्षित नहीं की जा सकती या जानी नहीं जा सकती। इस प्रकार अशुद्ध ही स्वयं एक केवल भाव पदार्थ के

---

1 वस्तुतस्तु भगवत्प्रसादादेव बंध-निवृत्तिर्न प्रकारान्तरेण।

—परपक्षगिरिवज्र, पृ० 288।

रूप में जाना जाता है, शुद्ध से विरोधी तत्त्व के रूप में नहीं जाना जाता, क्योंकि ऐसा ज्ञान, शुद्धता के ज्ञान को अनुमित करेगा। यदि इसलिए, स्वप्रकाश्यता के विधेय को शुद्धता-विरोधी के रूप में अशुद्धता में अस्वीकार नहीं किया जाता, तो स्वप्रकाश्यता भी शुद्धता में स्वीकृत नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध ब्रह्म बुद्धि द्वारा कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता तो मुक्ति कभी शक्य न होगी, या मुक्ति केवल उपाधियुक्त ब्रह्म से होगी।

इसके अतिरिक्त, यदि सभी पदार्थ ब्रह्म पर अध्यास के कारण हैं तो उनके ज्ञान के साथ ब्रह्म का भी ज्ञान होना चाहिए। श्रुति भी ऐसा कहती है, 'ब्रह्म मन द्वारा देखा जाना चाहिए और कुशाग्र शुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिए', ब्रह्म मन द्वारा और कुशाग्र बुद्धि द्वारा ग्रहण करना चाहिए।' (मन सेवोनुद्रष्टव्यम्···दृश्यते त्वग्रया बुद्धया)। और भी श्रुतिपाठ हैं, जो ब्रह्म को ध्यान का विषय बताते हैं (तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानम्)।

पुनः मिथ्या को निश्चित करने वाली अनुभव क्षमता या बुद्धिगम्यता को चैतन्य से सम्बन्धित होने के अर्थ में परिभाषित किया जाता है, जबकि शुद्ध चैतन्य का भ्रम द्वारा सम्बन्धित होना माना गया है तो ब्रह्म भी प्रत्यक्ष हो सकता है इस प्रकार की आपत्ति उठाई जा सकती है। इस सम्बन्ध में, यह समझना कठिन है कि, ब्रह्म जिसका अज्ञान से कोई विरोध नहीं है, उसका वृत्ति से या चेतनावस्था से संयोग होने पर, अज्ञान से किस प्रकार विरोध हो सकता है। इस प्रकार मानने के बजाय, यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि पदार्थ का अपने ही अज्ञान से विरोध हो जाता है जबकि वह वृत्ति से सम्बन्धित हो जाता है जब वह उसी अन्तर्वस्तु को अपना विषय बनाए रहती है। ऐसी मान्यता के अनुसार दृश्यता चित्तवृत्ति युक्त चैतन्य से नहीं होती, क्योंकि उपाधि का सम्बन्ध विषय से होता है न कि चैतन्य से। इस प्रकार यह अच्छी तरह से माना जा सकता है कि एक पदार्थ अपनी ही चित्त-वृत्ति द्वारा उपाधियुक्त होकर दृश्य बनता है। चित्त-वृत्ति का शुद्ध चैतन्य पर बिम्ब पड़ना चाहिए, यह मान्यता अनावश्यक है, क्योंकि यह भली प्रकार माना जा सकता है कि अज्ञान वृत्ति द्वारा ही नष्ट होता है। एक विषय या पदार्थ, वृत्ति द्वारा ही ज्ञात होता है और किसी भी वस्तु का भान होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वृत्ति, प्रत्यय या प्रतिकृति को चैतन्य में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। पुनः यदि ब्रह्म अपना ही ज्ञेय विषय नहीं बन सकता, तो उसे स्वप्रकाश्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वप्रकाश्यता का अर्थ यही है कि वह अपने को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करे और उससे यह अर्थ निकलता है कि ब्रह्म स्वयं अपना विषय है। यदि जो अपना विषय नहीं हो सकता उसे ही स्वप्रकाश्य कहा जा सकता है तो भौतिक पदार्थ भी स्वप्रकाश्य कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, निर्विशेष ब्रह्म में अपने स्वरूप से अतिरिक्त परोक्षता या स्वप्रकाश्यता नहीं हो सकती (निर्विशेष ब्रह्मणि स्वरूप-भिन्नापरोक्षस्य अभावेन)।

अद्वैतवाद में आत्मा को शुद्ध ज्ञान स्वरूप माना गया है, जिसमें ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव नहीं है। किन्तु जो यह दोनों ही नहीं है उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान को विषय को प्रकाशित करने वाला माना है। यदि जो विषय को प्रकट नहीं करता उसे ज्ञान कहा जा सकता है, तो घड़ा भी ज्ञान कहलाया जा सकता है। पुनः, एक प्रश्न

स्वाभाविक तौर से खड़ा होता है कि यदि ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तो वह प्रभा होगा। या अप्रभा, यदि प्रभा है तो अज्ञान इसके द्वारा प्रकाश पाता है, वह भी प्रभा कहलाएगा, और यदि वह अप्रभा है तो वह किसी दोष के कारण होगा, और आत्मा में कोई ऐसा दोष नहीं है। यदि वह न तो सच्चा या झूठा ज्ञान है तो ज्ञान होगा ही नहीं। पुनः, यदि जगत्-प्रपंच भ्रम है, तो वह ब्रह्म पर अध्यस्त होगा। यदि ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान है, तो वह सामान्य तौर से जानने में आने वाला कोई एक पदार्थ होगा किन्तु उसका विस्तार से ज्ञान नहीं होगा। किन्तु ब्रह्म कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका हमें सामान्य या विशेष रूप से ज्ञान हो। ब्रह्म, इसलिए अध्यास का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में आगे यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि जगत् असत् था तो उसका अनुभव नहीं हो सकता था, तुच्छ वस्तु किसी के अनुभव में नहीं आती। भ्रम-जनित सर्प भी सच्चा भय पैदा कर सकता है यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि भ्रम-जनित सर्प भय उत्पन्न नहीं करता किन्तु सर्प का सच्चा ज्ञान उसे उत्पन्न करता है। एक बच्चा सच्चे सर्प को पकड़ने से नहीं डरता क्योंकि उसे सर्प के विषय में कोई ज्ञान नहीं होता और न उसके हानिकारक गुणों का ज्ञान होता है। स्वप्न को भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई सच्ची कृतियाँ मानना चाहिए, उसे मिथ्या आरोपण नहीं मानना चाहिए। स्वप्न, स्वप्न-द्रष्टा को ही दीखते हैं और किसी को नहीं, इसलिए वे मिथ्या हैं यह तर्क अप्रमाण है, क्योंकि एक व्यक्ति के भाव और विचार उससे निकटवर्ती को मालूम नहीं हो सकते।[1]

जगत्, इस प्रकार ब्रह्म पर मिथ्या आरोपण नहीं है किन्तु ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का परिणाम है। इस मत का सांख्य से यह भेद है कि सांख्य कुछ प्राकृत तत्त्वों के सम्पूर्ण परिणाम को मानता है जबकि निम्बार्क ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों के परिणाम को मानते हैं। ब्रह्म स्वयं नित्य अपरिणामी एवं अविकारी रहता है केवल उसकी शक्तियाँ ही परिणाम पाती हैं और दृश्य जगत् उत्पन्न करती हैं।[2]

जगत्, ब्रह्म के माया में प्रतिबिम्बित होने से उत्पन्न होता है या इससे उपाधिग्रस्त होने से उत्पन्न होता है, यह स्पष्टीकरण अप्रमाण है, क्योंकि माया दूसरी ही कोटि का पदार्थ है, ब्रह्म का उसमें प्रतिबिम्बित होना या उपाधिग्रस्त होना नहीं हो सकता। एक चोर को स्वप्न की डोरी से नही बांधा जा सकता।

वनमाली मिश्र

भारद्वाज वंश के वनमाली मिश्र, वृन्दावन से दो मील दूरी पर, त्रियग के निवासी थे, उन्होंने अपने 'वेदान्त सिद्धान्त सग्रह' में जो 'श्रुति सिद्धान्त संग्रह' भी कहलाता है, निम्बार्क-मत के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। ग्रन्थ कारिकाओं और उनकी टीकाओं की शैली में लिखा गया है। इस ग्रंथ का आधार निम्बार्क की ब्रह्म सूत्र टीका तथा उनकी अन्य टीकाएँ हैं।

वे दुःख का कारण, आत्मा से बाह्य पदार्थों के प्रति मोह को मानते हैं, सुख इसका

---

1 परपक्षगिरिवज्र, पृ० 429।

2 वही, पृ० 429।

विरोधी है।[1] स्वार्थ दृष्टि से किए गए कर्म, वेदनिषिद्ध कर्मों का करना तथा वेद-विहित कर्मों का न करना पाप उत्पन्न करता है। इसके विपरीत कर्म तथा वे जो भगवान् को प्रिय हैं, पुण्य उत्पन्न करते हैं। पाप और पुण्य का मूल, भगवान् की शक्ति ही है जो भगवान् के गुणों को आवृत्त कर कार्य करती हैं। अविद्या सत् और भाव रूप है और प्रत्येक जीव में भिन्न है। यह मिथ्या या भ्रम को उत्पन्न करती है जिससे वस्तु अयथार्थ दीखती है और यही मिथ्या-ज्ञान पुनर्जन्म का कारण है।[2] प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न है। इसी अविद्या के कारण व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से ममत्व करके मोहित होता है और इसी के कारण उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। वास्तव में सभी के सारे कर्म भगवान् के कारण हैं और जब कोई यह अनुभव कर लेता है तब उसका मोह टूट जाता है और वह फलाशा त्याग देता है। अविद्या, चित्त और सुख-दुःख के अनुभव उत्पन्न करती है, यही मिथ्या मोह उत्पन्न करती है जिससे वह इन अनुभवों को अपना मान लेता है और ज्ञान और आनन्दमूलक अपने स्वरूप को अनुभव करना छोड़ देता है। केवल विदेह ही इस अवस्था का भोग करते हैं, जीवनमुक्त और सन्त इसे अंश रूप में ही भोगते हैं। अज्ञान-जनित मोह के कारण ही, मनुष्य ईश्वरेच्छा पर अग्रसर होने के लिए जागृत होता है। किन्तु अज्ञान सचमुच अज्ञान है इसलिए दुःख का अनुभव भी सच्चा है। हमारा पुनर्जन्म वेद-विरुद्ध कर्म करने से या अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने के कारण होता है?[3] भगवान् द्वारा ही हमारे सारे कर्म होते हैं और कर्त्ता किसी भी प्रकार स्वतन्त्र नही है, ऐसा अनुभव करने से आत्मा शुद्ध होती है। जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि दूसरे पदार्थ से मिथ्या सम्बन्ध जोड़ने से और अपने को सचमुच स्वतन्त्र मानने से वह दुःख का भागी होता है, तब वह अपने कर्मों और सुख-दुःख से विरक्त हो जाता है और सभी पदार्थों को दुःख रूप समझने लगता है। यही विरक्ति भगवान् को प्रिय है। वेद में भक्ति प्राप्त करने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधन कहे गए हैं।[4] निदिध्यासन, श्रवण और मनन करने पर ही होता है, क्योंकि निदिध्यासन साक्षात् अनुभव है जो श्रवण और मनन के बिना शक्य नहीं है। उपरोक्त प्रक्रिया से ही चित्त शुद्ध होता है, जो भगवान् को प्रिय है और जिस प्रकार संगीत के अभ्यास से ही राग और स्वर अपरोक्ष होते हैं उसी प्रकार भगवान् अपरोक्ष होते हैं। यह अपरोक्ष अनुभव अपने आपका ही है। क्योंकि इस अवस्था में चित्त-व्यापार नहीं रहता। वृत्यात्मक

---

1 श्रुति सिद्धान्त संग्रह, 1, 9, 10, 11।

2 प्रति जीवं विभिन्ना स्यात् सत्या च भावरूपिणी।
अतस्मिंस्तद्धियो हेतुर्निदानं जीव संसृतो। —श्रुत सिद्धान्त संग्रह, 1–15।

3 अतः काम्यं निषिद्धम् च दुःखबीजं त्यजेत् बुधः। —श्रुत सिद्धान्त संग्रह पृ० 63।
वनमाली मिश्र के अनुसार मनुष्य अपने कर्मानुसार मृत्युपर्यन्त स्वर्ग या नर्क में जाता है और अपने फल का भोग प्राप्त करने पर या दुःख उठाकर वह वृक्ष रूप से जन्मता है उसके बाद तिर्यक् योनि में, फिर यवन या म्लेच्छ योनि में, फिर निम्न जाति में और अन्त में ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है।

4 अन्यार्थ विषयः पुरो ब्रह्माकारधियां सदा।
निदिध्यासन शब्दार्थो जायते सुधियां हि सः। —वही, 2-13।

अनुभव का अन्त होना भगवान् के अपरोक्ष अनुभव के बराबर है। यह अवस्था अविद्या या मनोनाश की अवस्था है।[1] इस प्रकार मनुष्य परम मुक्ति की अवस्था में भगवान् का आनन्द स्वरूप में अनुभव करता है, लेकिन तब भी वह भगवान् के सभी गुणों का अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान् भी अपने सारे गुणों को नहीं जानते। ऐसी मुक्ति भगवत्कृपा से ही प्राप्य है। ऐसी मुक्तावस्था में मनुष्य, एक मछली जिस प्रकार उदधि में तैरती है, ऐसे वह भगवान् में वास करता है। भगवान् अपनी कृपा की सहजता से संसार-रचना करते हैं, अपनी कृपा को बढ़ावा देने के लिए ऐसा नहीं करते, उसी प्रकार मुक्ति भी भगवान् में अपने स्वरूप को सहजता से स्मरण करते हैं अपना आनन्द बढ़ाने के लिए नहीं करते।[2] भगवान् हमारे अन्तर में ही विराजमान हैं और उसे हम साक्षात् करते हैं तब ही हम मुक्ति पाते हैं। कुछ लोग इस लोक में मुक्ति पाते हैं और कुछ परलोक में, जहाँ से वे, अपने कर्मानुसार गमन करते हैं। किन्तु सभी प्रकार की मुक्ति, अज्ञान के नाश से, मनुष्य की स्वस्थिति में वास है।[3] जीवनमुक्त या सन्त पुरुष वे हैं जिनकी अविद्या का नाश हो गया है, किन्तु अभी उन्हें अपने प्रारब्ध का फल भोगना बाकी है। भगवत्प्राप्ति, संचित और क्रियमाण को नष्ट कर सकती है किन्तु प्रारब्ध को नष्ट नहीं कर सकती।

यह समझना गलत है कि हर कोई आनन्द का अनुभव कर सकता है, इच्छित अवस्था केवल वही है जिसमें व्यक्ति अनिरोध आनन्द अनुभव कर सके।[4] गाढ़ निद्रा की अवस्था में आनन्द का थोड़ा अनुभव हो सकता है, किन्तु पूर्ण आनन्द नहीं अनुभव

---

1 ब्रह्म-गोचरस्य वेदान्त-वासित-मनसि उत्पन्नस्य आपरोक्ष्यस्य यः प्रागभावः तस्य अभावो ध्वंसो ज्ञान-तद्-ध्वंसान्यतररूपो ज्ञान-ब्रह्मणः सम्बन्धः संसार-दशायां नास्ति।
—वही, 2-19।

2 आनंदोद्रकतो विष्णोर्यथा सृष्टयादि-चेष्टनम्।
तथा मुक्तचितां क्रीडा न त्वानंद विवृद्धये। —वही, 2-37।

3 स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरज्ञान ध्वंस पूर्वकम्। (वही, 2-58) यह मुक्ति चार प्रकार की हो सकती है, सारूप्य, अर्थात् कृष्ण बाह्य रूप जैसी, सालोक्य अर्थात् विष्णु-लोक में वास, सायुज्य, या भगवान् में लय होना, सामीप्य या भगवान् के किसी रूप से सम्बन्धित होकर उनके पास रहना। भगवान् में लय होना उनसे एक होना नहीं समझना चाहिए। यह अर्थ पशुओं का वन में भ्रमण करने जैसा है। मुक्त जीव भगवान् से भिन्न हैं, किन्तु वे भगवान् में वास करते हैं (एवं मुक्त वा हरे भिन्न रमन्ते तत्र मोदत: वही, 2.61) वे भगवान् में से बाहर भी आ सकते हैं, और हम भी सुनते हैं कि वे उत्तरोत्तर अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव के शरीर में प्रवेश करते हैं। इन मुक्त जीवों का संसार-रचना और संहार से कोई वास्ता नहीं होता। वे, यह परिणाम होते रहते भी वैसे ही बने रहते हैं। वे महाभारत के नारायणीय भाग में वर्णित श्वेतद्वीपवासी जैसे हैं। तो भी वे भगवान् के नियन्त्रण में हैं और इस नियन्त्रण का किसी प्रकार का दुःख नहीं उठाते।

4 पुरुषार्थं सुखित्वं हि नत्वानन्द-स्वरूपता। —वही, 2.96।

किया जा सकता जैसेकि मायावादी मानते हैं। मायावादी और बौद्ध में कोई भी भेद नहीं है केवल कहने के ढंग में ही भेद है।[1]

आत्मा को अणु माना है, किन्तु उसकी सत्ता अहं-प्रत्यय से सिद्ध होती है, (अहं प्रत्ययवेद्य), जो समस्त अनुभव भोगता है। भगवान् पर आश्रित होते हुए भी वह सचमुच कर्त्ता है जो अविद्या से प्रभावित होकर ऐसा करता है। आत्मा की सत्ता भी जीवन की सभी अवस्थाओं की निरन्तरता से सिद्ध होती है। स्वार्थ कर्म के प्रति सभी जीवों की ममता यह सिद्ध करती है कि प्रत्येक आत्मा को अपने में अनुभव करता है और यह आत्मा प्रत्येक से भिन्न है। जीव और ईश्वर में भेद यह है कि जीव की शक्ति और ज्ञान सीमित है और वह परतन्त्र है और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और स्वतंत्र है, वह जीवों में अविद्या-शक्ति द्वारा स्वतन्त्रता का मिथ्या विचार पैदा करता है। जीव इस प्रकार ईश्वर से भिन्न है, किन्तु वे मुक्तावस्था में ईश्वर में रहते हैं और उनके सभी कर्म ईश्वर की अविद्या शक्ति से नियन्त्रित हैं। इसलिए उन्हें ईश्वर से एक भी माना जा सकता है। जीव का चित्त ईश्वर की अविद्या का कार्य है, जीव का जगत् अनुभव भी, ईश्वर की क्रिया के कारण हैं। आत्म स्वरूप होने से, जीव को ईश्वर के रूप का शुद्ध आनन्द के रूप में अनुभव होता है। जीव की स्वरूपावस्था ही उनकी मुक्तावस्था है। जीव अपने स्वरूप से सत् चित् आनन्द रूप हैं और अणु होने पर भी, अन्तर्वृत्ति द्वारा अपने सारे शरीर का अनुभव कर सकते हैं जिस प्रकार कि दीप अपने प्रकाश से सारे कमरे को प्रकाशित करता है दुःख का अनुभव भी अन्तःकरण का शरीर के भिन्न भागों में प्रसारण और अविद्या से शक्य है. जिस अविद्या के कारण जीव अपने पर अन्य वस्तुओं का अध्यास करता है। जीव का दूसरे पदार्थों से सम्बन्ध प्रत्येक के अन्तःकरण से शक्य है इसलिए प्रत्येक जीव के अनुभव का क्षेत्र भी उसके अन्तःकरण के व्यापार तक ही सीमित है। प्रत्येक जीव में पृथक् अन्तःकरण है।

उपनिषद् ईश्वर को सर्व कहते हैं, (सर्व खल्विदं ब्रह्म) और यह इसलिए सभी में व्याप्त है और सबों का नियंता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव उस पर आश्रित हैं और आधारित हैं (तदाधारत्व), किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वे उससे अभिन्न हैं। ईश्वर स्वयं अपने आप सभी वस्तुओं को रच सकता है, किन्तु केवल अपनी लीला के लिए, क्रीड़ा के लिए, वह प्रकृति की ओर जीवों के कर्मों से उत्पन्न नियति की, सहायता लेता है। यद्यपि ईश्वर मनुष्य को अपनी इच्छानुसार कर्म करने देता है किन्तु उसका नियन्त्रण अनादि अदृष्ट के अनुसार होता है। यहाँ पर जो कर्मवाद प्रतिपादित किया गया है वह पतंजलि के कर्मवाद से भिन्न है। पतंजलि और उनके टीकाकारों के अनुसार मनुष्य अपने सुख-दुःख रूप कर्मों के फलों का भोग अपनी स्वतन्त्रता से भोगता है किन्तु यहाँ मनुष्य के कर्म ईश्वर द्वारा उनके पिछले शुभाशुभ कर्मानुसार, नियन्त्रित हैं जो अनादि हैं। इस प्रकार हमारे साधारण जीवन में हमारे सुख-दुःख ही नहीं, किन्तु अच्छे और बुरे कर्म करने की शक्ति भी हमारे पिछले कर्म द्वारा ईश्वर के नियन्त्रण से निश्चित है।

---

1 मेयतो न विशेषोऽस्ति मायि सौगतयोर्मते।
भंगीमात्र-भिदा तु स्यात् एकस्मिन्नपि दर्शने। —वही, 2–136।

बाइसवाँ अध्याय

विज्ञान भिक्षु का दर्शन

विज्ञान भिक्षु के दर्शन का विहँगावलोकन

अन्तिम ध्येय दुःख का अन्त नहीं है किन्तु दुःख के अनुभव का अन्त है, क्योंकि मुक्तावस्था में दुःख के अनुभव का अन्त होता है; दुःख की मुक्ति नहीं होती क्योंकि वह संसार में बना रहता है और दूसरे दुःखी हुआ करते हैं। केवल मुक्त लोग ही दुःख का अनुभव नहीं करते। मुक्ति की चरम अवस्था आनंदावस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वहां चित्त और इन्द्रियां नहीं रहतीं इसलिए आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। आत्मा आनन्द स्वरूप नहीं हो सकता और साथ ही उसका भोक्ता भी नहीं बन सकता। जब यह कहा जाता है कि आत्मा आनन्द स्वरूप है वहां आनन्द शब्द का अर्थ पारिभाषिक रूप से दुःख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तरों को मानते हैं। वे मानते हैं कि एक दूसरी से अधिक स्थायी और सत्य है। जबकि परमात्मा एक ही है और वह न परिणाम-ग्रस्त है, और न उसका प्रलय होता है। वह प्रकृति तथा उसके विकार और पुरुष से अधिक सत्य हैं। यह मत पुराणों में भी प्रतिपादित है कि जगत् अन्तिम स्वरूप ज्ञानरूप है जो परमात्मा का रूप है। इसी वास्तविक रूप में जगत् अन्तिम माना गया है प्रकृति और पुरुष की तरह नहीं, जो परिणामी हैं। प्रकृति, ईश्वर की अव्यक्त शक्ति के रूप से, जहां तक सत्ता रखती है, असत् मानी गयी है, किन्तु जहां तक वह विकार परिणाम से व्यक्त होती है उसे सत् माना है। मुक्ति, पंच तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियों से युक्त सूक्ष्म शरीर के विच्छेद से प्राप्त होती है। इस विच्छेद के परिणामस्वरूप, शुद्ध चैतन्य रूप, आत्मा ब्रह्म में, सागर में नदियों की तरह लय हो जाती है। यह अवस्था अभिन्नता की नहीं है किन्तु भेद में अभेद अवस्था है। सांख्य के अनुसार, सुख दुःख रूपी कर्म-विपाक जहाँ तक मुक्त नहीं होते, वहां तक मुक्ति नहीं मिलती अर्थात् अविद्या के नाश होने पर भी, प्रारब्ध भुक्त होने तक मुक्ति रुक जाती है। योगी, अवश्य ही, असंप्रज्ञात समाधि में डूब सकता है जिससे प्रारब्ध अनुभव दूर किया जा सकता है। असंप्रज्ञात समाधि से वह स्वेच्छा से मुक्तावस्था में जा सकता है। केवल उपनिषद् के पाठों का अर्थ समझने से मुक्तावस्था प्राप्त नहीं होती किन्तु विचार द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर तथा योग की उत्तरोत्तर समाधि अवस्था के अभ्यास से प्राप्त होती है।

जगत्, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से, साक्षात् प्रकट नहीं होता, और न काल, प्रकृति और पुरुष, ब्रह्म में से परिणाम द्वारा प्रकट होते हैं। यदि जगत्, ब्रह्म से साक्षात् ही प्रकट हुआ होता तो पाप और बुराइयां ब्रह्म से उत्पन्न हुई मानी जातीं। ईश्वर के

अनादि संकल्प द्वारा सत्व के संयोग से, ब्रह्म, पूर्व सर्ग के आरम्भ में, ईश्वर रूप से कार्य करता है और सचमुच पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है जो ब्रह्म में अव्यक्त हैं और दोनों का संयोग कराता है । जिस क्षण ब्रह्म, पुरुष और प्रकृति को उत्पन्न करता है उसे काल माना जा सकता है । इस अर्थ में काल को, बहुधा ब्रह्म का गत्यात्मक कारक माना जाता है । यद्यपि पुरुष अपने आप में सर्वदा सक्रिय है, किन्तु उनमें प्रकृति के संयोग के कारण आंदोलन का भास होता है, जो सर्वदा गतिशील है । काल, ब्रह्म का गत्यात्मक कारक होने से, स्वाभाविक तौर से प्रकृति की गति से सम्बन्धित है, क्योंकि पुरुष और प्रकृति, स्वयं दोनों, अपने आप में सक्रिय हैं और ब्रह्म की गत्यात्मक शक्ति से क्रियमाण होते हैं । वास्तविक सत्ता के सभी रूपों में काल मर्यादित और निश्चित है, और इस कारण अनित्य और कुछ अंश में काल्पनिक है । गत्यात्मक क्रिया के समस्त व्यापारों में निहित नित्य शक्ति के रूप में काल नित्य कहा जा सकता है । जो काल, प्रकृति पुरुष का संयोग स्थापित करता है तथा महत् को भी उत्पन्न करता है, वह अनित्य है और इसलिए प्रलय के समय, यह संयोग न रहने के कारण, नहीं रहता । कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग कराने वाला काल निश्चित काल है, वहां एक ओर ब्रह्म के संकल्प द्वारा मर्यादित है, और दूसरी ओर विकारों से भी मर्यादित है, जिन्हें वह उत्पन्न करता है । यह निश्चयात्मक काल ही भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में निर्दिष्ट किया जा सकता है । किन्तु वर्तमान, भूत और भविष्य में परिणाम सन्निविष्ट है और यह क्रिया या गति की अपेक्षा करता है, यह क्रिया या गति जो काल के भूत, वर्तमान और भविष्य रूप से असंग है, नित्य है।[1]

अथर्ववेद के निम्न उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि पुरातन काल में किस प्रकार काल एक पृथक् वस्तु या शक्ति थी, जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से पालित होती हैं और अन्त में लय होती हैं । ईश्वर, परमेष्ठिन् ब्रह्मन् या प्रजापति काल से उत्पन्न हैं । मैत्री उपनिषद् में काल को अकाल भी कहा है ।[2] अकाल सनातन प्राकृत काल है जो अमाप और अथाह शक्ति है । सर्ग की उत्पत्ति के बाद

---

1 अथर्ववेद 19.54 । अथर्ववेद में काल को पृथ्वी और आकाश का जनयिता कहा है और सभी पदार्थ काल में ही बसते हैं । तपस् और ब्रह्म भी काल में हैं, काल सभी का ईश्वर है । काल सभी जीवों को उत्पन्न करता है । संसार, काल द्वारा गतिशील किया गया है, उसी से उत्पन्न किया गया है और उसी ने संसार को धारण किया है । काल ब्रह्म होकर परमेष्ठिन् को धारण करता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल को सूर्य ने मूल कारण के रूप में धारण किया है ऐसा कहा गया है । मैत्री उपनिषद् में (4–14) काल से सभी जीव उत्पन्न होते हैं उसी में वे बढ़ते हैं और लय होते हैं । काल निर्गुण रूप है (कालात् स्रवन्ति भूतानि, कालात्, वृद्धि प्रयान्ति च । काले चास्तं नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्) ।

उसी ग्रन्थ में यह भी कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, काल और अकाल ।

2 जो सूर्य से पहले है वह अकाल है और अखण्ड है तथा जो सूर्य के बाद वह काल है और सखण्ड है ।

जब वह सूर्य की गति के रूप में नापा जाता है तब वह माप्य होता है। निस्सर्ग का सारा घटना-चक्र, इस प्रकार, काल शक्ति का प्रादुर्भाव या अभिव्यक्ति है जो बिना किसी नियंता के होता है। काल का ऐसा विचार सौंदर्यधर्मी है क्योंकि परमेष्ठी और प्रजापति जैसे महान् देव भी इसी से उत्पन्न हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व के पहले अध्याय में गौतमी जिसके पुत्र को सर्प ने ड़स लिया था शिकारी जो सर्प को मारने पर बल दे रहा था, मृत्यु या सर्प और काल के बीच एक संवाद है। इस संवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि काल सभी घटनाओं का चालक ही नहीं है किन्तु सत्व, रजस् और तमस् की सभी अवस्थाएँ, स्वर्ग और पृथ्वी के सभी स्थावर और जंगम, सभी आंदोलन और उनका अन्त, सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, नदियाँ, सागर और जो कुछ भी चेतन और जड़ हैं वे सभी काल स्वरूप हैं और काल से ही उत्पन्न होकर वे काल में ही समाते। काल इस प्रकार का मूल कारण है। काल, अवश्य ही, कर्म-सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है, इस प्रकार काल और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जो सभी घटनाओं का व्यापार निश्चित करता है। कर्म भी स्वयं काल से उत्पन्न है और काल भविष्य में होने वाले प्रकार को भी निश्चित करता है। यह काल की दूसरी अवस्था का वर्णन है जो काल का अन्तःस्थ एवं सर्वातिशाही कारण के रूप में विचार है। यहाँ काल कर्म द्वारा नियंत्रित है। काल की तीसरी अवस्था, जो पुराणों में मिलती है और जिसे भिक्षु भी मानते हैं, वह ब्रह्म में नित्य गत्यात्मक शक्ति के रूप में है जो भगवान् के संकल्प से क्रियाशील होती है।[1]

पुरुष शब्द का श्रुति में एक वचन में प्रयोग किया गया है, किन्तु वह जाति को उद्देश्य करके कहा गया है, देखें सांख्य सूत्र 1–154 (नाद्वैत-श्रुति-विरोधो जाति-परत्वात्)।[2] परम पुरुष या ईश्वर तथा सामान्य पुरुषों में भेद यह है कि सामान्य

---

1 अहिर्बुध्न्य संहिता में, जो पंचरात्र मत का ग्रन्थ है, नियति और काल, अनिरुद्ध से उत्पन्न पर काल की शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस काल से पहले सत्व गुण उत्पन्न होता है फिर उससे रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होते हैं।

आगे यह भी कहा है कि काल सभी का संयोग वियोग कराता है। काल, अवश्य ही अपनी शक्ति को विष्णु की सुदर्शन शक्ति से पाता है। प्रकृति का विकार परिणाम भी काल के ही कारण है।

सांख्य कारिका की माठर वृत्ति को काल के सिद्धांत को जगत् कारण के रूप में लक्ष्य करती है, (कालःसृजति भूतानि कालः संहरतेप्रजाः। कालः सुप्तेषु जाग्रति तस्मात् कालः तु कारणम्) और उसका यह कहकर खण्डन करती है, कि काल जैसे पृथक् वस्तु नहीं है (कालो नाम न कश्चित् पदार्थोऽस्ति) केवल तीन ही पदार्थ हैं, व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष और काल इनके अन्तर्गत है (व्यक्तमव्यक्त पुरुष इति त्रयः एव पदार्थः तत्र कालो अंतर्भूतः)।

2 अहिर्बुध्न्य संहिता में तो पुरुष को पुरुषों के समूह के अर्थ में लिया गया है, जैसेकि मधुमक्खी का पुंज है जो संघ रूप से व्यवहार करता है और पृथक् रूप से भी।

—अहिर्बुध्न्य संहिता, 6.33।

पुरुष कर्मानुसार सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं, जबकि ईश्वर सत्वमय देह के प्रतिबिम्ब के कारण सर्वदा आनन्द का नित्य और निरन्तर अनुभव करता है। सामान्य पुरुषों में सुख दु:ख का अनुभव आसाधारण धर्म के रूप से नहीं है, क्योंकि जीवनमुक्त अवस्था में ऐसा अनुभव नहीं रहता है। ब्रह्म, अवश्य ही, दूसरों के सुख-दु:ख के अनुभवों से क्लिष्ट हुए, बिना अनुभव कर सकते हैं। चरम सिद्धान्त या ब्रह्म, शुद्ध चैतन्य है जो पुरुष, प्रकृति तथा उनके विकारों के अन्तर्गत है और ये स्वरूप से ब्रह्म के आविर्भाव हैं, इसलिए आपस में सम्बन्धित दीख सकते हैं। प्रकृति का व्यापार भी अन्त में शुद्ध चैतन्य की सहज गति के कारण ही है, जो मूल सत्ता है।

विवेक और अविवेक, भेद और अभेद का ज्ञान, बुद्धि का गुण है, इसी कारण पुरुष अपने को बुद्धि से परिच्छिन्न नहीं कर सकते जिनसे वे सम्बन्धित हैं। पुरुष का बुद्धि से संयोग यह बताता है कि उसमें भेद और अभेद दोनों की विशेषता है। कठिनाई यह है कि विवेक के प्रकाश पर अविवेक की शक्ति का इतना विरोध है कि विवेक व्यक्त हो नहीं पाता। योग का उद्देश्य अविवेक की शक्ति को निर्बल करना है और अन्त में उसे निर्मूल करना है जिससे विवेक प्रकट हो जाय। अब यह पूछा जा सकता है कि अन्तराय का स्वरूप क्या है। उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह अविवेक है जो प्रकृति के विकारों के संयोग से, राग द्वेष से उत्पन्न है होता है और ज्ञान को उभरने नहीं देता। सांख्य तो यह कहता है कि विवेक के उदय का न होना, पुरुष और बुद्धि के स्वरूप में अतिसूक्ष्मता होने के कारण है जिससे वे एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते हैं कि उनमें विवेक करना कठिन हो जाता है, किन्तु सांख्य के इस मत से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इन दो तत्त्वों के बीच अति सूक्ष्मता ही विवेक में अन्तराय रूप है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास उपयोगी नहीं होगा। मूल कारण यह है कि हमारा स्थूल पदार्थों के प्रति राग-द्वेषात्मक सम्बन्ध ही दोनों सूक्ष्म तत्त्वों के विषय में विवेक उत्पन्न करने में बाधक है। स्थूल पदार्थों से हमारा मोह, इनसे दीर्घ काल के इन्द्रिय-सम्बन्ध से है। दार्शनिक को, इसलिए, स्थूल पदार्थों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार-रचना का मूल हेतु, पुरुष को भोग की सामग्री प्रदान करना है, जिसे बुद्धि के माध्यम से, सुख-दु:ख, भोग और कष्ट के बदलते अनुभव होते रहते हैं, बुद्धि के असंग होने पर इन अनुभवों का अन्त हो जाता है। ईश्वर वस्तुत: शुद्ध तन्य स्वरूप है, यद्यपि उसका ज्ञान मुक्ति प्रदान करता है, तो भी, सर्वशक्तिमता, सर्वव्यापित्व तथा अन्य गुण ईश्वर को इसलिए दिए जाते हैं कि ईश्वर का महापुरुष के रूप में प्रणिधान करने से ही भक्ति शक्य है, और भक्ति तथा प्रेम द्वारा ही सच्चे ज्ञान का उदय हो सकता है। श्रुति में ऐसा कहा गया है कि ईश्वर-प्राप्ति, तप, दान या यज्ञ से नहीं हो सकती, केवल भक्ति से ही होती हैं।[1] परमभक्ति प्रेमस्वरूपा है। (अत्युतमा भक्तिः प्रेमलक्षणा)।

---

1 अहं प्रकृष्टः भक्तितोऽन्यैः साधनैः द्रष्टुं न
शक्यः भक्तिरेव केवला मद्दर्शने साधनम्।
ईश्वर गीता टीका। (हस्त० पं० महा० गोपीनाथ कविराज, प्रिंसिपल क्वीन्स कालेज वाराणसी से प्राप्त।)

ईश्वर सभी में अन्तर्यामी रूप से विराजमान है और उसके लिए बिना इन्द्रियों के माध्यम के, सभी पदार्थ प्रकट हैं। ईश्वर को सर्वव्यापी कहा है क्योंकि वह सभी का कारण है और अन्तर्यामी भी है।

भक्ति, भगवान् का नाम-श्रवण करने, उनके गुणों का वर्णन करने पूजा करने और अन्त में ध्यान करने में है जिससे सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सबको भगवत्-सेवा कहा है। यह सारा कार्यक्रम प्रेम से करना होता है। भिक्षु, गरुड पुराण का समर्थन देते हुए कहते हैं कि भज् शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ में किया गया है। वे भागवत का भी उल्लेख, यह बताने के लिए करते हैं कि भक्ति उस भाव से सम्बन्धित है जो आँखों में अश्रु लाती है, हृदय को गद्‌गद् करती है और रोमांच उत्पन्न करती है। भक्ति द्वारा भक्त जिस प्रकार गंगा सागर में अपने को लय करती है उसी प्रकार भक्त अपने को विलीन करता है और भगवान् में लय करता है।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होगा कि भिक्षु प्रेमलक्षणा भक्ति को श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मतों का भगवान् की भक्ति के प्रति अत्यन्त सीमित क्षेत्र है। क्योंकि यदि परम सत्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो हम ऐसी सत्ता से पारस्परिक सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। प्राप्ति की अन्तिम अवस्था भी परम सत्ता से तादात्म्य होने में ही है, जो स्वयं पुरुष रूप नहीं है। इसलिए उसके साथ कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी शक्य नहीं है। विज्ञानामृत भाष्य 4-1-3 में भिक्षु कहते हैं कि प्रलय या मुक्ति के समय, जीव का किसी भी ज्ञान के विषय से सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वे अचेतन होते हैं और लकड़ी या पत्थर जैसी जड़ वस्तु के समान होने से वे सर्वाविभासक परमात्मा में इस तरह मिलते हैं जैसे सागर में नदी। पुनः, यही परमात्मा, अपने में से, उन्हें आग के स्फुल्लिंग की तरह बाहर फेंकते हैं और उन्हें विविक्त करते हैं और उन्हें कर्म करने की प्रेरणा करते हैं।[1] यह परमात्मा हमारी आत्मा का अन्तर्यामी तथा प्रेरक है। किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि यह परमात्मा परम सत्य, शुद्ध चैतन्य नहीं है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के सत्वमय देह के संयोग की अभिव्यक्ति है। इस तरह तात्विक दृष्टिकोण से परम सत्य और जीव के बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी शुद्ध चैतन्य रूप ईश्वर का दार्शनिक दृष्टिकोण से पारस्परिक सम्बन्ध शक्य न होते हुए भी, भिक्षु ने, आवश्यक दार्शनिक निष्कर्ष के नाते नहीं, किन्तु ईश्वर-वादी धारा के कारण इसे यहाँ प्रतिपादित किया है। यह ईश्वरवादी सम्बन्ध रहस्यात्मक रूप में भी विचारा गया है जो प्रेमोन्माद-सा है। ईश्वरीय प्रेम का ऐसा विचार, भागवत पुराण में यह चैतन्य द्वारा प्रचारित वैष्णव सम्प्रदाय में पाया जाता है। यह

---

1 तस्मात् प्रलय-मोक्षादौ विषय-सम्बन्धाभावात् काष्ठ-लोष्ठादिवत् जड़ाः सान्ता जीवा मध्यंदिनादित्यवत्सदा सर्वाविभासके परमात्मनि विलीयंते समुद्रे नद-नद्य इव पुनश्च स एव परमात्मा स्वेच्छयाग्नि-विस्फुलिंगवत् तानुपाधिसम्बन्धेन स्वतो विभज्यान्तर-यामी स न प्रेरयति तथा चोक्तम् चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना इति अतः स एव मुख्य आत्मान्तर्याभ्यमृतः।

—विज्ञानामृत भाष्य, 4-1-3।

रामानुज सिद्धान्त में प्रतिपादित भक्ति के सिद्धान्त से भिन्न है, जहाँ भक्ति अनवरत, धारावाहिक समाधि के रूप में मानी गई है। यदि हम भागवत पुराणगत भावात्मक की गणना न करें तो, भिक्षु इस प्रकार भावात्मक ईश्वरवाद के प्रवर्त्तकों में से सर्वप्रथम नहीं तो उनमें से एक अवश्य है। आधुनिक यूरोपीय दार्शनिकों के ग्रन्थों में भी ऐसे दृष्टान्त हैं, जहाँ यह कठिन परिस्थिति, ईश्वरवादी व्यक्तिगत अनुभव से अभिभूत होकर भाववाद के अनुभवों को न्याययुक्त प्रमाणित नहीं करती, और उदाहरण के तौर पर हम प्रिंगल पेटिसन के ईश्वर सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर सकते हैं। जीव के विचार में भी हम आपाततः विरोध देख सकते हैं। क्योंकि कभी जीव को शुद्ध चैतन्य रूप कहा है, और कभी उसे जड़वत् और परमात्मा के पूर्ण नियन्त्रण में बताया गया है। उक्त विरोध यह समझ कर हल किया जा सकता है कि यह जड़ता केवल आपेक्षिक है अर्थात् पुरुष स्वयं अक्रिय है, किन्तु कर्म के लिए परमात्मा से प्रेरित है। उन्हें लोष्ट और पत्थर रूप जड़ इसीलिए कहा गया है कि वे अपने आप में निष्क्रिय हैं। किन्तु इस निष्क्रियता को चैतन्य-रहितता से एक नहीं करना चाहिए। वे नित्य चैतन्य के स्फुलिंग होने के कारण, सर्वदा चैतन्य स्वरूप हैं। उनकी क्रियाशीलता परमात्मा के कारण तो अवश्य है, जिससे वे आकर्षित हों, नित्य चैतन्य में से बाहर आते हैं और सांसारिक जीवों का नाटक रचते हैं और अन्त में मुक्ति स्थिति में सागर में नदी की तरह, ब्रह्म में विलीन होते हैं। ईश्वर की यह क्रिया नित्य है, यह नित्य रचनात्मक प्रवृत्ति है जो सर्वथा अहेतुकी है (चरम-कारणस्य कृतेः नित्यत्वात्)।[1] यह श्वास प्रश्वास की तरह सहज ही, ईश्वर में से स्वतः स्फुरित आनन्द रूप से उत्पन्न होती है, यहाँ सर्वथा किसी हेतु पूर्ति का आशय नहीं है। व्यास भाष्य में कहा है कि संसार-रचना जीवों के लाभ के हेतु की गई है। किन्तु भिक्षु कोई भी हेतु नहीं मानते। कभी-कभी इस अहेतुकी क्रीड़ा से भी तुलना की गई है। किन्तु भिक्षु कहते हैं कि यदि क्रीड़ा में अश मात्र भी हेतु है तो ईश्वर की क्रिया में वह भी नहीं है। यह क्रिया, ईश्वर की रचना की इच्छा के साथ सहज ही उत्पन्न होती है, जिसके लिए किसी देह या इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रहती है। वह सारे विश्व से एक है इसलिए उसकी क्रिया का लक्ष्य अपने से बाहर कहीं भी नहीं है, जैसाकि साधारण कर्म में होता है। वह ही, जीवों के अनादि कर्म पर आश्रित होकर, उन्हें अच्छे और बुरे कर्म कराता है। कर्म भी, उसकी शक्ति का अंग होने के कारण, और उसकी प्रेरणा की अभिव्यक्ति होने के कारण उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित नहीं कर सकता।[2] कृपा के सिद्धान्त को समझाने में, राजा, सेवकों पर उनकी सेवा के अनुसार, कृपा करता है या नहीं करता है, यह उपमा भी सहायक नहीं है। जीवों के कर्मों के अनुरूप फल देने का, भगवान् की स्वतंत्रता से सामंजस्य है। यदि यह तर्क किया जाता है कि, भगवान् की रचना-प्रवृत्ति नित्य है तो वह किस प्रकार कर्म पर आश्रित है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि कर्म सहकारी कारण हैं जो सुख-दुःख रूप ईश्वर की रचना-प्रवृत्ति को निश्चित

1 देखो विज्ञानामृत भाष्य, 2-1-32।

2 देखो विज्ञानामृत भाष्य, 2-1-33।

करते हैं । पौराणिक पद्धति का अनुसरण करते हुए, भिक्षु, यह सूचित करते हैं कि ईश्वर द्वारा उत्पन्न हिरण्यगर्भ ही कर्म सिद्धान्त का विधायक है, जो ईश्वर की सहज क्रिया के रूप में प्रकट है । इसलिए वही कर्मानुसार दु:खी मानवता के लिए जिम्मेदार है । ईश्वर केवल इस प्रक्रिया को निर्विरोध रूप से चलते रहने में सहायता करता है ।[1] दूसरे अनुच्छेद में वे यह कहते हैं कि ईश्वर धर्म-अधर्म से संयुक्त जीव तथा उपाधियों को अपने ही में अपने अंश के रूप में देखता है, जीवों को इन उपाधियों से सम्बन्धित करके, वह उन्हें अपने में से बाहर लाता है । जिस प्रकार कुम्हार घड़ों को रचता है, इस प्रकार वह जीवों का निर्माता है ।[2]

आत्मा अस्पृश्य और असंग है । प्रकृति और पुरुष का संयोग, इसलिए, साधारण अर्थ में साक्षात् सम्बन्ध के रूप में नहीं समझना चाहिए, किन्तु यह सम्बन्ध उपाधि द्वारा अतीत रूप से बिम्बित होना है जिससे शुद्ध आत्मा संसारी की तरह कार्य करता है । आत्मा को अपने गुण एवं धर्म का ज्ञान नहीं होता, वह स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इस शुद्ध चैतन्य का किसी समय भी अवसान नहीं होता, वह गाढ़ निद्रा में भी रहता है । किन्तु गाढ़ निद्रा में कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ कोई ज्ञान का विषय नहीं होता, और इसी कारण चैतन्य आत्मा में विद्यमान होते हुए भी, उसका भान नहीं करता । अन्त:करण में रही वासनाएं शुद्धात्मा को दूषित नहीं कर सकतीं, क्योंकि उस समय अन्त:करण का लय हुआ रहता है । बुद्धि की वृत्तियों के प्रतिबिम्ब से ही पदार्थों का ज्ञान शक्य है । शुद्ध चैतन्य, आत्मा से अभिन्न होने के कारण, ज्ञाता और ज्ञेय रूप द्वैत युक्त आत्म-चेतना गाढ़ निद्रा में नहीं हो सकती । शुद्ध चैतन्य वैसा ही बना रहता है और केवल चित्तवृत्तियों के परिणाम के अनुसार, विषयों का ज्ञान आता और जाता है ।[3] जीव, इस प्रकार, परमात्मा के अनुचिन्तन से उत्पन्न हुआ नहीं माना जाना चाहिए, जैसाकि शंकर मतवादी मानते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में जीव सर्वथा असत् होंगे, और बन्धन-मुक्ति भी असत् कहे जाएंगे ।

विज्ञानामृत भाष्य के अनुसार ब्रह्म और जगत्

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, विकार, क्षय और विनाश, ईश्वर रूप ब्रह्म से है । वह प्रकृति और पुरुष को निर्मित करने वाली शक्तियों को अपने में धारण करता है, और अपने विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म, अपनी सत्ता की उपाधि से संयुक्त होता है, जो समस्त सर्जन-क्रिया में सत्व गुण-युक्त, माया है, इसलिए, उस महान् सत्ता से, जो क्लेश-रहित है, कर्म तथा फल उत्पन्न होते हैं ।

---

[1] वही, 2–1–33 ।

[2] ईश्वरो हि स्वांशस्व-शरीरांश-तुल्यौ जीव-तदुपाधि-स्वान्तर्गतौ धर्मादि सहितौ साक्षादेव पश्यन्नपरतन्त्रः स्व-लीलया संयोग विशेषं ब्रह्मादीनामपि दुर्विभाव्यं कुर्वत् कुंभकार इव घटम् ।
—वही, 2–1–23 ।

[3] विज्ञानामृत भाष्य, 2–3–5 ।

ब्रह्म सूत्र 2-2 में यह कहा है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है तथा उसी से धारण किया गया है इससे यह अर्थ निकलता है कि जगत् की जैसी भी अपनी सत्ता है वह परम सत्ता और अव्यक्त की सत्ता के अन्तर्गत एक नित्य तथ्य है। जगत् की उत्पत्ति, परिणाम और विनाश उसके भासमान पहलू हैं।[1] ब्रह्म को यहाँ अधिष्ठान कारण माना है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जगत् का आधार है जिसमें जगत् अविभक्त और अव्यक्त रूप से स्थित है और वह जगत् को धारण भी करता है। ब्रह्म ही एक कारण है जो जगत् के उपादान कारण को धारण करता है जिससे कि वह उस रूप से परिणत हो सके।[2] ब्रह्म चरम कारण का सिद्धान्त है जिससे सभी प्रकार के कारणत्व शक्य हैं। मूल ब्र मेंह्म प्रकृति और पुरुष नित्य चैतन्य रूप में रहते हैं और इसलिए दोनों उससे एक होकर रहे हैं। ब्रह्म न तो परिणामी है और न प्रकृति और पुरुष से तद्रूप है। इसी कारण यद्यपि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य स्वरूप और अपरिणामी है, फिर भी वह जगत् से एक रूप और उसका उपादान कारण माना गया है। विकारी कारण और अधिष्ठान कारण को, उपादान कारण की संज्ञा दी गई है। उपादान और अधिष्ठान कारण के अन्तर्गत सिद्धान्त यह है कि कार्य उसमें लय होता हुआ, धारण किया गया है या उससे अविभेद्य हैं।[3] कार्य से अविभाग या एकात्मकता, सामान्य रूप से समझा जाने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु यह एक प्रकार का निस्सम्बन्धित सम्बन्ध है, एक प्रकार की विलक्षणता है जिसे सम्बद्ध घटकों में अपघटित नहीं किया जा सकता जिससे कि यह सम्बन्ध उन घटकों में फिर से जोड़ा जाय। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि जगत् ब्रह्म रूप अधिष्ठान से इस प्रकार अधिष्ठित है कि उसे केवल ब्रह्म का परिणाम या विकार ही नहीं माना जा सकता है। किन्तु जब ये दो प्रकार के सम्भावित कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं उपयुक्त होते, तो जगत् की ब्रह्म के बिना, जो ब्रह्म जगत् का आधार है और जो विकास-क्रम की सहायता करता है, कोई सत्ता, महत्त्व या अर्थ नहीं रहता। आधार-आधेय का सामान्य सम्बन्ध, यहाँ अनुपयुक्त ठहरता है, क्योंकि इसमें स्वतन्त्र सत्ता का द्वैत बना रहता है, वर्तमान प्रस्ताव में, तो, जहाँ ब्रह्म को अधिष्ठान कारण माना गया है वहाँ यह द्वैत भाव नहीं है और जगत् का ब्रह्म से पृथक् होना सोचा नहीं जा सकता, जो उसका अधिष्ठान है और अपने पररूप से अपरिणामी रहता है।

---

1 अत्र चैतद् यत इत्यनुक्तवा जन्माद्यस्य यत इति वचनादव्यक्त-रूपेण जगत् नित्यं एव इति आचार्याशयः।

—विज्ञानामृत भाष्य, 1–1–2।

2 किं पुनरधिष्ठान-कारणत्वमुच्यते तदेवाधिष्ठान-कारणं यत्रविभक्तं येनोपष्टब्धं च सदुपादाना कारणं कार्याकारेण परिणमते।

—वही।

3 कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादान-सामान्य-लक्षणत्वात्।

—विज्ञानामृत भाष्य, 1-1-2।

इस प्रकार, यद्यपि, यहाँ यह मानना पड़ता है कि सम्बन्ध दो के बीच है, किन्तु इसे पर या सर्वातिशायी दृष्टि से समझना चाहिए जिसकी उपमा कहीं भी नहीं मिलती। पानी और दूध के मिश्रण जैसी चित्रवत् उपमा भी इसके अनुरूप नहीं ठहरती।[1] यहां जहाँ तक दोनों सम्मिश्र अवस्था में हैं वहाँ तक पानी दूध पर आश्रित है, और दोनों को हम एक को दूसरे के बिना सोच नहीं सकते। प्रकृति और पुरुष के धर्म भी शुद्ध चैतन्य मय ईश्वर के स्वरूप से अभिव्यक्त होते हैं, द्रव्यगुण और कर्म का कारणत्व भी ईश्वर में अंतर्निहित स्वरूप से है जो सभी पदार्थों में व्याप्त है। समवाय सम्बन्ध का अधिष्ठान में इस विलक्षण अविभाज्य सम्बन्ध से भेद यह है कि समवाय, कार्यों के आपस के अंतरंग गाढ़ सम्बन्ध में होता है और अविभाग सम्बन्ध केवल कार्य का कारण से विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, और यह कार्य अंशों का, कार्यों के अविच्छेद संयोग रूपी पूर्ण से कोई सम्बन्ध लक्ष्य नहीं करता। एक जीवित प्राणी के अंगों में आपस में विद्यमान अविभाग सम्बन्ध भी इस कार्य कारण अविभाग सम्बन्ध से भिन्न है। जड़ और जीव युक्त, इस जगत् के अंग, एक दूसरे से अवियोज्य सम्बन्ध में एक हुए माने जा सकते हैं, किन्तु यह सम्बन्ध आपस में, कार्यों के बीच गाढ़ सम्बन्ध है, और पूर्ण इनके समूह से पृथक् कुछ नहीं है। यही समवाय सम्बन्ध की विशिष्टता कही जा सकती है। किन्तु अधिष्ठान के अविभाग सम्बन्ध में, कार्य, अधिष्ठान में इस प्रकार समाया हुआ है कि कार्य की कारण से पृथक् सत्ता ही नहीं है।[2] ब्रह्म, इस मत में, आधार या अधिष्ठान है जो पुरुष और प्रकृति के सम्पूर्ण एकत्व को आधार देता है जिससे कि वह जगत् के विभिन्न रूपों से अभिव्यक्त हो।[3] वह, इसलिए, विकार तथा जगत् परिणाम में कोई भाग नहीं लेता किन्तु वह अपने में अभिन्न रूप से रहता है, और अपने में स्वस्थित और स्वाश्रित होकर जगत् रूप होता है।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि वैशेषिक मत में ईश्वर को चालक या निमित्त कारण माना है, जबकि वे सोचते हैं कि ईश्वर का कारणत्व, समवायी, असमवायी या निमित्त इनमें से कोई भी नहीं हो सकता, किन्तु वह तो चौथे ही प्रकार का है जो अधिष्ठान या आधार कारण है।[4] वे इस प्रकार के कारण का अधिष्ठान शब्द से भी वर्णन करते हैं जिस शब्द से हम शंकर वेदान्त में परिचित हैं। किन्तु इन दोनों अधिष्ठान कारण के प्रत्ययों में महान् भेद है, क्योंकि भिक्षु इसे अपरिणामी आधार मानते हैं जो अपनी अविभक्त एकता में परिणाम के सिद्धान्त की क्रिया को धारण करता है। शंकराचार्य, जबकि अधिष्ठान को परिणाम का आधार मानते हैं जो वास्तव में असत्

---

1 अविभागश्चा धारतावत् स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषोऽप्यंत-सम्मिश्रण-रूपो दुग्ध जलाद्येकता-प्रत्यय-नियामकः। —विज्ञानामृत भाष्य।

2 तत्र समवाय-सम्बन्धेन यत्राविभाग स्तद् विकारि-कारणं यत्र च कार्यस्य कारणाविभागेन अविभागस्तदधिष्ठान-कारणम्। —वही।

3 यदि हि परमात्मा देहवत् सर्वं कारणं नाधितिष्ठेत तर्हि द्रव्य-गुण-कर्मादि-साधारणाखिल-कार्ये इत्यं मूलकारणम् न स्यात्। —ईश्वरगीता भाष्य, हस्त०,

4 अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्याम् उदासीनं निमित्त कारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधार कारणत्वम्। —वही।

हैं। भिक्षु के अनुसार तो अपरिणामी व्यापार असत् नहीं है किन्तु वे आधार कारण के साथ अविभक्त एकता में रहने वाले परिणाम सिद्धान्त का विकार मात्र है। जब जगत् को सत् असत् रूप कहते हैं और इसलिए वह असत् और मिथ्या है, तब शंकर मतवादी बड़ी भूल करते हैं। जगत् को सत असत् यों कहा है कि वह परिणाम के सिद्धांत की अभिव्यक्ति है। उसे 'यह' कहा जाता है और तो भी, क्योंकि वह बदलता है इसलिए उसे 'यह' भी नहीं कहा जा सकता। बदलते व्यापार के भविष्य में होने वाले रूप भी, वर्तमान में असत् रूप हैं और वर्तमान रूप भी भविष्य में होने वाले रूपों में नहीं के समान हैं। इस प्रकार उसके कोई भी रूप असत् माने जा सकते हैं, इसलिए जो वस्तु सदा है और एक ही रूप में बनी रहती है उसकी तुलना में, यह मिथ्या है।[1] जगत् के सभी पदार्थ जहाँ तक वे भूत भविष्य में हैं, वे उनकी वर्तमान दशा से बाधित हैं और इसलिए मिथ्या माने जाते हैं, किन्तु जहाँ तक वे अपने वर्तमान से प्रत्यक्ष किए जाते हैं सत्य माने जाते हैं।[2]

जगत् तो शुद्ध चैतन्य रूप से नित्य और अविकारी है, जिसमें से वह जड़ और जीव युक्त जगत् के रूप में पृथक् किया गया है। शुद्ध चैतन्य अपने आप में अन्तिम सत्य है जो सर्वदा एकसा है और उसमें किसी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं होता। जीव और जड़ जगत् का अन्त में ब्रह्म में ही लय होता है जो शुद्ध और परम चैतन्य है। ये इसलिए नित्य अपरिणामी ब्रह्म की तुलना में नाम-रूप कहे गए हैं।[3] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव और यह जड़ जगत्, नितान्त मिथ्या और माया या भ्रम है। यदि सब जो कुछ दीखता है वह मिथ्या है तो सभी नैतिक मूल्यों का अन्त हो जाएगा और बन्धन तथा मुक्ति के सभी विचार निरर्थक हो जाएंगे। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का मिथ्यात्व किसी प्रकार सिद्ध भी कर दिया जाता है, तो यह प्रयास स्वयं सिद्ध कर देगा कि इन प्रमाणों में सच्चाई है और इसलिए यह भी कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और भी वस्तु हैं जो सत्य हो सकती हैं। यदि वे प्रमाण असत्य हैं किन्तु वे अन्य वस्तु के विरोध में शुद्ध चैतन्य की प्रमाणता सिद्ध कर सकते हैं तो ये प्रमाण जगत् की अन्य वस्तुओं की सच्चाई भी सिद्ध कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि जिसे सामान्य मनुष्य सच समझते हैं उन्हें, उन प्रमाणों द्वारा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें वे प्रमाण मानते हैं, किन्तु शंकर मतानुसार किसी को भी सत्य नहीं माना गया है, इसलिए जगत्-व्यापार को सत्य सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलते। किन्तु इस मत के विषय में जो उत्तर उपस्थित होता है वह यह है, यद्यपि जगत् की सच्चाई सिद्ध नहीं की जा सकती तो भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जगत्-व्यापार असत् है, क्योंकि यदि उसकी प्रमाणता सिद्ध भी न की जा सके तो भी,

---

1 एक-धर्मेण सत्व दशायां परिणामि-वस्तूनामतीतानागत-धर्मेण असत्वात्।
—विज्ञानामृत भाष्य 1-1-3।

2 घटादयो हि अनागताद्यवस्थासु व्यक्ताद्यवस्थाभिर्बाध्यन्ते इति। घटादयो मिथ्याशब्देन उच्यन्ते विद्यमान धर्मैश्च तदानीं न बाध्यन्ते इति सत्या इत्यपि उच्यन्ते। —वही।

3 ज्ञान स्वरूपः परमात्मा स एव सत्यः जीवाश्चांशस्तयंशिन्येकीभूताः अथवावयवत्वेन परमात्मापेक्षया तेऽप्यसन्तः। —वही।

उसकी सच्चाई या सत्ता कम से कम शंकास्पद रह सकती है। इसलिए, हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे, हम उसकी सत्यता या मिथ्या के विषय में निष्कर्ष दे सकें। जगत् की सच्चाई, ब्रह्म जो शुद्ध चैतन्य है, उससे किसी दूसरी कोटि की है, जगत् की सच्चाई, अर्थक्रियाकारित्व दृष्टि से है। किन्तु जगत् की परिणाम अवस्था में जगत् की सच्चाई उसके परिणाम होने में या अर्थक्रियाकारित्व में है तो भी वह अपने आप में परम सत्य भी है, क्योंकि जगत् की अन्तिम सत्ता ब्रह्म से उद्भूत हुई है। जीव और जड़ युक्त जगत्, ब्रह्म में, शुद्ध चैतन्य रूप से विद्यमान है और इसलिए उससे एक है। जब वह अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था में जीव और जड़ जगत् के रूप में व्यक्त होता है, तब हम उसकी सर्जन अवस्था कहते हैं। जब वह ब्रह्म में चैतन्य रूप से फिर लय होता है तब वह प्रलय अवस्था है।[1] जीव, जड़-जगत् को भी अन्त में शुद्ध चैतन्य रूप मानना पड़ता है, और इसलिए वह शुद्ध चैतन्य का अंग है जिसमें वह लय हुआ सा रहता है। परिवर्तनशील दृश्य रूप जगत् भी, इस प्रकार का ज्ञान रूप है और केवल अज्ञानी ही उसे केवल विषय (अर्थ) रूप मानते हैं।[2] जब श्रुति, ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता प्रतिपादन करती है, तब वह इस अन्तिम अवस्था को लक्ष्य करके कहती है, जिसमें जगत् ब्रह्म से एक होकर शुद्ध चैतन्य रूप से रहता है। किन्तु प्रलयावस्था में ही केवल जगत्, ब्रह्म से अविभक्तावस्था में ही नहीं रहता, किन्तु सर्जनावस्था में भी वह ब्रह्म से एक होकर रहता है, क्योंकि जड़ वस्तु में पाई जाने वाली जो कुछ भी यान्त्रिक या अन्य प्रकार की शक्तियाँ हैं वे ईश्वर की ही शक्तियाँ हैं और क्योंकि शक्ति को शक्तिमान् से अभिन्न माना जाता है इसलिए यह माना जाता है कि परिवर्तनमय समस्त जगत् ईश्वर में ही है।[3] प्रलयावस्था में जगत् शक्तियाँ ईश्वर में चैतन्य रूप से या चित् शक्ति के रूप में रहती हैं, जो उत्तरकाल में उसके द्वारा जड़ रूप से या जड़ शक्ति के रूप में व्यक्त की जाती हैं। जगत्-शक्तियों की ईश्वर में एकता इस प्रकार की है कि यद्यपि वे किसी अंश में स्वतन्त्र हैं तो भी वे ईश्वर की सत्ता से इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। उनकी स्वतन्त्रता इसमें है कि वे शक्ति रूप हैं किन्तु वे ईश्वराधीन हैं। इसलिए उनको ईश्वर से पृथक् सोचा नहीं जा सकता और न उनकी सत्ता ही है। इस प्रकार वर्णित जड़ जगत् नित्य सत्य नहीं है, इस तथ्य के भान को बाध या व्याघात कहा जा सकता है (पारमार्थिक-सत्ताभाव-निश्चय एव बाधः)।[4] किन्तु इस बाध के होते हुए भी जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है (तादृश-बाधेऽपि च सति ज्ञान-साधनादीनां व्यावहारिक-सत्वात्)।

---

[1] प्रलयेहि पुं प्रकृत्यादिकं ज्ञानरूपेणैव रूप्यते न त्वर्थरूपेण अर्थतो व्यंजक-व्यापाराभावात्।
—विज्ञानामृत भाष्य, 1–1–4।

[2] ज्ञान स्वरूपमखिलं जगदेतबुद्धयः। अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह सम्प्लवे।
—वही।

[3] शक्तिमत्कार्य कारणाभेदेनैव ब्रह्माद्वैतं बोधयन्ति अयं च सार्वकालो ब्रह्मणि प्रपंचाभेदः।
—वही।

[4] विज्ञानामृत भाष्य, 1–1–4।

प्रकृति और पुरुष का कारणत्व उनकी विशिष्ट शक्तियों से मर्यादित है, जिससे विकार निश्चित होते हैं। किन्तु ईश्वर, इन सबों के पीछे, सामान्य सर्व कारण है जो इन विशिष्ट मर्यादित विकारों से ही प्रकट नहीं है किन्तु वह उनकी आन्तरिक एकतानता एवं क्रम को तथा आपस के सम्बन्ध को भी नियमित करता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय दृष्टि के व्यापार तक ही सीमित है और त्वगिन्द्रिय अपने व्यापार में स्पर्श सम्बन्ध तक सीमित रहती है किन्तु इन सबके व्यापार, जीव द्वारा संगठित होते हैं जो इनमें से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ब्रह्म, इस दृष्टि से उपादान एवं निमित्त कारण माना जा सकता है।[1] सांख्य और योग के अनुसार प्रकृति पुरुष से आन्तरिक और सहज प्रयोजनवत्ता से सम्बन्धित मानी गई है किन्तु वेदान्त के अनुसार भिक्षु के मत से उनका आपस में मिलकर कार्य करना ईश्वर के कारण से है।[2]

जीव

ईश्वर गीता की टीका में भिक्षु कहते हैं कि जो अधिक सामान्य है उसका कम सामान्य से क्षेत्र बड़ा होता है इसलिए वह छोटे के सम्बन्ध में ब्रह्म कहलाता है। कार्य का कारण, कार्य से बृहत् और अधिक सामान्य होता है इसलिए उसकी तुलना में वह ब्रह्म कहलाता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर हैं। किन्तु जो इस स्तर से सर्वोपरि है वह महान् या परम सामान्य है और चरम कारण है इसलिए वह पर-ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म, इस प्रकार महान् और परम सत्य है। जड़ जगत् को निश्चित करने वाले तत्त्व ब्रह्म में ज्ञान रूप से विद्यमान है। सृष्टि-रचना का अर्थ यह है कि ये निश्चित करने वाले, तत्त्व जो अव्यक्त और अक्रिय होकर विद्यमान हैं वे जगत् रूप से व्यक्त और सक्रिय होते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप ईश्वर को इस अव्यक्त प्रकृति के कार्य एवं परिणामों का पूर्ण एवं विस्तृत ज्ञान है, जो वास्तविक जगत् रूप से परिणत होता है। प्रकृति के परिणाम का आरम्भ पुरुष का चैतन्य से संयोग के क्षण से होता है। श्रुति कहती है कि ईश्वर ने पुरुष और प्रकृति में प्रवेश किया, सन्तुलन को क्षुब्ध किया और एक दूसरे का संयोग साधा। पुरुष अवश्य ही, चैतन्य के स्फुलिंग रूप हैं, और उनमें किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करना असम्भव है। क्षोभ इस प्रकार प्रकृति में होता है और इस क्षोभ का प्रभाव पुरुष में भी मान लिया जाता है। पुरुष को ईश्वर का अंश रूप मानना चाहिए, और पुरुष और ब्रह्म में सचमुच तादात्म्य हो नहीं सकता। पुरुष और ब्रह्म में तथाकथित तादात्म्य का अर्थ यह है कि वे ईश्वर की सत्ता के विभाग हैं जिस प्रकार पूर्ण के अंश उसके विभाग होते हैं। शंकर-मतवादियों का यह कहना कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, और भेद केवल अज्ञान की बाह्य उपाधि के कारण या प्रतिबिम्ब के कारण है, गलत है। ब्रह्म और जीव के बीच एकता अविभाग रूप है। यदि जीव की सत्ता

---

1 ब्रह्मणस्तु सर्व शक्तिकत्वात् तत्तदुपाधिभिः सर्व-कारणत्वं यथा चक्षुरादीनां दर्शनादि-कारणत्वं यत्प्रत्येकमस्ति तत्सर्वं सर्वाध्यक्षस्य जीवस्य भवति, एतेन जगतो भिन्न-निमित्तोपादानत्वं व्याख्यातम्। —वही, 1–1–2।

2 सांख्य योगिभ्यां पुरुषार्थ-प्रयुक्ता प्रवृत्तिः स्वयंमेव पुरुषेण आद्यजीवेन संयुज्यते···· अस्माभिस्तु प्रकृति-पुरुष-संयोग ईश्वरेण क्रियते। —वही।

अस्वीकार की जाती है तो यह नैतिक और धार्मिक मूल्यों और तथा बन्धन और मुक्ति को भी अस्वीकार करना होगा।

इस सम्बन्ध में यह भी आग्रह किया जाता है कि जीव ब्रह्म से, आग से स्फुल्लिग की तरह उत्पन्न है या पिता से पुत्र की तरह। जीव, शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से ईश्वर के अनुरूप हैं। किन्तु यद्यपि वे उससे उत्पन्न हुए हैं तो भी वे अपना व्यक्तित्व बनाए रखते हैं और अपने नैतिक व्ययहार का क्षेत्र भी बनाए रखते हैं। जीव अपने स्वरूप से स्वतन्त्र और मुक्त हैं, वे सब सर्वव्यापी हैं, और वे अपने चैतन्य में जगत् को धारण करते हैं। इन सबों में वे ब्रह्म के समान हैं। किन्तु उपाधि से सम्बन्धित होकर, वे मर्यादित और सीमित दीखते हैं। जब जीव का सारा जीवन-काल, ब्रह्म में अंश रूप से विद्यमान माना जाता है, तथा ब्रह्म में से पृथक् रूप से व्यक्त हुआ माना जाता है, और वह उपाधि के संयोग से उत्पन्न जीवन व्यतीत करता है और अन्त में उससे विभक्त होता है और ब्रह्म से अपनी एकता अनुभव करता है, तथा कुछ अंश में उससे भिन्न भी है ऐसा अनुभव करता है, तब ही सच्चा दार्शनिक ज्ञान हुआ कहा जाता है और यही अपने स्वरूप की सच्ची अनुभूति है।[1] सांख्य से इस मत का भेद यह है कि सांख्य केवल पुरुष की पृथक्ता और विलक्षणता मानकर ही संतुष्ट रहता है किन्तु वेदांत-दृष्टि जो यहाँ प्रतिपादित की गई है, वह इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकता कि वे पृथक् होते हुए भी ब्रह्म से एक रूप हैं और वे उससे उत्पन्न हुए हैं, और यही अपनी विलक्षणतामय नियति को पूरा करके फिर उसी में लय होंगे और सांसारिक जीवनकाल में भी वे एक दृष्टि से अविभक्त हैं क्योंकि वे उसकी शक्ति हैं।[2] जीव और ब्रह्म के बीच रहा हुआ भेद, उनके सांसारिक जीवन-काल में बहुत ही स्पष्ट है। वह इस कारण है कि प्रत्येक जीव में प्रकृति का ज्ञान, उनकी चेतना में पृथक् रूप से रहता है और प्रत्येक जीव अपने अनुभव से सीमित है। किन्तु प्रलय के समय, जब प्रकृति-जगत् ब्रह्म में अव्यक्त शक्ति की स्थिति में मिल जाती है, तब जीव भी उसमें मिल जाते हैं, और फिर उनके अनुभव का पृथक् क्षेत्र नहीं रहता और उनकी पृथक् सत्ता वर्णित नहीं की जा सकती।

पूर्ण और अंश जैसा सम्बन्ध जो जीव और ब्रह्म के बीच विद्यमान है, वह पिता पुत्र जैसा है। पिता पुत्र रूप से फिर जन्म लेता है। जन्म से पहले पुत्र, पिता की प्राण शक्ति में अविभक्त रूप से रहता है और जब उससे पृथक् हो जाता है तो मानों पिता की ही प्राण शक्ति या जीवन शक्ति, एक नए जीवन काल में पुनरावृत्ति करती है और अपना पृथक् कार्यक्षेत्र बनाती है। पुनः जब ऐसा कहा है कि जीव ब्रह्म के विभाग हैं, तब ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वे ईश्वर या सृष्टि रचयिता के रूप में भाग लेते हैं। ईश्वर अपने स्वरूप में एकरस नहीं है किन्तु उसमें पृथक्ता और विलक्षणता का तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहता है। यदि वह एकरस होता तो उसके भागों में विशिष्ट

---

1 भेदाभेदौ विभागाविभागरुपौ कालभेदेन अभिरुद्धौ अन्योन्या भावश्च जीव-ब्रह्मणोरात्यन्तिक एव।
—विज्ञानामृत भाष्य, 1–1–2।

2 अत इदं ब्रह्मात्म ज्ञानं विविक्त जीव ज्ञानात् सांख्योक्तादपि श्रेष्ठम्।
—वही, 1–1–2।

पृथक्ता न होती और वे आकाश के विभाग की तरह एक दूसरे से सदा अविभाज्य रहते। किन्तु ईश्वर में भेद का सिद्धान्त विद्यमान है, यह इस बात को स्पष्ट करता है कि जीव ब्रह्म से चैतन्य रूप से ही समान है किन्तु उनका, सर्व शक्तिमत्ता और सृष्टि-रचना के कार्य में कोई भी दायित्व नहीं है। सांख्यकार यह मानते हैं कि अपने ममत्व-मुक्त अनुभव, वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ, बुद्धि और देह अलग होने पर ही मुक्ति मिलती है, यह जानकर कि आत्मा स्वप्रकाश्य है जिसे सारे अनुभव दृश्य होते हैं और यद्यपि वे उससे सर्वथा भिन्न हैं तो भी वे उसमें (आत्मा) एक रूप से धारण किए हुए रहते हैं। किन्तु वेदान्त का अर्थ जो यहां पर ग्रहण किया गया है उसके अनुसार, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के ज्ञान से तथा ईश्वर से वे उत्पन्न हुए हैं, और उसी के द्वारा उनकी स्थिति बनी हुई है, और जिसमें वे अन्त में विलीन होंगे और इस ज्ञान से कि वे सब ईश्वर के चैतन्य में उसके अंश रूप से विद्यमान हैं, और यह कि आत्मा अनुभव का सच्चा भोक्ता नहीं है किन्तु वह केवल चैतन्य है जिसमें जगत् और अनुभव प्रकाशित होते हैं, ममत्व का नाश होता है। इस प्रकार यद्यपि सांख्य और वेदान्त में जैसा कि यहाँ समझा गया है, मुक्ति मिथ्या ममत्व के दूर होने से प्राप्त होती है, हमारे मत में ममत्व का लय एक भिन्न दार्शनिक विचारानुसार होता है।[1]

चैतन्य एक गुण नहीं हैं, किन्तु आत्मा का स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चैतन्य भी एक द्रव्य है जो दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जब कोई कहता है 'मैं इसे जानता हूँ' तब ज्ञान 'मैं' के गुण रूप से प्रतीत होता है जो न तो आत्मा है और न एक रस वस्तु है। 'मैं' इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि का मिश्रण है जिसमें गुण निवेश किए जा सकते हैं, आत्मा कोई मिश्र वस्तु नहीं है, किन्तु एकरस अमिश्र वस्तु चैतन्य है। 'मैं' रूप मिश्र वस्तु, चैतन्य के प्रकटीकरण द्वारा सभी वस्तुओं को व्यक्त करती है। आनन्द या सुख, अवश्य ही, स्वप्रकाश्य पदार्थ नहीं माने जा सकते, किन्तु वह दुःख जैसा स्वतन्त्र पदार्थ है जो चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिए न तो आत्मा और न ब्रह्म ही को आनन्द या सुख रूप माना जा सकता, क्योंकि ये प्रकृति के विकार हैं और इसलिए इन्हें दर्शन नहीं किन्तु दृश्य मानना चाहिए। चैतन्य को, विषयों को प्रकाशित करने के लिए बुद्धि-व्यापार के माध्यम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा मत प्रश्न को हल किए बिना अनवस्था दोष उत्पन्न करेगा। यह भी सोचना गलत है कि चैतन्य को प्रकाशित होने के लिए कोई व्यापार करना पड़ता है क्योंकि वस्तु अपने आप पर क्रिया नहीं कर सकती (कर्तृ-कर्म-विरोधात्)। यदि उपरोक्त कारणवश आत्मा को सुख रूप नहीं माना जा सकता तो मुक्ति के समय भी उसमें वह गुण नहीं हो सकता। उस समय केवल दुःख का अन्त है या यों कहिए कि सुख और दुःख दोनों का अन्त है जिसे पारिभाषिक शब्दों में सुख कहा है (सुखं दुःख-सुखात्ययः)। मुक्ति के समय बुद्धि-व्यापार इत्यादि समस्त उपाधियाँ लय होती हैं और परिणामस्वरूप सुख-दुःख के सभी अनुभव लुप्त हो जाते हैं क्योंकि ये विषयगत हैं जो आत्मा के लिए उपाधिवशात् दृश्य हैं। जब उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, तो यह मानना आवश्यक नहीं है कि सुख सबसे अधिक

---

1 विज्ञानामृत भाष्य, पृ० 36।

प्रिय है, क्योंकि आत्मा स्वतः के लिए मूल्यवान् हो सकती है, यह भी सोचा जा सकता है कि यहाँ सुख का अर्थ दुःख का अन्त है।[1] अमरत्व की इच्छा या आत्मा की अनन्त काल तक जीवन की अभिलाषा, हमारा अपने प्रति मोह को उदाहृत करता है। दूसरा मत, कि प्राप्ति का परम हेतु दुःख का अन्त करना है, यह भी आक्षेप पूर्ण नहीं है क्योंकि सुख-दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं, क्योंकि सुख-दुःख का संयोग केवल उनके भोग और क्लेश से सम्बन्ध रखता है और वह आत्मा के मोह के बन्धन के रूप में नहीं है। भोग को अनुभव शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश कर सकते हैं, इस शब्द का दो रूप से प्रयोग होता है एक बुद्धि और दूसरा पुरुष से सम्बन्ध रखता है। प्रकृति, सुख-दुःख और मोह-तत्त्वों की बनी है और बुद्धि प्रकृति का विकार है, इसलिए बुद्धि का जब सुख-दुःख से संयोग होता है तब यह संयोग उसे उन्हीं तत्त्वों से मिलाता है जिनसे वह बनी है इसलिए उसके स्वरूप को धारण तथा बनाए रखता है। किन्तु भोग जब पुरुष से अर्थ रखता है तब अर्थ यह होता है कि सुख और दुःख जो बुद्धि धारण किए हुए है वे उस पर प्रतिबिम्बित होते हैं और इसलिए उसका साक्षात्कार होता है। यह पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा सुख और दुःख का साक्षात्कार ही पुरुष का भोग या अनुभव कहलाता है। बुद्धि को कोई भोग या अनुभव, किसी सुदूर अर्थ में भी नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है। किन्तु यह भली प्रकार तर्क किया जा सकता है कि जबकि पुरुष वास्तव में 'अहं' नहीं है तो उसे वास्तविक रूप से कोई सच्चा अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि उसे सचमुच कोई सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता, वह इसके अन्त को अपने लिए मूल्यवान् नहीं समझ सकता। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि अनुभवकर्त्ता, पुरुष के लिए दुःख का अन्त परम मूल्यवान् है इस अनुभव की सच्चाई, बुद्धि को अपने विकास-मार्ग पर अग्रगामी करती है। यदि ऐसा न होता तो बुद्धि अपने हेतु की ओर आगे न प्रवृत्त होती। इसलिए सुख-दुःख पुरुष में नहीं होने पर भी उसके द्वारा अनुभव किए जा सकते हैं और बुद्धि को उसके द्वारा मार्गदर्शन मिल सकता है।

जब उपनिषद् 'तत्त्वमसि' कहते हैं, तो उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को चित्त की व्यापार-बुद्धि से एक नहीं करना चाहिए और न प्रकृति के किसी विकासज से एक करना चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का विभाग है। जब मनुष्य उपनिषद् से यह जान लेता है या गुरु से यह सुनता है कि वह ब्रह्म का अंश है तब वह ध्यान द्वारा इसे अनुभव करने का प्रयास करने लगता है। सांख्य का वेदान्त से मतभेद यह है कि सांख्य जीव को चरम तत्त्व रूप से मानता है जबकि वेदान्त ब्रह्म को परम सत्ता मानता है और यह भी कि जीव और जड़ तथा अन्य पदार्थों की सत्ता ब्रह्म पर आश्रित है।

ब्रह्मानुभव और अनुभव

कारण की उपादान कारण के साक्षात् और अव्यवहित प्रत्यक्ष के कारण उत्पत्ति है, ऐसी परिभाषा दी जा सकती है। बुद्धि को कार्य माना है, क्योंकि घड़े और अन्य पदार्थों की तरह, वह उसके उपादान तत्त्व के साक्षात् और अव्यवहित अनुभूति से उत्पन्न

---

1. आत्मत्वस्यापि प्रेम-प्रयोजकत्वात् दुःख-निवृत्ति-रूपत्वबाधा बोध्यम्। —वही।

है। इससे स्वाभाविक यह अर्थ निकलता है कि बुद्धि का उपादान द्रव्य है जो किसी सत्ता द्वारा साक्षात् अनुभवगम्य है और जिसके प्रति उस सत्ता की सर्जन-शक्ति कार्य करती है, और वह सत्ता ईश्वर है। ब्रह्म सूत्र में यह कहा है कि, ब्रह्म, श्रुति-प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। किन्तु यह सत्य नहीं हो सकता क्योंकि उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्म शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता और बुद्धि द्वारा अगम्य है। इसका उत्तर यह है कि उक्त पाठों में जो निषेध किया गया है वह इस तथ्द को पुष्ट करता है कि ब्रह्म पूर्ण रूप से तथा विलक्षण रूप से श्रुति से नहीं जाना जा सकता, किन्तु इन पाठों का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा सामान्य ज्ञान शक्य नहीं है। हमें जब श्रुति द्वारा ऐसा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तभी हम इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिस जिस पर योगाभ्यास द्वारा आगे से आगे बढ़ते हैं, और अन्त में उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करते हैं। ईश्वर विशिष्ट गुण-धर्म-रहित है। इससे यही अर्थ निकलता है कि उसके गुण-धर्म अन्य वस्तुओं के गुण-धर्मों से सर्वथा भिन्न हैं और यद्यपि ऐसे गुण-धर्म सामान्य प्रत्यक्ष अनुमान इत्यादि प्रमाण द्वारा अनुभव-गम्य नहीं होते किन्तु वह योग ध्यान द्वारा साक्षात् अनुभव किए जा सकते हैं, इसमें कोई आक्षेप नहीं हो सकता। कुछ वेदान्ती ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्म का साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता किन्तु वह वृत्ति का विषय होता है। ऐसी वृत्ति अज्ञान को नष्ट करती है और परिणामस्वरूप ब्रह्म प्रकट हो जाता है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते हैं और कहते हैं कि वृत्ति या बुद्धि-व्यापार को चैतन्य या आत्मा से विषय को सम्बन्धित करने के लिए स्वीकारा गया है किन्तु एक बार यह सम्बन्ध हो जाने पर विषय का साक्षात् ज्ञान हो जाता है, इसलिए ब्रह्म को ज्ञान-क्षेत्र में लाने के वास्ते अन्तः प्रज्ञात्मक समाकलपन संप्रत्यक्षण इस हेतु पर्याप्त है। यह नहीं माना जा सकता कि जबकि ब्रह्म स्वयं स्वप्रकाश स्वरूप है तो अन्तः प्रज्ञात्मक संप्रत्यक्षण आवश्यक नहीं है और यह भी आवश्यक नहीं कि वृत्ति को अज्ञान के विलय के लिए स्वीकारा गया था, क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य होने से केवल अन्तः प्रज्ञात्मक संप्रत्यक्षण द्वारा ही जाना जा सकता है जो स्वयं ज्ञान स्वरूप है। जबकि सभी अनुभव साक्षात् और अपरोक्ष हैं तो आत्म ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिए। ज्ञान के उदय के लिए उपाधि के रूप में अवरोध के सिद्धान्त को मानना किंचित भी आवश्यक नहीं है जिसे फिर निरास करना पड़े। गाढ़ निद्रा की स्थिति में तमस् के रूप में अवरोध के सिद्धान्त को, यह समझाने के लिए मानना पड़ता है कि वहाँ ज्ञानाभाव है जिससे सभी ज्ञान-व्यापार और व्यवहार का भी अभाव है। प्रतिपक्षी का यह मानना कि ब्रह्म स्वप्रकाश है, उसका किसी से भी सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म वेत्ता और वेद्य दोनों नहीं हो सकता, तो इसका भिक्षु यह उत्तर देते हैं कि स्वप्रकाशता का अर्थ सम्बन्ध-रहितता नहीं है (असंगता), ब्रह्म और जीव का पूर्ण तादात्म्य भी नहीं स्वीकारा जा सकता, और यदि स्वीकारा भी जाय तो हम ब्रह्म-ज्ञान की प्रक्रिया को उसी प्रकार समझा सकते हैं जिस प्रकार हम हमारी आत्मचेतना या अनुभव को समझा सकते हैं।

भिक्षु सोचते हैं कि जबकि हम ब्रह्म सूत्र में ज्ञान की उत्पत्ति और वृद्धि का वर्णन नहीं पाते, तो सांख्य-योग-प्रतिपादित ज्ञान का वर्णन भली प्रकार स्वीकार सकते हैं क्योंकि वेदान्त और सांख्य के विचारों में सामान्य समानता है। सांख्य योग के अनुसार, पहले इन्द्रियों का विषय से संयोग होता है और परिणामस्वरूप उस समय, बुद्धि का दब जाता है तमोगुण और बुद्धि विशुद्ध सत्व स्वरूप से विषय का रूप ग्रहण कर लेती

है। बुद्धि की यह अवस्था विषयावस्था है या संवेदना की अवस्था या स्थिति है (सा बुद्धयवस्था विषयाकारा बुद्धि-वृत्तिरित्युच्यते)। स्वप्न और ध्यानावस्था में बाह्य पदार्थों के चित्र चित्त में उठते हैं और साक्षात् दीखते हैं इसलिए सत्य है। पुरुष का बाह्य पदार्थों से संयोग बुद्धि के माध्यम से होता है। जहां तक बुद्धि मलिन रहती है पुरुष विषयों से उसके द्वारा सम्बन्धित नहीं हो सकता। इसी कारण से गाढ़ निद्रा में जब बुद्धि तमस् से अभिभूत होती है तो पुरुष चैतन्य अपने को प्रकट नहीं कर पाता या अन्य विषयों से सम्बन्ध नहीं जोड़ पाता। इसी कारण गाढ़ निद्रा में जब बुद्धि तमस् से आच्छन्न होती है, पुरुष-चतन्य अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता या विषयों के साथ संयुक्त नहीं हो पाता। ज्योंही बुद्धि संवेदनात्मक या प्रतिमा अवस्था में रूपान्तरित होती है वह पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, जो उस समय अपने को चैतन्यावस्था के प्रकाश की तरह प्रकट करती है। इस प्रकार ही शुद्ध अनन्त चैतन्य, विषय को परिमित रूप से व्यक्त कर पाता है। क्योंकि बुद्धि का विषय रूप से निरन्तर परिणाम होता रहता है और उन्हें अनादि काल से पुरुष पर उन्हें प्रतिबिम्बित करती रहती है इसलिए चेतन अवस्थाओं का निरन्तर प्रवाह लगा रहता है केवल कभी-कभी गाढ़ निद्रा का अन्तराय होता रहता है। पुरुष भी अपनी बारी से बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है और इस कारण अहं का प्रत्यय खड़ा करता है। इस सम्बन्ध में भिक्षु वाचस्पति के मत की आलोचना करते हैं कि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब ज्ञान के प्रसंग को समझाने के लिए पर्याप्त है और कहते हैं कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब चेतनावत् नहीं हो सकता इसलिए बुद्धि वृत्तियों का चैतन्य रूप से दर्शन वह नहीं समझा सकते। किन्तु बुद्धि की वृत्तियाँ चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती हैं यह मान्यता चैतन्य के वास्तविक सम्बन्ध को समझाती है। यह कहा जा सकता है कि जबकि केवल प्रतिबिम्ब ही चैतन्य से सम्बन्धित है तो वस्तु यथार्थ रूप से नहीं जानी जाती। ऐसे आक्षेप का उत्तर यह है कि बुद्धि की वृतियाँ बाह्य वस्तु की प्रतिकृतियाँ हैं, और यदि प्रतिकृतियाँ चैतन्यवत् होती हैं, तो हमारे पास इन प्रतिकृतियों के ज्ञान की सचाई के लिए उनका विषयों पर प्रयोग उनकी गारन्टी है। यह पुनः कहा जा सकता है कि जब बुद्धि-वृत्तियों का चैतन्य में प्रतिबिम्ब उससे एक होकर दीखता है और इसलिए ज्ञान का प्रसंग उत्पन्न करता है तो हमें यहाँ इस प्रसंग में चैतन्य का वृत्तियों के साथ भ्रमपूर्ण एकता का अनुभव होता है, हमारा ज्ञान भ्रमयुक्त होता है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यदि ज्ञान भ्रम का अंश विद्यमान है तो वह उन विषयों की सच्चाई को जिन्हें ज्ञान लक्ष्य करता है, स्पर्श नहीं करता। प्रमा, इस प्रकार, पुरुष में बद्धि के इस प्रतिबिम्ब में है। प्रमाण-फल शुद्ध चैतन्य को मिलता है या पुरुष को जो ज्ञाता है, यद्यपि वह सभी वस्तुओं से सर्वथा असंग है। वैशेषिक, ज्ञान के अनुभव को उत्पत्ति और नाश के रूप में समझते हैं और इसलिए ज्ञान, कार्य के अन्योन्य-सम्बन्ध से उत्पन्न और नाश होता है, ऐसा मानते हैं। पुरुष के समक्ष वृत्तियों का प्रतिबिम्बित होने को वे आत्मा को ज्ञान के भास के रूप में समझते हैं, वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञान-व्यापार को, जिसमें पुरुष ज्ञाता और भोक्ता दीखता है, वे, ज्ञान के अनुव्यवसाय नामक पृथक् व्यापार से समझाते हैं।

ईश्वर के इन्द्रियातीत अनुभव को भी सामान्य आनुभविक ज्ञान के आधार पर समझना होगा। श्रुति वाक्यों के ज्ञान से और योगाभ्यास से बुद्धि में 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा

विकार होता है। यह सत्य विकार, पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष में सच्चे आत्म-ज्ञान के रूप से प्रकट होता है। सामान्य अनुभव और इस ज्ञान में भेद यह है कि यह अभिमान का नाश करता है। आत्म-ज्ञान के ऐसे मत पर यह आक्षेप कि आत्मा, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हो सकता, यह उपयुक्त नहीं है क्योंकि आत्मा जो ज्ञेय है वह पर रूप आत्मा से, जो ज्ञाता है, स्वरूपतः भिन्न है। अतीत (पर) आत्मा ही ज्ञाता है जबकि उसका बुद्धि में प्रतिबिम्बित उस पर प्रत्यावर्त होता है वह ज्ञेय रूप आत्मा है।[4] आत्मा का ज्ञान शक्य है यह स्वीकृति आत्मा के स्वप्रकाशता के सिद्धान्त की विरोधी है, वह आक्षेप ठीक नहीं है। आत्मा की स्वप्रकाशता से केवल यह अर्थ है कि वह अपने आप प्रकाशित है, और उसे अपने को प्रकट करने के लिए किन्हीं अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है।

स्वप्रकाशता और अज्ञान

चित्सुख स्वप्रकाशता की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जो जानी नहीं जा सकती तो भी अपरोक्ष है ऐसी अनुभव की जा सके (अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहार-योग्य-त्वम्)। भिक्षु तर्क करते हैं कि स्वप्रकाशत्व की ऐसी परिभाषा सर्वथा अमान्य है। उपनिषद् में ऐसी व्याख्या कहीं भी नहीं की गई है, और यह स्वप्रकाशत्व की निरुक्ति से भी समर्थित नहीं है। निरुक्ति से यही अर्थ निकलता है जो 'अपने आप से वेद्य' है। पुनः यदि एक वस्तु नहीं ज्ञात होती, तो इसी कारण से उसका हम से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और ऐसा अर्थ श्रुति से विरोध करेगा जो यह प्रतिपादन करता है कि परम सत्य अनुभव गम्य है, बोध्य है। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि चित्त की ब्रह्मस्थिति साक्षात् न जानी जा सकने पर भी पुरुष में अविद्या दूर करेगी। किन्तु इस पर अनेक आक्षेप हो सकते हैं। प्रथमतः, स्वप्रकाशत्व ज्ञान का प्रमाण है, किन्तु पुरुष में अविद्या दूर करना ही केवल प्रमाण नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी प्रश्न करना योग्य होगा कि अविद्या का अर्थ क्या है। यदि अविद्या भ्रमपूर्ण चित्त-वृत्ति है तो वह बुद्धि की अवस्था होगी, और उसका नाश बुद्धि से सम्बन्ध रखेगा, पुरुष से नहीं। यदि अविद्या से वासना का अर्थ निकाला जाता है, जो भूल के कारण है : तब भी जबकि वासनाएं प्रकृति के गुणों का धर्म हैं इसलिए उनका नाश प्रकृति के गुणों का नाश होगा। यदि इसे तमस् माना जाता है, जो आत्मा को ढक देता है तो यह मान्यता अस्वीकार्य रहेगी, क्योंकि यदि बुद्धि में वर्तमान तमस् हटाया नहीं जाता तो बुद्धि का विषय रूप परिणाम नहीं होगा और यदि बुद्धिगत तमस् एक बार इस प्रकार हट जाता है तो उसका पुरुष में प्रतिबिम्ब न पड़ेगा। इस प्रकार, ज्ञान माया के आवरण का नाश करता है यह मत प्रमाणित नहीं हो सकता। आवरण का सम्बन्ध केवल ज्ञान के कारण से है जैसेकि आँख, और इसलिए उसका शुद्ध चैतन्य से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। ज्ञान का उदय शुद्ध चैतन्य पर से आवरण के हटने के कारण है यह मत

---

[1] आत्मपि बिम्बरूपेण ज्ञाता भवति स्वगत-स्वप्रतिबिम्ब-रूपेण च ज्ञेयः।

—विज्ञानामृत भाष्य, 1. 1. 3।

इसलिए पुष्टि नहीं पाता। आत्मा में कोई आवरण हो नहीं सकता। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो उसमें कोई भी अज्ञान का आवरण स्वभावतः नहीं हो सकता। क्योंकि ये दोनों मान्यताएँ परस्पर-विरोधी हैं। पुनः यदि यह माना जाता है कि जगत् प्रपंच चित्त में अविद्या के कार्य से है, और यदि यह माना जाता है कि सच्चा ज्ञान अविद्या को हटाता है, तो हम इस नितान्त अनधिकृत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् ज्ञान से नष्ट हो सकता है या यह कि जब आत्मा सच्चा ज्ञान प्राप्त करती है तो जगत्-प्रपंच का अन्त हो जाता है या यह कि जब जीवन्मुक्ति होती है तो उसे जगत् का अनुभव नहीं होगा। यदि ऐसा माना जाता है कि मुक्ति सन्त में भी अज्ञान का अंश होता है तो ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है इस वाद को त्याग देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा को सभी से सर्वथा असंग माना जाता है, तो यह मानना गलत है कि वह अविद्या या अज्ञान से सम्बन्धित होगा। आवरण का सम्बन्ध वृत्तियों से ही हो सकता है, शुद्ध नित्य चैतन्य से नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे पास ऐसे सादृश्यता का कोई दृष्टान्त नहीं है। पुनः यदि यह माना जाता है कि शुद्ध चैतन्य का अविद्या से नैसर्गिक सम्बन्ध है तो ऐसा संयोग कभी तोड़ा नहीं जा सकता। यदि ऐसा संयोग किसी कारणवशात् माना जाता है, तो यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी कारणावस्था चित्त में रहेगी। कम से कम यह मान्यता प्राथमिक मान्यता से अधिक सरल रहेगी जिसके अनुसार इसका सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से माना गया है, क्योंकि यहाँ फिर इसके लय के लिए अन्य व्यापार मानना पड़ेगा। कम से कम गाढ निद्रा, मूर्छा और जरा में अविद्या का सम्बन्ध वृति से मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार, यदि आवरण को, चित्त वृत्ति से ज्ञान के कारण के रूप में संयोजित मानना पड़ता है तो आत्मा या शुद्ध चैतन्य से यह सम्बन्ध मानना सर्वथा अनावश्यक है। पातंजलि अपने योग सूत्र में, अविद्या को चित्तवृत्ति कहते हैं जो अनित्य को नित्य मानती है, अशुचि को शुचि और दुःख को सुख मानती है। इसलिए, इसे शुद्ध चैतन्य से अपृथक् रूप से सम्बन्धित एक पदार्थ नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान को अविद्या का अन्त कहना गलत है जो पुरुष का धर्म है। चित्त में अविद्या के अन्त से, पुरुष में ज्ञान का उदय होता है यह कहना योग्य होगा। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस चरम ज्ञान के उदय से, प्रकृति की सारी हेतुमत् क्रिया, जो पुरुष के लिए हो रही थी, पुरुष के प्रति प्रकृति का हेतु सिद्ध हो जाता है और ऐसा होने पर बुद्धि और पुरुष के बीच हेतु युक्त सम्बन्ध टूट जाता है और चित्त या बुद्धि को पुरुष के लिए कोई कार्य करना बाकी नहीं रहता। मिथ्या ज्ञान के नाश से, पाप पुण्य का भी अन्त हो जाता है और इस प्रकार बुद्धि के अन्तिम नाश होने पर अन्तिम मुक्ति होती है। अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये सभी अविद्या या मिथ्या ज्ञान माने जा सकते हैं जो उनका कारण है और अविद्या को तमस् भी कहा जा सकता है जो उसका कारण है। तमस् सत्व के प्रकट होने में अवरोध करता है और इसी कारण मिथ्या ज्ञान होता है। जब तमोगुण सत्व गुण द्वारा अभिभूत होता है तो सत्व आत्मा द्वारा प्रकट हो जाता है। श्रुति में ज्ञान और अज्ञान सत्व और तमस् को निर्देश करने के लिय प्रयोग किए गए हैं। तमस् शब्द अज्ञान के लिए प्रयुक्त किया गया है और जैसाकि शंकर-मतवादी कहते हैं ऐसा अनिर्वचनीय जैसा अज्ञान कोई नहीं है, साधारण अनुभव के ज्ञान के उदय के प्रसंग में पुरुष के हेतु, गुणों की परिणाम-शक्ति नष्ट हो जाती है। सत्व अपने को वृत्ति द्वारा प्रकट कर सके, उसके पहले, उसे तमस्

को अभिभूत करना चाहिए जो सात्विक अवस्था को रोक सकता है। इस प्रकार चित्त-वृत्ति उदय हो उससे पहले सत्व और तमस् को अपने सत्ता विषयक विरोध का अन्त कर लेना चाहिए।

भिक्षु के अनुसार वेदान्त और सांख्य में सम्बन्ध

भिक्षु सोचते हैं कि सांख्य और योग वेदान्त के साथ घनिष्ठता से सम्बन्धित है और उपनिषद् भी ऐसा ही लक्षित करते हैं। इस कारण, जब कुछ विषय जैसेकि अनुभवात्मक ज्ञान आदि का वेदान्त में वर्णन नहीं किया गया है, तो उन्हें सांख्य और योग से पूरा करना चाहिए। यदि उनमें कोई विरोध जैसा दीखता है तो उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिए जिससे उनके विरोध का समाधान हो जाय। किन्तु भिक्षु का यह सुझाव केवल सांख्य और योग के प्रति ही नहीं है अपितु न्याय-वैशेषिक और पंचरात्र के प्रति भी है। उनके मतानुसार इन सब प्रणालियों का आधार वेद और उपनिषद् हैं और इसलिए इनमें एक आन्तरिक सम्बन्ध है जो बौद्धों में नहीं है। बौद्ध मतवादी ही केवल एक सच्चे विरोधी हैं। इस प्रकार वे सभी आस्तिक प्रणालियों का एक दूसरे के पूरक के रूप में समाधान करने का प्रयास करते हैं या इनके भेदों को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं कि यदि इन्हें ठीक दृष्टि से देखा जाय तो समाधान हो सकता है। भिक्षु अपनी सामग्री उपनिषद् और स्मृति में से इकट्ठी करते हैं, और उनके आधार पर बोधार्थ की पद्धति खड़ी करते हैं। इसलिए, इसे ईश्वरवादी वेदान्त का, कुल मिलाकर, प्रमाणित बोधार्थ माना जा सकता है जो कि पुराण का प्रधान आशय है और जो सामान्य हिन्दू-जीवन और धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दू विचार-धारा का सामान्य प्रवाह जो पुराण और स्मृति में वर्णित है और जिन मूल स्रोतों से हिन्दू-जीवन ने प्रेरणा प्राप्त की है, के साथ तुलना करते हुए विशुद्ध सांख्य, शंकर वेदान्त, न्याय और मध्व का द्वैत-वाद, रूढ़िगत दर्शन का तात्विक आकारवाद ही माना जा सकता है। भिक्षु का दर्शन एक प्रकार का भेदाभेदवाद है जो अनेक रूप में भर्तृ-प्रपंच, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क और अन्यों में मिलता है। इस भेदाभेदवाद का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि भेदाभेदवाद में जगत् की सत्ता, तथा उसकी चिद्रूपता, जीवों की पृथक्ता तथा उनकी ईश्वर के केन्द्र रूप से अभिव्यक्ति, नैतिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व एवं आध्यात्मिक नियतत्ववाद, व्यक्तिगत ईश्वर और उसकी असंग सत्ता, परम चैतन्य जिसमें भूत तथा प्रकृति आध्यात्मिकता में लय होते हैं, जड़ और जीव के उद्गम तथा आपस के व्यवहार में व्यापक प्रयोजनवाद, ईश्वरीय संकल्प की पवित्रता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता, ज्ञान और भक्ति की श्रेष्ठता, नैतिक और सामाजिक धर्म की अनिवार्यता तथा उनके त्याग की आवश्यकता आदि उभयपक्षीय सिद्धान्तों की मान्यता स्वीकार की गई है।

सामान्य क्लासिक सांख्य अनीश्वरवासी है और प्रश्न यह उठता है कि ईश्वरवाद और अवतारवाद से इसकी संगति किस प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म सूत्र 1-1-5 का बोधार्थ करते भिक्षु कहते हैं कि जबकि श्रुति कहती है कि 'उसने देखा, या इच्छा की' तो ब्रह्म अवश्य ही पुरुष होगा, क्योंकि इच्छा या प्रत्यक्षीकरण जड़ प्रकृति का धर्म

नहीं है। शंकर इस सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि प्रकृति जगत् का कारण नहीं है क्योंकि प्रकृति या प्रधान का प्रत्यय अवैदिक है। भिक्षु उपनिषद् के कई उद्धरण देकर यह बताते हैं कि यह प्रत्यय अवैदिक नहीं है। उपनिषद् में प्रकृति को जगत् का कारण और ईश्वर की शक्ति कहा गया है। प्रकृति को श्वेताश्वतर में माया भी कहा है, और ईश्वर को मायावी या जादूगर कहा गया है जो अपने में माया-शक्ति धारण करता है। जादूगर द्वारा अपनी शक्ति न बताने पर भी वह उसमें रहती है (मायाया व्यापार-निवृत्तिरेवावगम्यते न नाशः)[1] सामान्य प्रकृति निरन्तर परिवर्तन और परिणाम करती रहती है और विशिष्ट सत्व जो ईश्वर से सम्बन्धित है, नित्य माना गया है।

एक प्रश्न इस सम्बन्ध में खड़ा हो सकता है, यदि ईश्वर स्वयं अपरिणामी है और सत्व शरीर जिससे वह सदा मुक्त है वह भी सर्वदा अपविर्तनशील है तो ईश्वर को एक विशेष समय पर जगत् उत्पन्न करने की इच्छा कैसे हो सकती है? ईश्वर में विशेष सर्जन-क्षण में संकल्प का आरोपण करने का एक मात्र स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि यहाँ भाषा का अस्पष्ट प्रयोग किया गया है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि जब कारण उपाधियों की योग्य अन्योन्य स्थिति सर्जन-क्रम को व्यक्त करने के लिए किसी विशेष क्षण पर तत्पर होती है, उसे ईश्वर के संकल्प की अभिव्यक्ति कह दिया गया है। ईश्वर के संकल्प और ज्ञान का काल में आरम्भ होना सोचा नहीं जा सकता।[2] किन्तु यदि ईश्वर के सकल्प को प्रकृति की गति का कारण माना जाता है तो प्रकृति की गति पुरुष के हेतु अर्थ अन्तर्निहित प्रयोजन से होता है ऐसा सांख्य मत असमर्थनीय हो जाता है। महत् में सत्व, रजस और तमस् सांख्य द्वारा, अवश्य ही, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीन जन्येश्वर के रूप में माने गए हैं। किन्तु सांख्य नित्येश्वर के रूप में किसी को भी नहीं मानता। योग के अनुसार महत् का सत्वांश जो नित्य शक्तियों से संयुक्त है वह पुरुष विशेष ईश्वर है। उसका सत्व शरीर अवश्य ही कार्य रूप है क्योंकि वह महत् के सत्वांश से बना है और उसका ज्ञान कालातीत नहीं है।

सांख्य के समर्थन में, भिक्षु यह प्रतिपादित करते हैं कि सांख्य द्वारा ईश्वर का अस्वीकार करने का यह अर्थ है कि मुक्ति के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति आत्म-ज्ञान द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। यदि यह क्रम स्वीकारा जाता है तो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में वह सूचित करना अवश्य ही उपयुक्त होगा कि भिक्षु द्वारा ईश्वर के विषय में दिया गया यह स्पष्टीकरण ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्य सूत्र ईश्वर के बारे में मौन ही नहीं है किन्तु वह ईश्वर के अनस्तित्व को सिद्ध करने का स्पष्ट प्रयत्न भी करता है और ऐसा कोई भी कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सांख्य, ईश्वरवाद का विरोधी नहीं था। भिक्षु अवश्य ही, पुनरावृत्ति करते हैं कि सांख्य अनीश्वरवादी नहीं था और श्वेताश्वतर उपनिषद् (1-16) के कथन को लक्ष्य करते हैं कि मुक्ति, सांख्य योग के कथनानुसार, मूल कारण के ज्ञान से प्राप्त की जा सकती है,

---

1 विज्ञानामृत भाष्य, 1·1·5।

2 विज्ञानामृत भाष्य, 1·1·5।

और गीता के कथन को भी इंगित करते हैं जहाँ अनीश्वरवाद को आसुरी दृष्टिकोण कहा है।

योग के सम्बन्ध में उल्लेख, भिक्षु कहते हैं कि यह एक विचित्र बात है कि योग में ईश्वर के अस्तित्व को माना गया तो भी वह पक्षपाती है या निर्दय हो सकता है इसे खण्डन करने का प्रयास नहीं किया गया है और ईश्वर को विश्व में योग्य स्थान देने के बदले, स्वाभाविकवाद स्वीकार किया गया है कि प्रकृति अपने आप ही पुरुषार्थ के प्रति क्रियाशील होती है। पातंजल योग सूत्र में ईश्वर, एक ध्यान का विषय है जो अपने भक्तों तथा अन्य जीवों पर कृपा करता है। भिक्षु तो यह मानते हैं कि ईश्वर का विश्व में जब तक ब्रह्माण्ड के प्रयोजन की आपूर्ति नहीं करता तब तक पुरुष-प्रकृति का संयोग ठीक तरह से नहीं समझाया जा सकता।

ईश्वर अपने कर्म के लिए किसी ऐसे तत्त्व से मर्यादित नहीं है जो रजस् या तमस् जैसे चंचल तत्त्वों से सम्बन्धित हो किन्तु वह उस तत्त्व से सम्बन्धित रहता है जो सर्वदा एक है और नित्य ज्ञान, इच्छा और आनन्द से सम्बन्धित है।[1] इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ईश्वर का संकल्प नित्य और अटल नियम के रूप से कार्य करता है। यह नियम अवश्य ही, ईश्वर का घटक नहीं है, किन्तु प्रकृति का घटक है। इस नित्य अटल अंश द्वारा ही, जो ईश्वर की नित्य इच्छा और ज्ञान के रूप से कार्य करती है, प्रकृति का परिणामी जगत् अंश निर्धारित होता है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह परात्पर पुरुष है और उससे श्रेष्ठ तथा परम और कोई नहीं है। भिक्षु उपरोक्त कथन का जो स्पष्टीकरण देते हैं वह ईश्वर के बारे में उपरोक्त विचार के विरुद्ध है। एक स्पष्टीकरण यह है कि कृष्ण जब अपने को उद्देश्य करके ईश्वर कहते हैं तब यह कथन सापेक्ष है, यह जन-साधारण दृष्टि से किया गया है जिसका निरुपाधिक परमेश्वर के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो साधारण अनुभव से परे है। दूसरा स्पष्टीकरण है कि कृष्ण अपने को ईश्वर से तादात्म्य करके ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार, कार्य ब्रह्म और परब्रह्म में भेद है, और श्रीकृष्ण कार्य ब्रह्म होते हुए भी जन-साधारण की दृष्टि से अपना कारण ब्रह्म के रूप से वर्णन करते हैं। जब अन्य लोग, ब्रह्म से अपना तादात्म्य करते हैं तब यह तादात्म्य कार्यब्रह्म को लक्ष्य करके ही सत्य है, जो श्रीकृष्ण या नारायण है। उन्हें अपने को पर ब्रह्म कहने का अधिकार नहीं है। अनादि, पर ब्रह्म, देवों और सन्तों से भी अज्ञात और अज्ञेय है, नारायण ही उसे अपने सच्चे स्वरूप में जान सकते हैं। नारायण को इसलिए सब जीवों से महाज्ञानी मानना चाहिए।[2] जो लोग अपने पूर्वजन्म में सायुज्य मुक्ति द्वारा ईश्वर से एक हो गये हैं वे वासुदेव व्यूह में वास करते हैं। वासुदेव व्यूह में वासुदेव ही एक

---

1 रजस्तमः-सम्भिन्नतया मलिनं कार्य-तत्त्वं परमेश्वरस्व नोपाधिः किन्तु केवलं नित्य-ज्ञानेच्छानंदादिमत्सदैकरूपं कारण-सत्वम् एव तस्योपाधिः।

—ईश्वर गीता, हस्त०।

2 अनाद्यंतं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः
एकस्तद् वेद भगवान् धाता नारायणः प्रभुः। —विज्ञानामृतभाष्य, 1-1-5।

नित्य देव हैं, दूसरे उनके अंश हैं। दूसरे व्यूह, जैसेकि संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, वासुदेव विभूति की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं और उन्हें ईश्वर का आंशिक सर्जन मानना चाहिए या ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानना चाहिए। विष्णु या शिव जो कि निम्न कोटि के देव हैं उनकी शक्ति मर्यादित है क्योंकि वे विश्व के कार्य के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकते जब वे अपने को परमेश्वर कहते हैं तब वे पर निरुपाधि ब्रह्म से तादात्म्य होकर ही ऐसा कहते हैं। सत्व, रजस् और तमस् युक्त महत्तत्व, ब्रह्मा, विष्णु और शिव या संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के सूक्ष्म शरीर की रचना करते हैं। इन तीनों देवों का एक ही शरीर है, जो महत् तथा विश्व-परिणाम की मूल नींव है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि विश्व उनका शरीर है। ये तीनों देव, कार्य के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं जैसेकि वात, पित्त और कफ। इसीलिए वे एक दूसरे से भिन्न एवं एक भी कहे गये हैं।[1] ये तीनों देव महत् से एक रूप हैं जो पुनः पुरुष और प्रकृति की एकता है। इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को ईश्वर की (अंशावतम्) आंशिक अभिव्यक्तियाँ मानना चाहिए, व्यक्त अवतार नहीं मानना चाहिए।[2]

ईश्वर, प्रधान और पुरुष में, अपनी ज्ञान, इच्छा और क्रिया द्वारा प्रवेश करते हैं और इससे गुणों को क्षुब्ध करते हैं और महत् उत्पन्न करते हैं। भिक्षु यह बताने का कठिन परिश्रम करते हैं कि भगवान् या परमेश्वर, नारायण या विष्णु से भिन्न हैं जो पिता से पुत्रवत् उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। भिक्षु का यहाँ पंचरात्र मत से तथा मध्व, वल्लभ, और गौड़ीय वैष्णवों से मतभेद है जो नारायण, विष्णु और कृष्ण को भगवान् से एकरूप मानते हैं। मत्स्य, कूर्म इत्यादि अन्य ऐसे अवतारों को भिक्षु, विष्णु के लीलावतार मानते हैं और भगवान् के आवेश अवतार को भगवान् या परमेश्वर मानते हैं।

माया और प्रधान

शंकर, वेदान्त सूत्र, 1-1-4 की टीका में अव्यक्त शब्द का अर्थ करते हैं और मानते हैं कि इसका कोई पारिभाषिक अर्थ नहीं है। यह केवल व्यक्त का निषेध वाचक शब्द ही है। वे कहते हैं कि अव्यक्त शब्द 'व्यक्त' और 'न' का समास है। वे यह बताते हैं कि जब अव्यक्त शब्द का केवल व्युत्पत्तिलभ्य ही अर्थ है और वह अनभिव्यक्त तो वह पारिभाषिक अर्थ में प्रधान के लिए प्रयुक्त होता है यह नहीं मानना चाहिए। अव्यक्त शंकर के मत में सूक्ष्म कारण का अर्थ रखता है किन्तु वे यह नहीं सोचते कि जगत् का प्रधान के रूप में कोई सूक्ष्म कारण है जैसाकि सांख्य ने माना है।[3] वे मानते

---

1 विज्ञानामृत भाष्य, 1-1-5।

2 इस सम्बन्ध में भिक्षु भागवत का श्लोक उद्धृत करते हैं 'एते चांश-कलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् 1-1-5। वे यहाँ कृष्ण से विष्णु अर्थ करते हैं और स्वयं भगवान् को ईश्वर के अंश के अर्थ में ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार पुत्र पिता का अंश होता है : 'अत्र कृष्णः विष्णु स्वयं परमेश्वर स्तस्य पुत्रवत् साक्षादंशः' इत्यर्थः—वही। यह अर्थ गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णवों से सर्वथा विरुद्ध ठहराता है, जो कृष्ण को परमेश्वर मानते हैं।

3 यदि वयं स्वतंत्रां काचित प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम प्रसंजयेम तदा प्रधान-कारणवादम्।

—वेदान्त सूत्र, 1-4-3।

हैं कि जगत् की यह प्राकृतावस्था ईश्वर पर आश्रित है, और वह एक स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ईश्वर में ऐसी सूक्ष्म शक्ति न मानी जाय तो ईश्वर स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता। बिना शक्ति के ईश्वर सर्जन के प्रति क्रियाशील नहीं हो सकता। बीज-शक्ति जो अविद्या है, वही अव्यक्त है। यह माया की गाढ़ निद्रा है (माया मयी महा सुप्ति) जो ईश्वर पर आश्रित है। इसमें सभी बिना आत्म-जाग्रति के रहते हैं। इस बीज-शक्ति का बल, मुक्त जीवों में ज्ञान से नष्ट हो जाता है और इसी कारण उनका पुनर्जन्म नहीं होता।[1] वाचस्पति, भामती में इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि भिन्न जीवों की भिन्न अविद्याएँ हैं। जब कभी एक जीव ज्ञान प्राप्त करता है तब उससे सम्बन्धित अविद्या नष्ट होती है यद्यपि दूसरों से सम्बन्धित अविद्या वैसी ही बनी रहती है। इस प्रकार, एक अविद्या नष्ट भी हो जाय तो दूसरी अविद्या बनी रह सकती है और जगत् उत्पन्न कर सकती है। सांख्य के अनुसार तो जो केवल एक ही प्रधान को मानते हैं, उसके नाश से सबका नाश होगा। वाचस्पति आगे यह भी कहते हैं कि यदि यह माना जाता है कि प्रधान तो वैसा ही बना रहता है तो भी पुरुष और प्रधान के बीच अविवेक रूप अविद्या बन्धन का कारण है, तो फिर प्रकृति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अविद्या की सत्ता और असत्ता, बंधन और मुक्ति के प्रश्न को स्पष्ट कर सकती है।

जीवों में भेद अविद्या के कारण है और अविद्या का जीवों के कारण, यह आक्षेप अप्रमाण है क्योंकि यह क्रम अनादि है। अव्यक्त शब्द अविद्या के प्रसग में जातिवाचक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, जो सभी अविद्याओं को अपने में समावेश करता है। अविद्या जीव में है किन्तु तो भी ईश्वर पर उसके कारक और विषय रूप से अवलम्बित है। अविद्या ब्रह्म के आधार बिना क्रियाशील नहीं हो सकती, यद्यपि जीव का सच्चा स्वरूप ब्रह्म ही है, तो भी जहाँ तक वे अविद्या से आवृत्त हैं वहाँ तक वे अपना सच्चा स्वरूप नहीं जान सकते।

भिक्षु, इसके उत्तर में कहते हैं कि बिना शक्ति के केवल ईश्वर अकेला नाना रूप जगत् उत्पन्न करने में असमर्थ है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि ईश्वर अपने से भिन्न शक्ति द्वारा ऐसा करता है और यह शक्ति प्रकृति और पुरुष है। यदि ऐसा कहा जाता है कि यह शक्ति अविद्या है, तो भी क्योंकि वह, ब्रह्म से पृथक् द्विरूप तत्त्व है इसलिए वह अद्वैतवाद का खण्डन कर सकता है और साथ ही साथ प्रकृति और पुरुष की मान्यता की स्वीकृति का भी खण्डन होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रलया-वस्था में अविद्या का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि उस प्रसग में केवल ब्रह्म के ही होने से, जगत् को केवल ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा और जीव, जो ब्रह्म से अभिन्न और एक होकर विद्यमान हैं, मुक्त होते हुए भी, संसार यात्रा करेंगे। यदि ऐसा माना जाता है कि बंधन और मुक्ति कल्पना मात्र हैं, तो कोई कारण नहीं दीखता कि लोग क्यों ऐसी काल्पनिक मुक्ति के लिए इतना कष्ट उठाएँ। यदि ऐसा कहा जाता है कि

---

1 मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः, कुतः विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।

—वेदान्त सूत्र, 1-4-3।

प्रलय के समय अविद्या की व्यावहारिक सत्ता रहती है और यदि यह विवाद किया जाता है कि ऐसे प्रसंग में बन्धन और मुक्ति की भी व्यावहारिक सत्ता मानी जा सकती है तो अद्वैतवाद निरपवाद हो जायगा। किन्तु, यदि ऐसी अविद्या मानी जाय जिसका केवल व्यावहारिक सत्ता ही हो, तो प्रधान के लिए भी ऐसा ही कहा जा सकता है। यदि हम व्यावहारिक शब्द का अर्थ और तात्पर्य समझना चाहें, तो हम यह पाते हैं कि इस शब्द का अर्थ हेतु पूर्ति के साधन और अर्थ की शक्ति तक ही सीमित है। यदि ऐसा है, तो प्रकृति भी इसी प्रकार की सत्ता रखती मानी जा सकती है।[1] यह निस्संदेह सत्य है कि प्रधान को नित्य माना है, किन्तु यह नित्यता निरन्तर परिणाम की नित्यता है। वेदान्ती अविद्या को अपारमार्थिक मानते हैं, अर्थात् अविद्या परम सत्य नहीं है। परम सत्य के निषेध से यह अर्थ हो सकता है कि वह साक्षात् स्वप्रकाश्य नहीं है या यह कि वह सत्ता के रूप में प्रकट नहीं हो सकता या यह कि वह सभी काल में असत् है। किन्तु ये मर्यादाएँ प्रधान के बारे में भी सत्य हैं। प्रधान परिणामी रूप से नित्य है, किन्तु अपने सभी विकारों में वह अनित्य है, प्रकृति के सभी विकार नाशवान् हैं, जड़ होने के कारण वे स्वप्रकाश्य नहीं हो सकते। पुनः, प्रधान किसी भी रूप में, किसी भी समय सत्ता रखने वाला माना जा सकता है तो भी वह उस समय, अपने भूत और भविष्य रूप में असत् है। इस प्रकार, व्यावहारिकत्व का अर्थ तुच्छत्व नहीं हो सकता (शश-विषाण की तरह) और क्योंकि वह परम सत्ता का अर्थ भी नहीं रख सकता, वह केवल परिणामभाव (परिणामित्व) का ही अर्थ रख सकता है, और यह सत्ता प्रधान के विषय में ठीक बैठती है। इस प्रकार शंकर मतवादी, प्रधान के सिद्धान्त का खण्डन कर कुछ लाभ नहीं उठाते, क्योंकि अविद्या को उन्होंने उसी गुण-धर्मयुक्त माना है जो प्रकृति में है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शंकर के द्वारा किया गया प्रकृति का खण्डन, ईश्वर कृष्ण के अनुसार प्रकृति के मत में भी प्रयुक्त हो सकता है, किन्तु, यह पुराणान्तर्गत प्रकृति के विचार को, जिसे भिक्षु ने समझाया है उस पर प्रयुक्त नहीं होता, जिसके अनुसार प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति माना गया है। यदि अविद्या को भी ऐसे ही माना जाता है तो वह प्रकृति के समान हो जाती है। जबकि उसे अव्यक्त रूप से भगवान् में विद्यमान मानी है तो प्रलय में भी अविद्या के बहुत से गुण धर्म जो उसे परम सत्ता से विभक्त करते हैं, वे प्रकृति के भी हैं।

भिक्षु द्वारा प्रतिपादित किए गए मतानुसार प्रधान की पृथक् और स्वतंत्र सत्ता नहीं है किन्तु वह भगवान् की शक्ति के रूप में है।[2]

भिक्षु ब्रह्म सूत्र 1–4–23 को स्पष्ट करते हुए यह बताते हैं कि ईश्वर की प्रकृति के सिवा और कोई उपाधि नहीं है। ईश्वर के सभी गुण, जैसेकि आनन्द इत्यादि, प्रकृति से उत्पन्न हैं जैसाकि पातंजल सूत्र में निर्दिष्ट है। प्रकृति को ब्रह्म-धर्म मानना

---

1 प्रधानेऽपीदं तुल्यं प्रधाने अर्थक्रियाकारित्व-रूप-व्यावहारिक-सत्त्वस्यैवास्माकमिष्टत्वात्।

—विज्ञानामृतभाष्य, 1-4-3।

2 प्रकृतस्य तदुपपत्तये प्रधानं कारणत्व शरीरत्वाच्छक्ति विधयैवोच्यते नस्वातंत्र्येण त्यवधार्यत् इत्यर्थः।

—विज्ञानामृत भाष्य, 1–4–4।

चाहिए, जो साक्षात् जगत् का उपादान कारण नहीं है, किन्तु वह नित्य या अधिष्ठान कारण है और प्रकृति, मानो अपना ही भाव है या अंश है (स्वीयो भावः पदार्थ उपाधिरित्यर्थः)। उपाधि और प्रकृति में नियामक और नियाम्य का सम्बन्ध है या अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध है। ईश्वर विचार और संकल्प कर सकता है यह तथ्य इसे प्रमाणित करता है कि ईश्वर को प्रकृति जैसा साधन होना चाहिए जिससे ईश्वर के लिए विचार करना शक्य हो। क्योंकि भगवान् अपने में केवल शुद्ध चैतन्य है। प्रकृति, अवश्य ही, ईश्वर की उपाधि का कार्य अपने शुचिपूर्ण नित्य सत्वांश, से करती है। काल और अदृष्ट भी प्रकृति के विभाग हैं और इसलिए उन्हें भगवान् की पृथक् शक्तियाँ नहीं माना है।

सांख्य और योग की भिक्षु द्वारा आलोचना

ब्रह्मसूत्र 2–1–से–3 की टीका करते भिक्षु कहते हैं कि मनु प्रकृति को मूल कारण कहते हैं और उसी प्रकार सांख्य भी और ये दोनों ही आप्त हैं।[1] किन्तु जबकि सांख्य के अनीश्वरवाद का पतंजलि और पराशर के मतों से विरोध है, फिर भी ब्रह्म सूत्र मत की व्याख्या सांख्य के अनीश्वरवादी सुझाव पर किया जाना सम्भव नहीं है। यह भी मानना पड़ता है कि सांख्य के अनीश्वरवाद का न वेदों और पुराणों में समर्थन मिलता है, और इसलिए, इसे अप्रमाण मानना चाहिए।[2]

यह अवश्य ही सोचना गलत है कि कपिल सचमुच अनीश्वरवाद का प्रतिपादन करना चाहते थे। उन्होंने दूसरों के अनीश्वरवादी तर्कों का उद्धरण दिया और यह बताने की कोशिश की है कि यदि ईश्वर को न भी माना जाय तो भी मुक्ति प्रकृति-पुरुष के विवेक से प्राप्त हो सकती है। सांख्य भी इस पर बल देता है कि मुक्ति केवल ज्ञान से प्राप्त हो सकती है। किन्तु इसका उन उपनिषद्-कथनों से विरोध नहीं समझना चाहिए जिनमें यह कहा है कि मुक्ति केवल भगवान् के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से हो सकती है। क्योंकि ये इस बात को स्पष्ट करते हैं कि मुक्ति के दो मार्ग हैं, निम्न मार्ग ज्ञान है, जो प्रकृति-पुरुष का विवेक है और उच्च, भगवान् के सच्चे स्वरूप का ज्ञान है। योग भी मुक्ति के दो मार्ग बताता है, निम्न वह है जो सामान्य योग-प्रक्रिया वाला है, और उच्च, ईश्वर में सभी कर्मों का त्याग करना और उसकी सच्ची भक्ति करना है। यह मानना गलत है कि सांख्य पारम्परिक रूप से अनीश्वरवादी है, क्योंकि महाभारत (शान्ति पर्व 318–73) और मत्स्य पुराण (4–28) में हम 26वें पदार्थ के विषय में सुनते हैं जो ईश्वर है। इसलिए, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सांख्य में भेद, निरूपण का भेद है, एक सच्चे सांख्य का निरूपण है और दूसरा उस सांख्य का है जो उन्हें भी मुक्ति का मार्ग बताते हैं जो ईश्वर को मानना नहीं चाहते। इस सम्बन्ध में भिक्षु सांख्य के मत की सम्भावना को मानते हैं, एक जो ईश्वर को मानता था और

---

1 सांख्य योगं पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
परस्पराणि अंगान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्।

—विज्ञानामृत भाष्य, 2–1–1।

2 इतश्चेश्वर प्रतिषेधांशे कपिल स्मृतेः मूलानामनुपलब्धेः अप्रत्यक्षत्वात् दुर्बलत्वमित्याह।

—वही।

दूसरा जो नहीं मानता था, और केवल दूसरा ही मत वे अप्रमाण समझते हैं ।[1] वे कूर्म पुराण का भी उल्लेख करते हैं जिसमें सांख्य के अनुयायियों और योगियों को अनीश्वरवादी कहा गया है । शंकर-सम्प्रदाय का मुख्य दोष यह है कि सांख्य की अप्रमाणता सिद्ध करने के बजाय, शंकर सभी अनीश्वरवादी विचारों को अवैदिक कहकर अस्वीकार करते हैं और इस प्रकार ब्रह्म सूत्र का मिथ्या अर्थ करते हैं । भिक्षु उस प्रश्न का उल्लेख करते हैं जहाँ सांख्य के 23 पदार्थों का वर्णन है केवल प्रकृति का नाम नहीं है । महत् तत्त्व का स्पष्टतः वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु बुद्धि और चित्त को कहा गया है । वहाँ बुद्धि तत्त्व का चतुर्विध विभाजन, मनस्, बुद्धि, अहंकार और चित्त के रूप में माना है । गर्भ उपनिषद् में आठ प्रकृति और 16 विकार वर्णित हैं । मैत्रेयोपनिषद् में हम तीन गुणों के विषय में सुनते हैं, और उनके क्षोभ के बारे में भी, जिससे सृष्टि-रचना होती है । हम पुरुष के बारे में भी चैतन्य रूप हैं ऐसा सुनते हैं । मैत्री उपनिषद् में (5–2) ऐसा कहा है कि तमस् परम सत्ता द्वारा क्षुब्ध किया जाने पर रजस् उत्पन्न करता है और वह सत्व को उत्पन्न करता है ।[2] चूलिका उपनिषद् में, अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त की समानता में सांख्य के पदार्थों का वर्णन है । यह भी कहता है कि सांख्य की अनेक प्रणालियाँ हैं, कुछ 26 तत्त्वों को मानते हैं, दूसरे 27 को पुनः और दूसरे केवल 24 को ही मानते हैं । एक तत्त्ववादी और द्वैतवादी सांख्य का भी वर्णन है जो तीन या पाँच प्रकार से व्यक्त करते हैं । इस प्रकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सांख्य का उपनिषद् में समर्थन है ।

योग के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि योग का वही अंश उपनिषद् के विरोध में कहा जा सकता है जिसमें प्रकृति की सत्ता को ईश्वर से पृथक् और स्वतंत्र माना है । पातंजल सूत्र में यह कहा है कि ईश्वर प्रकृति की गति के अवरोधों को हटा कर ही सहायता करता है, जिस प्रकार कि एक कृषक पानी को एक खेत में से दूसरे की ओर ले जाने में सहायता करता है । किन्तु उपनिषद् निश्चित रूप से कहते हैं कि ईश्वर प्रकृति की गति का जनक और प्रकृति का क्षोभक है । वहाँ भगवान् के सत्व शरीर को प्रकृति का कार्य माना है क्योंकि वह प्रकृति से पूर्व सृष्टिचक्र में उसकी इच्छा से जन्य है । ईश्वर का सत्व देह प्रकृति से, ईश्वर के संकल्प द्वारा जन्य है जो प्रकृति के विकास-क्रम में अवरोधों को हटाने के लिए भगवान् के संकल्प का वाहन है । स्वयं प्रकृति को पतंजलि ने ईश्वर की उपाधि नहीं माना है ।[3] भिक्षु योग के इस सिद्धान्त को भी उसी प्रकार समझाने का प्रयास करते हैं जैसाकि सांख्य के विषय में अभ्युपगमवाद को स्वीकार करके किया है । वे मानते हैं कि योग की यह धारणा है यदि प्रकृति स्वतन्त्र है और स्वतः ही भगवान् के अनन्त ज्ञान और संकल्प द्वारा निश्चित न होकर

---

1 अथवा कपिलैक देशस्य प्रामाण्यमस्तु । —विज्ञानामृत भाष्य, 2–1–2 ।

2 तमो वा इदमेकमग्रे आसीत् वै रजसस्तत् परे स्यातू तत् परेणे रितं विषमत्वं प्रयात्येतद् रूपं तद् रजः स्वल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद् वै सत्वस्य रूपं तत्सत्वमेव ।
—मैत्री उपनिषद् 5–2 ।

3 योगा हीश्वरस्य जगन्निमित्तत्वं प्रकृतित्वे नाभ्युपगच्छन्ति ईश्वरोपाधेः सत्व-विशेषस्य पूर्व सर्गीय तत्संकल्पवशात् सर्गादौ स्वतंत्र प्रकृतित उत्पत्त्यंगीकारात् ।
—विज्ञानामत भाष्य, 2–1–2 ।

भी विकासोन्मुख होती है, और यदि यह भी स्वीकारा जाय कि सदैव ईश्वर को नित्य ज्ञान और संकल्प नहीं है, और प्रकृति की प्रवृत्ति कर्मानुसार आन्तरिक प्रयोजन से है और सर्ग के प्रारम्भ में प्रकृति भगवान् की सत्वोपाधि बन जाती है, तो भी ईश्वर को आत्म-समर्पण करने से कैवल्य प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार, योग की दृष्टि से, ईश्वर की उपाधि एक कार्य है, जगत् का निमित्त या उपादान कारण नहीं है, जबकि भिक्षु द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के अनुसार, ईश्वर की उपाधि जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही है, उसका कार्य नहीं है। योग मत के अनुसार ईश्वर नित्य है, किन्तु उसके ज्ञान और संकल्प नित्य नहीं हैं। ज्ञान और संकल्प, प्रकृति के सत्वांश से संयुक्त हैं जो प्रलय के समय उसमें निविष्ट रहते हैं, जो नए सर्ग के प्रारम्भ में, भगवान् के पूर्व सर्ग में किए हुए, संकल्प की शक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं। योग मतानुसार, ईश्वर जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण नहीं है जैसाकि वेदान्त मानता है। भिक्षु द्वारा मान्य वेदान्त मतानुसार, प्रकृति द्विधा कार्य करती है, एक भाग से वह ईश्वर के नित्य ज्ञान और संकल्प का नित्य वाहक बनी रहती है और दूसरे भाग द्वारा, वह विकास-मार्ग पर आरुढ़ हो सत्व, रजस् और तमस् में क्षोभ उत्पन्न करती है। वह सत्व, रजस् तमस् की, प्रकृति के विकास रूप क्रमिक उत्पत्ति के पौराणिक मत को स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार गुणों की अन्तिम अवस्था में जगत् का विकास होता है। इस प्रकार, प्रकृति, जो ईश्वर के ज्ञान और संकल्प के वाहन के रूप में उससे सम्बन्धित बनी रहती है, अपरिणामी और नित्य है।[1]

ईश्वर गीता और उसका दर्शन विज्ञान भिक्षु के प्रतिपादनानुसार

कूर्म पुराण में उत्तर विभाग के 11 अध्याय ईश्वर गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस खण्ड के पहले अध्याय में सूत, व्यासजी से मुक्ति-मार्ग के सच्चे ज्ञान के बारे में पूछते हैं जिसे नारायण ने कूर्म अवतार धारण करके दिया था। व्यास का कहना है कि बदरिकाश्रम में सनत्कुमार, सनन्दन, सनक, अंगिरा भृगु, कणाद, कपिल, गर्ग, बलदेव, शुक्र और वशिष्ठ इत्यादि ऋषि-मुनियों के समक्ष नारायण प्रत्यक्ष हुए और फिर शिव भी आए। शिव ने ऋषियों की प्रार्थना सुनकर, अन्तिम सत्य ईश्वर और जगत् का निरूपण किया। मूल संवाद दूसरे अध्याय से प्रारम्भ होता है। विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर गीता पर टीका लिखी है उन्होंने सोचा कि ईश्वर गीता में भगवत् गीता का तात्पर्य समाया हुआ है इसलिए उन्होंने भागवत् गीता पर टीका लिखना अनावश्यक समझा। सांख्य और योग पर ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने ब्रह्म सूत्र, उपनिषद्, ईश्वर गीता और कूर्म पुराण पर टीका लिखी। ब्रह्म सूत्र पर अपनी टीका में वे 13वीं शताब्दी के चित्सुखाचार्य के ग्रन्थ का उद्धरण देते हैं। वे स्वयं सम्भवत: 14वीं शताब्दी में रहे। भिक्षु के अन्य ग्रन्थ, "सांख्य प्रवचन भाष्य,' 'योग वार्तिक,' 'योग सूत्र,' 'सांख्य सार, और 'उपदेश रत्नमाला' हैं। ब्रह्म सूत्र और ईश्वर गीता की व्याख्या में वे पुराण में प्रतिपादित वेदान्त मत का अनुसरण करते हैं, जिसमें सांख्य, योग और वेदान्त एक सूत्र में बंधे हैं। ईश्वर गीता का दर्शन जिसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है वह भिक्षु की टीका पर आधारित है जो प्रस्तुत लेखक को महामहा० पं० गोपीनाथ कविराज, संस्कृत कालेज वाराणासी से हस्तलिखित प्रति के रूप में प्राप्त हुई।

---

1 विज्ञानामृत भाष्य, पृ० 271–272।

मुनियों ने जो मुख्य प्रश्न पूछे, उन पर शिव ने निम्न संवाद दिए (1) सबका कारण क्या है? (2) पुनर्जन्म किसका होता है? (3) आत्मा क्या है? (4) मुक्ति क्या है? (5) पुनर्जन्म का क्या कारण है? (6) पुनर्जन्म का स्वरूप क्या है? (7) किसने उसे स्पष्ट रूप से समझा है? (8) परम सत्य ब्रह्म क्या है? इन सबके उत्तर क्रमवार नहीं दिए गए हैं, किन्तु गुरु शिव को जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न लगे, उनके उत्तर उन्होंने अपने ही क्रम से दिए हैं। इसलिए सबसे पहले आठवें प्रश्न का उत्तर दिया गया। यह उत्तर परमात्मा के स्वरूप के वर्णन से प्रारम्भ होता है।

विज्ञान भिक्षु जीव का परमात्मा में सम्पूर्ण लय के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं ऐसा मालूम होता है और उनकी दृष्टि में इस जगत् में रहते हुए भी जीव मात्र द्रष्टा रहता है।

वे कूर्म पुराण 2–50–7 पृ० 453[1] के आठवें प्रश्न के उत्तर में बताते हैं कि आत्मा शब्द से ईश्वर का अर्थ निकलता है, यद्यपि साधारण व्यवहार में यह जीव के लिए प्रयुक्त है और जीव और ब्रह्म की एकता का सूचन करता है। यहाँ उल्लेख प्राकृतात्मा से है जीवात्मा से नहीं।[2] ईश्वर को सर्वान्तर कहा है, क्योंकि उसने सभी के हृदय में प्रवेश (अन्तः) किया है और वहाँ वह द्रष्टा होकर रहता है (सर्वेषां स्वभिन्नानामन्तः साक्षित्वेनानुगतः)।[3] साक्षी वह है जो अपने को बिना किसी प्रयत्न के व्यापार द्वारा (व्यापारं विनैव) प्रकाशित करता है (स्व प्रतिबिम्बित वस्तु भासकः), वह अपूर्ण चित् से सम्बन्धित होने के कारण अन्तर्यामी कहलाता है और इसी सम्बन्ध के कारण, जीव, परमात्मा की महानता के भागी बनते हैं।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि यहाँ पर 'अस्माद् विजायते विश्वम् अत्रैव प्रविलीयते' यह पंक्ति 'शक्तिमदभेदत्व सिद्धान्त के कारण के रूप में दी गई है जो परमात्मा को अन्तर्यामी कहकर बड़ी चतुराई से रखी गई है और फिर सिद्धान्त के गूढ़ महत्त्व को या शक्ति-शक्तिमदभेदत्व के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ विशेषण जोड़कर उपरोक्त सिद्धान्त को समझाया है। ऐसा कहा गया है कि परमात्मा से ही विलोम रूप से कार्य उत्पन्न हुए हैं और वे उसी में रहते हैं और उसी में विलीन होते हैं। वह पुरुष और प्रकृति से अभिन्न (या अपृथक्) है, क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर समस्त विश्व का आधार है, अर्थात् वह पुरुष और प्रकृति से लगाकर और उन्हें समाविष्ट करके सभी कार्यों का आधार है। यदि उसने देहवत् सभी कारणों का अधिष्ठान न किया होता तो द्रव्य, गुण और कर्म इत्यादि कारण स्वतः कार्य नहीं कर सकते थे (यदि हि परमात्मा देहवत् सर्वं कारण नाधिष्ठेत द्रव्य-गुण-कर्मादि-साधारणाखिला-क्रियार्थ-मूल-कारणं न स्यादिति)।[4] यदि ऐसा कहा जाता है कि वाक्य दृश्य घटनाओं के सामान्य कारण के विषय में उल्लेख करता है तो पूर्व वाक्य में जो ब्रह्म और जगत्

---

[1] बिबलियोथेका इण्डिका संस्करण 1890।

[2] देखो ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

[3] एवं अन्तर्यामी-सत्व-सम्बन्धतात् चिन्मात्रोऽपि परमान्तर्यामी भवति सर्वान्तरत्वेन सर्वं शक्तिष्वविभाग लक्षणाभेदात्। —वही

[4] ईश्वर गीता भाष्य, हस्त०।

की एकता प्रतिपादित की गई थी, वह अस्वीकृत रहेगी।[1]

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, किन्तु यह जगत् ब्रह्म का परिणामी रूप है। इसलिए ब्रह्म परिणामी रूप नहीं है क्योंकि यह उस श्रुति वाक्य का विरोध करेगा जिसमें ब्रह्म को कूटस्थ कहा है। तब विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि परमात्मा सभी का परम अधिष्ठान है इसलिए उसी से सभी प्रकार के कारणों के व्यापार को सहायता मिलती है और इसी को परमात्मा की अधिष्ठान-कारणता कहा जाता है।

तब वे जीवात्मा-परमात्मा के अंश और अंशी के अभेद सिद्धान्त को जीवात्मा-परमात्मनो रशांश्यभेद' स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः' इस पंक्ति से प्रतिपादित करते हैं और आगे कहते हैं कि याज्ञवल्क्य स्मृति और वेदान्त-सूत्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। श्रीमद्भगवत् गीता में यही कहा है। फिर वे इसी विचार का विशदीकरण करते हैं। यहाँ शंकर का उल्लेख उनकी आलोचना के लिए मिलता है।[2] मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धवाद कहा है और उसका समर्थन करने के लिए पद्मपुराण का उद्धरण दिया गया है।

अधिष्ठान कारण वह है जिसमें सार वस्तु वैसी की वैसी ही बनी रहकर अग्नि में से स्फुल्लिग की तरह नवीन भेद उत्पन्न हों। इसे अंशांशिभाव भी कहा है, क्योंकि यद्यपि निरवयव ब्रह्म में अंश नहीं माने जा सकते, फिर भी, सामान्य अधिष्ठान में से भिन्न लक्षणों के उत्पन्न होने के कारण ही, भिन्न लक्षणों को अंश कहा गया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञान भिक्षु इस मत का विरोध करते हैं कि ब्रह्म में परिणाम होता है। यद्यपि ब्रह्म में परिणाम नहीं होते तो भी उसमें नवीन भेद उत्पन्न होते हैं। 'स मायी मायया बद्धः' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वयं ब्रह्म का अविभक्त अंश है और उससे भिन्न नहीं है। माया अंश रूप है जो अंशिन् से भिन्न नहीं है।

यद्यपि श्रुति में जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद का बहुधा उल्लेख किया गया है, तो भी जीव ब्रह्म से भिन्न है इसी ज्ञान से मुक्ति मिल सकती है।[3]

आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और किसी भी प्रकार से उसके अनुभवों से बद्ध नहीं है। शंकर का यह कहना कि आत्मा का स्वरूप आनन्द या सुखमय है, यह भी गलत है क्योंकि कोई अपने से सदा आसक्त नहीं रह सकता, यह तथ्य कि हम प्रत्येक कर्म में अपनी रुचि खोजते हैं इससे यह अर्थ नहीं होता कि आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तो वह एक साथ आनन्द स्वरूप नहीं हो सकता, हमें जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब सदा आनन्द का अनुभव नहीं होता।[4]

अभिमान भी आत्मा का धर्म नहीं है, वह सुख-दुःख की तरह प्रकृति का गुण है जो गलती से आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं।[5] आत्मा को, अवश्य ही सुख-दुःखों के अनुभव का भोक्ता माना है तथा वृत्ति द्वारा उनका प्रतिबिम्ब होना और वृत्ति द्वारा, सुख-दुःख के ऐसे अनुव्यवसाय इत्यादि को अनुभव का साक्षात्कार कहा है। अनुभव का

---

1 वही।
2 वही।
3 वही।
4 वही।
5 वही।

ऐसा भोग, इसलिए, अनौपाधिक है। सांख्य और भगवत् गीता में इसका समर्थन भी है। अनुभव (भोग) इस प्रकार से प्रकृति का धर्म नहीं है (साक्षात्कार-रूप-धर्मस्य दृश्य-धर्मत्व-सम्भवात्)। जिन पाठों में ऐसा कहा गया है कि अनुभव पुरुष के धर्म नहीं है, यह अनुभव सम्बन्धित वृत्तियों के परिणामों के बारे में कहा है। इसलिए, शंकर का आत्मा को अभोक्ता तथा अकर्ता कहना मिथ्या है।

विज्ञान भिक्षु, अज्ञान से अन्यथा ज्ञान अर्थ करते हैं। प्रधान इसलिए कहा है कि वह पुरुष के लिए सभी कर्म करता है, और वह पुरुष प्रधान से संयोग के दोष से, मिथ्या ज्ञान से सम्बन्धित होता है।

आत्मा अपने में कूटस्थ रहता है, और भेद, अनुभव उत्पन्न करने वाले बुद्धि तथा अन्य कर्मों के संयोग के कारण हैं। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से अभिन्न रहते हैं, प्रकृति, पुरुष और काल अन्त में ब्रह्म द्वारा धारण किए जाते हैं फिर भी उससे भिन्न हैं।

दो प्रकार के श्रुति पाठ हैं—एक अद्वैत का और दूसरे द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। सच्चे बोधार्थ को द्वैतवादी श्रुति पाठों पर बल देना चाहिए, क्योंकि यदि सभी कुछ मिथ्या है तो ऐसा मिथ्यात्व भी असिद्ध और स्वबाधित रहेगा। यदि ऐसा तर्क किया जाता है कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति तक श्रुति की प्रमाणता को हम स्वीकार लें और जब यह प्राप्त हो जाता है तत्पश्चात् यह मालूम हो कि वे अप्रमाण हैं तो इसका कोई महत्त्व नहीं है। ऐसे आक्षेप का यह उत्तर है कि जब कभी किसी को यह पता चलता है कि जिन साधनों द्वारा निष्कर्ष निकाला गया है वे अप्रमाण हैं तो वह स्वभावतः ही उन निष्कर्षों पर शंका करने लगता है। इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान भी, उसको शंकास्पद लगेगा जिसे यह पता चल गया कि ज्ञान के साधन दोषयुक्त हैं।

जीव, परमात्मा में अभिन्नावस्था में रहते हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि परमात्मा उनका सार या अधिष्ठान कारण है और श्रुति-पाठ जो अद्वैत मत प्रतिपादन करते हैं वे परमात्मा के स्वरूप को अधिष्ठान कारण के रूप में सूचित करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं होता कि जीव ब्रह्म से एक ही है।

सुख-दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे अन्तःकरण के धर्म हैं, वे आत्मा के अन्तःकरण से सम्बन्धित होने के कारण ही, आत्मा पर आरोपित किए जाते हैं। मुक्तावस्था में आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप, बिना सुख दुःख के सम्बन्ध से रहता है। अन्तिम ध्येय दुःख के भोग की निवृत्ति है। (दुःख-भोग-निवृत्ति) दुःख की निवृत्ति नहीं है (न दुःख-निवृत्तिः) क्योंकि जब कोई दुःख के भोग से निवृत्त हो जाता है, दुःख वर्तमान भी रहे और उसे दूर करने का उद्देश्य दूसरे का होगा। शंकर का यह कहना कि मुक्ति आनन्दावस्था है, गलत है। क्योंकि उस अवस्था में कोई मनो-व्यापार नहीं होता जिसमें सुख का अनुभव हो सके। यदि आत्मा को आनन्दस्वरूप माना जाय तब भी आत्मा कर्ता एवं आनन्द के भोग का विषय होगा, जो असम्भव है। पारिभाषिक शब्दावली में ही मुक्तावस्था में आनन्द का आरोपण किया गया है, आनन्द का अर्थ सुख-दुःख का अभाव है।

भिक्षु सत्ता के स्तर मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जब एक वस्तु दूसरी से अधिक स्थिर है तो वह दूसरी से अधिक सत्य है। जबकि परमात्मा सर्वदा एक-सा रहता है और उसमें कोई परिणाम, विकार या प्रलय नहीं होते इसलिए, वह प्रकृति, पुरुष और उनके विकारों से अधिक सत्य है। यह विचार पुराण के मतों में भी प्रदर्शित

किया गया है कि जगत् को अन्ततोगत्वा ज्ञान रूप से सत्य माना है या अन्तिम सत्य है और जो परमात्मा का स्वरूप है। इसी सन्दर्भ में जगत् पुरुष प्रकृति रूप से नहीं है जो परिवर्तनशील हैं।

प्रकृति या माया का बहुधा ऐसा वर्णन किया गया है कि उसे सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता है। शंकर मतवादी इससे यह समझते हैं कि माया मिथ्या है। किन्तु विज्ञान भिक्षु के अनुसार, दूसरा अर्थ यह है कि मूल कारण को अंशतः सत् और असत् इस दृष्टि से माना जा सकता है कि वह अव्यक्त अवस्था में असत् है और परिणाम की गति में सत् है (किंचित् सद्रूपा च किंचिदसद्रूपा भवति)।

साधना के विषय में कहते हैं कि आगम, अनुमान और ध्यान द्वारा हमें आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्म-ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कराता है, जिससे सभी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, यह अज्ञान की निवृत्ति से ही नहीं, किन्तु कर्म के क्षय से भी प्राप्त होती है। वे यह मानते हैं कि शंकर का श्रुति के श्रवण पर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए बल देना भी उचित नहीं।

मुक्तावस्था में आत्मा लिंग शरीर से छूट जाने पर ब्रह्म से एक हो जाता है, जैसे नदी समुद्र से एक हो जाती है। यह तादात्म्य नहीं है किन्तु अविभागावस्था है (लिंग-शरीरात्मक-षोडश काल-शून्येन एकताम विभाग-लक्षणभेदमत्यन्तं व्रजेत्)। यहां, मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद, नदी सागर के दृष्टान्त से बताया गया है।

भिक्षु का कहना है कि सांख्य और योग में मुक्ति के विषय में भेद है। सांख्य के अनुयायी केवल प्रारब्ध कर्म का अन्त करके मुक्ति पा सकते हैं। अविद्या के नष्ट हो जाने पर मुक्ति पाने के लिए प्रारब्ध कर्मों के क्षय तक की राह देखनी पड़ती है। योग के अनुयायी जो असम्प्रज्ञान समाधि में होने के कारण उन्हें प्रारब्ध के फल नहीं भोगने पड़ते, क्योंकि असम्प्रज्ञान समाधि में होने के कारण उन्हें प्रारब्ध कर्म छू नहीं सकते। इसलिए तुरन्त ही अपनी स्वेच्छा से मुक्तावस्था में प्रवेश कर सकते हैं। भिक्षु के अनुसार, ईश्वर गुणातीत है तो भी शुद्ध सत्वमय शरीर के द्वारा यह रचना-कार्य और जगत्-व्यापार का नियंत्रण करते रहते हैं। उसका कर्तृत्व शुद्ध सत्वमय शरीर रूपी निदर्शन क्रिया द्वारा प्रकट होता है, तो भी वह राग-द्वेष इत्यादि से रहित होता है।

कूर्म पुराण के तीसरे अध्याय में कहा है कि प्रधान, पुरुष और काल अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं और उनसे समस्त विश्व प्रकट हुआ। भिक्षु कहते हैं कि जगत् ब्रह्म से सीधे प्रकट नहीं होता किन्तु प्रधान, पुरुष और काल से होता है। ब्रह्म से सीधे अभिव्यक्ति नहीं है, क्योंकि इससे यह अर्थ होगा कि ब्रह्म अपरिणामी है। साक्षात् प्रकटीकरण का यह अर्थ होगा कि पाप और नरक भी ब्रह्म से प्रकट हुए। ब्रह्म से प्रकृति, पुरुष और काल का प्रकट होना, ब्रह्म को इन तीनों का अधिष्ठान कारण मानकर समझाया है (अभिव्यक्ति कारण या आधार कारण)। किन्तु प्रकृति पुरुष और काल का यह परिणाम दूध में से दही परिवर्तन की तरह नहीं है। प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करते इसलिए असत् समान माने जा सकते हैं। परमात्मा के संकल्प से, पुरुष और प्रकृति को आकर्षित करके आपस में संयुक्त किया जाता है प्रकृति के परिणाम के लिए प्रेरणा-बिन्दु को आरम्भ किया जाता है। इस प्रेरणा-बिन्दु को काल कहा है। इस रूप में ये तीनों कार्य उत्पन्न करते माने जा

सकते हैं और इसलिए सत् माने जा सकते हैं। इसी दृष्टि से प्रकृति, पुरुष और काल परमात्मा द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।[1]

अव्यक्त को परमात्मा इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्य के ज्ञान से परे है। यह इसलिए ऐसा कहा गया है कि वह अद्वैतावस्था में है जहां शक्ति और शक्तिमत् का भेद नहीं है और जहाँ सब कुछ अविभक्तावस्था में है। प्रकृति के रूप में अव्यक्त परिणाम का आधार मात्र है; और पुरुष ज्ञाता है।

परमात्मा सभी जीवों का आत्मा है। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि केवल परमात्मा ही है और सारे पदार्थ उसके स्वरूप पर मिथ्या आरोपण मात्र हैं। परमात्मा या परमेश्वर काल, पुरुष और प्रधान से भिन्न और एक भी है। प्रकृति और पुरुष की सत्ता, परमेश्वर की सत्ता की अपेक्षा चरम कम है क्योंकि पुरुष और प्रकृति की सत्ता, ईश्वर की सत्ता से तुलना में आपेक्षिक है (विकारापेक्षया स्थिरत्वेन अपेक्षकम् एतयोस्तत्त्वम् पृ० 44)। काल को पुरुष और प्रकृति के संयोग का निमित्त कारण माना है। काल कर्मों का श्रेष्ठ निमित्त कारण है ,क्योंकि कर्म भी काल द्वारा उत्पन्न होते है (कर्मादीनामपि काल-जन्यत्वात्) यद्यपि काल अनादि है फिर भी यह स्वीकारना पड़ता है कि काल का प्रत्येक कार्य के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसी कारण से प्रलय के समय, काल, महत् इत्यादि कोई विकार उत्पन्न नहीं करता हैं अहंतत्त्व स्वयं चैतन्य और मूल तत्त्वों का समाहार है।

पुरुष जब एक वचन में प्रयोग किया जाता है, तो इस प्रयोग का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि इससे अन्य पुरुषों का निषेध किया गया है। पुरुष भी दो प्रकार के हैं, अपर और पर. दोनों निर्गुण हैं और शुद्ध चैतन्य रूप हैं। किन्तु पर और अपर पुरुष में यह भेद है कि पर, पुरुष का सुख-दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जबकि अपर पुरुष कभी-कभी सुख-दुःख से सम्बन्धित हो जाता है जो उसे उस समय वे अपने हैं ऐसा अनुभव होता है (अन्ये गुणाभिमानात्सगुणाइव भवंति परमात्मा तु गुणाभिमान-शून्यः पृ० 46)। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सुख-दुःख का अनुभव होना पुरुष का अनिवार्य लक्षण नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्तावस्था में पुरुष अपने सुख-दुःख के अनुभव से एकत्व नहीं करते हैं, तो भी पुरुष ही रहते हैं। परमात्मा, जो परम पुरुष कहलाता है। कर्म-विपाक से होने वाले अनुभवों से सम्बन्ध नहीं रखता, जो देशकाल अवस्था से युक्त होते हैं। किन्तु परमेश्वर अपनी विशिष्ट उपाधि से सम्बन्धित हो, नित्य आनन्द का भोग करता रहता है (स्वोपाधिस्थ-नित्यानंदि-भोक्तृत्वं तु परमात्मानोऽपि अस्ति)। जब श्रुति परम पुरुष में सुख-दुःख के अनुभवों के भोग का अस्वीकार करती है तब अंतः स्थित से तात्पर्य यह है कि यद्यपि परम सभी पुरुषों को आधार है, तो भी वह इन अनुभवों से निस्संग रहता है (एकस्मिन्नेव बुद्धावस्थानेन जीव-भोगतः प्रसक्तस्य

---

1 न तु साक्षादेव ब्रह्मणः अत्र कालादि-त्रयस्य ब्रह्म-कार्यत्वमभिव्यक्ति-रूपमेव विवक्षितम् प्रकृति-पुरुषयोश्च महदादि-कार्योन्मुखतां च परमेश्वर कृतादन्योन्य संयोगादेव भवति एवं कालस्य प्रकृति-पुरुष-संयोगास्य-कार्योन्मुखत्वं परमेश्वरेच्छयैव भवति। —ईश्वर गीता भाष्य, हस्त.।

परमातम-भोगस्यैव प्रतिषेधः) । इस प्रकार परम पुरुष में अन्य पुरुष के कुछ सामान्य अनुभव विद्यमान रहते हैं । ये शुद्ध नित्य आनन्द के अनुभव स्वयं पुरुष में आनन्द के साक्षात् और अनन्तर प्रतिबिम्ब के कारण है, जिससे यह आनन्द साक्षात् और त्वरित ही अनुभव होता है। पुरुष के इस अनुभव से पुरुष परिणाम को पाता है ऐसा नहीं माना जा सकता। उसे सामान्य पुरुषों की मानसिक अवस्थाओं तथा सुख-दुःख के अनुभवों का भान, उनसे प्रभावित हुए बिना, अवश्य ही, रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम बाह्य विषयों का ज्ञान करते हैं। अनुभव का यह भोग, परमेश्वर के मन के कारण, प्रतिबिम्ब-व्यापार द्वारा होता है ।

जब हम देखते हैं कि पुरुष, महत् और अहंकार और सभी विकार, परमात्मा के स्वरूप में अविभक्त रूप से रहते हैं तब हमें ऐसे मत का अद्वैतवाद समझ में आ जाता है । परम पुरुष सभी पुरुषों में और बुद्धि तथा अहंकार में तथा पीछे होने वाले सभी विकारों में, ज्ञाता रूप से अन्तर्हित है । इसी कारण से, इस तत्त्व के व्यापार से हमारे सभी ज्ञानात्मक व्यापार शक्य होते हैं, क्योंकि यही तत्त्व का व्यापार ज्ञान उत्पन्न करने की क्रिया के रूप में कार्य करता है। सुख-दुःख के अनुभवों के विषय में भी, यद्यपि ये अन्तः करण से बाहर रह नहीं सकते, और प्रकाशित होने के लिए दूसरे साधन की आवश्यकता न भी रखें, तो भी इनके विषय में भी मनस् और बुद्धि अन्तःकरण के रूप से कार्य करते हैं। इसलिए यद्यपि सुख और दुःख अज्ञान रूप से अस्तित्व रखते हुए नहीं माने जा सकते हैं, तो भी इनके अनुभव भो मनस् में प्रतिबिम्ब होने के कारण होते हैं ऐसा माना जाता है ।

जब महत् पुरुष से संयुक्त होता है और पुरुष तथा मूल आधार कारण के बीच भेद मालम नहीं पड़ता, तभी सर्गारम्भ होता है । परमात्मा की महान् चेतना विषयी और अविषयी सिद्धांतों को एक साथ धारण करती है । विषयी प्रकृति और अविषयी केन्द्र, पुरुष दोनों अविभक्तावस्था में बंधे हुए रहते हैं । यहीं जीव शोक और बन्धन के सभी अनुभवों को उत्पन्न करता है। यह पूछा जा सकता है कि पुरुष और बुद्धि किस प्रकार इस अवस्था में अभेद रूप से रहते हैं और एक दूसरे से विविक्त क्यों नहीं रहते । उत्तर यह है कि अभेद और भेद, बुद्धि के सम्भावित तत्त्व हैं और योग का कार्य ऐसे आपस के अभेद के अनुभव में बाधाओं को नष्ट करता है (योगादिना तु प्रतिबन्धमात्रमपाक्रियते) ।

परत्मामा का प्रेम दो स्तर से चलता है । पहला, ईश्वर हमारी उच्चतम आवश्यकताएँ संतुष्ट करता है इस विचार से और दूसरा भक्त और भगवान् दोनों एक हैं इस विचार से । ये उच्चत्तम आवश्यकताएं पहले, मूल्य के विचार में प्रकट होती हैं, जिसका अनुभव सन्तोष और सुख रूप लगता है, दूसरे हम मुक्ति का मूल्य समझने लगते हैं, तीसरे हम परमात्मा की महिमा का अनुभव कर संतोष पाते हैं और इस मूल्य को समझने लगते हैं । (प्रेम च अनुराग-विशेषः परमात्मनि इष्ट- साधनता-ज्ञानादात्मव-ज्ञानाच्च भवति । इष्ट मपि द्विविधं भोगापवर्गो तन्महिमा-दर्शनोत्थ-सुखम् च इति तदेवं माहात्म्य-प्रतिपादनस्य फलं प्रेम-लक्षणा भक्तिः) ।

प्रकृति से तादात्म्य प्राप्त माया को द्रव्य पदार्थ मानना चाहिए । प्रकृति में,

सत्व और तमस् दो तत्व हैं। सत्व से ज्ञान या सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है, तमस् से मिथ्या ज्ञान या मोह उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने वाला प्रकृति का पहलू माया कहलाता है। माया को त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहा है या तीन गुणयुक्त प्रकृति कहा है। किन्तु यद्यपि माया को प्रकृति से एक रूप माना है तो भी यह अध्यास, प्रकृति को तमो रूप अखण्ड प्रकृति से पृथक् नहीं किया जा सकता, इसका कारण है। जब श्रुति में ऐसा कहा है कि परमात्मा योगियों की माया का नाश करता है, इससे यह अर्थ नहीं होता कि सारी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाश होता है किन्तु योगी से सम्बन्धित तमो व्यापार का अन्त या नाश होता है। माया का इस प्रकार भी वर्णन किया है, वह जिस पर आधारित है अर्थात् परमात्मा, उसमें भ्रम उत्पन्न नहीं कर सकती, किन्तु दूसरों में भ्रम या मिथ्या ज्ञान उत्पन्न कर सकती है (स्वाश्रय-व्यामोहक-त्वे सति पर व्यामोहकत्वम्)।

आगे और यह कहा है कि परमात्मा ने त्रिगुण युक्त माया शक्ति से जगत् उत्पन्न किया है। माया का यहाँ ऐसा अर्थ होता है कि पुरुष और प्रकृति में मिथ्या आरोपण से जगत् की उत्पत्ति के परिणाम-व्यापार तथा जगत् का अनुभव शक्य है। परमात्मा के सम्बन्ध में माया, प्रकृति के लिए व्यवहृत है, जबकि जीव के सम्बन्ध में उसे मोह उत्पन्न करने वाली अविद्या कहा है।

सच्चा ज्ञान केवल ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त करने में नहीं है, किन्तु ब्रह्म के संपूर्ण ज्ञान से है। इसका तात्पर्य ब्रह्म का ज्ञान प्रधान, पुरुष और काल तथा समस्त ब्रह्माण्ड का किस प्रकार विकास होता है, उसके द्वारा धारण किया जाता है और अन्त में उसमें विलीन होता है इत्यादि से है, तथा जीव का ब्रह्म से व्यक्तिगत सम्बन्ध कैसा है, वह किस प्रकार उन्हें नियंत्रित करता है और अन्त में मुक्ति ज्ञान से होती है। काल को, पुनः उपाधि कहा है जिसके द्वारा परमात्मा प्रकृति और पुरुष को जगत्-रचना क्रम की ओर प्रवृत्त करता है।

एक कठिन समस्या यह है कि परमात्मा, जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप और इसलिए इच्छा और संकल्प-रहित है, वह किस प्रकार प्रकृति और पुरुष के महान् संयोग का कारण है। भिक्षु इसका यह उत्तर देते हैं कि परत्मामा के स्वरूप में ही ऐसी शक्ति है कि जिससे वह, अपने में अन्तर्हित प्रकृति और पुरुष को संयुक्त करने की क्रिया तथा विकास-क्रम को बनाए रखता है। यद्यपि पुरुष और प्रकृति को जगत् का कारण माना जा सकता है, तो भी क्योंकि संयोग, काल में होता है इसलिए काल को ही प्रधान रूप से गति का कारक मानना चाहिए, यह सयोग परत्मात्मा में निहित उपाधिवशात् शक्य है। (मम स्वीयो भावः पदार्थः स्वभाव उपाधिः ततस्तस्य प्रेरणात् भगवान् अप्रतिहतो महायोगस्य प्रकृति-पुरुषादि-सयोगस्य ईश्वरस्तत्र समर्थ .... प्रकृति प्रतिक्षण परिणामानम् एवं कालोपाधित्वात्)। चूँकि भगवान्, पुरुष और प्रकृति को अपनी प्रेरक उपाधि से गतिशील करता है इसलिए जड़-चैतन्य-युक्त सारा जगत् इस दृष्टि में उसका शरीर कहलाते हैं। वे भगवान् की क्रिया के निष्क्रिय विषय हैं ईश्वर, प्रकृति और पुरुष रूप से अपनी ही शक्तियों में नृत्य करता रहता है।

यह तर्क किया जा सकता है कि पुरुष नितान्त निष्क्रिय होने से वह किस प्रकार गति उत्पन्न कर सकता है और किस प्रकार प्रकृति से संयोग स्थापित कर सकता है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे विशिष्ट क्रिया में प्रवृत्त कर दिए जाते हैं या प्रवृत्ति से संयुक्त कर दिए जाते हैं। कभी-कभी यह भी सूचित किया जाता है कि प्रकृति पुरुष की उपाधि है और प्रकृति की पुरुष के संयोग में प्रवृत्ति, पुरुष की ही प्रकृति है, ऐसा समझा जाता है।

ईश्वर गीता के सातवें अध्याय में ब्रह्म को व्यापक कहा गया है। इस प्रकार कोई भी कारण अपने कार्य के सम्बन्ध से ब्रह्म माना जा सकता है। इसलिए ब्रह्म के अनेक स्तर, छोटे सामान्य से लेकर बड़े सामान्य के रूप में हो सकते हैं। ब्रह्म की इस प्रकार परिभाषा की गई है, 'यत्यस्य कारणं तत्तस्यब्रह्म तदपेक्षया व्यापकत्वात्' ब्रह्म में सभी सामान्य समाए हुए हैं इसलिए वह ब्रह्म माया कहा गया है। परमात्मा सर्वदा पुरुषों से सम्बन्धित है। किन्तु तो भी पुरुष के साथ उसका गतिशील प्रेरणा-व्यापार प्रकृति से इस प्रकार है कि विषयमय जगत् उसके सन्मुख ज्ञान के रूप में प्रकट हो जाता है।

जीव, परमात्मा का विभाग है और उनमें सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा है। जीव जब अपने सारे कर्म परत्मामा को निष्ठा से समर्पित कर देता है तब पाप-पुण्य का प्रभाव नष्ट हो जाता है और वे बन्धन डालने में निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि सभी जीव परमात्मा के अंश हैं इसलिए उनमें विभिन्नता होते हुए भी महान् सदृशता है। परमात्मा जीवों में इस प्रकार समाया हुआ है जैसे पूर्ण में अंश समाया हुआ है।

विज्ञान भिक्षु अधिष्ठान कारण को मूल कारण कहते हैं जो अपने में एक सा ही रहता है फिर भी उसमें से नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह उनका अंश और पूर्ण का सिद्धांत है। इस प्रकार अंश पूर्ण से उत्पन्न होते हैं किन्तु पूर्ण में कोई परिणाम नहीं होता। प्रलयकाल मेंअंश का प्रलयकाल हो जाता है, किन्तु ब्रह्म जैसा वह सर्जन-काल में था वैसा ही बना रहता है। इस प्रकार, पुनः जब जीव (अंश) पर प्रभाव पड़ता है तब सुख-दुःख का अनुभव होने लगता है। किन्तु अंश का प्रभावित होना पूर्ण को नहीं लगता। पूर्ण, विकारों में होने वाले दुःखों से प्रभावित नहीं होता, आगे और यह कहा है कि अधिष्ठान कारण के व्यापार से विकार, जैसेकि द्रव्य, गुण और कर्म प्रकट हो सकते हैं और विशिष्ट रूप से कार्य कर सकते हैं। अन्तर्निहित पूर्ण में, जो अधिष्ठान कारण है कोई विभाग नहीं है, तो भी इसी सामान्य अधिष्ठान से विकार उत्पन्न होते हैं जब धर्म युक्त तत्त्व प्रकट होते हैं और क्योंकि वे इसमें से उत्पन्न दीखते हैं इसलिए वे विशिष्ट पारिभाषिक शब्द में अन्तर्निहित अधिष्ठान कारण के विभाग कहलाते हैं।

यह इस प्रकार स्पष्ट दीखेगा कि ब्रह्म अपने अधिष्ठान कारण में कूटस्थ रहता है, किन्तु ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म माया से सम्बन्धित है और उससे एक है (स मायी मायया बद्धः)। तात्पर्य यह है कि माया परत्मामा का अविभाज्य अंग है और उससे भिन्न नहीं है। माया एक अंग है जो पूर्ण से एक रूप है।

यद्यपि श्रुति में जीव का ब्रह्म से भेद और तादात्म्य बहुधा वर्णित किया गया है,

तो भी ब्रह्म से जीव का भेद अनुभव होते ही परममुक्ति प्राप्त होती है[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् 2-4-5 में कहा है कि आत्मा की कामना के लिए सभी वस्तुओं की कामनाएँ हैं। शंकर इससे यह अनुमान लगाते हैं कि हमारी प्रियता मूलतः आत्मा से है और जब सभी मोह सुख का मोह हैं, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा आनन्द या सुख-स्वरूप है। दूसरे पदार्थ की इच्छा केवल तभी होती है जब हम उन्हें भूल से अपना स्वरूप या अंग मान लेते हैं। भिक्षु इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि प्रथमतः यह गलत है कि हमें सर्वदा अपने से मोह है, और इसलिए, यह सत्य नहीं है कि जब हम अन्य पदार्थ की कामना करते हैं तो हम अपनी आत्मा की कामना करते हैं। इसलिए, यह गलत है कि आत्मा आनन्द-स्वरूप है। यदि आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है तो वह आनन्द-स्वरूप नहीं हो सकता। यदि आनन्द और चैतन्य दोनों एक ही हैं, तो सभी ज्ञान आनन्द रूप होगा, किन्तु हमारा अनुभव, जितना सुख से सम्बन्धित है उतना ही दुःख से भी है। सुख-दुःख और अभिमान, ये सब प्रकृति के धर्म हैं या उसके विकार बुद्धि के धर्म हैं और ये वृत्ति द्वारा आत्मा पर स्थानान्तरित होते हैं, जो सचमुच सुख-दुःख का भोक्ता है। इसलिए अनुभव प्रकृति का धर्म नहीं है किन्तु आत्मा का है।[1] विषय से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के और प्रकाश के व्यापार द्वारा चित्त-व्यापार उत्पन्न होता है। इन्हें वृत्तियाँ कहा जाता है जो बुद्धि का धर्म है और इसलिए प्रकृति का, किन्तु इसके अनुरूप पुरुष द्वारा वृत्ति साक्षात्कार होता है और यह साक्षात्कार ही पुरुष का खरा अनुभव है। भोग शब्द द्व्यर्थी है, संदिग्धार्थ है, कभी यह वृत्ति को लक्ष्य करता है और कभी वृत्ति-साक्षात्कार को। पहले अर्थ में भोग पुरुष में अस्वीकृत है।

अज्ञान, इस प्रणाली में मिथ्या ज्ञान का अर्थ रखता है। जब पुरुष बुद्धि की वृत्ति का साक्षात्कार करता है और उसे अपने पर आरोपित करता है तब मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है जो बन्धन का कारण होता है। साक्षात्कार स्वयं सत्य है किन्तु आत्मा से साक्षात्कार के गुण का सम्बन्ध मिथ्या है। जब आत्मा वृत्ति से भिन्न अपना स्वरूप जानता है और अपने को ब्रह्म का एक अविभक्त अंग जानता है तब मुक्ति होती है। ब्रह्म से आत्मा की अविभक्तता का सरल अर्थ यही है कि ब्रह्म आधार कारण है और इसलिए यह आधार कारण मूल में शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सारा जगत् शुद्ध चैतन्य रूप से ही ब्रह्म में स्थिर है जिसके प्रकृति और पुरुष जिसमें एक सच्चे विकार से परिणाम प्राप्त करने के कारण और दूसरा प्रकृति के व्यापार का अपने पर अध्यारोप द्वारा, कार्य माने जा सकते हैं। जगत् अन्त में शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, किन्तु जड़ तथा उसके परिणाम और अनुभव भी केवल जड़ है और उसमें से बुदबुद की तरह निकलते कालमय रूप हैं।

---

1 यद्यपि भेदाभेदावुभावेन श्रुतिस्मृत्योरुक्तौ तथापि यथोक्त-भेद-ज्ञान-रूप-विवेकादेव सर्वाभिमान निवृत्या साक्षात् मोक्षः।

—ईश्वर गीता।

2 साक्षात्कार-रूप-धर्मस्य दृश्य-धर्मत्व-सम्भवात्।

—ईश्वर गीता पर भिक्षु की टीका, हस्त०।

किन्तु जबकि ये कार्य के रूप में ब्रह्म के सच्चे प्रकार हैं, इसलिए अद्वैतवाद पर अधिक बल देना गलत रहेगा। सत्ता में अधिष्ठान कारण तथा उद्भूत रूप दोनों ही समाए हुए हैं। शंकर ने यह प्रतिपादन किया है कि अद्वैत न पहुँचने तक ही द्वैत सत्य है। किन्तु भिक्षु इस पर आक्षेप करते कहते हैं कि जबकि अद्वैत सत्य पर पहुँचने के लिए क्रम की मान्यता स्वीकार करनी पड़ती है, इसलिए द्वैतवाद का सर्वथा खण्डन अद्वैत का भी खण्डन होगा।

अध्याय 23

कुछ चुने हुए पुराणों के दार्शनिक विचार

जिन पाठकों ने विज्ञान भिक्षु द्वारा व्याख्यात कूर्म पुराणांतर्गत ईश्वर गीता तथा ब्रह्म सूत्र की टीका पढ़ी है उन्हें मालूम हुआ होगा कि, उनके अनुसार वेदान्त का सम्बन्ध सांख्य और योग से है और इसके समर्थन में उन्होंने बहुत से पुराणों का उल्लेख किया है, जो शंकर से पहले वर्तमान थे। विज्ञान भिक्षु, इसलिए, पुराण के बहुत से उद्धरण देते हैं और रामानुज, मध्व, वल्लभ, जीव गोस्वामी और बलदेव के ग्रन्थों में, हम उनके द्वारा मान्य वेदान्त दर्शन के समर्थन में पुराण के बहुत से उद्धरण देखते हैं।

यह बहुत ही सम्भव है कि ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् के विषय में दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली का मत पुराण की परम्पराओं में सुरक्षित है। उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र की शंकर द्वारा की गई व्याख्या पुराण में पाए जाने वाले अर्धं वस्तुवादी अर्थ बोधन से बहुत दूर हट गया है। सम्भवतः, इसीलिए, शंकर पुराण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु जबकि शंकर द्वारा अर्थ बोधन का प्रकार पूर्व गामी पुराणों में नहीं मिलता, और अन्य कारणवशात् कुछ उपनिषद् के अति अद्वैतवाद को अन्य कारणों से हलका कर दिया है, तो यह माना जा सकता है कि पुराण और भगवद् गीता में पाया जाने वाला वेदान्त-मत, कम-से-कम सामान्य रूप से, ब्रह्म सूत्र और उपनिषद् दर्शन का अति प्राचीन दृष्टिकोण है।

इसलिए यह वांछनीय है कि रामानुज और विज्ञान भिक्षु के दर्शन के निरूपण को, कुछ मुख्य पुराणों के दर्शन के संक्षिप्त वर्णन से पूरा करना चाहिए। सभी पुराणों में सर्ग और प्रतिसर्ग का वर्णन आवश्यक है और इन्हीं खण्डों में दार्शनिक विचार भी पाए जाते हैं।[1] इस प्रस्तुत खण्ड में कुछ चुने हुए पुराण के सर्ग प्रति सर्ग में विद्यमान दार्शनिक विचारों को खोजने का प्रयत्न किया जायगा जिससे पाठक पुराण के दर्शन की भास्कर, रामानुज, विज्ञान भिक्षु और निम्बार्क के दर्शन से तुलना कर सकें।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष मानी गयी है, फिर दूसरे व्यक्ताव्यक्त तथा काल का स्थान है। प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल का मूल

---

1 सर्गश्च प्रति सर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणं। —कूर्म पुराण, 1-12।

कारण विष्णु की परम अवस्था को माना गया है। यहाँ हम विष्णु ब्रह्म को पाते हैं।[1]

विष्णु पुराण 1-2-11 में यह कहा है कि परम सत्य शुद्ध सत्ता है, जो केवल नित्य सत्ता की स्थिति ही कही जा सकती है। यह सर्वत्र है, और वह सब कुछ है (यह सर्वेश्वरवाद है) और इसलिए इसे वासुदेव कहा गया है।[2] वह निर्मल है क्योंकि उसमें कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसे फेंक दिया जा सके।[3] वह चार रूप में स्थित है, व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल। अपनी लीला से ये चार रूप उत्पन्न हुए हैं।[4] प्रकृति को सदसदात्मिका[5] और त्रिगुणात्मिका कहा गया है।[6] आरम्भ में ये चार तत्त्व होते हैं, ब्रह्म, प्रधान, पुरुष और काल,[7] ये सब त्रिकालिक विष्णु से भिन्न हैं। काल का कार्य सर्जन काल में पुरुष और प्रकृति को एक साथ रखना है और प्रलय में अलग रखना है। इन्द्रियगम्य वस्तुओं का काल ही कारण है। इस प्रकार काल की सत्तामूलक संयोग और वियोग की क्रियाओं का उल्लेख है।[8] (काल इस अर्थ में सत्तामूलक है क्योंकि वह ज्ञानात्मक पहलू के साधन के रूप में कार्य नहीं करता किन्तु, सद्रूप या सत्ता के रूप से कार्य करता है)। सभी व्यक्त पदार्थ अन्तिम प्रलय के अन्त में प्रकृति में विलीन होते हैं इसलिए प्रकृति को प्रति संचार कहा है।[9] काल अनादि है इसलिए प्रलय के समय भी रहता है, वह प्रकृति और पुरुष को संयुक्त किए रहता है और सर्गारम्भ के समय दोनों को विभक्त करता है। उस समय परमात्मा अपने संकल्प से प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है और सर्जन आरम्भ करने वाला क्षोभ उत्पन्न करता है।[10] जब परमात्मा प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करता है तब उसका सान्निध्य मात्र ही सर्जन करने वाले

---

1 ब्रह्म को स्रष्टा भी माना है, हरि, पाता (रक्षक) और महेश्वर संहर्ता के रूप में माने हैं।

आपोनारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वम् तेन नारायणः स्मृतः। —मनु० 1-10।

2 सर्वत्रासो समस्त च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते। —विष्णु पुराण, 1-2-12।

3 हेयाभावाच्च निर्मलम्। —वही, 1-2-13।

4 व्यक्तं विष्णुस्तथा व्यक्तं पुरुषः काल एव च।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय। —वही, 1-2-18।

5 वही, 1-2-19।

6 विष्णु पुराण, 1-2-21।

7 वही, 1-2-23।

8 विष्णोः स्वरूपात्परतो हि तेन्ये रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेन्येन धृते वियुक्ते रुपादि यत्तद् द्विज-काल-संज्ञाम्। —वही, 1-2-24।

9 वही, 1-2-25।

10 वही, 1-2-29।

क्षोभ के लिए पर्याप्त है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि एक सुगन्धित पदार्थ अपने सान्निध्य मात्र से मन का परिणाम किए बिना सुगन्ध उत्पन्न करता है।[1] परमात्मा क्षोभ और क्षोभ्य दोनों है और इसी कारण, विरोध और विकास द्वारा सर्ग होता है। यहाँ पर पुनः हम सर्वेश्वरवाद पाते हैं, सभी उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक में वही समाया हुआ है। अणु से जीवात्मा का अर्थ है।[2] विष्णु या ईश्वर विकार रूप से विद्यमान है अर्थात् वह व्यक्त रूप है और पुरुष और ब्रह्म रूप से भी।[3] यह स्पष्ट ही सर्वेश्वर-वाद है।

टीकाकार कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात्' में क्षेत्रज्ञ शब्द से पुरुष का तात्पर्य है। किन्तु प्रत्यक्षतः संदर्भ और न सांख्य मत इसका समर्थन करता है। पाठ का अनुसंधान स्पष्ट ही ईश्वर को लक्ष्य करता है, और प्रकृति में प्रवेश द्वारा तथा उसके सान्निध्य द्वारा उसका अधिष्ठातृत्व पहले ही वर्णन किया जा चुका है।[4] प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है तब वह प्रधान द्वारा आवृत्त होता है और इस प्रकार आवृत्त होकर वह सात्विक, राजस और तामस महत् के रूप में विभक्त होता है। प्रधान महत् को ठीक उसी तरह ढकता है जैसे त्वचा बीज को।[5] इस प्रकार आवृत्त हुए महान् से, वैकारिक, तेजस् और भूतादि या तमस् अहंकार, विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। इस भूतादि अहंकार से, जो महत् द्वारा आवृत्त है (जैसे महत् प्रधान द्वारा) शब्द तन्मात्र सहज स्वविकार द्वारा उत्पन्न होते हैं और उसी प्रक्रिया द्वारा शब्द तन्मात्र से आकाश भूत तत्त्व उत्पन्न होता है। पुनः भूतादि शब्द तन्मात्र आकाश को आवृत्त कर लेता है। आकाश इस प्रकार उपाधि-ग्रस्त हो स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता है जो त्वरित ही स्थूल वायु उत्पन्न करता है। भूतादि पुनः आकाश, शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र और विभक्त वायु को आवृत्त करता है जो पुनः रूप तन्मात्र को उत्पन्न करता है और त्वरित ही ज्योति उत्पन्न करता है।[6] स्पर्श तन्मात्र और वायु, रूप तन्मात्र को आवृत्त करता है। इस प्रकार

---

1 वही, 1-2-30।

2 विष्णु पुराण, 1-2-31।

3 वही, 1-2-32।

4 गुण साम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने।
गुण-व्यंजन-सम्भूतिः सर्ग-काले द्विजोत्तम।

—वही, 1-2-33।

5 प्रधान तत्त्वेन समं त्वचा बीजमिवावृत्तम्।

—विष्णु पुराण, 1-2-34।

6 टीकाकार यहाँ कहता है कि जब आकाश स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न करता कहा गया है तो कहने का अर्थ यह नहीं है कि आकाश ऐसा करता है किन्तु भूतादि आकाश रूप से व्यक्त होकर करता है, अर्थात् भूतादि के आधिक्य से आकाश स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न कर सकता है। "आकाशः आकाशमयो भूतादिः स्पर्श-तन्मात्रं ससर्ज।"

उपाधि-ग्रस्त होकर विभक्त स्थूल-ज्योति रस तन्मात्र को उत्पन्न करता है, जिसमें से पुनः स्थूल अप उत्पन्न होता है। उसी प्रकार रस तन्मात्र और रूप तन्मात्र आवृत्त होकर विभक्त स्थूल अप गन्ध तन्मात्र को उत्पन्न करता है जिसमें पुनः स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है। तन्मात्र गुणों की अव्यक्त उपाधियाँ हैं इसलिए इनमें गुण प्रकट नहीं है। इसलिए इन्हें, रूढ़ि प्रणाली से अविशेष कहा है। ये शान्त, घोर और मूढ त्रिगुण धर्म नहीं प्रकट करते हैं। इस कारण भी इन्हें अविशेष कहा है।[1]

तेजस् अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वैकारिक अहंकार से मनस् उत्पन्न होता है।[2] ये तत्त्व सुसंगति तथा एकता से कार्य करते हैं और तन्मात्र अहंकार और महत् के साथ, परमात्मा के परम नियंत्रण में विश्व की एकता बनाते हैं। जब विश्व वृद्धि पाता है तब वे अण्डाकार रूप में हो जाते हैं जो क्रमशः पानी के बुदबुद की तरह अन्दर से विस्फोट करते हैं, और यह विष्णु रूप ब्रह्म का भौतिक शरीर कहलाता है। विश्व बाह्य परिधि पर, अप, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि से आवृत्त रहता है और इसके बाद महत् और अव्यक्त द्वारा, जो पृथ्वी से दस गुने बड़े हैं। इस प्रकार सात आवरण होते हैं। विश्व नारियल के फल के समान है जिसके ऊपर अनेक आवरण हैं। योग्य समय पर, पुनः तमस् के आधिक्य से, परमात्मा विश्व को रुद्र रूप से भक्षण करता है और ब्रह्मा रूप से सर्जन करता है। अन्ततोगत्वा, अवश्य ही, परमात्मा क्योंकि विश्व को अपने में धारण करता है इसलिए वह सर्जक और सर्जन दोनों ही है, रक्षक और संहारक भी है।

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है, अज्ञेय और निर्मल है तो भी वह अपनी शक्ति द्वारा, जिन्हें हम जान नहीं सकते, सर्जक बन सकता है। वास्तव में शक्ति या बल तथा द्रव्य का सम्बन्ध विचारातीत है। हम यह कभी नहीं समझा सकते कि अग्नि क्यों तथा कैसे गर्म है?[3] पृथ्वी हरि की प्रार्थना करती हुई उसका इस प्रकार वर्णन करती है इस जगत् में जो भी कुछ दृश्य है तेरी ही अभिव्यक्ति है। सामान्य मनुष्य इसे भौतिक जगत् मानने में भूल करता है, सारा जगत् ज्ञानरूप है, उसे विषय मानना भूल की भूल है। जो ज्ञानी हैं वे इसे चिद्रूप मानते हैं और परमात्मा का रूप मानते हैं जो शुद्ध ज्ञान रूप है। जगत् को भौतिक मानना और ज्ञान की अभिव्यक्ति न मानना ही भूल है।[4]

विष्णु पुराण 1-4, 50-52 में ऐसा कहा है कि परमात्मा ही एक निमित्त कारण

---

1 श्लोक की टीका देखो, विष्णु पुराण 1-2-44।

2 टीकाकार कहते हैं कि यहाँ मनस् से चतुर्विध कार्य सहित अन्तःकरण का अर्थ है, ये मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं।

3 विष्णु पुराण, 1-3, 1-2।

4 यदेतद्दृश्यते मूर्तम्, एतद् ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रांति-ज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः। —विष्णु पुराण, 1-4-39।
ज्ञान स्वरूपमखिलं जगदेनद बुद्धयः।
अर्थ स्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह-संप्लवे॥ —वही, 1-4-40।

है और उपादान कारण जगत् के पदार्थ की शक्तियाँ हैं जो उत्पन्न की जाने वाली हैं। इन शक्तियों के जगत् के रूप में प्रकट होने के लिए केवल निमित्त कारण की आवश्यकता रहती है। परमात्मा केवल निमित्त मात्र ही है, जगत् का उपादान कारण जगत् के पदार्थों की शक्ति में विद्यमान है, जो परमात्मा के सान्निध्य से प्रभावित है। टीकाकार सूचित करता है कि परमात्मा सान्निध्य मात्र से निमित्त है (सान्निध्य मात्रेणैव)।[1]

विष्णु पुराण 1-4 में हम सृष्टि का दूसरा वर्णन पाते हैं। ऐसा कहा गया है कि भगवान् ने सृष्टि रचना का विचार किया, और एक जड़ रूप सृष्टि तमस् मोह, महा मोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्र के रूप में प्रकट हुई। ये पाँच प्रकार की अविद्या भगवान् से उत्पन्न हुईं। इनसे पाँच प्रकार के वृक्ष हुए जो वृक्ष, गुल्म, लता, विरुत और तृण हैं (यहाँ पर्वत और गिरि को और जोड़ना चाहिए) जिनमें अन्तः और बाह्य चेतना नहीं होती, इन्हें संवृत्तात्मन कहा जा सकता है। इससे संतुष्ट न होकर, उसने पशु और पक्षियों को उत्पन्न किया जो तिर्यक् कहलाए। पशु इत्यादि तिर्यक् कहलाते हैं क्योंकि उनका संसार ऊपर न होकर सभी दिशाओं में होता है। तमस् से पूर्ण हैं इसलिए अवैदिनः कहलाते हैं। टीकाकार यहाँ आलेखित करते हैं कि अवेदिन् का अर्थ यह है कि पशुओं को भूख प्यास का ही ज्ञान होता है, किन्तु संश्लेषणात्मक ज्ञान नहीं होता, अर्थात् वे भूत, भविष्य और वर्तमान का अनुभव एकीकृत रूप से नहीं कर सकते और उन्हें अपने इस जन्म या अन्य जन्म के भाग्य का ज्ञान नहीं होता वे नैतिक और धार्मिक संज्ञा-रहित होते हैं। उन्हें स्वच्छता और खान-पान का विवेक नहीं है, वे अज्ञान को ज्ञान मानकर संतुष्ट हैं, अर्थात् वे किसी विशिष्ट प्रकार का ज्ञान पाने की चेष्टा नहीं करते। वे 28 प्रकार के बाध से संयुक्त हैं।[2] वे अन्तर से सुख-दुःख को जानते हैं किन्तु

---

[1] निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्ग-कर्मणि ।
प्रधान कारणी भूता यतो वै सृज्य शक्तयः ।। —वही, 1-4-51।
निमित्त मात्रं मुक्त्वैकम् नान्यत् किंचिदवेक्ष्यते ।
नीयते नमताम् श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ।। —वही, 1-4-52।
सिसृक्षुः शक्ति युक्तोसौ सृज्य-शक्ति-प्रचोदितः । —वही, 1-5-65।

इस पाठ में ईश्वर के संकल्प और सृजन शक्ति को सृष्ट पदार्थों की शक्ति से सहायता मिलती है, ऐसा सूचन है।

[2] सांख्य कारिका 49 में 28 बाधाओं का वर्णन है। यहाँ बाधाएँ सांख्य के 28 बाधाओं को आलक्षित करती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि विष्णु पुराण के काल में सांख्य की बाधाएँ सुपरिचित थीं। इससे यह भी पता चलता है कि विष्णु-पुराण सांख्य के विचार से निकटता से सम्बन्धित था, जिससे बाध का केवल नाम ही, सांख्य के बाध को लक्ष्य करने को पर्याप्त था। विष्णु पुराण सम्भवतः तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, और ईश्वर कृष्ण की कारिका भी लगभग उसी काल में लिखी गई थी। मार्कंडेय पुराण में (वैंकटे० प्रेस, अ० 44-5-20) हम अष्टाविंशद् विधात्मिका शब्द पाते हैं। के० एम० बेनरजी बी 1 संस्करण वाले मार्कंडेय पुराण में भी अ० 47-5-10 में यही शब्द पाया जाता है। बाधात्मका शब्द न तो मार्कंडेय और पद्म पुराण (13-

वे एक दूसरे से संवाद नहीं कर सकते ।[1] तब पशु की रचना से असंतुष्ट होकर, भगवान ने देवताओं को बनाया जो सर्वदा सुखी रहते हैं और अपने विचार और अन्तर्वेदना तथा बाह्य विषय को जान सकते हैं और परस्पर वार्तालाप भी कर सकते हैं । इस रचना से भी असंतुष्ट होकर उसने मनुष्यों को बनाया जिसे 'अर्वाक् स्रोत' कहते हैं, जो देव रचना के ऊर्ध्व स्रोतस् से भिन्न हैं । मनुष्य में तमस् और रजस् की प्रचुरता है और इसलिए उनमें दुःख भी बहुत है । इस प्रकार नव प्रकार की रचना है । पहले तीन, जो अबुद्धिपूर्वक कहलाते हैं वे महत्, तन्मात्र और भूतस्-शारीरिक इन्द्रियाँ रूपी भौतिक रचनाएँ हैं । चौथा सर्जन, जो मुख्य वर्ग कहलाता है वृक्षों का है, पाँचवां तिर्यक् वर्ग है, छठा ऊर्ध्व स्रोतस्, सातवां अर्वाक् स्रोतस् या मनुष्य हैं । आठवीं रचना कोई नई प्रकार की दीखती है । सम्भवतः इससे पेड़-पौध, पशु, देव और मनुष्य की निर्दिष्ट नियति का अर्थ है । पेड़-पौधों की नियति अज्ञान है । पशुओं को केवल शारीरिक बल है, देवताओं को निर्मल संतोष है, और मनुष्य में हेतुपूर्ति है । यह अनुग्रह-सर्ग कहलाता है ।[2] तत्पश्चात् नवां सर्ग आता है जो कौमार सर्ग कहलाता है । वह सम्भवतः ईश्वर के मानस पुत्र सनत्कुमार के सर्जन से सम्बन्ध रखता है ।

प्रलय चार प्रकार के कहे गए हैं । ये नैमित्तिक या बाह्य, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य हैं । नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा की निद्रा है, प्राकृतिक प्रलय में विश्व प्रकृति में

---

65) में मिलता है । मान्यता इसलिए, यह है कि मार्कंडेय में 28 प्रकार, सांख्य के प्रभाव से, तीसरी शताब्दी में, 28 बाधाओं में परिवर्तित हो गई । मार्कंडेय पुराण ई० पू० दूसरी शताब्दी में लिखा गया माना जाता है । यह पता चलाना कठिन है कि ये 28 प्रकार के पशु कौन हैं, जो मार्कंडेय पुराण में कहे गए हैं । किन्तु इन्हें सांख्य के 28 बाधाओं से एक करना ठीक नहीं है ।

1 अन्तः प्रकाशास्ते सर्वे आवृत्तास्तु परस्परम् । —विष्णु पुराण, 1-5-10 ।

2 वायु पुराण 6—68 में इसे निम्न प्रकार से वर्णन किया है ।

स्थावरेषु विषयास्तिर्यग योनिषु शक्तिता ।
सिद्धात्मनो मनुष्यास्तुविषु देवेषु कृत्स्नशः ।

यहाँ छठा सर्ग भूत-सर्ग है ।

भूतादिका नाम् सत्वानां षष्ठः सर्गः स उच्यते । —वही, 6-58-59 ।

ते परिग्रहिणः सर्वे संविभागरताः पुनः खादनाश्चाप्य शीलाश्य ज्ञेया भूतादिका च ते ।। —वही, 6-30 ।

मार्कंडेय पुराण में अनुग्रह-सर्ग पाँचवां सर्ग है ।

कूर्म पुराण में (7-11) भूत पाँचवां सर्ग है, कूर्म पुराण के अनुसार पहला सर्ग महतसर्ग, दूसरा, भूत-सर्ग, तीसरा वैकारिकेन्द्रिय सर्ग, चौथा, मुख्य सर्ग, पाँचवां तिर्यक् सर्ग है । इस प्रकार यहाँ विरोध है क्योंकि उसी अध्याय में 11वें श्लोक में पाँचवां भूत-सर्ग कहा है । इससे यह अनुमान होता है कि कम से कम सातवें अध्याय को लिखने में दो व्यक्तियों का योग है ।

विलीन होता है, आत्यन्तिक परमात्मा के ज्ञान से होता है अर्थात् जब योगी अपने को परमात्मा में लय करता है और चौथा जो नित्य प्रलय है निरन्तर विनाश है। वह प्रतिदिन होता रहता है।

वायुपुराण में आत्यंतिक सिद्धान्त का उल्लेख है, जो परमात्मा की प्रथम कार्यकारी प्रवृत्ति से है। इसे 'कारणं अप्रमेयम्' कहा है, और यह अनेक नाम से विख्यात है जैसे ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूति (प्रकृति प्रसूति) आत्मन्, गुह, योनी, चक्षुष, क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तपस्, सत्वम् और अतिप्रकाश। ये दूसरे पुरुष को घेरे हुए हैं। यह दूसरा पुरुष सम्भवतः लोक पितामह है। रजस् के आधिक्य एवं काल के संयोग से क्षेत्रज्ञ से सम्बन्धित आठ प्रकार के विकार के स्तर उत्पन्न होते हैं।[1] इस सम्बन्ध में वायु पुराण भी प्राकृतिक, नैमित्तिक, और आत्यन्तिक प्रलय का उल्लेख करता है। वह यह भी कहता है कि पदार्थों का विकास शास्त्र-निर्देश तथा बुद्धि द्वारा जाना गया है[2] और प्रकृति समस्त संवेद्य गुणों से रहित है। वह त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति काल रहित और अज्ञेय है। मूलावस्था में—गुणों की साम्यावस्था में, उसमें सभी कुछ तमस् से व्याप्त था। सर्ग के समय, क्षेत्रज्ञ से संयुक्त होने से, उसमें से महत् उत्पन्न होता है। यह महत् सत्व की प्रधानता से है और शुद्ध सत्ता को व्यक्त करता है। महत् के अनेक नाम हैं जैसेकि मनस्, महत्, मति, ब्रह्मा, पुर, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, चित्ति, प्रज्ञा, स्मृति, संवित् और विपुर।[3] महत्प्रज्ञा, सर्जन की इच्छा से प्रेरित होकर, रचना शुरू करती है, और धर्म, अधर्म तथा अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करती है।[4] क्योंकि सभी प्राणियों के स्थूल प्रयत्न महत् में सूक्ष्मावस्था में रहते हैं इसलिए इसे मनस् कहा गया है। यह पहला पदार्थ है, जिसका विस्तार अनन्त है और इसीलिए उसे महान् कहा गया है। यह अपने सभी सीमित और परिमित तत्त्वों को धारण किए हुए है, और क्योंकि इसमें से सभी भेद उत्पन्न होते हैं और अनुभव से सम्बन्धित बुद्धि युक्त पुरुष के रूप से दीखते हैं, इसलिए इसे मति कहा है। इसे ब्रह्म कहा है क्योंकि इससे सभी की वृद्धि होती है। आगे, सभी पदार्थ इसी में से अपना द्रव्य लेते हैं इसलिए इसे पुर कहा है। क्योंकि पुरुष सभी वस्तुओं को हितकर या एषणीय समझता है और इसी द्रव्य के द्वारा सभी कुछ जाना जा सकता है, इसलिए इसे बुद्धि कहा है। सभी अनुभव और अनुभवों का संगठन तथा सभी दुःख और सुख, जो ज्ञान से होते हैं वे इसी से उत्पन्न है, इसलिए इसे ख्याति कहा है। वह सभी को साक्षात् देखता है इसलिए ईश्वर है। सभी प्रत्यक्ष इसी से उत्पन्न हैं इसलिए इसे प्रज्ञा कहा है। सभी ज्ञानावस्थाएँ और सभी प्रकार के कर्म,

---

[1] वायु पुराण, 2-11, अहिर्बुधन्य संहिता में विस्तृत पंचरात्र सिद्धान्त से इसकी तुलना करो।

[2] वायु पुराण, 3-23।

[3] इच्छास्त्र युत्तया स्वमति प्रयत्नात्।
नमस्तमाविष्कृत-धी-धृतिभ्यः। —वही, 3-24।

[4] वह पाँच प्रमाण का उल्लेख करता है। —वही, 4-16।

[5] वायुपुराण, 4-25।

तथा उनके फल कर्मानुरूप निश्चित होने के लिए इसी में संगृहीत होते हैं इसलिए यह चिति है। क्योंकि वह भूतकाल को स्मरण रखता है इसलिए इसे स्मृति कहा है। सभी ज्ञान का आगार होने से उसे महात्मन् कहा है। यह सभी ज्ञानों का ज्ञान है वह सर्वव्यापी है और सभी पदार्थ इसी में समाए हुए हैं इसलिए यह सम्वित् है। यह ज्ञान रूप होने के कारण ज्ञान है। यह सभी संघर्षात्मक अभीष्ट वस्तुओं के अभाव का कारण है इसलिए इसे विपुर कहा है। यह जगत् के सभी प्राणियों का पति है इसलिए ईश्वर है। वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों रूपों में ज्ञाता है और एक है। यह सूक्ष्म शरीर में रहता है (पुर्याम् शेते) इसलिए उसे पुरुष कहा है। यह स्वयंभू भी कहलाता है क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है और यह सर्ग का आदि है। वह महान् सर्जन की इच्छा से प्रेरित होकर, दो प्रकार की क्रिया द्वारा जगत् में अभिव्यक्त होता है, ये क्रियाएँ संकल्प और अध्यवसाय हैं। यह त्रिगुणात्मक है। रजस् के आधिक्य से, महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ। तमस् के आधिक्य से भूतादि भी उत्पन्न होते हैं जिनमें से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इसमें शून्य रूप आकाश उत्पन्न होता है जिसका शब्द से सम्बन्ध है। भूतादि के परिणाम से शब्द तन्मात्र उत्पन्न हुए हैं। जब भूतादि शब्द तन्मात्र को आवृत्त कर लेते हैं, तब स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न होता है। जब आकाश शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र को आवृत्त करता है, तब वायु उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अन्य भूत और उनके गुण उत्पन्न होते हैं। तन्मात्राओं को अविशेष भी कहा है। वैकारिक या सात्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच कर्मेन्द्रियां और मनस् उत्पन्न होते हैं।[1]

ये गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं और पानी की बुद बुद की तरह ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में क्षेत्रज्ञ, ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ (चतुर्मुखी देव) उत्पन्न होता है। परमात्मा प्रत्येक प्रलय के समय अपना शरीर छोड़ता है और नवीन सर्ग के समय नवीन शरीर धारण करता है।[2] ब्रह्माण्ड अप, तेज उष्णता, वायु, आकाश, भूतादि महत् और अव्यक्त से आवृत्त रहता है। आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है और संभवतः ब्रह्माण्ड आठवां आवरण है।[3]

आठवें अध्याय में ऐसा कहा है कि रजस्, सत्व और तमस् में प्रवृत्यात्मक तत्त्व के रूप में विद्यमान है जैसे तिल में तेल रहता है। आगे यह भी कहा है कि महेश्वर, प्रधान और पुरुष में प्रवेश करता है और रजस् भी प्रवृत्ति से प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ पहुँचता है।[4] गुण क्षोभ से तीन देव उत्पन्न होते हैं, रजस् से ब्रह्मा, तमस् से अग्नि और सत्य से विष्णु। अग्नि का काल से भी एकत्व किया गया है।

---

[1] यह अन्य वर्णनों से भिन्न है। यहां रजस् अहंकार का कोई कार्य नहीं है जिससे कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

[2] वायु पुराण, 46-8।

[3] यह पाठ क्लिष्ट है क्योंकि यह समझना कठिन है कि ये आठ प्रकृतियां कौन-सी हैं। वही, 4, 77-78।

[4] यह पहले कहा है कि भौतिक जगत् तामस् अहंकार से उत्पन्न होता है, और सात्विक

वायु पुराण में माहेश्वर योग का वर्णन भी है।[1] यह पाँच धर्म का बना है, जैसेकि प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण। प्राणायाम तीन प्रकार के हैं, मन्द, मध्यम और उत्तम। मन्द 12 मात्रा का, मध्यम 24 मात्रा का और उत्तम 36 मात्रा का होता है। जब वायु को अभ्यास-क्रम से नियमित किया जाता है तब सभी पाप जल जाते हैं और सभी शारीरिक दोष दूर हो जाते हैं। ध्यान द्वारा भगवान् के गुणों का ध्यान करना चाहिए। प्राणायाम से चार प्रकार के लाभ होते हैं, शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद। शान्ति का अर्थ माता-पिता से पाए दोष तथा दूसरों के संयोग से जनित पाप हट जाना है। प्रशान्ति व्यक्तिगत पापों का नाश जैसेकि तृष्णा, अभिमान इत्यादि। दीप्ति का अर्थ उस रहस्यात्मक दृष्टि से है जिससे त्रिकाल अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान होता है और ऋषियों से संयोग होता है जिससे बुद्ध जैसा बन सकते हैं। प्रसाद सन्तोष है, और इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, मनस् और पंच वायु का शमन है।

आसन से आरम्भ कर प्राणायाम की प्रक्रिया तक का भी वर्णन किया है। प्रत्याहार अपनी इच्छाओं का नियमन है। धर्म मन को नासिका के अग्रभाग अथवा भोहों के मध्य बिन्दु केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना है। प्रत्याहार द्वारा बाह्य वस्तुओं का प्रभाव हटाया जाता है। ध्यान से हम अपने को सूर्य या चन्द्र जैसा देखते हैं, अर्थात् इससे हमें अप्रतिहत प्रकाश प्राप्त होता है। अनेक प्रकार कि सिद्धि जो योगी को प्राप्त होती है। उन्हें उप सर्ग कहा गया है और इन सिद्धियों से दूर रहने का आग्रह किया गया है। ध्यान के विषय पृथ्वी, मनस् और बुद्धि से उत्पन्न तत्त्व है। योगी को इन प्रत्येक तत्त्वों को बारी-बारी से लेना चाहिए और छोड़ देना चाहिए, जिससे वह किसी से भी मोहित न हो जाय। जब वह इन सातों में से संग नहीं करता है और वह सर्वज्ञ, सन्तोष, अनादि ज्ञान, स्वातंत्र्य, अनवरुद्ध एवं अनन्त शक्ति युक्त महेश्वर का ध्यान करता है। इसलिए योग का अन्तिम हेतु[2] महेश्वर जैसी ब्रह्म प्राप्ति है जिसे अपवर्ग भी कहते हैं।[3]

मार्कंडेय पुराण में योग को ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कहा है, जो एक ओर मुक्ति और ब्रह्म से तादात्म्य है दूसरी ओर प्रकृति के गुणों से वियोग है।[4] सभी दुःख मोह से उत्पन्न होते हैं। मोह-निवृत्ति से ममत्व का भी नाश होता है जो सुख प्राप्ति कराता है। मुक्ति प्राप्त कराने वाला ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और अन्य सब कुछ अज्ञान

अहंकार से ज्ञान-कर्मेन्द्रिय पंचक। राजसिक अहंकार से कुछ उत्पत्ति नहीं मानी है, वह केवल साम्यावस्था के क्षोभ का क्षण ही माना है।

—और वायु पुराण, 5—9 देखो।

1 वायुपुराण, अ० 11–15।

2 वायुपुराण के योग में वृत्ति-निरोध या कैवल्य का उल्लेख नहीं है।

3 वायु और मार्कंडेय पुराण में अरिष्ट पर एक अध्याय है जैसाकि जयाख्य संहिता में पाया जाता है, जहाँ मृत्यु चिह्न का वर्णन है जिससे योगी मृत्यु समय जानता है, यद्यपि यह वर्णन अन्य दो ग्रन्थों में दिए वर्णनों से सर्वथा भिन्न है।

4 ज्ञान पूर्वो वियोगो योऽज्ञानेन सह योगिनः।
सामुक्ति र्ब्रह्मणा चैक्यम् अनैक्यम् प्रकृते र्गुणैः॥ —मा० पु० 39—1।

है। धर्म-पालन तथा अन्य कर्त्तव्य-पालन द्वारा, पाप और पुण्य के फल का अनुभव लेने से, अपूर्व के फल के संग्रह से, और दूसरों के पूर्ण हो जाने से, कर्म का बन्धन होता है। कर्म से मुक्ति, इसलिए, इससे विरोधी प्रक्रिया से ही हो सकती है। प्राणायाम से पाप नष्ट होते हैं।[1] अन्तिम स्थिति में योगी ब्रह्म से एक हो जाता है, जैसे पानी में पानी डालने से एक हो जाता है।[2] यहां पर योग के चित्तवृत्ति-निरोध का उल्लेख नहीं किया गया है।

वासुदेव को यहां परम ब्रह्म कहा है, जिसने अपनी रचना की इच्छा से, काल की शक्ति द्वारा सभी कुछ रचा है। इसी शक्ति द्वारा, पर ब्रह्म ने अपने में से पुरुष और प्रधान को अलग किया और उनका संयोग किया। इस सर्जन-क्रम में सबसे प्रथम तत्त्व महत् निकला, जिसमें से अहंकार, इसमें से पुनः सत्व, रजस् और तमस् उत्पन्न हुए। तमस् से पंच तन्मात्र और पंचभूत, और रजस् से दश इन्द्रियाँ और बुद्धि निकले। सत्व में से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और मनस् उत्पन्न हुए।[3] और आगे यह कहा है कि वासुदेव, पुरुष और प्रकृति और सभी विकार में है, जो इनमें व्याप्त भी है और पृथक् भी है, अर्थात् वह व्यापक एवं अतीत भी है। वह इनमें व्याप्त भी है तब भी उनके दोष और मर्यादाएँ उसे कुछ भी प्रभावित नहीं करतीं। सच्चा ज्ञान वह है जो वासुदेव से उत्पन्न सभी रूपों का, प्रकृति, पुरुष इत्यादि को समझता है और वासुदेव को भी उसके शुद्ध और पररूप से जानता है।[4]

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि पद्म पुराण में ब्रह्म-भक्ति का उल्लेख है जो कायिक या वाचिक, या मानसिक या लौकिक या वैदिकी और आध्यात्मिकी है। आध्यात्मिकी भक्ति फिर दो प्रकार की कही है, सांख्य-भक्ति और योग भक्ति।[5] चौबीस तत्त्वों का ज्ञान, और इनका परम तत्त्व पुरुष से भेद, तथा प्रकृति और जीव का ज्ञान सांख्य-भक्ति है।[6] ब्रह्म पर ध्यान और प्राणायाम का अभ्यास योग-भक्ति है।[7] भक्ति यहाँ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त की गई है।

नारदीय पुराण में नारायण को परम सत्य माना है, अर्थात्, धार्मिक दृष्टि से यदि इसे देखा जाय तो, वह अपने में से सर्जक ब्रह्मा को रक्षक और पालक विष्णु को संहारक रुद्र को रचता है।[8] परम सत्य महाविष्णु कहा गया है।[9] वह अपनी विशिष्ट शक्ति द्वारा सृष्टि रचता है। यह शक्ति दोनों प्रकार की सत् और असत् है, दोनों विद्या और अविद्या है।[10] जब जगत् महाविष्णु से पृथक् देखा जाता है यह दृष्टि अपने में स्थित

1 प्राणायाम तथा योग की अन्य प्रक्रिया वायुपुराण में वर्णित जैसी ही है।

2 मार्कंडेय पुराण, 40, 41।

3 स्कंद पुराण, 2-9-24 श्लोक 1-10।

4 वही, श्लोक 65-74।

5 पद्म पुराण, 1-15 श्लोक 164-177।

6 वही, श्लोक, 177-186।

7 वही, श्लोक 187-190।

8 नारदीय पुराण 1-3-4।

9 वही, श्लोक 6।

10 वही, श्लोक 7।

अविद्यागत है, जबकि दूसरी ओर, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का ज्ञान नष्ट हो जाता है, और केवल एकता का ज्ञान ही रहता है, यह विद्या के कारण है (यह विद्या ही है)[1] और जिस प्रकार हरि जगत् में व्याप्त और ओत-प्रोत हैं वैसे ही उनकी शक्ति भी ओत-प्रोत है ।[2] जिस प्रकार उष्णता का धर्म, अपने आधार अग्नि में व्याप्त रहता है वैसे ही हरि की शक्ति उससे अलग नहीं रह सकती ।[3] शक्ति व्यक्ताव्यक्त रूप से सारे जगत् में व्याप्त है, प्रकृति, पुरुष और काल उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं ।[4] क्योंकि यह शक्ति महाविष्णु से भिन्न नहीं है, ऐसा कहा है कि प्रथम सर्ग के समय महाविष्णु, सर्जन-इच्छा रखते हुए, पुरुष, प्रकृति और काल का रूप धारण करते हैं । पुरुष के सान्निध्य से क्षुब्ध होकर प्रकृति से महत् प्रकट होता है और महत् से बुद्धि और बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है ।[5]

अन्तिम सत्ता को वासुदेव भी कहा है, जो परम ध्येय और परम ज्ञान है ।[6]

जगत् में उत्पन्न हुए सभी जीवों को तीन प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं परमात्मा की प्राप्ति इन दुःखों से छुटकारा पाने का एक उपाय है ।[7] परमात्म-प्राप्ति के दो उपाय हैं ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग । ज्ञान शास्त्र के अध्ययन द्वारा विवेक से आता है ।[8]

---

[1] वही 1-3 श्लोक 7-9 ।

[2] वही, श्लोक 12 ।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि सर्जन हरि, अपनी अविद्या, उपाधि रूप शक्ति से करता है । यह वर्णन वेदान्त जैसा है । इस पंक्ति पर ध्यान देना आवश्यक है ।

अविद्योपाधि-योगेन तथेदमखिलं जगत् । वही, 3-12 इस पंक्ति को उपरोक्त के साथ पढ़ना चाहिए । विष्णु शक्ति समुद्भूतमेतत्सर्वं चराचरम् । यस्माद् भिन्नमिदं सर्वं यच्चेगं यंच तेंगति । उपाधिभिर्यथाकाशो भिन्नत्वेन प्रतीयते ।

—वही, 10-11

[3] वही, श्लोक 13 ।

[4] वही, श्लोक 17 ।

[5] वही, 28,31 ।

[6] वही, 80 ।

[7] अन्तर्यामी प्रत्यय के लिए अ० 3 का 26वाँ श्लोक देखिए और अ० 33 का 48वां श्लोक ।

[8] नारदीय पुराण श्लोक 4, 5 ।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवान् इति ।।
ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य-वीर्य-तेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्द वाच्योऽयं बिना हेयैर्गुणादिभिः ।।
सर्वं हि तत्र भूतानि वसति परमात्मनि ।
भूतेष वस ते सान्तर्वासुदेव स्ततः स्मृतः ।।

योग का भी वर्णन दूसरे अध्याय में दिया है। इसे ब्रह्म-लय कहा है। मनस् ही बंध और मोक्ष का कारण है। बन्धन विषयों से अनुरक्ति है, मुक्ति उनसे असंगतता है। जब आत्मा मन को चुम्बक की तरह अन्दर खींच कर उसकी प्रवृत्ति को नीचे की ओर निर्देश करता है और अन्त में ब्रह्म से जोड़ देता है, यही योग है।[1]

विष्णु की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं, परा जो चरम है, अपरा, (जो व्यक्तिगत प्रयत्न से एक है) और तीसरी जो विद्या या कर्म कहलाती है।[2] सभी शक्तियाँ विष्णु की हैं, और उनकी ही शक्ति से सभी जीव कर्म में प्रवृत्त होते हैं।[3]

भक्ति को दूसरे अध्याय में श्रद्धा के अर्थ में प्रयुक्त किया है, और इसे जीवन के सभी कर्मों के लिए आवश्यक समझा गया है।[4]

कूर्म पुराण के अनुसार, परमात्मा पहले अव्यक्त, अनन्त, अज्ञेय और अन्तिम निर्देशक के रूप से रहता है। किन्तु वह, अव्यक्त, नित्य और विश्व का कारण भी कहा गया है, जो सत् और असत् दोनों हैं और इसे प्रकृति से एक कहा है। इस रूप में वह परब्रह्म माना गया है, जो तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इस अवस्था में पुरुष मानों उसमें समाया रहता है, और इसे प्रकृति-प्रलय की अवस्था भी कहते हैं। परब्रह्म की इस अव्यक्तावस्था से, वह ईश्वर के रूप में व्यक्त होने लगता है और वह अपने अन्तरंग संयोग से पुरुष और प्रकृति में प्रवेश करता है। ईश्वर की इस स्थिति की, स्त्री-पुरुषों में रही काम-वासना से तुलना की जा सकती है, जो उनमें हमेशा रहती हुई केवल सर्जन प्रवृत्ति के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। इसी कारण ईश्वर तटस्थ-क्षोभ्य और गतिशील-क्षोभक दोनों ही माना गया है। इसी कारण यह कहा जाता है कि ईश्वर, स्व-कुंचन और विस्तार द्वारा प्रकृति का-सा व्यवहार करता है। पुरुष और प्रकृति की क्षुब्धावस्था से महत् का बीज उत्पन्न होता है। पुरुष और प्रधान स्वरूप (प्रधानपुरुषात्मकम्) है। इससे महत् की उत्पत्ति होती है जो आत्मन्, मति, ब्रह्मा, प्रबुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, धृति, स्मृति, और संवित् भी कहलाता है। इस महत् से त्रिविध अहंकार उत्पन्न होते हैं, ये वैकारिक, तेजस् और भूतादि (तामस अहंकार) हैं। इस अहंकार को अभिमान, कर्ता, मन्ता, और आत्मन् भी कहा है क्योंकि हमारे सभी प्रयत्न यहीं से उत्पन्न होते हैं।

भूतेषु वसते सान्तर्वसं त्यत्र चतानि यत्।
धाताविधाता जगतां वासुदेव स्तत स्मृतः ॥
—वही, 1–46, श्लोक 21–24।

वासुदेव के गुण निम्न चार श्लोकों में वर्णन किए हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् का अर्थ वासुदेव है (वही, श्लोक 19)।

1 आत्मा प्रयत्न-सापेक्षा विशिष्ट या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते। —ना० पु० 47-7।
प्राणायाम यम और नियम का वर्णन 5-8 से 5-20 तक में दिया गया है।

2 वही, ना० पु० 1-47, श्लोक 36-38।

3 वही, 47-49।

4 वही, 1-4।

ऐसा कहा है कि विश्व मनस् जैसा एक मनस् है जो अव्यक्त से अचिरात् ही उत्पन्न होता है और इसे पहला विकार माना है जो तामस अहंकार से उत्पन्न कार्यों की अधिनियन्त्रणा करता है।[1] इस मनस् को, तेजस् और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय रूप मनस् से भिन्न समझना चाहिए।

तन्मात्र और भूत के विकास के प्रकार के दो मत एक के बाद एक यहाँ दिए हैं, जिससे यह पता चलता है कि कूर्म पुराण का पुनः संस्करण हुआ होगा, और इसका मत जो पहले से विसंगत है उसे आगे जाकर शामिल कर दिया गया है। ये दो मत इस प्रकार हैं—

(1) भूतादि ने अपने विकास में शब्द तन्मात्र को उत्पन्न किया, इससे आकाश हुआ जिसका शब्द गुण है। आकाश ने अपना विकास करते हुए स्पर्श तन्मात्र को उत्पन्न किया, स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न हुई, जिसका स्पर्श गुण है। वायु अपनी वृद्धि में, रूप तन्मात्र को जन्म देती है, जिससे ज्योति (ताप-तेज) हुआ, जिसका गुण रूप है। इस ज्योति से अपना विकास करते हुए, रस तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जिसने अप उत्पन्न किया, जिसका गुण रस है। अप विकास करते हुए गन्ध तन्मात्र उत्पन्न करता है, जिससे संकीर्ण द्रव्य उत्पन्न होता है जिसका गुण गन्ध है।

(2) शब्द तन्मात्र रूप से आकाश ने स्पर्श तन्मात्र को आवृत्त किया, और इससे वायु उत्पन्न हुई, इसलिए इसमें दो गुण, शब्द और स्पर्श हैं। यह दोनों गुण, शब्द और स्पर्श, रूप तन्मात्र में प्रविष्ट हुए, जिससे अग्नि उत्पन्न हुई जिसमें तीन गुण हैं, शब्द स्पर्श और रूप। ये गुण, शब्द, स्पर्श और रूप. रस तन्मात्र में प्रविष्ट हुए, जिससे अप उत्पन्न हुआ जिसमें चार गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप और रस। ये चार गुण, गन्ध तन्मात्र में प्रविष्ट हुए और उन्होंने स्थूल पृथ्वी को उत्पन्न किया जिसमें पाँच गुण हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

महत्, अहंकार और पंच तन्मात्र अपने आप व्यवस्थित जगत् उत्पन्न करने में अशक्य हैं, जो पुरुष के अधिनियन्त्रण में (पुरुषाधिष्ठतत्वाच्च)और अव्यक्त की सहायता से (अव्यक्तानुग्रहेण) होता है। इस प्रकार उत्पन्न जगत् के सात आवरण हैं। जगत् की उत्पत्ति स्थिति, और प्रलय, भगवान् की स्व-लीला है जो भक्तों के हित के लिए होती है।[2]

---

1 मनस्त्वव्यक्तज प्रोक्तं विकारः प्रथमः स्मृतः।
येनासौ जायते कर्ता भूतादींश्चानुपश्यति॥ —कू० पु० 4-21।

2 भगवान् नारायण कहा गया है, क्योंकि वह मनुष्यों का अन्तिम आधार है।
नारायणामयनं यस्मात् तेन नारायणः स्मृतः। —कूर्म पुराण, 4-62।

परिशिष्ट

लोकायत, नास्तिक और चार्वाक

लोकायत, चार्वाक या बार्हस्पत्य के नाम से प्रसिद्ध भौतिक दर्शन सम्भवतः बहुत प्राचीन विचारधारा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनेक नास्तिकवादी मतों का उल्लेख है, जिसमें हम इस सिद्धान्त को पाते हैं, जिसमें, भूत को अन्तिम (मूल) सिद्धान्त माना है। लोकायत नाम अति प्राचीन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह पाया जाता है जहाँ इसे सांख्य और योग के साथ आन्वीक्षिकी कहा है।[1] राइस् डेविड्स् ने अनेक पाली भाषा के अनेक लेखांश संगृहीत किए हैं जिनमें 'लोकायत' शब्द आता है, और इन्हीं लेखांशों का हमने निम्न विवाद में उपयोग किया है।[2] बुद्ध घोष लोकायतों को वितण्डावाद-सत्थम् कहते हैं।[3] वितण्डा का अर्थ छलपूर्ण विवाद है और न्याय सूत्र 1-2-3 में इस प्रकार परिभाषा दी है : वह जल्प में प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञा की आलोचना अपना प्रतिपक्ष स्थापित किए बिना की जाती है (सा प्रतिपक्ष-स्थापना-हीना वितण्डा) और इसलिए इसे वाद से भिन्न समझना चाहिए, जो प्रतिज्ञा सिद्ध करने के हेतु न्यायपूर्ण आर्थिक विवाद है। वितण्डा में कोई प्रतिज्ञा सिद्ध करने की नहीं होती किन्तु वह एक प्रकार का जल्प है जो प्रतिपक्षी, को जान बूझकर उसके शब्दों और तर्कों का (छल) गलत अर्थ लगाकर, गलत तथा संभ्रमात्मक उपमा (जाति) का उपयोग करके, हराना चाहता है और व्यामोह का वातावरण खड़ा करके उसे मूक कर देना चाहता है या उसे स्वबाध और निग्रह स्थान पर ला देना चाहता है। किन्तु वितण्डा इस प्रकार वाद नहीं हो सकता, क्योंकि वाद तार्किक विवाद, सत्य के प्रतिपादन के लिए होता है और इस प्रकार वितण्डावाद विरोधपूर्ण शब्द है। जयन्त, अवश्य ही, इंगित करते हैं कि बौद्ध वाद और

---

1 कौटिल्य अर्थशास्त्र 1-1।

2 बुद्ध के संवाद ग्र० 1, पृ० 166, हाल ही, दो इटली के विद्वानों ने, डॉ० पिस्झागल्ली और डॉ० टुच्ची ने नास्तिक, चार्वाक लोकायत और Linee di una storia del materialismo Indiano नामक दो ग्रंथ लिखे हैं जिनमें उन्होंने नास्तिक, चार्वाक और लोकायत शब्द के अर्थ को और इनके सिद्धान्त को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया है। बहुत से पाली भाषा के लेखांश जिनको इन्होंने समझने की कोशिश की है वे राइस डेविड्स् ने संग्रह किए हैं वे ही हैं।

3 अभिधान दीपिका 5-112, बुद्ध घोषों के वाक्यों की पुनरावृत्ति करता है 'वितण्डा सत्थं विण्णेयं यं तं लोकायतम्।'

वितण्डा में भेद नहीं करते और दोनों के लिए एक ही शब्द वाद का प्रयोग करते हैं।[1] इससे यह समझ में आता है कि यद्यपि लोकायत वितण्डा है, तो भी बौद्ध ग्रंथों में उसे क्यों वाद कहा है? बुद्ध घोष ने उसी टीका में वितण्डा के कुछ उदाहरण, लोकाख्यायिका शब्द (शाब्दिक अर्थ प्रचलित वार्ता है किन्तु पी० टी० एस० पाली डिक्सनरी के अनुसार जनसाधारण का दर्शन है) को समझाने के लिए देते हैं—कौवे सफेद हैं क्योंकि उनकी हड्डियाँ सफेद हैं। बलाका लाल है क्योंकि उनका खून लाल है।[1] ऐसी वितण्डाओं को वितण्डा-सल्लाप-कथा जहाँ सल्लाप और कथा दोनों का मिलकर संवाद अर्थ होता है, संल्लाप शब्द सम् और लप से बना है। न्याय-सूत्र 2-18 की परिभाषा के अनुसार ये उदाहरण वितण्डा के नहीं, किन्तु जाति के हैं, अर्थात् गलत सादृश्य से अनुमान, जिसमें योग्य व्याप्ति नहीं है। वे वितण्डा नहीं है जैसाकि ऊपर कहा है। राइस डेविड्स् अग्गवंश की सद्दनीति (आरम्भिक बारहवीं शती) से दूसरे पाठ उद्धृत करते हैं जो उनके अनुवाद के अनुसार इस प्रकार है 'लोक का अर्थ है—सामान्य जगत् (बाल लोक)।' लोकायत का अर्थ है—'आयतंति उस्साहन्ति वायमन्ति वादस्सदेनाति' अर्थात् वे वाद केवल उससे मिलने वाले आनन्द के द्वारा प्रयत्न करते हैं परिश्रम करते हैं। या शायद यह अर्थ भी हो सकता है 'जगत् उसके लिए कोई यत्न नहीं करता है, (यतति) अर्थात् वह उस पर निर्भर नहीं है, उससे चलती नहीं है (नयतति न ईहति वा)। क्योंकि सत्ता उस पुस्तक के कारण (तंहि गंधं निस्साय)।[3] अपना चित्त नहीं देती (चित्तं न उपादेन्ति)। लोकायत नास्तिकों का ग्रंथ है (तित्थिया सत्थं यं लोके वितण्डा सत्यम् उच्चति) जिसमें ऐसे निम्न निरर्थक विवाद हैं, 'सभी कुछ अपवित्र है, सभी कुछ अपवित्र नहीं है, कौवा सफेद है, बलाका काली है. और इस या उस कारण से। पुस्तक, जो वितण्डा सत्था के नाम से जगत् में विख्यात है, जिसके विषय में, अद्वितीय नेता बोधिसत्व और पण्डित विधुर ने कहा है, लोकायत का अनुसरण न करो, इससे पुण्य नहीं होगा।[4] इस

---

[4] इत्युदाहृतमिदं कथात्रयं यत् परस्पर विविक्त लक्षणम्।
स्थूलमप्यनवलोक्य कथ्यते वाद एक इति शाक्य शिष्यकैः।

—न्यायमंजरी, पृ० 596।

[2] सुमंगल विलासिनी, 1-90-91।

[3] यह अनुवाद ठीक नहीं है। पाली पाठ किसी पुस्तक से सम्बन्ध नहीं बताता, पिछले वाक्य में शब्द वादस्सादन था जिसका अनुवाद 'वाद में आनन्द लेने को' जबकि शाब्दिक अनुवाद यह होगा, 'लड़ाई के स्वाद के कारण और यहाँ इसका अर्थ 'गन्ध को पीछा करते' लोग पुण्य कर्म की ओर नहीं झुकते यह होता है।

[4] बुद्ध के संवाद देखो 1-168 (अनुवाद ठीक नहीं है)। 'सब कुछ अपवित्र है, सब कुछ अपवित्र नहीं है' यह वाक्य पाली ग्रन्थ में नहीं मिलता। अन्तिम वाक्य, जो विधुर पंडित जातक (फाउस बोल 6 पृ० 286) में उद्धृत किया है और अतिप्राचीन जातक है, उसमें यह वाक्य इस प्रकार है, 'न सेवे लोकायतिकं न एतम् पञ्ञाय वद्धनम्' अज्ञात टीकाकार लोकायितक को इस प्रकार वर्णन करता है, लोकयातिकंति अनत्थ-निस्सितम् सग्गा-मग्गानां अदायकं अनिय्यांकम् वितंडा-सल्लापं लोकायतिकवादं न सेवेय्य 'लोकायत अनिष्ट की ओर ले जाता है न स्वर्ग की और न मोक्ष की ओर ले जाता है, और वह जल्प है जिससे सच्चा ज्ञान नहीं बढ़ता।

प्रकार उपरोक्त उदाहरण और पाली ग्रन्थ के अन्य लेखांशों से यह निश्चित है कि लोकायत का अर्थ छलयुक्त विवाद है, जल्प है, वितण्डा है और हेत्वाभास है, जिसका प्रयोग अबौद्ध करते थे। यह कोई उपयोगी निष्कर्ष प्राप्त नहीं कराते, इतना ही नहीं, सच्चे ज्ञान की वृद्धि भी नहीं करते किन्तु हमें स्वर्ग और मोक्ष से दूर करते हैं। सामान्य जन ऐसे वितण्डा में रुचि रखते हैं और ऐसे विषय पर एक ऐसा शास्त्र भी था (शास्त्र या सत्थ) जिससे बौद्ध घृणा करते थे और उसे वितण्डा सत्थ कहते थे।[1] दीघनिकाय (3-1-3) में लोकायत को अन्य शास्त्रों के साथ एक शास्त्र कहा गया है, वैसा ही अंगुत्तर 1-1-63 में है और दिव्यावदान में इसे एक विशिष्ट प्रकार का शास्त्र माना है जिसका अपना भाष्य और प्रवचन है।[2]

लोकायत शब्द के अर्थ के विषय में बहुत ही अनिश्चिता है, यह दो शब्दों से बना है लोक आयवत या अयत, आयत शब्द आ+यम्+क्त से सिद्ध माना जा सकता है या आ+यत् (प्रत्यय करना) अ से सिद्ध माना जा सकता है—द्वितीय विभक्ति के अर्थ में या क्रियापद के अर्थ में, और अयत शब्द निषेधात्मक अ तथा यत् (प्रयत्न करना) से उत्पन्न माना जा सकता है। उपरोक्त उल्लखित अग्गवश के पाठ में, पहले इसे अ+यतन्ति (कठिन यत्न करना) से उत्पन्न माना है और इसके 'उत्साहन्ति' 'वायमति', पर्यायवाची शब्द दिए हैं, और दूसरा अ+यतन्ति से उत्पन्न माना है अर्थात्, जिससे लोक यत्न करना छोड़ देते हैं (तेन लोको न यतति न ईहति वा लोकायतम्)। किन्तु प्रो० टुच्ची बुद्ध घोष की सारत्थ प्रकासिनी से एक एक अंश उद्धृत करते हैं जहां आयत शब्द आयतन (आधार) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और इस अर्थ के अनुसार 'मूर्ख और अपवित्र जगत् का आधार होता है। लोकायत का दूसरा अर्थ लोकेषु आयत होगा, अर्थात्, जो सामान्य जनता में प्रचलित है और कौवेल ने अपने सर्व दर्शन संग्रह के अनुवाद में इस अर्थ को स्वीकारा है और यह इसकी व्युत्पत्ति अ+यमुक्त (विस्तृत) होगी।[1] अमर कोष में केवल शब्द ही दिया गया है और वहां यह भी कहा है कि इस

---

1 राइस् डेविडस् ऐसा मालूम होता है, विदद्धवादी विदद्ध शब्द को वितण्डा समझते हैं, गलत लिखा प्रतीत होता है (बुद्ध के संवाद 1-167) यह शब्द अत्थसालिनी में 3, 90, 92 और 241 पृ० पर आता है। विदद्ध शब्द वितण्डा नहीं है किन्तु विदग्धा है जो वितण्डा से बिल्कुल भिन्न है।

2 लोकायतं भाष्य-प्रवचनं। दिव्यावदान पृ० 630 तथा और भी स्थान पर यह लिखा है, चन्दसि वा व्याकरणे वा लोकायते वा प्रमाण-मीमांसायाम् वा न चैषामूहापोहः प्रज्ञायते। —वही, पृ० 633।

यह सत्य है कि लोकायत शब्द का मान्य तर्क शास्त्र के अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु कभी-कभी व्युत्पत्ति अर्थ में किया गया (अर्थात्, जो जन सामान्य है 'लोकेषु आयतो लोकायतः' जैसाकि दिव्यवदान पृ० 619 में है, जहाँ हम यह पाते हैं, लोकायत-यज्ञ-मंत्रेषु निष्णातः।'

4 Linee di una storia del materialismo Indian. पृ० 17, सारत्थ प्रकासिनी (बंकोक) 2-96।

शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि दो लोकायत शब्द हैं। एक विशेषण है जिसका अर्थ 'जगत् में या जन साधारण में प्रचलित' और दूसरा पारिभाषिक है जिसका अर्थ, 'वितण्डा, जल्प इत्यादि का शास्त्र' (वितण्डावाद सत्यम्)। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग जगत्-विद्या के रूप में किया गया हो, जैसाकि राइस डेविडस् और फ्रान्के ने सूचित किया है और इसका प्रयोग दंडनीय के अर्थ में किया गया हो जैसाकि अन्य विद्वानों का कहना है। शुक्रनीति में शास्त्रों और कलाओं का लम्बा वर्णन दिया गया है जो उस समय पढ़े जाते थे और इसमें इस नास्तिक शास्त्र को ऐसा शास्त्र बताते हैं जो तर्क में बड़ा बलवान् है और जो मानता है कि सभी पदार्थ अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं और वेद और ईश्वर कोई नहीं है।[1] मनु 7-43 पर टीका करते मेधातिथि भी चार्वाक की तर्क-विद्या का उल्लेख करते हैं, और पुराने सभी उद्धरण, जिन पर हमने विवेचना की है, यह बताते हैं कि लोकायत नाम का शास्त्र था जो न्याय और हेत्वाभास का शास्त्र था। सौभाग्यवश, हमारे पास और भी निश्चयात्मक प्रमाण हैं जो सिद्ध करते हैं कि लोकायत शास्त्र टीका सहित, सुपूर्व कात्यायन के समय में था, अर्थात् लगभग ईसा से 300 वर्ष पूर्व था। 7-3-45 'वर्णक-तान्तवे उप संख्यानम्' के सम्बन्ध में यह वार्तिक नियम है कि वर्णक शब्द स्त्रीलिंग में 'वर्णका' हो जाता है जिसका अर्थ कम्बल या लपेटने का कपड़ा (आवरण) होता है और पतंजलि लगभग (150 ई० पू०) वार्तिक सूत्र का बोधार्थ करते कहते हैं कि वर्णक शब्द के रूप को कपास या ऊनी आवरण के अर्थ में संकुचित करने का हेतु यह है कि दूसरे अर्थ से, स्त्रीलिंग का रूप वर्णिका या वर्तिका होगा (जिसका अर्थ टीका होगा) जैसेकि लोकायत पर भागुरी टीका है—वर्णिका, भागुरि लोकायतस्य, वर्तिका भागुरी लोकायतस्य।[2] इस प्रकार यह निश्चित दीखता है कि लोकायत नाम की एक पुस्तक थी जिस पर कम से कम एक टीका ई० पू० 150 वर्ष पूर्व या 300 वर्ष ईसा पूर्व थी, जो सम्भवतः वार्तिक सूत्र के रचयिता कात्यायन का काल है। सम्भवतः वाद और हेत्वाभास का यह एक प्राचीन ग्रन्थ था, क्योंकि इससे पूर्व कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें लोकायत का सम्बद्ध जड़वाद से हो, जैसाकि पिछले साहित्य में पाया जाता है, जहां चार्वाक और लोकायत को एक ही कहा गया है।[3] कमल शील, जयन्त, प्रभाचन्द्र गुण रत्न इत्यादि की टीकाओं में 7वीं से 14वीं

---

1 राइस डेविडस् लोकायत ब्राह्मणों की विद्या है ऐसा कहते हैं, सम्भवतः यह जगत् विद्या, सुभाषित, पहेलियां पद्य या वाद है जो रूढ़िगत पाई हैं और जिसका विषय विश्वोत्पत्ति, तत्त्व, तारे, मौसम, थोड़ी बहुत खगोल, प्रारम्भिक भौतिक शास्त्र, शरीर व्यवच्छेद विद्या, रत्नमणि का गुणों का ज्ञान और पशु-पक्षी और वृक्षों का ज्ञान है। (बुद्धि के संवाद 1-171) फ्रान्के इसे Logische bewisoinde nature taring से अनुवाद किया है। —दीघ० 19।

2 पाणिनि पर पतंजल महाभाष्य 7, 3-45 और उस पर कैयट की टीका,

3 तन्नामानि चार्वाक लोकायतेत्यादिनी। षड् दर्शन समुच्चय पर गुणरत्न की टीका। पृ० 300, गुणरत्न के अनुसार लोकायत वह है जो साधारण अविवेकी जन की तरह आचरण करते हैं—लोकानिर्विचाराः सामान्या-लोकास्तदवदाचरन्ति स्म इति लोकायत्ता लोकायतिका इत्यपि।

शताब्दी तक में कई सूत्रों का उद्धरण दिया गया है और कुछ का कहना है कि ये चार्वाक के हैं, और अन्य का यह कहना है कि ये लोकायत के हैं और गुण रत्न (14वीं शताब्दी) इन्हें बृहस्पति का बताते हैं।[1] कमलशील इन सूत्रों पर दो टीकाओं का उल्लेख करते हैं। जो कुछ भिन्न दृष्टकोण से लिखी गई हैं और जो न्याय मञ्जरी में दिए धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाक विभागों से मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। कम से कम लोकायत पर एक टीका जो सम्भवतः पतंजलि और कात्यापन से पूर्व थी, और सातवीं शताब्दी तक में लोकायत की कम से कम दो टीकाएँ दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती लिखी गई थीं। इसके उपरान्त, बृहस्पति रचित एक पद्यमय ग्रन्थ भी था, जिसके उद्धरण चार्वाक विचार-धारा के निरूपण के लिए, सर्वदर्शन संग्रह में, उपयोग में लाए गए हैं। यह कहना, अवश्य ही कठिन है कि कब यह प्राचीन वितण्डा शास्त्र, भौतिकवाद तथा प्रतिक्रियात्मक नीति से सम्बन्धित हो गया, और बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों द्वारा घृणित समझा जाने लगा। पहले बौद्ध ही इससे घृणा करते थे, जबकि हिन्दू इसे अन्य शास्त्रों के अंग के रूप में अध्ययन करते थे।[2]

यह तो सुविख्यात है कि वाद विवाद की कला का अभ्यास भारत में अतिप्राचीन रहा है। सर्वप्रथम, इसे हम चरक संहिता (ईसवी पहली शताब्दी) में व्यवस्थित रूप से पाते हैं जो इससे पहले ग्रन्थ (अग्नि वेश संहिता) का पुनसंस्करण ही है, इससे यह सूचित होता है कि इस प्रकार का वाद, इससे पूर्व यदि न रहा हो, तो पहली या दूसरी शताब्दी में अवश्य रहा होगा। न्याय सूत्र में इस वितण्डावाद का विवेचन सुविख्यात है। आयुर्वेद तथा न्याय में लोग, अपने को प्रतिपक्षियों के आक्रमण से बचाने के लिए, इस विवाद की प्रणाली के अभ्यास किया करते थे। कथावत्थु भी इस वितण्डा कला का व्यावहारिक उपयोग पाया जाता है। यहाँ हम उसे हेतुवाद के नाम से जानते हैं, और महाभारत में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है।[3] महाभारत के अश्वमेध पर्व में हम पाते हैं कि हेतुवादिन् एक दूसरे को तार्किक वाद में हराने की कोशिश करते थे।[4] सम्भवतः, छांदोग्योपनिषद् में (7-1-2, 7-2-1, 2-71) वाकोवाक्य शब्द का अर्थ इसी कला से है। इस प्रकार, यह लगभग निश्चित मालूम होता है कि इस वाद का उपयोग अतिप्राचीन है। इस सम्बन्ध में एक बात और सूचित होती है, ऐसा हो सकता है कि शास्त्र-संगत हिन्दू दर्शन का यह सिद्धान्त कि परम सत्य केवल श्रुति प्रमाण से सिद्ध हो सकता है—और जबकि तर्क या अनुमान द्वारा अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकल सकता. क्योंकि जो एक तार्किक द्वारा सिद्ध किया गया है. वह दूसरे के द्वारा असिद्ध किया जा सकता है-यह वितण्डावादियों के निषेधात्मक प्रभाव से है, जो दूसरों के द्वारा असिद्ध किए सत्य को सिद्ध करने में फलीभूत होते थे, और इनके सत्य को इनसे अधिक निष्णात

---

1 वही, पृ० 307, तत्त्व संग्रह, पृ० 520।

2 अनुगतार, 1-163।

3 महाभारत, 3-13034, 13-7295-1983 इत्यादि।

4 वही, 14-85, 27।

तार्किक असिद्ध कर सकते थे।[1] ऐसे भी लोग थे जो आत्मा की अमरता के तथा दूसरे लोक की सत्ता पितर् या देवयान् के रूप में, वेद यज्ञ के फल देने की योग्यता का खण्डन करने की कोशिश करते थे और ये हेतुक जो वेदों का उपहास करते थे वे नास्तिक कहलाते थे। इस प्रकार मनु कहते हैं कि जो ब्राह्मण हेतु शास्त्र पर अधिक विश्वास करके वेद और स्मृति को नगण्य मानते हैं वे केवल नास्तिक हैं, वे योग्य ब्राह्मण द्वारा बहिष्कार के योग्य हैं।[2] भागवत पुराण में पुनः कहा है किसी को न वैदिक धर्म का अनुसरण करना चाहिए, न पाषण्डियों का (पाषण्डी से बौद्ध और जैनों का अर्थ होता है), न हेतुकों का और किसी को वितण्डा द्वारा किसी का भी पक्ष नहीं लेना चाहिए।[3] पुनः, मनु 4-20 में ऐसा कहते हैं कि किसी को पाषण्डियों से वर्ण प्रथा को अतिक्रमण करने वालों से (विक्रम-स्थान) तथा वैडालव्रतिक, कपटी और हेतुकों से बात तक नहीं करनी चाहिए।[4] ये हेतुक सभी प्रकार के विवादों में उत्तर जाते थे और वेद के सिद्धान्त का खण्डन करते थे। ये नैयायिक नहीं हो सकते थे, या मीमांसक भी नहीं हो सकते जिन्हें भी कभी-कभी हेतुक या तर्की कहा जाता था, क्योंकि वे वेद-सिद्धान्त ये अनुसार तर्क करते थे।[5] इस प्रकार हम अपने विवेचन की दूसरी अवस्था पर आते हैं जिसमें हेतुक वितण्डा का उपयोग करते थे, न केवल अपने ही वाद-विवाद में, किन्तु वेद के सिद्धान्त के खण्डन में ऐसा करते थे, सम्भवतः बौद्ध सिद्धांत के लिए भी, इसी कारण वे वेदवादी एव बौद्ध द्वारा निंदास्पद थे, और इस प्रकार, वितण्डा और वेद और बौद्ध सिद्धान्तों की आलोचना ब्राह्मणों में बढ़ी और उसका अभ्यास होने लगा। मनु 2-11 में इसे प्रमाणित करते हैं जहाँ ब्राह्मण हेतुशास्त्र सीखते हैं ऐसा कहा है और यह अंगुत्तर 1-162 से तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों से पुष्ट होता है।

किन्तु ये नास्तिक कौन थे और क्या वे तथा हेतुक एक थे ? यह शब्द पाणिनि के नियमानुसार 4-460 (अस्ति नास्तिदिष्टं मतिः) अनियमित रूप से बना है। पतंजलि, अपनी टीका में आस्तिक शब्द को इस प्रकार समझाते हैं। आस्तिक वह है जो

---

1 ब्रह्मसूत्र 'तर्क प्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमानमिति चेदेवमपि अविमोक्ष-प्रसंगः' 2-1-11 से तुलना करो। शंकर यह भी कहते हैं, 'यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबन्धनाः तर्काः अप्रतिष्ठिता' भवन्ति उत्प्रेक्षायाः निरंकुशत्वाम् कैरपि उत्प्रेक्षिताः सन्तः ललोऽन्यैराभास्यन्ते इतिन प्रतिष्टितत्वं तर्काणां शक्यमश्रायितुम्।

वाचस्पति मिश्र शंकर की टीका करते हुए वाक्य प्रदीप उद्धृत करते हैं, 'यत्नेनानुमिनोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्येरन्यथै वोपपाद्यते।

2 यो वमन्येतंत् मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः। —मनु 2-11।

3 वेदवादरतो न स्यान्न न पाषण्डिना हेतुकः।
शुष्क वाद विवादे न कंचित् पक्षं समाश्रयेत् ॥ —भागवत, 11-18-30।

4 मेधातिथि यहां हेतुकों को नास्तिक कहते हैं, या वे जो परलोक में या यज्ञ में विश्वास नहीं रखते। इस प्रकार वे कहते हैं कि हेतुका नास्तिक नास्ति परलोको, नास्ति दत्तम्, नास्ति हुतमित्येवं स्थित प्रज्ञाः।

5 मनु, 12-111।

सोचता है कि 'वह सत्ता रखता है' और नास्तिक वह है जो यह सोचता है कि 'वह सत्ता नहीं रखता।' जयादित्य, अपनी काशिका टीका में, उपरोक्त सूत्र पर आस्तिक को इस प्रकार समझाते हैं, जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास रखता है, नास्तिक वह है जो इसे नहीं मानता और दिष्टिक वह है जो केवल न्याययुक्त सिद्धि को ही मानता है।[1] किन्तु हमें स्वयं मनु के शब्दों में नास्तिक की परिभाषा जो वेद निन्दक है[2] ऐसी मिलती है। इस प्रकार नास्तिक शब्द का पहले अर्थ यह है, जो परलोक नहीं मानता, और दूसरा, जो वेद निन्दक है। वे दोनों मत, अवश्य ही, एक दूसरे से सम्बन्धित हैं क्योंकि वेद को न मानना, और जीव का पुनर्जन्म न मानना बराबर है तथा यज्ञ के सामर्थ्य में यह नास्तिक मत कि इस जन्म के बाद कोई जीवन नहीं है, और मृत्यु के साथ चेतना नष्ट होती है, उपनिषद् काल में अच्छी तरह से स्थापित हो गया था, और उपनिषद् इसी मत का खण्डन करना चाहते थे। इस प्रकार, कठोपनिषद् में, नचिकेता कहते हैं कि लोगों में इस विषय पर गम्भीर सन्देह है कि मृत्यु के बाद जीवन है या नहीं और वे यम मृत्यु के देवता से इस विषय पर निश्चयात्मक अन्तिम उत्तर चाहते थे।[3] आगे यम कहते हैं कि जो तृष्णा में अंधे हो गए हैं और परलोक में नहीं मानते हैं वे इस प्रकार मृत्यु के पाश में निरन्तर पड़ते रहते हैं।[4] पुनः बृहदारण्यक उपनिषद् (2-4-12, 4-5-13) में एक मत का उल्लेख याज्ञवल्क्य द्वारा दिया गया है कि चेतना मूल से उत्पन्न होती है और उसी के साथ नष्ट होती है और मृत्यु के बाद चेतना नहीं रहती है। जयन्त अपनी न्याय मंजरी में कहते हैं कि उपरोक्त पाठों में वर्णित मत पर लोकायत प्रणाली का आधार था जो केवल प्रतिपक्षा का ही मत था।[5] जयन्त आगे उसी पाठ में कहते हैं कि लोकायतों का कोई कर्त्तव्य उपदेश नहीं है, वह तो केवल एक वितण्डावाद है (वैतण्डिक-कथै वासौ) और यह आगम नहीं है।[6]

---

1 परलोकः अस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक, तद्विपरीतो नास्तिकः, प्रमाणानुपातिनी यस्य मतिः स दिष्टिकः। काशिका, पाणिनि 4-4-60 पर। जयादित्य का काल 7वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में था।

2 मनु 2-11 मेघातिथि 'नास्तिकाक्रांतम्' (मनु 8-22) को समझाते हुए नास्तिक और लोकायत को एक कहते हैं जो परलोक नहीं मानते। वे कहते हैं यथा नास्तिकैः परलोकापवादिभिः लोकायतिकाद्यैराक्रांतम्। किन्तु मनु 4-163 की दृष्टि में नास्तिक वह है जो वेद को मिथ्या मानता है वेद प्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसायस्य नास्तिक्य शब्देन प्रतिपादनम्।

3 येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके ना यमस्ती चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहम् वराणाम् एष वरस्तृतीयः। —कठ० 1-20।

4 विज्ञानघन एव एतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येव नुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञा स्तिइन्थं रे ब्रवीमि। बृ० 2-4-12।

5 तदेवं पूर्वपक्ष-वचन-मूलत्वात् लोकायत-शास्त्रमपि न स्वतन्त्रम्।

—न्याय मन्जरी, पृ० 271, वी० एस सीरीज, 1895।

6 नहि लोवयते किंचित् कर्त्तव्यमुपदिष्यते वैतण्डिक कथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः।

—वही, ०270पृ।

बौद्ध ग्रन्थों में भी नास्तिकों का उल्लेख मिलता है। पी० टी० एस० शब्द-कोष नात्थिक शब्द का अर्थ, वह जो 'नत्थी' (नास्ति) आदर्श वाक्य का अनुशीलन करते हैं। यहाँ कुछ नास्तिकवादियों का वर्णन करना वांछनीय होगा, जिनक उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में है और जो किसी न किसी अर्थ में शून्यवादी या सन्देहवादी कहे जा सकते हैं। पहले हम दीघनिकाय 2-16-17 में दिये गए पूरण कस्सप को देखें। बुद्ध घोष, दीघ निकाय 1-1-2 की टीका 'सुमंगला विलासिनी' में कहते हैं कि जिस कुटम्ब में 99 नौकर थे उसमें कस्सप सौवां था, उसने इस प्रकार सौवीं संख्या पूरी की (पूरण), इसलिए उसका नाम मालिक ने पूरण (पूरा करने वाला) रखा, और कस्सप उसका गोत्र था। वह अपने कुटुम्ब से भाग आया था, राह में चौरों ने उसके कपड़े छीन लिए, वह किसी प्रकार घास-पात लगाकर गाँव के अन्दर घुसा। किन्तु गांव वालों ने उसे नग्न देखकर उसे महान् साधु समझा और उसे बड़ा सम्मान दिया। उस समय से वह साधु बन गया और पांच सौ लोग साधु होकर उसका अनुसरण करने लगे। राजा अजातशत्रु एक बार पूरण कस्सप के पास आए और उससे पूछा कि इस संसार में ऐसा कौनसा प्रत्यक्ष फल है जो साधु बनकर मिल सकता है, पूरण कस्सप ने इस प्रकार उत्तर दिया, 'हे राजा जो कर्म करता है या औरों से कम कराता है, वह जो अंग खण्ड करता है या औरों से करवाता है, वह जो दंड देता है या दूसरों से दंड दिलवाता है, वह जो पीड़ा या शोक पहुँचाता है या, जो धूजता है या दूसरों को धुजाता है, वह जो जीव का हनन करता हे, वह न दी हुई वस्तु को लेता है, जो घर में चोरी के लिए घुसता है, जो डाका डालता है, रास्ते में डाका डालता है, व्यभिचार करता है, झूठ बोलता है, ऐसे कर्म करने वाले को पाप नहीं लगता। यदि उसके जैसी तीखी धार वाले चक्र से, वह सभी जीवों का ढेर कर देता है, मांस का एक ढेर लगा देता है, तो भी उसे पाप नहीं लगता पाप की वृद्धि, भी न होगी। यदि वह गंगा के दक्षिण तट पर भिक्षा दे भिक्षा देने का आदेश दे, यज्ञ करे या दूसरों से यज्ञ करवाए, तब उससे कोई पुण्य न होगा, न पुण्य में वृद्धि होगी। इस प्रकार प्रभु, पूरण कस्सप ने, साधु जीवन से मिलने वाले सुचिर लाभों के विषय में पूछने पर, अपने अकिरियम् सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] यह मत कर्म के सिद्धान्त का खंडन करता है और मानता है कि पाप और पुण्य जैसी कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार कोई भी कर्म किसी फल की प्राप्ति नहीं करा सकते।[2] इसे ही अक्रिया का सिद्धान्त कहते हैं और एक दृष्टि से वह उस प्रश्न का उत्तर है कि साधु बनने से प्रत्यक्ष क्या फल मिलता है। जब पाप और पुण्य दोनों ही नहीं हैं तो कोई भी कर्म धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं कर सकता—यह एक प्रकार का नात्थिकवाद है। किन्तु इस अक्रिया के सिद्धान्त[3] को शीलांक द्वारा, सूत्र कृतांग सूत्र 1-1-13 की अपनी टीका में

---

1 बुद्ध के संवाद, 1, 69-70।

2 बुद्ध घोषों इस पर टीका करते कहते हैं 'सव्वथापि पाप-पुन्नानाम् किरियामेव परिखिपति।'
—सुमंगल विलासिनी, 1-160।

3 इसे डॉ० बरुआ पुराण कस्सप का मत मानते हैं जो स्पस्ट ही एक बड़ी भूल है। बद्ध से पूर्व हिन्दू दर्शन। कलकत्ता 1921, पृ० 279।

बताए ऐसे सांख्य के अकारक सिद्धांत से संकीर्ण नहीं करना चाहिए। वह अकारक सिद्धान्त सांख्य मत है जिसके अनुसार आत्मा अच्छे बुरे किसी प्रकार के कर्म में भागी नहीं होता।[1]

अब हम दूसरे शून्यवादी आचार्य को देखें, जो अजित केश कम्बली है। उसके सिद्धान्त दीघ 2-22-24 में संक्षेप से वर्णन किए गए हैं, अजित कहते हैं, भिक्षा या दान या यज्ञ जैसी कोई वस्तु नहीं है न कोई फल ही है और न अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम है। इह लोक और परलोक जैसी कोई वस्तु नहीं है (नत्थी अय लोको न परलोको)। न बाप है न माता और उनके बिना जन्म जैसी भी वस्तु नहीं है। जगत् में ब्राह्मण या साधु कोई नहीं है, जो अन्तिम सीढ़ी पर पहुंचे हैं, जो पूर्ण आचरण करते हैं और जो अपने अनुभव से इह लोक और परलोक दोनों को समझ कर और प्राप्त करके, अपना ज्ञान दूसरों को बताते हैं। मनुष्य चार तत्त्वों का बना है, जब वह मर जाता है तो उसमें रहा पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में वापस जाकर उसी में समा जाता है, द्रव तत्त्व, पानी में, ताप अग्नि में, प्राण वायु में, और उसकी संज्ञाएँ आकाश में चली जाती हैं। चार उठाने वाले और पाँचवीं अर्थी, शरीर को ले जाती हैं, जब तक वे श्मशान पहुंचाते हैं तब तक उसके गुण गाते हैं, किन्तु वहाँ उसकी हड्डियाँ काली की जाती हैं, और उसकी भेंट राख से हो जाती है। मूर्खों का मत ही फल या भेंट की बात करता है। यह सब थोथा झूठ है, केवल व्यर्थ की बातचीत है, जब लोग कहते हैं कि इसमें लाभ है। मूर्ख और बुद्धिमान दोनों, देह के गिरने पर, काट दिए जाते हैं, नष्ट कर दिए जाते हैं और मृत्यु के बाद वे नहीं रहते हैं।[2] 'वह अजित केश कम्बली इसलिए कहलाता था कि वह मनुष्य के बाल के कपड़े पहनता था जो गर्मी में गरम रहते थे और सर्दी में ठण्डे रहते थे और जो इस प्रकार दुःख का स्रोत था।[3] यह स्पष्ट ही है कि अजित केश कम्बली का मत चार्वाक मत के समान है, जो हमें उद्धरणों तथा दूसरों द्वारा दिए गए उनके वर्णन से ज्ञात है। इस प्रकार, अजित परलोक नहीं मानते थे, पाप-पुण्य नहीं मानते थे और कर्म से फल-प्राप्ति को भी अस्वीकार करते थे। वह, अवश्य ही, इस मत को मानते थे कि देह चार तत्त्वों का बना है, और देह से पृथक् आत्मा नहीं है और देह के विनाश के साथ इस जीवन की समाप्ति होती है, और वैदिक यज्ञों से कोई लाभ नहीं होता।

अब हम मक्खलि गोशाल या मंखलि पुत्र गोशाल या मक्खलि गोशाल के सिद्धांत की ओर अपना ध्यान दें, जो महावीर और बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध घोष कहते हैं कि वे गोशाला में उत्पन्न हुए थे। वे जब बड़े हुए तब वे नौकरी करने लगे, तेल लाने के लिए कीचड़ में जाते हुए देख उन्हें उनके मालिक ने पैर न फिसले (माखलि) इसलिए सावधान किया, किन्तु सावधानी रखने पर भी वे फिसल गए और अपने मालिक के यहाँ से भाग गए। मालिक ने क्रोध से उनका पीछा किया, और उनकी

---

1 बाले च पण्डिते कायस्सभेदा उच्छिज्जन्ति विनस्संति, न होन्ति परं मरणा।'
—दीघ 2-23 बुद्ध के संवाद, 73-74।

2 सुमंगल विलासिनी, 1-1-44।

3 वही, 1-144।

धोती का पल्ला खेंच लिया जो उनके हाथ में रह गया और मक्खलि नग्न ही भाग गए। इस प्रकार नग्न हुए वे पूरण कस्सप की तरह साधु बन गए।[1] भगवती सूत्र 15–1 के अनुसार, तो वे मक्खलि के पुत्र थे, जो एक मंख थे (याचक जो घर-घर तस्वीरें दिखाकर निर्वाह करते हैं) और उनकी माता का नाम भद्दा था। वे गोशाल में जन्मे थे। उन्होंने स्वतः ही जवानी में भीख का व्यवसाय स्वीकारा। तेरहवें साल में उनकी महावीर से भेंट हुई, दो साल के बाद वे उनके शिष्य बन गए और छः साल तक उनके साथ रहकर तपश्चर्या करते रहे। इसके बाद सम्बन्ध विच्छेद हो गया और मक्खलि गोशाल ने दो साल तक तपस्या करके जिन स्थिति प्राप्त की, जबकि महावीर को इनके दो साल बाद जिन स्थिति प्राप्त हुई। इसके बाद वे 16 साल तक जैन बने रहे और उसके बाद महावीर उनसे सावत्थी में मिले जहाँ दोनों में झगड़ा हुआ और वे महावीर के श्राप से ज्वर से मर गए। हर्नले, उवास ग साओ के मूल और अनुवाद के संस्करण, पृ० 110–111 में बताते हैं कि महावीर का 450–451 ई० पू० निर्वाण हुआ जब उनकी आयु 56 वर्ष की थी। मक्खलि, आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। आजीवकों का वर्णन, गया के पास बर्बर पहाड़ी पर गुफा (जो उनको दी गई थी) में 236 ई० पू० अशोक के सातवें स्तम्भ लेख में है और नागार्जुनी पर्वत पर शिला में कटी गुफा में भी वर्णन पाया जाता है जो अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ के काल का है। इनका उल्लेख बराहमिहिर के बृहज्जातक (15–1) में भी है जो छठी शताब्दी ईसा के काल का है। शीलांक (9वीं शताब्दी) भी सूत्र कृतांग सूत्र (1-1-3,12 और 1-1-3, 11) में उल्लेख करते हैं जिसमें त्रैरासिकों के साथ आजीवकों का भी वर्णन करते हैं कि वे मक्खलि गोशाल के अनुयायी थे।[2] हलायुध भी आजीवकों को सामान्य जैन मानते हैं, किन्तु निर्ग्रंथ को दिगम्बर से भिन्न नहीं करते या दिगम्बरों को आजीवकों से एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने आजीवकों पर अपने लेख में किया है। हर्नले उसी लेख में यह बताते हैं कि 13वीं शताब्दी के विरिंचिपुरम् के पास पोयगै में पेरुमाल के मन्दिर की दीवारों के लेख में, चोल राजा राजराज ने सन् 1238, 1239, 1243 और 1259 में आजीवकों पर जो कर नियुक्त किए थे उनका वर्णन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मक्खलि की आजीवक प्रणाली का ई० पू० पांचवीं शताब्दी में प्रचार हुआ और वह

---

[1] सुमंगल विलासिनी, 1–143–144।

[2] त्रैरासिक सोचते हैं कि आत्मा सत्कर्म द्वारा कर्म से शुद्ध और पवित्र हो जाता है। और मुक्ति पाता है, किन्तु अपने सिद्धान्त की सफलता देखकर आत्मा खुश हो जाता है और अवगणना देखकर क्रुद्ध हो जाता है, और पुनर्जन्म पाकर सत्कर्म द्वारा कर्म से बुद्धि और स्वतन्त्रता पाता है और वह फिर सुख और दुःख से उसी प्रकार जन्मता है। उनकी धर्म पुस्तक 21 सूत्र की है। शीलांक, 1–3–3, 11 पर टीका करते हुए वे दिगम्बरों का आजीवकों का साथ-साथ वर्णन करते हैं किन्तु वे उन्हें हर्नले की तरह एक करते हैं जैसाकि हर्नले ने Encyclopaedia of Religion and Ethics में आजीवक पर लेख में कहा है। शीलांक के ठीक-ठीक वाक्य ये हैं, 'आजीविकादीनां परतीर्थकानां दिगंबराणां च असदाचरणैरुपनेया।'

उत्तर भारत में ही नहीं फैला किन्तु दक्षिण भारत में भी फैला और उसमें से और प्रणालियों ने भी विकास पाया जैसेकि त्रैराशिक। पाणिनि के व्याकरण में एक नियम (4–1–154) है, भस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः,' जिसका तात्पर्य यह है कि भस्कर का अर्थ वास है और मस्करिन् का अर्थ परिव्राजक है। पाणिनि, तो उसकी टीका में कहते हैं कि भस्करिन् वे थे जो कर्म न करने की सलाह देते थे और यह मानते थे कि शान्ति अधिक श्रेय है, (मास्कृत कर्माणि शांतिर्वह श्रेयसी इत्याह अतो भस्करी परिव्राजकः)। इसलिए इस शब्द से आवश्यक रूप से एक दण्डिन् अर्थ नहीं होता या वे जो एक बांस का दण्ड धारण करते हैं। मक्खलि का मस्करिन् से तादात्म्य करना संदेह-युक्त है।[1] यह भी शंकायुक्त है कि आजीवकों और दिगम्बरों को एक ही मानना चाहिए, जैसेकि हर्नले मानते हैं, क्योंकि न बराह और न भोहोत्पल आजीवकों और जैनों को एक मानते हैं और शीलांक इन दोनों को एक न समझ कर, भिन्न मानते हैं। हलायुध भी दिगम्बरों को और आजीवकों[2] को एक नहीं मानते। इसलिए, यह अत्यन्त संदेह-युक्त है कि आजीवकों को दिगम्बरों से एक माना जाय या यह सम्भवतः इसी कारण हो सकता है कि आगे जाकर दोनों दिगम्बर और आजीवक, नग्न रहते थे, इसलिए ये दोनों संकीर्णता से एक माने गए हैं।[3]

---

1 Encyclopaedia of Religion and Ethics में आजीवक पर अपने लेख में हर्नले यह कहते हैं, 'गोशाल, मक्खलि पुत्त या मंखलि (मस्करिन्) अर्थात् बांस के दण्ड वाला पुरुष कहलाता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि भूल में वह एक दण्डिन् वर्ग (एक दण्डिन्) का संन्यासी था, और यद्यपि वह महावीर का अनुयायी हो गया था और उनकी प्रणाली स्वीकारी थी तो भी वह अपने सिद्धान्त भी रखता था और उसने अपने विशिष्ट चिह्नों को भी रखा। 'बांस का दण्ड' यह सब शंकास्पद है, क्योंकि प्रथम तो मंख और भस्करिन् को एक नहीं किया जा सकता, दूसरा, मंख का अर्थ भिखाली है जो अपने हाथ में तस्वीर रखता है। मंखस्चित्र-फलक-व्यग्र करो भिक्षुको विशेषः (भगवती सूत्र, पृ० 662 पर अभयदेव सूरी की टीका निर्णयसागर)। और उनका नाम मंखलि था जिस पर से गोशाल मक्खलि पुत्र कहलाते थे। याकोबी (जैन सूत्र 2–2–67 की फुटनोट) और हर्नले (आजीवक Encyclopaedia of Religion and Ethics पृ० 266) दोनों यहाँ गलत हैं, क्योंकि जिसका उल्लेख है वह शीलांक की सूत्र कृतांग सूत्र 3–3–11 (आजीविकादीनां परतीर्थिकानाम् दिगम्बराणां च) पर टीका है जिसके वे 'च' को 'और' अर्थ में अनुवाद करते हैं, 'या' अर्थ से नहीं, इससे आजीवक दिगम्बर से विविक्त हो जाते हैं।

2 नग्ना तो दिग्वासा क्षपण. श्रमणाश्च जीवको जैनाः, आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः। —2–190।

3 दिव्यावदान पृ० 417, में एक प्रसंग का उल्लेख है जहाँ बुद्ध की मूर्ति एक निर्ग्रन्थ ने निन्दित की थी और फलवशात् 8000 आजीवक, पुण्ड्रवर्धन में मारे गए। डॉ० बरुवा भी अपनी पुस्तक आजीवक में इस प्रसंग का उल्लेख करते हैं।

गोशाल का मुख्य सिद्धान्त उवासगडसाओ, 1,97,115,2,3,132, संयुक्त निकाय 3-210 अंगुत्तर निकाय 1-286 और दीघ निकाय 2-20 में न्यूनाधिक रूप से एक-सा ही है। अन्तिम कहे ग्रन्थ में गोशाल अजातशत्रु से ऐसा कहते बताए गए हैं, 'जीवों के लिए दुःख का कोई कारण नहीं है, वे बिना कारण ही पीड़ा पाते हैं, जीवों की विशुद्धि का कोई कारण नहीं है : वे सब बिना कारण ही शुद्ध हो जाते हैं, दूसरों के या अपने कर्मों में कोई शक्ति नहीं है (न अत्थि अत्त कारे न 'अत्थि परकारे) या अपने स्वतन्त्र प्रयत्न में (परिष्कारे) न कोई शक्ति, न बल है, न मानवी शक्ति है या पराक्रम है।[1] सभी प्राणी (सब्बे सत्ता), सभी पशु, एक या अधिक इन्द्रिय युक्त हों, (सब्बे पाणा), सभी अण्डज या भ्रूणज, (सब्बे भूता) सभी पौधे बिना बल और क्रिया शक्ति के हैं। वे अपने रूप में अन्तःस्थित, भाग्य के कारण और स्वभाव से, विभिन्न जीव के रूप में अभिव्यक्त होते हैं नियति-संगति-भवपरिणति), और अपने षड्विध जीवनस्थिति के अनुसार सुख-दुःख पाते हैं।' पुनः, सूत्र-कृतांग सूत्र, 2-6-7 में गोशाल यह कहते बताए गए हैं कि साधु को स्त्रीगमन से कोई पाप नहीं होता।[2] गोशाल के इस सिद्धान्त के प्रति हमारी रुचि यहीं तक है कि वे अन्य नास्तिक उपदेशों के समान हैं। किन्तु अन्य नास्तिकों से विपरीत, गोशाल पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु, उन्होंने संजीवन का एक नया सिद्धांत भी प्रतिपादन किया।[3] दूसरे सिद्धांत जो दार्शनिक, नैतिक या

---

[1] जैसा बुद्ध घोष कहते हैं ये सब पुरिषकार को निर्दिष्ट करते हैं (सर्वैव पुरिषकार-विवेचनमेव)। —सुमंगल विलासिनी, 2-20।

[2] सूत्र कृतांग सूत्र (3–4–9) में एक दूसरा पाठ है (एवमेगे उ असत्था पण्णवन्ति अनारिया, इत्थिवासम् गया वाला जिनसासन परामुहा) जहाँ यह कहा है कि कुछ कुमार्गियों तथा लोग जो जैन हैं जैन सिद्धान्त से विमुख होकर स्त्री के गुलाम हो गए हैं। हर्नले कहते हैं कि (आजीवक पृष्ठ 261) यह पाठ गोशाल के अनुयायियों को लक्ष्य करके कहा गया है। किन्तु यदि हम शीलांक की टीका पर विश्वास करें तो उसका कोई प्रमाण नहीं है। शीलांक 'एगे' या 'एके' को 'बौद्ध विशेषा नील पटादयः नाथ-वादिक-मण्डल-प्रविष्टा वा शैव विशेषाः' और 'पसत्थ को सदनुष्ठानाव् पार्श्वे तिष्ठन्ति इति पार्श्वस्थाः स्वयूथ्या वा पार्श्वस्था वसन्न-कुशलादयः स्त्री परिषह पराजिताः।' ऐसा अर्थ करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार यह नील वसन पहनने वाले बौद्धों को, नाथवादी, शैव, और कुछ कुचरित्र जैनों को या सामान्य कुत्सित जनों को लक्ष्य करता है।

[3] गोशाल मानते थे कि एक व्यक्ति की आत्मा दूसरे मृत शरीर को सजीव कर सकती है। इस प्रकार जब महावीर ने उन्हें आह्वान किया और जो शिष्यों को उनसे कोई सम्पर्क रखने का निषेध करते थे, तब गोशाल ने यह कहा बताया कि मक्खलि पुत्त गोशाल जो महावीर का शिष्य था वह तो कभी का मर चुका है और उसने देवलोक में जन्म लिया है, जबकि वह उदायी कुण्डी यायणीय, वास्तव में है, जो संजीवन द्वारा, अपने सातवें और अन्तिम देह परिवर्तन में, गोशाल के देह में आया है। गोशाल के अनुसार जीव को 84 हजार महाकल्प समाप्त करने चाहिए जिसके अन्तर्गत, उसे सात बार देव लोक में और सात बार मनुष्य योनि में, सात बार

पुनर्जन्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं वे दीघ निकाय 2–20 और भगवती सूत्र 15 में दिए गए हैं, और ये हर्नले ने आजीवक के लेख में तथा उवासगडसाओ के अनुवाद में विस्तार से दिए हैं। दो महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमें यहाँ ध्यान देना चाहिए वह यह है कि आजीवक सम्प्रदाय जो एक विशिष्ट सम्प्रदाय था वह कर्म या संकल्प की शक्ति को नहीं मानता था, और स्त्री-संग को साधुओं के लिए निषिद्ध नहीं मानता था। सूत्र कृतांग सूत्र, 1,3,4,9-14 में अन्य विधर्मियों का भी उल्लेख है, जहाँ ऐसा कहा है कि वे भी ऐसे ही आचरण करते थे।[1] ऐसा कहा है, 'कुछ अयोग्य विधर्मी, स्त्री के गुलाम, अज्ञ लोग जो जैन नियम से विरुद्ध हैं ऐसा कहते हैं, जैसेकि फोड़े या स्फोट को दबाने से थोड़े समय के लिए आराम मिलता है, ठीक उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें पाप क्या हो सकता है ? जैसे एक भेड़ निर्मल पानी पीती है, उसी प्रकार रूपवती स्त्री का भोग है। इसमें क्या पाप है ? ऐसे कुछ अयोग्य विधर्मी, जो झूठे सिद्धान्त मानते हैं और वे जैसे भेड़ अपने बच्चे के लिए लालसा करती है ऐसे ही वे सुख की लालसा करते हैं। भविष्य का विचार नहीं करते हैं किन्तु केवल वर्तमान सुख को ही भोगते हैं वे पीछे मृत्यु या युवावस्था के बाद पछताते हैं।[2]

पुनः कुछ विधर्मियों (जिन्हें शीलांक लोकायत से एक करते हैं) का वर्णन सूत्र-कृतांग सूत्र 2-1,9-10 में मिलता है जो इस प्रकार उपदेश करते थे : पैर के तले से ऊपर बाल के सिरे तक और सभी तिर्यक् दिशा में, आत्मा चमड़ी तक है, जहाँ तक शरीर है वहाँ तक आत्मा है और शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इसलिए आत्मा देह से एक रूप है, जब देह मर जाती है आत्मा नहीं रहती। जब शरीर जला दिया जाता है तब आत्मा नहीं दीखती और जो कुछ भी दीखता है वह सफेद हड्डियाँ हैं। जब कोई म्यान से तलवार निकालता है, हम कह सकते हैं कि पहला दूसरे में रहता है, किन्तु कोई इसी प्रकार आत्मा के बारे में नहीं कह सकता कि वह शरीर में रहता है, वास्तव में आत्मा को शरीर से विविक्त करने का कोई भी रास्ता नहीं है जिससे कोई यह कह सके कि आत्मा शरीर में रहता है। तृण में से गूदा निकाला जा सकता है और मांस में से अस्थि, दही में से मक्खन, तिल में से तेल, इत्यादि, किन्तु शरीर और आत्मा में इस प्रकार का

संजीवन होकर, सारे कर्म पूरे करना चाहिए। भगवती सूत्र 15–673 निर्णय सागर देखो। हर्नले का उवासगडसाओ के अनुवाद के दो के परिशिष्ट तथा आजीवक निबंध जो Encyclopaedia of Religion and Ethics के पृ० 262 पर देखो। एक महाकल्प 300,000 सर का और एक सर, सात गंगा की रेती को (प्रत्येक गंगा 500 योजन या 2250 मील लम्बी 21।4 मील चौड़ी और 50 धनु या 100 गज गहरी) एक रेती को हटाने के लिए 100 वर्ष लगे इस हिसाब से खतम होने में लगे उतना समय। देखिए वही तथा रोकहिल की बुद्ध की जीवनी का पहला परिशिष्ट।

1 शीलांक के अनुसार वे एक बौद्ध सम्प्रदायी जो नीला वस्त्र पहनते थे, तथा शैव, नाथ तथा कुछ अद्भ जैन भी थे।

2 सूत्र कृतांग-सूत्र। याकोबी द्वारा अनूदित देखो। जैन सूत्र 2–270।

सम्बन्ध ढूँढ निकालना असम्भव है। आत्मा जैसी कोई पृथक् वस्तु नहीं है जो सुख और दुःख भोगती है और मृत्यु के पश्चात् परलोक में गमन करती है, क्योंकि शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ किन्तु आत्मा नहीं देखी जा सकती जैसे कि घड़े के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ किन्तु घड़े में आत्मा नहीं दीखती, जबकि तलवार म्यान से भिन्न दीखती है जिसमें वह रखी जा सकती है। लोकायत इस प्रकार सोचते हैं कि जीव को मारने में कोई दोष नहीं है क्योंकि हथियार से जीव को मारना, जमीन को मारने के बराबर है। ये लोकायत, इसलिए अच्छे-बुरे कर्म में विवेक नहीं कर सकते क्योंकि वे ऐसा सिद्धान्त नहीं जानते जिसके आधार पर वे ऐसा कर सकें, इस प्रकार उनके अनुसार नीति जैसी कोई वस्तु नहीं है। सामान्य नास्तिक और प्रगल्भ नास्तिक में थोड़ा-बहुत भेद किया गया है जो कहते हैं कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न होती जो उसका कोई निश्चित रूप, स्वाद या जैसा कुछ होता, किन्तु ऐसी कोई पृथक् वस्तु मिलती नहीं है, इसलिए आत्मा पृथक् है या नहीं माना जा सकता। सूत्र-कृतांग-सूत्र 2. 1. 9 (पृ० 277) में प्रगल्भ नास्तिकों के विषय में कहा है कि वे संसार को अपना सिद्धान्त स्वीकार करने के लिए कहते हैं, किन्तु शीलांक कहते हैं कि लोकायत प्रणाली में दीक्षा जैसा कुछ नहीं है और इसलिए उनमें साधु जैसा कोई नहीं हो सकता, अन्य सम्प्रदाय के साधु जैसेकि बौद्ध, वे कभी-कभी साधु अवस्था में लोकायत को पढ़ते हैं और लोकायत मत में परिवर्तित हो जाते हैं और दूसरों को उपदेश देने लगते हैं।[1]

सूत्र-कृतांग-सूत्र में लोकायत नास्तिक मत के प्रतिपादन के पश्चात् सांख्य मत का प्रतिपादन किया गया है। शीलांक इस सम्बन्ध में यह कहते हैं कि सांख्य और लोकायत में कुछ भी फर्क नहीं है, क्योंकि सांख्य यद्यपि आत्मा को मानते हैं किन्तु वह नितान्त निष्क्रिय है और सारा कार्य प्रकृति द्वारा होता है जो अव्यक्त रूप से स्थूल तत्त्व ही है। शरीर और तथाकथित मन, इसलिए स्थूल तत्त्वों से संघात से अन्यथा और कुछ नहीं है, और उनका पुरुष को पृथक् तत्त्व मानना केवल नाममात्र ही है। जबकि ऐसा आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता और निरुपयोगी है (अकिंचित्कर) लोकायत उसे अस्वीकार करते हैं। शीलांक आगे कहते हैं कि लोकायत की तरह सांख्यकार भी जीव की हिंसा को बुरा नहीं मानते, क्योंकि अन्त में सभी जीव भौतिक पदार्थ हैं, और तथाकथित आत्मा किसी भी कार्य में भाग लेने में असमर्थ है।[2] इसलिए न तो नास्तिक और न सांख्यवादी अच्छे और बुरे, स्वर्ग और नरक के बीच भेद सोच सकते हैं और इसलिए वे

---

[1] यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षादिकं तथापि अपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्याविधानेन प्रवज्या पश्चात् लोकायतिकमधीयानस्य तथाविध-परिणतेः तदेवाभिरुचितम्। शीलांक की सूत्र-कृतांग-सूत्र पर टीका, पृ० 280 (निर्ण० सा०)।

शीलांक 280-281 पृष्ठ पर बताते हैं कि भागवत और अन्य परिव्राजक, संन्यास के समय अनेक प्रकार के नियम की बाधा लेते हैं किन्तु ज्यों ही वे लोकायत-मत में परिणत होते हैं त्योंही वे स्वेच्छाचार करने लगते हैं। तब वे नीला वस्त्र (नील पट) पहनने लगते हैं।

[2] वही, पृ० 281, 283।

सभी प्रकार के भोगों में रत रहते हैं । लोकायत नास्तिक के विषय में, सूत्र-कृतांग-सूत्र में यह कहा है, इस प्रकार कुछ निर्लज्ज लोग साधु बनकर अपना ही धर्म प्रचलित करते हैं, और दूसरे उसे मानने लगते हैं, और अनुसरण करने लगते हैं, (यह कहते हुए), 'तुम सच कहते हो, ओ ब्राह्मण (या) ओ श्रमण, हम तुम्हें भोजन, पेय व्यंजन और मिष्टान्न, चोगा, भिक्षापात्र, झाड़ू के साथ भेंट करेंगे ।' कुछ लोगों को उन्हें सम्मान देने पर फुसलाया जाता है, कुछ लोगों ने उनके धर्म परिणतों से सम्मान दिलवाया । संघ में प्रवेश होने के पहले, उन्होंने श्रमण, घरबार रहित, गरीब साधु बनने का निश्चय कर लिया था, जिनके पास पुत्र और पशु न होंगे, और वे भिक्षान्न ही खाएँगे, और पाप न करेंगे । संघ में आने के बाद वे पाप करते हुए नहीं रुकते, वे स्वयं पाप करते हैं, और दूसरे पाप करने वालों का साथ देते हैं । तब वे भोग, विलास और विषय-सुख में रत हो जाते हैं वे लोभी, बद्ध, कामी, आलसी और प्रीति और घृणा के दास हैं ।[1]

हम केवल सूत्रकृतांग-सूत्र में ही नहीं किन्तु बृहदारण्यक, कठ में भी लोकायत का उपरोक्त वर्णित उल्लेख पाते हैं और छांदोग्य उपनिषद् 7-7-8 में जहाँ दानवों का प्रतिनिधि विरोचन जो प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के उपदेश के लिए आया था, वह 'देह ही आत्मा है' इस मत से संतुष्ट होकर चला गया । प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनों को पानी के कटोरे के पास खड़े रहने को कहा और उन्होंने अपना प्रतिबिम्ब देखा, प्रजापति ने उनसे कहा कि वह अच्छे वसन और आभरणयुक्त शरीर है, यही आत्मा है । विरोचन और इन्द्र दोनों संतुष्ट हो गए, किन्तु इन्द्र आगे जाकर असंतुष्ट हुए और दूसरे उपदेश के लिए लौटे जबकि विरोचन वापस नहीं आया । छांदोग्य उपनिषद् में यह एक पुरानी वार्ता के रूप में कही गई है और कहा है कि इसी कारण से, जो इस समय केवल संसार के सुखों को ही मानते हैं और जिन्हें विश्वास नहीं है (कर्म की शक्ति में, या आत्मा की अमरता में) और जो यज्ञ नहीं करते, वे असुर कहलाते हैं, और इसलिए वे मृत शरीर को अच्छे कपड़ों से, अच्छे आभूषणों से भूषित करते हैं और खाना देते हैं, यह सोचकर कि इससे वे सम्भवतः परलोक जीत लेंगे ।

छांदोग्य उपनिषद् का यह पाठ विशेष प्रकार से महत्त्वपूर्ण है । इससे यह पता चलता है कि आर्यों से भिन्न एक दूसरी जाति थी जिसे असुर कहते थे, जो मृत शरीर को अच्छे वस्त्र और आभूषणों से मंडित करती थी और खाना देता था जिससे कि वे पुनर्जन्म के समय इन वस्त्राभूषणों से परलोक में उन्नति कर सकें और ये ही लोग थे जो देह को आत्मा मानते थे । पीछे आने वाले लोकायत या चार्वाक भी देह को मानते थे । किन्तु इनमें यह भेद था कि छांदोग्य में कहे देहात्मवादी परलोक को मानते थे जहाँ से मृत्यु के बाद शरीर जाता है और मृत शरीर को दिए वस्त्राभूषण द्वारा वह उन्नति करता है । इस रीति को असुर-रीति कहा है । इसलिए यह सम्भावित है कि लोकायत सिद्धान्त का आरम्भ पूर्वगामी सुमेर संस्कृति में हुआ जहाँ यह मान्यता थी और मृत शरीर को वस्त्राभूषण से मंडित किया जाता था । यह मान्यता, आगे जाकर इतनी बदल गई कि ऐसा तर्क किया जाने लगा कि जब आत्मा और देह दोनों एक है

1 देखो जैन सूत्र, याकोवी, 2.341-342 ।

और जबकि शरीर मृत्यु के बाद जला दिया जाता है तो मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं हो सकता और इसलिए मृत्यु के बाद परलोक भी नहीं हो सकता। हमें ऐसे लोगों के होने का प्रमाण मिलता है जो मृत्यु के बाद चेतना की सत्ता नहीं मानते थे और मृत्यु के साथ सब कुछ खत्म होता है, ऐसा मानते थे, और छांदोग्य में हम देखते हैं कि विरोचन यह मानता था कि देह ही आत्मा है और यह रीति आसुरों में प्रचलित थी, ऐसा खोज से पता चला है।

गीता 17, 7-18 में आसुरों के सिद्धान्तों का ऐसा वर्णन है, 'असुर भले-बुरे का विवेक नहीं कर सकते, वे पवित्र, सत्यवादी नहीं हैं और योग्य आचरण नहीं करते, वे ऐसा नहीं सोचते कि संसार सच्चाई और सत्ता पर आधारित है, वे ईश्वर को नहीं मानते और सभी प्राणी काम-वासना से और केवल मैथुन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मानते हैं। ऐसा मानने वाले मूर्ख लोग संसार की बहुत हानि करते हैं। हिंसक कर्मों को करते हैं, और अपने आपका विनाश करते हैं (क्योंक वे परलोक में न विश्वास ही करते हैं, न उसकी प्राप्ति के साधनों में)।[1] अतोषणीय इच्छाओं, अहंकार, दर्प और अभिमान से भरे, वे अज्ञान से खोटा माग ग्रहण करते हैं और अशुचि जीवन जीते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जीवन का मृत्यु में अन्त होता है और इस संसार और उसके सुखों के परे कुछ भी नहीं और इसलिए संसार-सुख में रचेपचे रहते हैं। असंख्य इच्छा, क्रोध और राग में बंध, वे कुसाधन से संसार सुख की सामग्री को इकट्ठा करने में लगे रहते हैं, वे सर्वदा अपनी सम्पत्ति का ही ख्याल करते रहते हैं वे जो प्रतिदिन कमाते हैं और जिसका वे संग्रह करते रहते हैं, इससे वे वर्तमान में अपनी इच्छा तृप्त करते हैं या भविष्य में तृप्त करने की सोचते रहते हैं या वे अपने दुश्मनों को मारने की या जिन्हें उन्होंने मार डाला है उनके विषय में सोचते रहते हैं, इस प्रकार, वे अपने बल, सफलता, सुख, शक्ति इत्यादि के विषय में ही सोचते रहते हैं।

लोकायत जैसा एक सिद्धान्त, रामायण में (2-108) जाबालि ने प्रचलित किया था जहाँ वह कहता है कि यह कितना दयनीय है कि कुछ लोग संसार की अच्छी वस्तुओं के बजाय परलोक के पुण्य से अधिक रुचि रखते हैं, मृत पुरुषों के सताप के लिए श्राद्ध-यज्ञ करना भोजन का दुरुपयोग है, क्योंकि वे मृत होने से खा नहीं सकते। यदि लोगों द्वारा यहाँ खाया हुआ भोजन दूसरे शरीरों के लिए उपयोगी हो सकता है, तो जो लोग दूर देश में भ्रमण करते हैं, उनके लिए भोजन का प्रबन्ध करने के बजाय उनके लिए श्राद्ध करना अधिक अच्छा होगा। यद्यपि बुद्धिमानों ने दान, यज्ञ, दीक्षा और वैराग्य के पुण्यों की प्रशंसा में ग्रन्थ लिखे हैं, वास्तव में आँखों से जो दीखता है उससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

विष्णु पुराण में (1-6,29-31) वर्णन है कि कुछ लोगों को यज्ञ से लाभ होता है ऐसा नहीं मानते हैं और वेद और यज्ञ की निन्दा करते हैं, और महाभारत में (12,186) ऐसा भारद्वाज ने आग्रह किया है कि जीवन-व्यापार भौतिक और शरीर

---

[1] श्रीधर कहते हैं कि यह लोकायतों को लक्ष्य करता है।

—गीता, 16-9।

विज्ञान द्वारा समझाया जा सकता है और आत्मा की मान्यता स्वीकारना अनावश्यक है। महाभारत में हेतुकों का भी उल्लेख है जो परलोक को नहीं मानते थे, उनकी मान्यता प्राचीन और दृढ़ थी (दृढ़ पूर्वे) जो अपना मत परिवर्तन नहीं कर सकते थे, वे बहुश्रुत थे और अन्य शास्त्रों का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था, वे भेंट देते थे, यज्ञ करते थे, मिथ्या से घृणा करते थे, और सभा में बड़े वक्ता थे और लोगों में अपना मत प्रवर्तित करते थे। यह पाठ विचित्र तथ्य उपस्थित करता है कि वैदिकों में भी ऐसे लोग थे जो यज्ञ करते थे, भेंट देते थे और प्राचीन ग्रन्थों और वेद में निपुण थे, जो मिथ्या से घृणा करते थे, बड़े तार्किक और वक्ता थे, और तो भी इस संसार और जो कुछ उसमें है उससे किसी अन्य में विश्वास नहीं करते थे (नैतदस्ति इति वादिनः)। बौद्ध ग्रन्थों से हमें मालूम है कि ब्राह्मण लोकायत सिद्धान्त में प्रवीण थे, हम यह भी जानते हैं कि उपनिषद् की मंडली में, ऐसे भी लोग थे जो परलोक को नहीं मानते थे, उनका उल्लेख है और उनकी निंदा की गई है और छांदोग्य में उन लोगों का उल्लेख है जो मृतक को आभूषण से मंडित करने का रिवाज पालते थे और जिसके कारण देह को ही आत्मा मानते थे। रामायण में हमें पता है कि जाबालि उस सिद्धान्त का उपदेश करते थे जिसके अनुसार परलोक नहीं है और मृतात्मा के संतोष के लिए दान यज्ञ अनावश्यक है। गीता में भी ऐसे मतावलम्बियों का वर्णन है जो यज्ञ नाम मात्र ही से करते थे क्योंकि वे कर्मकाण्ड में श्रद्धा नहीं रखते थे।[1] किन्तु महाभारत में कुछ लोगों का वर्णन है जो बहुश्रुत थे, प्राचीन ग्रन्थों में निपुण थे, तो भी परलोक और आत्मा की अमरता नहीं मानते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि यह शास्त्रविरुद्ध मत (परलोक में अश्रद्धा) वेदानुयायियों की कुछ मंडली में क्रम से प्रचलित हो गया था और उनमें से कुछ अयोग्य पुरुष थे जो सिद्धान्तों का उपयोग विषय-भोग के सन्तोष के लिए करते थे और निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करते थे, कुछ ऐसे भी थे जो वेद की परिपाटी का पालन करते थे और तो भी आत्मा की अमरता में तथा इस लोक से परे परलोक में विश्वास नहीं करते थे। इस प्रकार, एक ओर वैदिक मंडली में, उस प्राचीन समय में, बहुत से नैतिक और विद्वान् पुरुष थे जो नास्तिकवाद मानते थे, जबकि कुछ अनैतिक और कुत्सित लोग थे जो दोषयुक्त जीवन व्यतीत करते थे और ऐसे नास्तिक मत को प्रकाश या प्रच्छन्न रूप में मानते थे।[2]

---

1 यजन्ते नाम जज्ञैस्ते दम्भेनाविधि-पूर्वकम्। —गीता, 16,71।

मैत्रायण उपनिषद् 8-8,9 में लिखा है कि बहुत से निरर्थक तर्क, उदाहरण, मिथ्या उपमान, भ्रमपूर्ण प्रमाण द्वारा, वैदिक आचरण का विरोध करने की इच्छा रखते हैं, वे आत्मा को नहीं मानते और चोर की तरह वे स्वर्ग कभी न जाएँगे और जिनके साथ कोई सम्पर्क न रखना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि इन लोगों के सिद्धान्त में कुछ भी नवीनता नहीं है किन्तु यह एक भिन्न प्रकार की वेद विद्या है (वेद विद्यान्तरम् तु तत्)। बृहस्पति शुक्र बने और उन्होंने असुरों को यह सिद्धान्त सिखाया जिससे वे वैदिक धर्म के प्रति घृणा करने लगे और अच्छा बनना बुरा समझने लगे और बुरे को अच्छा समझने लगे।

हम इस प्रकार जानते हैं कि लोकायत मत अतिप्राचीन, सम्भवतः वेद जितना प्राचीन या उससे भी प्राचीन था और आर्यों से पहले सुमेर के लोगों में प्रचलित था। हम आगे यह भी जानते हैं कि लोकायत पर भागुरी की टीका 200 या 300 वर्ष ई० पू० सुविख्यात थी, किन्तु लोकायत शास्त्र के रचयिता के बारे में कुछ कहना अति कठिन है। यह बृहस्पति या चार्वाक की रचना थी।[1] किन्तु यह कहना कठिन है कि यह बृहस्पति कौन है। एक राज नीति पर बृहस्पति सूत्र डा० एफ० डब्लू० थोमस द्वारा सम्पादित और अनूदित किया गया है जो लाहोर से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में लोकायत का वर्णन, 2,5,8,12,16,29 तथा 3,15 में हुआ है। यहाँ उन्हें चोर कहकर निन्दित किया है जो धर्म को एक लाभ मानते हैं और जो नरक में जाने योग्य है। इसलिए यह बिल्कुल निश्चित है कि बृहस्पति जो राजनीति के इस शास्त्र के रचयिता थे, वे लोकायत विद्या के रचयिता नहीं थे। न बृहस्पति उसके विधियुक्त रचयिता हो सकते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, एक बृहस्पति का, राजनीति के रचयिता के रूप में उल्लेख है, किन्तु यह एफ० डब्लू० थोमस द्वारा प्रकाशित बार्हस्पत्य सूत्र से भिन्न होगा।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित बृहस्पति खेती, वाणिज्य, व्यापार (वार्ता), विधि और दंड-नीति को ही केवल शास्त्र में स्वीकार करते हैं, उसी अध्याय के दूसरे पाठ में (विद्यासमुद्देश में) दंड-नीति को उशनस् द्वारा शिक्षा का विषय कहा है। प्रबोध चंद्रोदय में कृष्ण मिश्र, चार्वाक विधि और दंड नीति को ही विद्या मानते हैं ऐसा बताया है और वार्ता-विज्ञान (अर्थात् खेती, वाणिज्य-व्यापार, पशु-पालन इत्यादि) इसमें समाविष्ट होते हैं ऐसा कहा है। इस ज्ञान के अनुसार चार्वाक दण्डनीति और वार्ता को शास्त्र समझते थे और इस प्रकार इनके मत बृहस्पति और उशनस् से मिलते थे और विशेष कर पिछले से। परन्तु इससे हम यह नहीं मान सकते कि कौटिल्य द्वारा उल्लिखित बृहस्पति या उशनस् मूल लोकायत के रचयिता हो सकते हैं। लोकायत सूत्र के रचयिता, इस प्रकार एक काल्पनिक व्यक्ति दीखते हैं। लोकायत सूत्र के मूल प्रवर्त्तक के विषय में हमारे पास कोई ज्ञान नहीं है। यह सम्भव है कि मूल लोकायत ग्रन्थ सूत्र रूप मे लिखा गया हो और जिसकी कम से कम दो टीकाएँ थीं, जिसकी पहली टीका कम से कम 200 या 300 वर्ष ई० पू० पुरानी थी। इस प्रणाली के मुख्य सिद्धान्तों का कम से कम एक पद्यात्मक संस्करण था जिसके कुछ पाठ माधव के 'सर्वदर्शन संग्रह' तथा अन्य स्थान पर उद्धृत हैं।

यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी जीवित पुरुष का नाम था या नहीं। महाभारत 12-38 और 39 में, ही सर्वप्रथम इस नाम का उल्लेख मिलता है जहाँ चार्वाक को त्रिदंडी साधु ब्राह्मण के वेश में राक्षस कहा गया है, किन्तु उनके सिद्धान्तों

---

1 मैत्रायण बृहस्पति और शुक्र को रचयिता बताते हैं, कृष्ण मिश्र के प्रबोध चंद्रोदय में कहा है कि वे पहले बृहस्पति ने रचे और चार्वाक को दिए गए जिन्होंने अपने शिष्यों द्वारा लोगों में प्रचलित किए।

श्री डी० शास्त्री का चार्वाक षष्ठी भी देखो, पृ० 11-13। जहाँ वे अनेक आप्त प्रमाण देते हैं जो इसे बृहस्पति की रचना बताते हैं।

2 अर्थ शास्त्र कौटिल्य, पृ० 6,29,63,177,292 मैसूर, *1924*।

के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में लोकायत सिद्धान्त का या तो लोकायत मत या बृहस्पति के मत के नाम से वर्णन किया गया है। इस प्रकार पद्म पुराण के सृष्टि खंड 12, 318-340 में कुछ लोकायत सिद्धान्तों को बृहस्पति का उपदेश कहा गया है। आठवीं शताब्दी के कमलशील चार्वाकों को लोकायत सिद्धान्त का अनुयायी बताते हैं, प्रबोध चंद्रोदय, चार्वाक को एक महान् आचार्य बताते हैं जिन्होंने वाचस्पति द्वारा लिखित लोकायत शास्त्र को अपने शिष्यों तथा शिष्यों के शिष्यों द्वारा प्रचलित किया। माध्व, अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में उन्हें बृहस्पति के अनुयायी मुख्य नास्तिक बताते हैं (बृहस्पति मतानुसारिणी नास्तिक-शिरो-मणिना)। गुण रत्न, 'षड् दर्शन समुच्चय' में चार्वाक नास्तिक सम्प्रदाय का है ऐसा कहते हैं। ये केवल खाते ही हैं किन्तु पाप-पुण्य नहीं मानते और प्रत्यक्ष के सिवाय और किसी प्रमाण को नहीं मानते। वे शराब पीते थे और मांस खाते थे और विषय-भोग में रत रहते थे। प्रतिवर्ष वे एक दिवस इकट्ठे होते थे और अबाध-स्त्री संग करते थे। वे साधारण लोगों जैसा व्यवहार करते थे और इसी कारण वे लोकायत कहलाते थे और वे बार्हस्पत्य भी कहलाते थे क्योंकि वे बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित किए मतों को मानते थे। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि चार्वाक किसी सच्चे मनुष्य का नाम है या लोकायत मत में मानने वालों का केवल लाक्षणिक नाम है।

हरिभद्र और माधव, दोनों ने लोकायत या चार्वाक दर्शन को एक दर्शन-प्रणाली माना है। उनका तर्क नवीन था, वे अन्य भारतीय दर्शन के सुमान्य सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना करते थे, उनका दर्शन भौतिकवादी था, और नैतिकता, नैतिक उत्तरदायित्व और सभी प्रकार के धर्मों को अस्वीकार करते थे।

इसलिए, हम पहले चार्वाक न्याय को सर्वप्रथम देखें। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते थे। पाँच इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है उससे अन्य और कुछ नहीं है। किसी भी प्रकार का अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान, हेतु और साध्य के व्याप्ति-ज्ञान द्वारा शक्य है और इस हेतु का सम्बन्ध पक्ष में होना चाहिए। (व्याप्ति पक्ष धर्मताशालि हि लिंगं गमकम्)। यह व्याप्ति अन्यथा सिद्ध ही न होनी चाहिए किन्तु उसके अन्यथा सिद्धि में शंका नहीं होनी चाहिए। इस व्याप्ति का ज्ञान हुए बिना अनुमान शक्य नहीं है। परन्तु वह जाना कैसे जाय? प्रत्यक्ष द्वारा नहीं, क्योंकि व्याप्ति दृश्य वस्तु नहीं है जिससे इन्द्रिय सन्निकर्ष हो सके। इसके अतिरिक्त, एक वस्तु की दूसरी से व्याप्ति का अर्थ यह है कि ये भूत, भविष्य और वर्तमान में आपस में सम्बन्धित होंगी (सर्वोपसंहारवती व्याप्तिः) और भविष्य का सहचार इन्द्रियों का क्षेत्र नहीं हो सकता और भूतकाल भी नहीं। यदि ऐसा कहा जाता है कि व्याप्ति साध्य (अग्नि) और हेतु (धुआँ) के सामान्य गोचर में है तो यह आवश्यक नहीं है कि हेतु-साध्य की व्याप्ति इन्द्रियों द्वारा सभी काल में साक्षात् अनुभूत होनी चाहिए। किन्तु यदि व्याप्ति धुएँ और अग्नि के जाति गुणों में है तो एक अग्नि को धुएँ के सभी प्रसंगों के साथ क्यों सम्बन्धित होना चाहिए? यदि व्याप्ति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है तो वह मनस् द्वारा भी नहीं हो सकती, क्योंकि मन का सम्बन्ध बाह्य पदार्थ से इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है। व्याप्ति अनुमान द्वारा नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह अनुमान का आधार है। इस प्रकार, व्याप्ति के जानने का कोई मार्ग नहीं है और

अनुमान अशक्य हैं। पुनः, व्याप्ति अनुमान की सिद्धि के लिए निरुपाधिक होनी चाहिए, किन्तु अनुमान के समय, भूत और भविष्य में उपाधियों की अनुपस्थिति का अनुभव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उपाधियों को इस प्रकार व्याख्यायित किया है कि वह जो साध्य के साथ अचूक व्याप्ति सम्बन्ध में हैं, किन्तु हेतु के साथ ऐसे ही व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है (साधना व्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्ति)।[1]

पुनः, ऐसा कहा है कि अनुमान तभी शक्य है जब हेतु (धुआँ) पक्ष (पर्वत) से सम्बन्धित देखा गया है, किन्तु वास्तव में, पर्वत का धुएँ से कोई सम्बन्ध नहीं है और वह न उसका धर्म हो सकता है, क्योंकि वह अग्नि का गुण है। धुएँ और पर्वत के बीच कोई सर्वव्यापी स्वीकृति नहीं है जिससे कि हम यह कह सकें कि जहाँ-जहाँ पर्वत है वहाँ-वहाँ धूम है। न ऐसा भी कहा जा सकता है कि जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि और पर्वत दोनों ही हैं। जब कभी धुआँ पहले देखा जाता है तब वह पर्वत से सम्बन्धित अग्नि के गुण के रूप से नहीं देखा जाता, इसलिए यह कहना पर्याप्त नहीं है कि हेतु (धुआँ) पक्ष का धर्म है (पर्वत) किन्तु हेतु, साध्य से सम्बन्धित पक्ष के एक विभाग के गुण के रूप में जानना चाहिए।

सिद्ध अनुमान निम्न दो परिस्थितियों में शक्य है, (1) हेतु और साध्य में नियत अनन्यथा सिद्ध व्याप्ति इस प्रकार हो कि जब भी हेतु हो साध्य सभी काल और स्थान में किसी भी प्रभावित करने वाली उपाधि के बिना हो। (2) साध्य के साथ हेतु की ऐसी व्याप्ति पक्ष में बर्तती है ऐसा ज्ञान होना चाहिए, जिसमें साध्य की स्वीकृति की गई है। चार्वाक का यह विवाद है कि ये सारी उपाधियाँ पूर्ण करना शक्य नहीं है इसलिए सिद्ध अनुमान असम्भव है। पहले, व्याप्ति हेतु और साध्य के सम्बन्ध के भूयो दर्शन (अनेक उदाहरणों के) आधार पर सिद्ध की जाती है। किन्तु परिस्थितियाँ, देश और काल के भेद के अनुसार, पदार्थ की शक्ति और सामर्थ्य में भी भेद होता है और इस प्रकार जबकि पदार्थ के गुण धर्म सदा एक से नहीं रहते इसलिए दो पदार्थों का सभी परिस्थितियों, देश और काल में एक दूसरे से मिले होना असम्भव है।[2] पुनः, प्रसंगों के असंख्य अनुभव से भविष्य में सम्भावित सहमति के न मिलने का विलोप नहीं होता। धुएँ और अग्नि के सभी प्रसंग प्रत्यक्ष नहीं देखे जा शकते, और सहमति के पतन के अवसर निर्मूल नहीं किए जा सकते, और यदि सम्भावित होता तो अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती।[3] चार्वाक सामान्य को नहीं मानते और इसलिए वे यह

---

1 सर्वदर्शन संग्रह, 1।

2 देशकाल-दशा-भेद-विचित्रात्मसु वस्तुसु।
अविनाभाव नियमो न शक्यो वस्तुमाह च।

—न्याय मंजरी, पृ० 119।

3 न प्रत्यक्षीकृता यावद् धूमाग्नि-व्यक्तयोऽखिलाः।
तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्ने रिति शंक्यतै॥
ये तु प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यंति हि भवादृशाः।
किं दिव्य चक्षुषा मेषामनुमान-प्रयोजनम्॥

—वही।

स्वीकारते कि व्याप्ति धूम और अग्नि में नहीं है किन्तु धूमत्व और अग्नित्व में है।[1] पुनः, यह भी विश्वास होना कठिन है कि हेतु और साध्य की व्याप्ति से दूषित करने वाली उपाधियाँ है ही नहीं, क्योंकि वे अभी न देखने में आवें तो भी वे अदृश्य रह सकती हैं।[2] व्यतिरेक के बिना (अर्थात् जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है) व्याप्ति की निश्चितता नहीं है। व्यतिरेक के सारे प्रसंग को देख डालना असम्भव है। इस प्रकार जबकि व्यतिरेक और अन्वय के बिना व्याप्ति निश्चित नहीं की जा सकती और जबकि यह असम्भव है कि हम व्यतिरेक और अन्वय से व्याप्ति का विश्वास कर सकें तो व्याप्ति स्वयं निश्चित नहीं हो सकती।[3]

पुरन्दर, चार्वाक के अनुयायी (सम्भवतः सातवीं शताब्दी), तो सांसारिक वस्तुओं को निश्चित करने में अनुमान की उपयोगिता मानते हैं जहाँ प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है, किन्तु अनुमान परात्पर सत्ता के सिद्धान्त की सिद्धि या परलोक या कर्म के सिद्धान्त के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि ये सामान्य प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त नहीं हैं।[4] सामान्य जीवन के व्यावहारिक अनुभव में तथा परात्पर सत्य को निश्चय करने में अनुमान की प्रमाणता में इस भेद को दृढ़ता से धारण करने का मुख्य कारण यह है, कि निगमात्मक सामान्यीकरण व्यतिरेक और अन्वय के प्रसंगों के भूयोदर्शन के आधार पर किया होता है और अतीत लोक के विषय में अन्वय का उदाहरण नहीं मिलता है, क्योंकि यदि ऐसे लोक हैं भी तो उनका इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार, इन्द्रियातीत तथाकथित लोक में हेतु और साध्य की व्याप्ति का प्रसंग नहीं पाया जाता, तो निगमनात्मक

---

1 सामान्य द्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभाव निश्चयः।
वास्तवं हि न सामान्यं नाम किंचन विद्यते॥ —वही।

2 खण्डनखण्ड खाद्य से तुलना करो।

—पृ० 693।

व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावाधिः कुतः॥

3 नियमश्चानुमानांगं ग्रहीतः प्रतिपद्यते।
ग्रहणं चास्य नान्यत्र नास्तिता-निश्चयम् विना॥
दर्शनादर्शनाभ्यां हि नियमग्रहणं यदि,
तदप्यसदनग्नौ हि धूमस्येऽष्टमदर्शनम्,
अनग्निश्च कियान्सर्वं जगज्जवलन-वर्जितम्,
तत्र धूमस्य नास्तित्वं नैव पश्यंत्ययोगिनः। —न्याय मंजरी, पृ० 120।

4 इनका उल्लेख कमलशील की पंजिका, पृ० 431 में है। पुरन्दरस्त्वाह लोक प्रसिद्धम् अनुमानं चार्वाक रपीष्यते, एव, यतु कैश्चित् लौकिकं मार्गमतिक्रम्य अनुमानमुच्यते तन्निषिध्यते। वादिदेव सूरि प्रमाणनय तत्त्व लोकालंकार पर स्याद्वादरत्नाकर नामक अपनी टीका में पुरन्दर के सूत्र को उद्धृत करते हैं 2-131। प्रमाणस्य गौणत्वाद् अनुमानादर्थ-निश्चय-दुर्लभात्।

सामान्यीकरण या व्याप्ति का नियम इस लोक के लिए अनुपयुक्त होगा।[1] इसके उत्तर में वादिदेव कहते हैं कि ऐसा अभियोग मीमांसकों के लिए ठीक होगा जो सामान्यीकरण के लिए अन्वय-व्यतिरेक विधि पर आधार रखते हैं, किन्तु यह जैन मत के लिए उपयुक्त नहीं है जो अन्यथानुपपत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं (अन्यथानुपपत्तावेव तत्स्वरूपत्वेन स्वीकारात्)।

अनुमान की प्रमाणता के विरोध में और भी निम्न आक्षेप हैं, (1) अनुमान द्वारा जो संस्कार होते हैं वे धुंधले होते हैं और प्रत्यक्ष जैसे जीवित नहीं होते (अस्पष्टत्वात्), (2) अनुमान को अपना विषय निश्चित करने के लिए अन्य पदार्थों पर निर्भर रहना पड़ता है (स्वार्थ-निश्चये परापेक्षत्वात्), (3) अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा है (प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्), (4) अनुमित ज्ञान का विषय से साक्षात् नहीं होता, (अर्थादनुपजायमानत्वात्) (5) अनुमान वस्तुतः नहीं है (अवस्तु-विषयत्वात्), (6) यह बहुधा बाधित होता है (बाध्यमानत्वात्), (7) ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध करता हो कि जहाँ हेतु है वहाँ साध्य है (साध्य-साधनयोः प्रतिबन्धसाधक-प्रमाणाभावाद्वा)।[2]

जैन सिद्धान्त के अनुसार ये सारे कारण अनुमान को अप्रमाण मानने के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि पहले आक्षेप के उत्तर में, यह बताया जा सकता है कि स्पष्टता अनुमान की परिभाषा कभी भी नहीं मानी गई है, और इसलिए इसकी अनुपस्थिति से अनुमान अप्रमाण नहीं हो सकता, द्वि चंद्र-दर्शन रूपी भ्रम प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है किन्तु इस कारण उसे प्रमाण नहीं माना जाता। पुनः अनुमान सर्वदा प्रत्यक्ष पर आश्रित नहीं है और यदि ऐसा भी है तो वह अपने उपयोग के लिए सामग्री काम में लाता है और इससे अधिक कुछ नहीं करता। प्रत्यक्ष भी विशिष्ट सामग्री से उत्पन्न होता है, किन्तु इस कारण वह प्रमाण नहीं माना जाता। अनुमान भी अर्थ से उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष जितना ही स्पष्ट है क्योंकि वह प्रत्यक्ष की तरह सामान्य और विशेष को सन्निवेश करता है। पुनः, गलत अनुमान अवश्य ही बाधित होते हैं किन्तु यह प्रमाणित अनुमान का अभियोग नहीं हो सकता। हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध तर्क द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है।[3]

इस सम्बन्ध में जयन्त बताते हैं कि हेतु और साध्य के बीच अन्वय के सिद्धान्त को स्वीकारना पड़ेगा। अनुमान केवल प्रतिभा के कारण नहीं हो सकता। यदि नियत अनन्यथा सिद्धता का ज्ञान, अनुमान के लिए अनिवार्य नहीं माना जाता है, और यदि वह केवल प्रतिभा से ही है, तो नारिकेल द्वीप के लोग जो आग जलना नहीं जानते, वे अग्नि से धुएँ का अनुमान निकाल सकते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हेतु और साध्य का नियत सम्बन्ध मानव प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है। वे ऐसा मानते हैं कि हेतु और साध्य का सहचार तथा दूसरे के अभाव के समय पहले की अनुपस्थिति के देखने

---

1 अव्यवभिचारावगमो हि लौकिक हेतूनामनुमेयावगमे निमित्तं स नास्ति तत्र सिद्धेषु इति न तेभ्यः परोक्षार्थावगमो न्याय्योऽत इदं, उक्तमनुमानादर्थ-निश्चयो दुर्लभः।

2 वादिदेव सूरि कृत स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० 131, 132 (निर्णय सा० 1914)।

3 वादिदेव सूरि कृत स्याद्वादरत्नाकर।

में, मन धूम और अग्नि के बीच नियत सम्बन्ध समझ लेता है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे सामान्यीकरण के लिए हमें धूम और अग्नि के सहचार के सभी प्रसंगों को जहाँ-कहीं भी रहते हों, देखना चाहिए, क्योंकि धूम और अग्नि के बीच मन जो अन्वय अनुभव करता है वह वास्तव में धूम्रत्व और बह्नित्व के बीच होता है (ज्वलनत्वादि-सामान्य-पुरःसरतया व्याप्ति-ग्रहणात्)। इस मत के विरुद्ध आक्षेप यह हो सकता है कि जाति को नहीं माना जाय, जैसाकि चार्वाक, बौद्ध और अन्य करते हैं और भी पुनः जो यह कहते हैं कि जाति मान ली जाय, तो भी अग्नि के अभाव से धुएँ के अभाव के सम्बन्ध के सभी प्रसंगों का सामान्य प्रत्यय हो, यह असंभव है और ऐसी अवस्था में, अन्वय और व्यतिरेक के सभी प्रसंग जहाँ तक ग्रहण नहीं किए जाएँ वहाँ तक सामान्यीकरण असम्भव है। वे, इसलिए, मानते हैं कि कोई योगज प्रत्यक्ष (योगि प्रत्यक्ष कल्प) जैसे ज्ञान द्वारा ही प्रतिबंध ग्रहण होता है। दूसरे ऐसा मानते हैं कि अन्वय के अनेक प्रसंग के साथ व्यतिरेक का एक भी अनुभव नहीं होना व्याप्ति का विचार उत्पन्न करता है। किन्तु न्याय, व्याप्ति के लिए अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों पर बल देता है तथा उनकी आवश्यकता को मानता है।[1] चार्वाक तो यहाँ पर कहते हैं कि हेतु और साध्य के बीच नियत और अनन्यथा सिद्ध को निश्चित करने के लिए, दृष्ट उपाधियों के अभाव को प्रत्यक्ष देखना चाहिए, किन्तु अन्वय के विस्तृत अनुभव होने पर भी, अदृष्ट उपाधियों की सत्ता की सम्भावना को निष्कासित नहीं किया जा सकता, और इस प्रकार, हमेशा भय बना रहेगा कि हेतु और साध्य की व्याप्ति सोपाधिक है या नहीं, और इस प्रकार सभी अनुमान निश्चित नहीं, परन्तु सम्भावित ही हैं, और केवल प्रत्यक्ष समर्थन द्वारा ही अनुमान प्रमाणित माना जाता है।[2] न्याय का इस पर यह उत्तर है कि अनुमान अप्रमाण है यह कहना स्वयं अनुमान है जो अप्रमाण मानसिक व्यापार के साथ जुड़ा हुआ अनुमान जैसा व्यापार है। किन्तु इससे चार्वाक का यह मत पूर्णतया खंडित नहीं होता कि सामान्यीकरण सम्भावित ही है और इसलिए (जैसा पुरन्दर कहते हैं) वे अन्य अनुभव के समर्थन से कुछ प्रामाण्य पाते हैं, और जिस क्षेत्र में वे प्रत्यक्ष द्वारा समर्थित नहीं होते वहाँ इनका कोई बल नहीं होता।

जबकि चार्वाक अनुमान को सम्भावना से अधिक प्रमाणता नहीं देते इसलिए, अन्य प्रकार के प्रमाण भी, जैसेकि आप्त वाक्य या शास्त्र प्रवचन, उपमान या अर्थापत्ति भी प्रमाण नहीं माने गए हैं। उदयन के कथनानुसार, चार्वाक जिन्हें हम नहीं देख सकते उनकी सत्ता को अस्वीकार करते थे और उदयन यह बताते हैं कि यदि इस सिद्धान्त को पूर्णतया माना जाय और लोग जिन्हें वे विशेष समय पर नहीं देख पाते हैं

---

1 न्याय मंजरी, पृ० 122।

2 अथानुमानं न प्रमाणं योग्योपाधीनां योग्यानुपलब्धाभाव निश्चयेऽप्ययोगोपाधि-शंकया व्यभिचार-संशयात् शतशः सहचरितयोरपि व्याभिचारोपलब्धेश्च लोके धूमादि-दर्शनान्तरं बह्नयादि-व्यवहारश्च सम्भावना मात्रात् सम्वादेन च प्रमाण्याभिमानाद्। तत्त्व चिन्तामणि अनुमित। ऐसे समान मत के लिए 'रसल' की (Thysticisuc and Losic में कारण के विचार पर देखो।

उन्हें अस्वीकार करने लगें तो हमारा व्यावहारिक जीवन स्खलित हो जायगा, विचलित हो जाएगा ।[1] धूर्त चार्वाक तो अपने सूत्र ग्रन्थ में अनुमान को ही अस्वीकार नहीं करते किन्तु न्याय सूत्र 1-1-1 में दिए न्याय पदार्थ की आलोचना भी करते हैं और इस मत का प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं कि पदार्थों की इस प्रकार गणना अशक्य है ।[2] यह निस्संदेह सत्य है कि चार्वाक प्रत्यक्ष को एक प्रमाण मानते थे किन्तु प्रत्यक्ष में भी भ्रम उत्पन्न होता है इसलिए अन्त में सभी प्रमाणों को अनिश्चित माना है ।

चार्वाकों को एक ओर उन लोगों से वाद करना पड़ता था जो नित्य आत्मा को मानते थे जैसेकि जैन, नैयायिक, सांख्य, योग और मीमांसा, और दूसरी ओर विज्ञान-वादी बौद्धों से जो चेतना की स्थायी परम्परा में विश्वास रखते थे, क्योंकि चार्वाक मृत्यु के पश्चात् की सभी प्रकार की अवस्थाएँ अस्वीकार करते थे । इस प्रकार वे कहते हैं कि जबकि कोई स्थायी तत्त्व नहीं है जो मृत्यु के पश्चात् रहता है, इसलिए परलोक नहीं है । शरीर, बुद्धि और इन्द्रिय-व्यापार अनवरत बदलते रहते हैं इसलिए मृत्यु के बाद उसकी वैसी स्थिति हो नहीं सकती और इसलिए पृथक् आत्मा को स्वीकारा नहीं जा सकता । कुछ चार्वाकों के अनुसार, चेतना चार तत्त्वों से उत्पन्न होती है (उत्पद्यते) और दूसरों के अनुसार वह सुरा या दही की तरह उनमें से प्रकट होती है (अभिव्यज्यते) । वायु, अप, अग्नि और पृथ्वी के अणुओं की रचना और पुनः रचना के कारण ही, चेतना या तो उत्पन्न होती है या प्रकट होती है और शरीर और इन्द्रियाँ बनती हैं या उत्पन्न होती हैं । अणु की रचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और आगे और कोई पृथक् पदार्थ भी नहीं है ।[3]

सुशिक्षित चार्वाक मत वाले यह मानते हैं कि जहाँ तक शरीर रहता है वहाँ तक एक तत्त्व सभी अनुभवों का भोक्ता और द्रष्टा के रूप में रहता है । किन्तु मृत्यु के बाद ऐसा कोई तत्त्व नहीं रहता । यदि कोई स्थायी आत्मा जैसी वस्तु है जो मृत्यु के बाद एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करती है तो उसे पूर्व-जन्म की घटनाओं की स्मृति रहेगी जैसेकि एक व्यक्ति को अपने बचपन की युवावस्था में स्मृति रहती है ।[4] बौद्ध के इस मत के विरुद्ध तर्क करते हुए किसी भी जन्म की चेतना-परम्परा मृत्यु से पूर्व-जन्म की अन्तिम विज्ञान के कारण नहीं हो सकती या किसी जन्म की चेतना अवस्था, भविष्य के जन्म की चेतनावस्था का कारण नहीं हो सकती, चार्वाक यह कहते हैं कि भिन्न शरीर की चेतना और भिन्न परम्परा भिन्न शरीर की भिन्न चेतना

---

1 न्याय कुसुमांजली, उदयन, 3-5-6 ।

2 चार्वाक धूर्तस्तु अथातस्तावं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाण-प्रमेय संख्या-लक्षण-नियमाशक्य करणीयत्वमेव तत्त्वं व्याख्यातवान् प्रमाणसंख्या नियमाशक्य करणीयत्व सिद्धये च प्रमिति-भेदान् प्रत्यक्षादि प्रमाणानुपजन्या निदर्शानुपादर्शयत् ।

—न्याय मंजरी, पृ० 64 ।

3 तत्समुदाये विषयेंद्रिय-संज्ञा । चार्वाक सूत्र, कमलशील की पंजिका में उल्लिखित, पृ० 520 ।

4 न्याय मंजरी, पृ० 467 ।

परम्परा का कारण नहीं हो सकती। भिन्न परम्परा के ज्ञान की तरह, पूर्व शरीर की अन्तिम चेतनावस्था से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।[1] पुनः, सत्ता की चरम चेतनावस्था, जबकि, पृथक् जन्म में अन्य चेतनावस्था को उत्पन्न नहीं कर सकती तो यह विचारना गलत है कि मरते हुए पुरुष की चरम चेतनावस्था नए जन्म में कोई नए चेतना-सन्तान को उत्पन्न कर सकेगी। इसी कारण, चार्वाक गुरु कम्बलाश्वतर कहते हैं कि चेतना शरीर से प्राण, अपान और अन्य जीव क्रिया-शक्ति के व्यापार द्वारा उत्पन्न होती है। यह भी सोचना गलत है कि गर्भावस्था की पूर्वावस्थाओं में किसी प्रकार की अव्यक्त चेतना रहती है, क्योंकि चेतना का अर्थ विषय का ज्ञान है और गर्भावस्था में चेतना नहीं हो सकती जबकि इन्द्रियों का विकास नहीं हुआ होता है, इसी प्रकार मूर्च्छा में भी चेतना नहीं होती और यह सोचना गलत है कि इन स्थितियों में भी चेतना अव्यक्त शक्ति के रूप में रहती है, क्योंकि शक्ति अपने अधिष्ठान को पूर्व कल्पित करती है, और शरीर से अतिरिक्त चेतना का कोई आधार नहीं है और इसलिए, जब शरीर नष्ट होता है तब उसी के साथ समस्त चेतना का भी अन्त हो जाता है। यह भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि मृत्यु के समय, चेतना किसी मध्यस्थ शरीर में स्थानान्तरित होती है, क्योंकि ऐसी कोई देह देखी नहीं जाती और इसलिए इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता। दो भिन्न शरीर में एक ही चेतना-सन्तान नहीं रह सकता, इस प्रकार हाथी की चेतना अवस्था अश्व के शरीर की नहीं हो सकती।

चार्वाकों के इस आक्षेप का बौद्ध यों उत्तर देते हैं। यदि चार्वाक जन्मान्तर अवस्था को त्याग कर, जन्म और पुनर्जन्म करने वाले स्थायी तत्त्व की सत्ता का खंडन करना चाहते हैं तो बौद्धों को इस पर कोई आक्षेप नहीं है, क्योंकि वे भी ऐसे नित्य स्थायी आत्मा को नहीं मानते। बौद्ध मत यह है कि विज्ञान-परम्परा अनादि और अनन्त है जो 70, 80 या सौ की अवधि को लेकर वर्तमान, भूत और भविष्य जीवन कहलाता है। चार्वाकों का इस परम्परा को अनादि और अनन्त न मानना गलत है, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकारा जाता है तो जन्म के समय की अवस्था को प्रथम मानना पड़ता है और इससे यह अर्थ होगा कि वह अकारण है और इससे नित्य हो जायगी, क्योंकि वह बिना कारण है तो फिर उसका अन्त भी क्यों हो। वह किसी नित्य चेतना या ईश्वर द्वारा भी उत्पन्न नहीं की गई होगी, क्योंकि हम ऐसे नित्य तत्त्व को नहीं मानते : उसे स्वतः ही नित्य नहीं माना जा सकता, वह पृथ्वी, जल इत्यादि के नित्य अणु द्वारा भी उत्पन्न हुई नहीं हो सकती, क्योंकि यह बताया जा सकता है कि कोई भी नित्य तत्त्व किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार, अन्तिम विकल्प यह है कि वह चेतना की पूर्व स्थिति से उत्पन्न हुई होगी। यदि अणु को क्षणिक भी

---

1 यदि ज्ञानं न तद् विवक्षितातीत-देह-वर्तिचरं, ज्ञान-जन्यम्, ज्ञानत्वात् यथान्य-सन्तान-वर्ति ज्ञानम्।

—कमलशील की पंजिका, पृ० 521।

माना जाय, तो यह सिद्ध करना कठिन होगा कि चेतना उनसे उत्पन्न हुई है। जो नियम कारणत्व को निश्चित करता है वह, प्रथमतः, यह है कि कारण वह है जो वर्तमान में रहता हुआ, देखने योग्य था, किन्तु दीखने के पहले नहीं देखा गया था।[1] दूसरा, जब दो घटनाएँ ऐसी हैं कि यद्यपि सभी अन्य परिस्थितियां उनमें वैसी ही बनी रहती हैं, तो भी एक नए तत्त्व के आने से एक में तो नई घटना उत्पन्न हो जाती है जो दूसरे में उत्पन्न नहीं होती तब वह तत्त्व ही उस घटना का कारण है।[2] दो उदाहरण, जो इसी बात में भिन्न हों कि एक में कार्य हो और दूसरे में न हो, यदि वे एक दूसरे से, अन्य सभी बातों में मिलते हैं सिवाय इसके कि जिसमें कार्य है उनमें एक नवीन घटना उपस्थित हो गयी है जो दूसरे में विद्यमान नहीं है तो केवल ऐसे ही उदाहरण में, वही तत्त्व उस कार्य का कारण माना जा सकता है। नहीं तो, यदि कारण वह है जिसके अभाव में कार्य का भी अभाव रहता है, तो यहाँ एक विकल्प की सम्भावना रहती है जिसमें किसी अन्य तत्त्व की उपस्थिति जो अनुपस्थित भी था यह सम्भावना रहती है, और ऐसा भी हो सकता है कि इस तत्त्व की अनुपस्थिति के कारण ही कार्य भी अनुपस्थित था। इस प्रकार, दो उदाहरण, जिनमें कार्य रहता है और जिनमें वह नहीं रहता, वे ऐसे होने चाहिए कि, वे सभी प्रकार के समान हों, सिवाय इसके कि जहाँ कार्य रहता है वहाँ एक तत्त्व उपस्थित है और दूसरे में उसका अभाव है। देह और मनस् में इस प्रकार की कारणता का सम्बन्ध, अन्वय-व्यतिरेक विधि की कठोरता से नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मन और शरीर के बीच सम्बन्ध निश्चित करने के लिए अन्वय-विधि का प्रयोग करना अशक्य है क्योंकि शरीर का उसकी पूर्व गर्भावस्था में मन की उत्पत्ति के पहले निरीक्षण करना असम्भव है, क्योंकि बिना मन के निरीक्षण हो नहीं सकता। दूसरों के शरीर में भी मन का प्रत्यक्ष निरीक्षण नहीं किया जा सकता इसलिए यह कहना अशक्य है कि शरीर मन से पहले है। व्यतिरेक-विधि का भी उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई भी वह निरीक्षण नहीं कर सकता कि देह के अन्त होने पर मन का भी अन्त होता है या नहीं, और जबकि दूसरों के मनों को प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता इसलिए ऐसा निषेधात्मक निरीक्षण दूसरों के बारे में नहीं किया जा सकता और इसलिए यह कहना भी अशक्य है कि दूसरों के शरीर के अन्त के साथ उनके मन का भी अन्त होता है या नहीं। मृत्यु के समय शरीर की अचलता (अक्रियाशीलता) से यह अनुमान निकाला नहीं जा सकता कि मन के अन्त से ऐसा हुआ है, क्योंकि वह रह भी सकता है और शरीर में व्यापार न करता रहे। इसके अतिरिक्त, एक विशिष्ट शरीर उससे चालित नहीं होता इसका कारण यह है कि उस शरीर से सम्बन्धित इच्छाएँ तथा मिथ्या विचार जो पहले व्यापार करते थे, अब अनुपस्थित हैं।

---

[1] ये येषामुपलम्भे सति उपलब्धि-लक्षण प्राप्तं पूर्वमनुपलब्धं सदुपलभ्यते इत्येवमाश्रयणीयम्। —कमलशील पंजिका, पृ० 525।

[2] सत्सु तदन्येषु समर्थेषु तद् हेतुषु यस्यैकस्याभावे न भवति इत्येवमाश्रयणीयऽमन्यथा हि केवलं तदभावे न भवतीत्युपदर्शने संदिग्धमत्र तस्य सामर्थ्यं स्यादन्यस्यापि तत्समर्थस्याभावात्। —कमलशील पंजिका, पृ० 526।

पुनः, और भी कारण है जिनसे शरीर मन का कारण नहीं है यह माना जा सकता है, क्योंकि यदि सम्पूर्ण शरीर ही मन का कारण होता तो शरीर के थोड़े से भी दोषों (विकृति) ने मन के गुणों को परिवर्तित किया होता, या हाथी जैसे बड़े शरीर से सम्बन्धित मन आदमी के मनों से बड़े होते। यदि एक के बदलने पर दूसरे में परिवर्तन न हो, तो वे दोनों कार्य-कारण से सम्बन्धित नहीं हो सकते। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित मन का कारण है, क्योंकि इस प्रसंग में एक भी इन्द्रिय की क्षति से मनस् का धर्म और स्वरूप भी बदल जायगा। किन्तु हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता, और जब अर्धांग वायु से सभी कर्मेन्द्रियाँ व्यापार हीन हो जाती हैं, मन, बिना शक्ति के ह्रास के उसी प्रकार कार्य करता रह सकता है।[1] पुनः यद्यपि शरीर वैसा ही रहे, तो भी प्रकृति व स्वभाव और स्वर पर्याप्त रूप में बदल सकते हैं या आकस्मिक संवेग मन को सहज ही आन्दोलित कर दें, यद्यपि शरीर वैसा ही बना रहे। ऐसे उदाहरण भी यदि मिल जाँय जिससे यह सिद्ध हो जाय कि शरीर की स्थिति मन की स्थिति को प्रभावित करती है तो भी कोई भी कारण नहीं दिया जा सकता कि मन या आत्मा का नाश शरीर के नाश से क्यों हो। यदि शरीर और मन की सह-स्थिति के नियम से वे एक दूसरे से कार्य-कारण रूप से सम्बन्धित है ऐसा कहा जाय, तो जबकि मन शरीर के साथ उतना ही सह-स्थिति में है जैसा शरीर मन से है, तो मन भी शरीर का कारण हो सकता है। सह स्थिति कारणता को सिद्ध नहीं करती, क्योंकि सह-स्थिति किसी एक तीसरे कारणवशात् भी हो सकती है। गरम किया ताँबा गल जाता है, इसी प्रकार, गर्मी से एक और गर्मी के तत्व शरीर को उत्पन्न कर सकते हैं और दूसरी ओर मन या चेतना को। इसलिए, मन और शरीर की सह स्थिति आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं रखती कि पहला दूसरे का उपादान कारण है।

ऐसा कहा है कि उत्तर काल की मानसिक स्थिति पूर्वकाल की मानसिक स्थिति से उत्पन्न होती है, तो भी चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति का आरम्भ है और वह शरीर से उत्पन्न होती है और इस प्रकार बौद्ध मत कि विज्ञान-परम्परा अनादि है यह मिथ्या है। किन्तु यदि मानसिक स्थिति प्रथमतः शरीर द्वारा उत्पन्न होती है तो वे उत्तर काल के प्रसंगों में किसी प्रकार चक्षु या अन्य इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि यह आग्रह किया जाता है कि शरीर ही ज्ञान के प्रथम उदय का कारण है, किन्तु उत्तरावस्था का नहीं है, तो उत्तरकाल की मानसिक स्थितियाँ शरीर पर आधार रखे बिना अपने को उत्पन्न करने में समर्थ होनी चाहिए। यदि ऐसा माना जाता है कि एक मानसिक स्थिति दूसरी मानसिक स्थिति की परम्परा को, शरीर की सहायता से ही उत्पन्न कर सकती है, तो प्रत्येक ऐसी असंख्य परम्परा को उत्पन्न करेगी, किन्तु ऐसी असंख्य परम्पराएँ कभी भी अनुभव नहीं की गई हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शरीर चेतना को अपनी पहली अवस्था पर ही जन्म देता है और अन्य स्तर पर शरीर सहायक कारण ही रहता है, क्योंकि जो पहले उत्पत्ति कारण रहता है वह फिर

---

1 प्रसुप्तिकादि-रोगादिना कार्येन्द्रियादीनामुपघातेऽपि मनोधिर-विकृतैका विकलां स्वसत्ता-मनुभवति।

—कमलशील पंजिका, पृ० 527।

सहायक कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार, भौतिक तत्त्वों को भी अस्थायी माना जाय, तो वे भी कारण नहीं माने जा सकते। यदि मानसिक अवस्थाओं का आरम्भ माना जाता है तो यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्था का अर्थ इन्द्रिय-ज्ञान से है या विचार-प्रत्ययों से है। यह इन्द्रिय-ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि निद्रा, मूर्च्छा और अध्ययन की स्थिति में, इन्द्रिय-ज्ञान नहीं होता, यद्यपि इन्द्रियाँ रहती हैं, इसलिए यह मानना पड़ता है कि ज्ञान की पूर्व स्थिति के रूप में ध्यान का होना आवश्यक है, और इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय-व्यापार को ज्ञान का पूर्ण कारण नहीं माना जा सकता। मन को भी पूर्ण कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहाँ तक इन्द्रिय-गम्य तत्त्व या इद्रिय विषय या इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते वहाँ तक, मन उन पर कार्य नहीं कर सकता। यदि मन अपने द्वारा ही विषय जान सकता है तो फिर कोई अंधा या बहरा न होता। तर्क करने के लिए यह मान लिया जाय कि मन ज्ञान उत्पन्न करता है, तो यह पूछा जा सकता है यह ज्ञान सविकल्प है या निर्विकल्प, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान नाम और विषय (संकेत) के सहचार बिना अशक्य है। यह निर्विकल्प वस्तु या विषय को स्वलक्षण रूप से प्रकट करता है जो केवल मन द्वारा, इन्द्रियों की सहायता के बिना ग्रहण नहीं हो सकता। यदि यह माना जाता है कि इन्द्रिय-तत्त्व भी मन द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं, तो यह अति आदर्शवाद अपनाना होगा और चार्वाक मत को त्याग देना होगा। इस प्रकार चेतना अवस्था को अनादि और अनुत्पन्न मानना पड़ेगा। उनका विशिष्ट धर्म पूर्व जन्मों के अनुभवों की स्मृति के रूप में ही नवजात शिशु में स्नान-पान की तथा भय की प्रवृत्ति दीखती है।[1] इसलिए यह स्वीकारना पड़ता है कि चेतनावस्था न तो शरीर और न मन द्वारा ही उत्पन्न की जाती है, किन्तु वह अनादि है और पूर्व अवस्था द्वारा जनित है और वह फिर पूर्व अवस्था द्वारा इत्यादि। माता पिता की चेतना बच्चों की चेतना का कारण नहीं मानी जा सकती, क्योंकि बच्चों की चेतना समान प्रकृति की नहीं होती और ऐसे भी बहुत से जीव हैं जो माता-पिता से नहीं जन्मते। इसलिए, यह स्वीकारना पड़ता है कि इस जन्म की चेतनावस्था इससे पूर्व जन्म की चेतनावस्था से उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार, भूतकाल की सत्ता सिद्ध होती है और जबकि इस जन्म की चेतनावस्था पूर्वजन्म की चेतनावस्था से निश्चित होती है, तो इस जन्म की चेतना अन्य अवस्थाओं को भी निश्चित करेगी और यह भविष्य के जीवन को सिद्ध करती है, यदि वे रागद्वेष-क्रोध इत्यादि से सम्बन्धित हैं। क्योंकि एक चेतनावस्था दूसरी को तभी उत्पन्न कर सकती है जबकि वह राग-द्वेषादि से संयुक्त होती है और नवजात को पूर्वजन्म की चेतनावस्था से मिलती है जो इस जन्म के अनुभव को निश्चित करती है। यद्यपि भूतकाल के अनुभव वर्तमान में स्थानान्तरित होते हैं तो भी गर्भावस्था के मध्यवर्ती कड़े संक्षोभ के कारण, वे अनुभव बाल्यकाल में एकाएक नहीं दिखाई देते, किन्तु उम्र के साथ धीरे-धीरे प्रकट होते हैं। पहले अनुभव किया हुआ हमें हमेशा याद नहीं आता है, इस प्रकार, स्वप्न और सन्निपात में यद्यपि भूतकाल के अनुभव के अंश वर्तमान में

---

1 तस्मात्पूर्वाभ्यास कृत एवायं बालानाभिष्टानिष्टोपादान-परित्याग-लक्षणो व्यवहार इति सिद्धा बुद्धेरनादिता।

—कमलशील पंजिका, पृ० 532

रहते हैं, तो भी वे विकृत रूप से पुनः रचे जाते हैं और स्मृति रूप से नहीं दीखते। इसलिए भूतकाल के अनुभव बालक द्वारा साधारणतः याद नहीं किए जाते, यद्यपि कोई विलक्षण व्यक्ति होते हैं जो अपने पूर्व जन्म को भी याद कर सकते हैं। यह मानना गलत है कि मन शरीर से आधारित है और उसमें समाविष्ट है, क्योंकि मन अरूप है। पुनः, यदि मन का शरीर में समावेश होता और उसी द्रव्य का बना होता जिससे शरीर बना है, तो मानसिक अवस्था, चक्षु इन्द्रिय द्वारा ठीक उसी प्रकार दृश्य होती जैसे शरीर होता है। मानसिक स्थिति मन द्वारा ही ग्रहण होती है जिसमें वे होती हैं, किन्तु शरीर एवं मन दूसरों के द्वारा देखा जा सकता है, इसलिए, ये दोनों सर्वथा भिन्न गुणवान् हैं, इसलिए भिन्न हैं। शरीर अनवरत परिवर्तनशील है और चेतना की एकीकृत सन्तान ही शरीर की एकता का संस्कार उत्पन्न करती है। यद्यपि व्यक्तिगत चेतनाएँ क्षणक्षण नष्ट होती हैं, तो भी भूत, भविष्य और वर्तमान काल के जीवन में, संतान निरन्तरता से बनी रहती है। जब सन्नान भिन्न हैं जैसे कि गाय और घोड़े में, या दो भिन्न व्यक्तियों में एक सन्तान की अवस्था दूसरे की अवस्था को प्रभावित नहीं कर सकती। सन्तान में, एक-एक चेतना स्थिति दूसरी को निश्चित करती स्वीकारी गई है, और वह दूसरी को, और इस प्रकार आगे। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि चेतना, अचेतनवस्था में भी है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो, उस समय चेतना का स्खलन होता और इसका अर्थ यह होता कि सन्तान-क्रम टूट गया है। चेतना की अवस्थाएँ इन्द्रियों से तथा इन्द्रिय के विषयों से स्वतंत्र है, क्योंकि वे पूर्वावस्था से निरूपित होती हैं, स्वप्न में, जब इन्द्रिय-व्यापार नहीं होता और जब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता, तब भी चेतना अवस्था उत्पन्न होती रहती है, और भूत या भविष्य के ज्ञान के प्रसंग में या शश-विषाण जैसे तुच्छ वस्तु के ज्ञान में चेतनावस्था की स्वतंत्रता स्पष्ट सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चेतना न तो शरीर-जनित है न वह किसी भी प्रकार उससे निरूपित या मर्यादित है और वह केवल भूतकाल की अवस्थाओं से निरूपित होती है और वे स्वयं भविष्य की अवस्थाओं को निश्चित करती है। इस प्रकार भूत और भविष्य जीवन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

चार्वाकों के विरुद्ध जैन और नैयायिकों के तर्क, विज्ञानवादी बौद्धों के तर्क से कुछ भिन्न प्रकार के हैं, जिन्हें हम अभी ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, क्योंकि पहले स्थायी आत्मा को मानते हैं और दूसरे नहीं मानते। इस प्रकार विद्यानन्दी, अपने 'तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक' में कहते हैं कि आत्मा भौतिक तत्त्वों का कार्य क्यों नहीं माना जा सकता इसका मुख्य कारण यह कि चेतना सर्वव्यापी है, निरन्तर है, निर्विवाद सत्य है जो देश काल से अमर्यादित है। 'यह नीला है' या 'मैं गोरा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य पदार्थ या इन्द्रिय पर आधारित है इसलिए इन्हें स्ववेदना के विशिष्ट उदाहरण नहीं माना जा सकता। किन्तु 'मैं सुखी हूँ' ऐसे अनुभव जो साक्षात् अहं के स्वानुभव को लक्ष्य करते हैं, इंद्रियादि बाह्य साधनों के व्यापार पर निर्भर नहीं हैं। यदि यह स्ववेदना स्वतः सिद्ध न होती, तो कोई भी सिद्धान्त,—चार्वाक मत भी नहीं, जो सभी प्रमाणित मान्यताओं का खण्डन करना चाहता है—प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी प्रतिपादन इस स्ववेदना के कारण ही होते हैं। यदि किसी

चेतना को प्रमाणित होने के लिए दूसरी चेतना की आवश्यकता रहती है, तो वह अनवस्था स्थिति उत्पन्न करेगी और पहली चेतना को अचेतन मानना पड़ेगा। इस प्रकार, जबकि आत्मा स्वसंवेदन में प्रकट होता है और जबकि शरीर, अन्य भौतिक पदार्थों की तरह, इंद्रिय-व्यापार द्वारा प्रत्यक्ष होता है, तो पहला दूसरे से सर्वथा भिन्न है और पिछला उत्पन्न नहीं किया जा सकता, और क्योंकि वह नित्य है इसलिए पिछले को प्रकट नहीं किया जा सकता। पुनः जबकि चेतना इंद्रियों के बिना भी रहती है, और जबकि वह शरीर और इंद्रियों के होते हुए भी न रहे (जैसेकि मृत शरीर में), तो चेतना शरीर पर आधारित है ऐसा नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आत्मा शरीर से स्वसंवेदना द्वारा, साक्षात् भिन्न प्रतीत होता है। विद्यानंदी के अन्य तर्क विज्ञानवादी बौद्धों की ओर किए हैं जो नित्य आत्मा में नहीं मानते किन्तु चेतना की अनादि सन्तान को मानते हैं, इस विवाद का यहाँ पर ही अन्त करना योग्य होगा।[1]

न्याय मंजरी में जयन्त यह तर्क करते हैं कि शरीर, बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक में निरन्तर बदलता रहता है और इसलिए एक शरीर का अनुभव नवीन शरीर को नहीं हो सकता जो वृद्धि या ह्रास से बना है, और इसलिए अहं की एकता और प्रत्यभिज्ञा जो ज्ञान के आवश्यक अंग हैं, शरीर के धर्म नहीं हो सकते।[2] यह निस्संदेह ही सत्य है कि अच्छा भोजन और औषध जो शरीर के लिए सहायक हैं, वे बुद्धि को सुचारु रूप से कार्य करने में भी सहायक हैं। यह भी सत्य है कि दही, पौधे और भीगा हुआ स्थान तुरन्त ही कीट को जन्म देने लगते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भौतिक पदार्थ चेतना को जन्म देता है। आत्मा सर्वव्यापी है और जब भौतिक तत्वों का योग्य परिणाम होता है तब वे उनके द्वारा अपने कर्मानुसार प्रकट होते हैं। पुनः, चेतना इंद्रियों का धर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि भिन्न इंद्रिय-ज्ञान को छोड़कर, अहं वेदना भी है जो भिन्न इंद्रियों के ज्ञान का सन्निधान कराती है। इस प्रकार, मुझे अनुभव होता है कि जो कुछ भी मैं आँखों से देखता हूँ, उसे हाथ से स्पर्श करता हूँ, जो स्पष्ट बताता है कि इंद्रिय ज्ञान को छोड़कर, एक व्यक्तिगत अनुभविता है या अहं है जो इन संवेदनाओं का सन्निधान करता है और ऐसे तत्व के बिना भिन्न संवेदनाओं की एकता लाई नहीं जा सकती। सुशिक्षित चार्वाक, तो अवश्य ही, यह मानते हैं कि जहाँ तक शरीर है वहाँ तक एक प्रमातृ-तत्व रहता है, किन्तु यह प्रमातृ-तत्व पुनर्जन्म नहीं करता, किन्तु शरीर के विनाश के साथ वह भी नष्ट हो जाता है, आत्मा इस प्रकार अमर नहीं है, और शरीर के नाश के पश्चात् परलोक नहीं है।[3] इसका जयन्त यह उत्तर देते हैं कि आत्मा की स्थिति को इस शरीर की जीवितावस्था तक स्वीकारा जाता है, तो जबकि यह आत्मा शरीर से भिन्न है और जबकि वह अखंड और स्वरूप से अभौतिक है, तो उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। जिस प्रकार शरीर जलता या पशु या पक्षियों द्वारा टुकड़े-टुकड़े किया जाता

---

[1] तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, पृ० 26-52।

[2] न्याय मंजरी, पृ० 439-441।

[3] न्याय मंजरी, पृ० 637-468।

देखा है ऐसा आत्मा का होता हुआ कभी किसी ने नहीं देखा है। इस प्रकार, जब इसे नष्ट होता हुआ नहीं देखा गया है, और जबकि इसे नष्ट करने वाले कारण का अनुमान करना अशक्य है तो इसे अमर मानना पड़ता है। जबकि आत्मा नित्य है, और क्योंकि उसका शरीर से भूत और वर्तमान में सम्बन्ध है, तो यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि उसका शरीर से भविष्य में भी सम्बन्ध होगा। इस प्रकार, आत्मा न तो शरीर के एक अंग में या पूरे सारे शरीर में वास करता है, किन्तु वह सर्वव्यापी है और उस शरीर के अधिपति की तरह व्यवहार करता है जिससे वह कर्म-बन्धन से युक्त है। जयन्त परलोक को पुनर्जन्म या आत्मा का मृत्यु के पश्चात् अन्य शरीरों से सम्बन्ध कहते हैं। पुनर्जन्म के बारे में वे ये प्रमाण देते हैं, पहला, बालक की स्तन-पान की मूल प्रवृत्ति या उसका आकरण हर्ष या शोक का अनुभव करना जो उसके पूर्व-जन्म के अनुभवों की स्मृति के कारण माना जा सकता है, तथा, दूसरा, शक्ति, बुद्धि, प्रकृति, चरित्र और आदतों में असमानता से, एक ही प्रकार के प्रयत्न से फल पाने में असमानता से है। यह सब अन्य जन्म में किए कर्म के प्रभाव की मान्यता से ही समझाया जा सकता है।[1]

शंकर, ब्रह्म सूत्र 3-3-53,54 की टीका में लोकायत के अनात्मवाद का खण्डन करने का प्रयास करते हैं। लोकायतिकों के तर्क के मुख्य विषय जो यहाँ वर्णित हैं, वे ये हैं : जबकि चेतना तभी तक है जब तक शरीर है, और शरीर के न होते नहीं रहती, इसलिए यह चेतना शरीर का कार्य होना चाहिए। जीवन-क्रिया, चेतना, स्मृति और अन्य बुद्धि-व्यापार भी शरीर के धर्म हैं, क्योंकि वे शरीर में ही अनुभव किए जाते हैं, और शरीर से बाहर नहीं किए जाते।[2] इस पर शंकर यह उत्तर देते हैं कि प्राण चेष्टा, स्मृति इत्यादि शरीर के रहते भी नहीं रहते, (मृत्यु-समय), इसलिए, वे शरीर के कार्य नहीं हो सकते। शरीर के गुण, रूप, आकार इत्यादि प्रत्येक द्वारा दृश्य हैं किन्तु कुछ ऐसे हैं जो स्मृति चेतना इत्यादि को नहीं देख सकते। पुनः, यद्यपि ये सब शरीर के रहते ही देखे जाते हैं, तो भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सकता है वे शरीर के अन्त पर नहीं रहते। आगे, यदि चेतना शरीर का कार्य है, वह शरीर को (ग्रहण) पकड़ नहीं सकती, अग्नि अपने को जला नहीं सकती, और नाचने वाला अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता। चेतना सदा एक है, और अपरिणामी है और इसलिए उसे अमर आत्मा मानना चाहिए। यद्यपि साधारणतः, आत्मा शरीर से सम्बन्धित होकर ही प्रकट होता है, यह इसी बात को बताता है कि शरीर उसका साधन है, किन्तु यह सिद्ध नहीं करता कि वह शरीर का कार्य है, जैसाकि चार्वाक कहते हैं चार्वाकों ने रूढ़िग्रस्त हिन्दुओं की समस्त, सामाजिक,

---

1 न्याय मंजरी, पृ० 470-473।

2 यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्ताद्-धर्मत्वेन अध्यवसीयते यथाग्निधर्मा वौष्ण्य-प्रकाशौ, प्राण-चेष्टा-चैतन्य-स्मृत्यादयश्चात्म-धर्मत्वेनाभिमता आत्म-वादिनां तेऽप्य न्तरेव देहोपलभ्यमाना बहि श्चानुलभ्यमाना असिद्धे देह-व्यतिरिक्ते धर्मिणि देह धर्मा एव भवितुमर्हन्ति, तस्माद व्यतिरेको देहादात्मान इति।

—शंकर भाष्य, ब्र० सू० 3-3-53।

नैतिक और धार्मिक मान्यताओं की आलोचना की। इस प्रकार, श्री हर्ष, 'नैषध चरित्त' में उनके मत का प्रतिनिधित्व करते ऐसा कहते हैं, 'शास्त्र का यह मत कि यज्ञ करने से अनोखे फल प्राप्त हो सकते हैं, अनुभव द्वारा साक्षात् बाधित होता है, और वे पत्थर तैरते हैं ऐसी पुराण गाथा जैसे ही असत्य हैं। जो बुद्धिहीन हैं और कार्य शक्तिहीन हैं, वे ही वैदिक यज्ञ द्वारा अपना निर्वाह करते हैं या त्रिदण्ड धारण करते हैं या कपाल पर राख मलते हैं। वर्ण की पवित्रता का कोई नैश्चित्य नहीं है, क्योंकि पुरुष और स्त्रियों की अनियंत्रित काम-वासना को देखते यह कहना असम्भव है कि कोई भी गोत्र किसी भी कुल में इतिहास में शुद्ध रखा गया है, चाहे फिर मातृपक्ष या पितृ-पक्ष हो। मनुष्य अपने को पवित्र और शुद्ध रखने में विशेषतया तत्पर नहीं है और स्त्रियों को हरम से रखने का ईर्ष्या के सिवाय और कोई कारण नहीं है, यह सोचना अन्यायपूर्ण है कि अनियंत्रित स्त्री-भोग से पाप होता है, या पाप से दुःख होता है और पुण्य से परलोक में सुख मिलता है, क्योंकि जब हम बहुधा देखते हैं कि पापी लोग उन्नति करते हैं और पुण्यशाली पीड़ा पाते हैं तो परलोक में न जाने क्या होगा?' वेद और स्मृति निरन्तर एक दूसरे के विरोध में आते हैं और टीकाकारों की चालाकी से ही उनमें संगति की जाती है, यदि ऐसा ही है, तो फिर कोई ऐसे मत में क्यों न आस्था रखे जिसमें स्वेच्छाचार मान्य हो? ऐसा माना है कि अहं शरीर से सम्बन्धित है, किन्तु जब यह देह जल जाता है तो पाप-पुण्य का क्या बाकी बचता है और अन्य अहं-अन्य शरीर द्वारा अनुभव करने के लिए कुछ बाकी भी बचता है, बचता भी तो वह मुझे पीड़ा नहीं कर सकता। यह मानना हस्यास्पद है कि कोई मृत्यु के बाद कुछ भी स्मरण रखे या यह कि मृत्यु के बाद कर्म-फल मिलेंगे, या यह कि ब्राह्मणों को मृत्यु के बाद भोजन कराने से तथाकथित मृतात्मा को किसी प्रकार का संतोष होगा। फूलों से प्रतिमा-पूजा या पत्थर की पूजा या धार्मिक रीति के तौर पर गंगा-स्नान नितान्त हास्यास्पद है। मृतात्मा के लिए श्राद्ध करना निरुपयोगी है, क्योंकि यदि भोजन की भेंट मृतात्मा को संतुष्ट कर सकती है तो यात्रियों की भूख भी, उनके घर वालों द्वारा घर में ही भोजन की भेंट देने से, संतुष्ट हो सकती है। वास्तव में, शरीर की मृत्यु और नाश के साथ सभी कुछ अन्त हो जाता है, क्योंकि शरीर के राख हो जाने पर कुछ भी बाकी नहीं बचता। जबकि आत्मा नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है, ईश्वर और परलोक नहीं है, और जबकि शास्त्र, लोगों को धोखा देने में रत पुरोहितों के उपदेश मात्र हैं, और पुराण केवल मिथ्या कपोल-कल्पित वर्णन और कल्पित वार्ताएँ हैं, तो हमारे जीवन का एक आदर्श आचरण केवल विषय-सुख-भोग ही है। पाप और पुण्य का कोई अर्थ नहीं है, वे केवल शब्द ही शब्द हैं जिससे डरकर लोग पुरोहितों का स्वार्थ साधने वाले आचरण करने पर बाध्य होते हैं। दर्शन के क्षेत्र में चार्वाक भौतिकवादी हैं और पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के दृश्य अणु और उनके संयोग से परे और किसी को नहीं मानते, तर्क-शास्त्र के क्षेत्र में, प्रत्यक्ष के सिवाय किसी प्रमाण को नहीं मानते, वे कर्मफल पुनर्जन्म और आत्मा का निषेध करते हैं। एक ही वस्तु जिसमें वे रुचि रखते हैं वह क्षणिक इन्द्रिय-सुख है, इन्द्रिय-सुखों का अबाध भोग है। वे वर्तमान सुख को भविष्य के सुख के लिए त्यागने में विश्वास नहीं करते थे, वे सर्वांगीण सुख की वृद्धि और सम्पूर्ण जीवन के स्वास्थ्य का उद्देश्य नहीं रखते थे, जैसाकि हम चरक

की प्रणाली में पाते हैं, उनके लिए आज का कपोत कल के मयूर से अधिक मूल्यवान् है, आज पास में ताँबे का सिक्का होना भविष्य के अनिश्चित मोहर से अधिक अच्छा है ।[1] इस प्रकार इसी क्षण के इन्द्रिय-सुख को ही वे चाहते थे, और वर्तमान सुख का त्याग करने वालों की दूरदर्शिता, संयम या अन्य सावधानी के व्यवहार को अबुद्धिमानी और मूर्खता कहते थे । ऐसा नहीं लगता कि उनके सिद्धान्त में निराशावाद था । उनकी नैतिकता, उनके दार्शनिक और तर्क-सिद्धान्त से अनुमित होती थी कि इन्द्रिय के विषय और इन्द्रिय-सुख ही केवल हैं और अतींद्रिय या परात्पर जैसी कोई सत्ता नहीं है, और इस प्रकार सुखों में किसी प्रकार गुण-दृष्टि में स्तर-भेद नहीं है और कोई कारण नहीं है कि हम क्यों अपनी इन्द्रिय-सुख की सामान्य प्रवृत्ति पर किसी प्रकार का निरोध रखें ।

---

1 वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्
वरम संशयिकात् निष्कादसंशयिकः
कार्षापण इति लोकायतिकाः ।

—काम सूत्र, 1. 2. 29,30

शप

अ
सी क
ा, वे
रख

डा० दासगुप्त लिखित 'भारतीय दर्शन का इतिहास' भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं की प्रामाणिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला विद्वज्जन-समादृत श्रेण्य ग्रन्थ है। अद्भुत प्रतिभा और मीमांसा-शक्ति सम्पन्न इस विद्वान् ने पाँच खण्डों में भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों, सरणियों, ग्रन्थों, ग्रन्थकारों आदि का जो आलोचनात्मक तुलनात्मक एवं तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है उसे विद्वान्, प्राध्यापक, छात्र आदि सभी जिज्ञासु संदर्भग्रन्थ के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसमें मूल ग्रन्थों के संदर्भ एवं उद्धरणों सहित पृथक्-पृथक् शाखाओं का विवरण एवं इतिहास उपलब्ध हो जाता है।

इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में वेदान्त की दाक्षिणात्य शाखाओं का विवेचन करते हुए लेखक ने ग्रन्थ की विषयवस्तु की सीमाओं से कुछ बाहर जाकर भी आलवार भक्तों के दार्शनिक क्षितिजों का स्पर्श कर लिया है और उनकी तमिल कृतियों के आधार पर वैष्णव दर्शन के विवेचन को उपबृंहित किया है। रामानुज और निम्बार्क की दार्शनिक परम्परा तथा भास्कर और विज्ञानभिक्षु के दर्शन का विवेचन कर लेखक ने कुछ पुराणों के दार्शनिक विचारों का भी संकलन एवं मीमांसन किया है। तदनन्तर नास्तिक दर्शनों का विवरण भी उपलब्ध है।

मूल्य : 50.00 रुपये